संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

लेखक
डॉ० सुशील कुमार डे
एम० ए० (कलकत्ता), डी० लिट्० (लंदन)

अनुवादक
श्री मायाराम शर्मा
केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली

पुनरीक्षक
डा० दशरथ ओझा
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भाषा-संपादक
श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
प्रेमचन्द मार्ग, राजेन्द्रनगर, पटना

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

लेखक

डॉ० सुशील कुमार डे

एम० ए० (कलकत्ता), डी० लिट्० (लंदन)

अनुवादक

श्री मायाराम शर्मा

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली

पुनरीक्षक

डा० दशरथ ओझा

प्रोफेसर, हिंदी विभाग; दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भाषा-संपादक

श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रेमचन्द मार्ग, राजेन्द्रनगर, पटना-

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार, मानव संसाधन विकास-मंत्रालय (शिक्षा विभाग) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ श्री सुशील कुमार डे लिखित तथा Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta-12 द्वारा प्रकाशित History of Sanskrit Poetics का हिंदी अनुवाद है।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ३४२

प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९७३ : २,०००
द्वितीय संस्करण : सितम्बर, १९८८ : २,०००

मूल्य : बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना
संशोधित मूल्य रू०- Rs. 84.00

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
प्रेमचन्द मार्ग, राजेन्द्रनगर,
पटना-८०००१६

मुद्रक :
विनय ऑफसेट प्रेस (प्रा०) लि०
मिखना पहाड़ी, पटना-८००००४
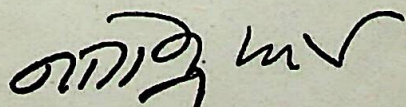
प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपलान के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास** डॉ० सुशील कुमार डे-लिखित History of Sanskrit Poetics का हिंदी अनुवाद है, जो भारत-सरकार के मानव संसाधन विकास-मंत्रालय (शिक्षा विभाग) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इसका अनुवाद-कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली के श्री मायाराम शर्मा ने किया है। डॉ० दशरथ ओझा, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने इसका पुनरीक्षण किया है। यह ग्रंथ विश्व-विद्यालय-स्तर के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

(डॉ० नागेन्द्र झा)
मंत्री, मानव-संसाधन विकास विभाग
अध्यक्ष,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना,
सितम्बर, १९८८
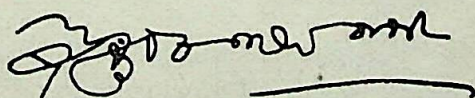
प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० सुशील कुमार डे-लिखित तथा Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta-12 द्वारा प्रकाशित History of Sanskrit Poetics का हिंदी अनुवाद है। यह अनुवाद वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के अनुसंधान-सहायक श्री मायाराम शर्मा और पुनरीक्षण दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर डॉ० दशरथ ओझा ने किया है। भाषा-संपादन के साथ प्रूफ-संशोधन का कार्य हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' ने किया है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए अत्यंत लाभदायक अवश्य सिद्ध हुआ है, जिसका प्रमाण ग्रंथ का पुनस्संस्करण होना है।

ग्रंथ का पहला संस्करण दो भागों में प्रकाशित था। पाठकों तथा छात्रों की सुविधा को देखते हुए ग्रंथ का मूल्य अधिक नहीं हो, दोनों भागों का समेकित संस्करण प्रकाशित किया गया है। आशा है, पूर्व संस्करण की भाँति यह संस्करण भी पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा।

ग्रंथ के मुद्रण-प्रकाशन में प्राप्त सभी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सहयोग के लिए अकादमी आभार स्वीकार करती है।

(डॉ० बैकुण्ठनाथ ठाकुर)
निदेशक,
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना
सितंबर, १९८८

भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण (अंगरेजी) १९२३ और १९२५ में दो अलग-अलग खंडों में प्रकाशित हुआ था। लगभग उसी समय (१९२३) में, महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काणे के 'साहित्यदर्पण' का दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ था। पुस्तक के आरंभ में १७७ पृष्ठों की भूमिका थी, जिसमें अलंकार-साहित्य की चर्चा की गई थी। बाद में, तीसरे संस्करण (१९५१) में वही भूमिका ४२३ पृष्ठों में विस्तार के साथ दी गई। इस संदर्भ में डॉ० काणे लिखते हैं—"इस प्रकार हम दोनों इस क्षेत्र में वस्तुतः अग्रणी थे। हमारे ग्रंथों ने अनेक विद्वानों को अलंकार-विषयक अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने, दोषों और त्रुटियों को बताने, अलंकारशास्त्र के अनेक पक्षों पर लेख लिखने और कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को प्रकाशित करने की प्रेरणा दी।" इससे प्रस्तुत ग्रंथ का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इसे स्वतंत्र रूप से लिखा और प्रकाशित किया गया था। अभी तक इससे उत्तम पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है, यद्यपि यह तीस वर्ष से भी अधिक समय से अप्राप्य रही है।

प्रस्तुत ग्रंथ के विषय-क्षेत्र के बारे में प्रथम संस्करण की भूमिका (आमुख) में विस्तारपूर्वक बता दिया गया था। इसमें केवल अलंकार-ग्रंथों और उनके रचयिताओं का विवरण देने अथवा अलंकारशास्त्र से संबद्ध विभिन्न विषयों का सारांश देने की अपेक्षा विषय का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। यह मानकर कि पाठक को विषय का सामान्य ज्ञान है, प्रतिनिधि लेखकों (तथा आवश्यकतानुसार, अपेक्षित टीकाकारों और तथाकथित छोटे लेखकों) सहित संस्कृत काव्यशास्त्र के दीर्घकालीन और बहुमुखी विकास का निरूपण किया गया है, जिससे एक हजार वर्ष के विस्तृत साहित्य पर प्रकाश पड़ता है। अतएव, इस पुस्तक के प्रथम खंड में कालक्रम और मूल स्रोतों के आदि, किंतु महत्त्वपूर्ण, प्रश्न पर विचार किया गया है और उसी के आधार पर दूसरे खंड में विभिन्न पद्धतियों और सिद्धांतों के माध्यम से काव्यशास्त्र के इतिहास का निरूपण किया गया है। यह

स्पष्ट हो जाएगा कि अध्यायों की नवीन व्यवस्था और विभाजन करने के अतिरिक्त प्रथम संस्करण की सामान्य रूपरेखा में परिवर्तन नहीं किया गया है; केवल सुविधा की दृष्टि से एक ही ग्रंथ के दोनों खंडों को दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है।[1]

संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास पर विचार करते हुए उसकी विषयवस्तु को अछूता छोड़ देना निस्संदेह संभव नहीं था; तथापि, यह अधिक उपयुक्त समझा गया कि सिद्धांतों के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर अधिक बल दिया जाय और अनुपादेय विषयों को छोड़ दिया जाय, क्योंकि इस ग्रंथ का उद्देश्य व्याख्यात्मक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है। उदाहरण के लिए, पृथक्-पृथक् अलंकारों का सविस्तर शास्त्रीय विश्लेषण करना संभव नहीं था ; यह कार्य परंपरा से ही अलंकार-संबंधी ग्रंथों में होता रहा है और सर्वविदित है ; किंतु उन अलंकारों के सामान्य काव्य-शास्त्रीय सिद्धांत का विवेचन अवश्य किया गया है, जो नाममात्र अलंकार ही नहीं हैं, अपितु कलात्मक सौंदर्य के संवर्धन में सक्रिय रूप से सहायक भी होते हैं। अलंकारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन औपचारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी एक प्रकार से केवल पांडित्य-प्रदर्शन एवं निरर्थक कहा जायगा। किंतु, अलंकार नाम से अभिहित होने पर भी संस्कृत अलंकारशास्त्र में केवल अलंकार-विषयक विचार-विमर्श के अतिरिक्त इसमें उन विषयों का भी विवेचन है, जिन्हें आलोचना अथवा सौंदर्य-शास्त्र कहा जाता है। केवल रूप और विधि का निरूपण अभिप्रेत होने पर भी आलंकारिकों के लिए साहित्य के सामान्य तत्त्वों तथा सामान्य सिद्धांतों के नियमों से सर्वथा निरपेक्ष रहना संभव नहीं था।

इसी प्रकार, ऐतिहासिक और सामान्य निरूपण को समक्ष रखकर इस शास्त्र के रचनात्मक काल से संबंधित पूर्ववर्ती लेखकों पर अधिक ध्यान दिया गया है ; परवर्ती लेखक अधिकांशतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर अधिक आश्रित दिखाई पड़ते हैं, इसलिए उनके ऐतिहासिक और वास्तविक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रतिनिधि लेखकों के ही नाम दिए गए हैं। लेखक ने अपने आपको

---

१. यह वक्तव्य अंगरेजी संस्करण के संबंध में है। हिंदी अनुवाद दो अलग-अलग खंडों में प्रकाशित किया जा रहा है। —प्रकाशक।

संस्कृत-काव्यशास्त्र तक ही सीमित रखा है और इस विषय पर देशीय भाषाओं में लिखे गए अनेकानेक ग्रंथों तथा इसी से संबद्ध, किंतु पृथक् विषयवस्तुवाले, नाट्य-शास्त्र पर भी विचार नहीं किया है ; उनके सविस्तर वर्णन एवं पृथक् निरूपण के लिए अतिरिक्त वृहत्काय ग्रंथ अपेक्षित होगा। ग्रंथ-सूचियाँ और संदर्भों के निर्देश कदाचित पूर्ण नहीं हैं; उनका प्रयोजन ऐसी आवश्यक सूचना देने के लिए है, जिनके आधार पर इस विषय पर विशेष अध्ययन किया जा सके।

अलंकार-शास्त्र के नाम से पुकारे जानेवाले इस अर्धसैद्धांतिक और अर्ध-व्यावहारिक विद्या को इस पुस्तक में काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) नाम से अभिहित किए जाने के विषय में स्पष्टीकरण के तौर पर दो-एक शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। एच० जैकोवी द्वारा इसके विषय-क्षेत्र का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है और सम्भवत: उन्होंने सबसे पहले Zeitchrift der Deutschen Morgenlandis-chen Gesellschaft, lvi, 1902, पृ० 393, पाद-टप्पणी 1 में इस शब्द (पोएटिक्स) का व्यवहार किया है। यहाँ पर यह कहना आवश्यय है कि सामान्यत: प्रयुक्त किया जानेवाला अलंकार शब्द उस अध्ययन को पर्याप्त रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिसका विषय-क्षेत्र विभिन्न अलंकारों के व्याख्यात्मक विवेचन से कहीं अधिक व्यापक है; साथ ही इस संदर्भ में सौंदर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) शब्द का प्रयोग भ्रामक है, क्योंकि अलंकार-साहित्य का सिद्धांत-पक्ष वैसा नहीं है, जैसा आधुनिक दर्शन-शास्त्र में सौंदर्यशास्त्र का है। पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र (वेस्टर्न एस्थेटिक्स) अथवा यूरोपीय आलोचनात्मक साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन का सामान्यत: परिहार ही किया गया है। क्योंकि, ऐसा करने से न केवल प्रस्तुत ग्रंथ के सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण होता, अपितु इससे अनर्गल एवं भ्रामक साधारणीकरण की भी संभावना हो सकती थी। इस विषय में रुचि रखनेवाला आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में संस्कृत काव्यशास्त्र की संक्षिप्त आलोचनात्मक रूपरेखा इसी लेखक के दो निबन्धों "ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज" खंड i, (१९३६), पृष्ठ १—४६ और "न्यू इंडियन एंटिक्वेरी" ix, संख्या १-३ (लेखक के "सम प्रोब्लम्ज ऑफ संस्कृत पोएटिक्स", कलकत्ता, १९५९, पृ० १-५३ में पुनर्मुद्रित) में इन्हें देख सकते हैं।

यह कहना आवश्यक होगा, जैसाकि संदर्भों से सूचित होता है, कि पूर्ववर्ती लेखकों के संचित किंतु यत्रतत्र प्रकीर्ण श्रम अर्थात् उनके ग्रंथों का सावधानी से

उपयोग किया गया है, किन्तु इसे लेखक ने अपने अध्ययन से पूर्ण किया है। यथा-संभव व्यर्थ के वाद-विवाद और परिचर्चा का परिहार करते हुए लेखक ने अपने को स्वयं के विचारों की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रखा है। वह इस बात से भली भाँति अवगत है कि किसी भी विषय पर कोई भी व्यक्ति अन्तिम बात कहने का दावा नहीं कर सकता।

प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखक ने इस पुस्तक को लिखने में विभिन्न दिशाओं से प्राप्त हुई सहायता और प्रोत्साहन के लिए आभार प्रकट किया है। इस संदर्भ में एच० जैकोबी, एल० डी० बार्नेट और एफ० डब्ल्यू० टामस जैसे 'कल्याण-मित्रों' का निधन दुःखद घटना है। वह अब यही कहना चाहता है कि इस संस्करण में उसने प्रोफेसर डा० वी० राघवन के सुझावों से लाभ उठाया है। उन्होंने अपनी अनेक व्यस्तताओं के बीच कई ग्रंथों और ग्रंथकारों के विषय में ग्रंथ-सूचियों से संबंधित उपादेय सामग्री भेजने का कष्ट किया।

—सुशील कुमार डे

विषय-सूची

कालक्रम और स्रोत

अध्याय 1

आरंभ

1

काव्य-मीमांसा के एक रोचक प्रसंग में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति का काल्पनिक-सा विवरण देने के साथ राजशेखर ने इस शास्त्र के परंपरागत आदि-प्रवर्तकों का नाम-निर्देश भी किया है। इसमें कहा गया है कि स्वयंभू ने सरस्वती से उत्पन्न काव्य-पुरुष को तीनों लोकों में काव्य-शास्त्र का प्रचार करने के लिए नियुक्त किया और उसने इस शास्त्र का उपदेश अठारह अधिकरणों में अपने सत्रह संकल्प-जात शिष्यों को दिया। इन दिव्य ऋषियों के बारे में कहा गया है कि तदनंतर इन ऋषियों ने क्रमशः अपने द्वारा अधीत अंशों पर पृथक्-पृथक् ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार सहस्राक्ष ने कवि रहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीति, प्रचेतायन ने अनुप्रास, चित्रांगद ने यमक और चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव, औपकायन ने उपमा, पाराशर ने अतिशय, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकार, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक, नंदिकेश्वर ने रस, धिषण ने दोष, उपमन्यु ने गुण और कुचमार ने औपनिषदिक पर ग्रंथ लिखे। अपनी विद्या की महिमा का गुण-गान करने के द्वारा उसमें अपरिवर्तनीय प्रामाणिकता आरोपित करने की संस्कृत ग्रंथकारों की प्रवृत्ति अनोखी नहीं है और इस प्रकार की पौराणिक गाथाएँ प्रायः तब गढ़ ली जाती हैं, जब वास्तविक उत्पत्ति विस्मृत हो चुकी होती है। तथापि यह आश्चर्य की बात है कि अलंकार शास्त्र में अन्यत्र वे गाथाएँ नहीं मिलतीं, जबकि उनसे संबद्ध शास्त्रों—क्रमशः नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र—में उनकी उत्पत्ति के विषय में भरत और वात्स्यायन ने वे गाथाएँ दी हैं। राजशेखर के इस संदर्भ का ऐतिहासिक मूल्य वस्तुतः पर्याप्त संदेहास्पद हो सकता है, किंतु यह संभव है कि इस अपूर्व विवरण में, सुस्पष्ट पौराणिक परिवेश के अतिरिक्त, एक प्रचलित परंपरा अंतर्निहित है, जिसमें विस्मृत अतीत के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रवर्तकों की वास्तविक सत्ता उपलक्षित होती है। उनमें से कुछ-एक के नाम तो अब भी सुपरिचित हैं, किंतु उनकी अधिकतर कृतियाँ स्पष्टतः लुप्त हो गई हैं। उदाहरणार्थ कामसूत्र के रचयिता ने (i. 1. 13, 17.) सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) का आदर के साथ उल्लेख किया है। ये दोनों ही कामशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य थे, किंतु कुचुमार औपनिषदिक के विशेषज्ञ थे। इस

प्रकार यह विषय कामशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों में समाविष्ट है।[1] नाट्यशास्त्र के वर्तमान पाठ में, जिसे भरत-कृत माना जाता है, विभिन्न विषयों पर विश्वकोष-शैली में विवेचन किया गया है, किंतु राजशेखर के वर्णनानुसार भरत केवल रूपक के प्रामाणिक विशेषज्ञ थे। अभी तक रस पर नंदिकेश्वर की कोई कृति प्राप्त नहीं हुई है, किंतु उनका नाम कामशास्त्र, संगीत, नाट्यकला, व्याकरण और तंत्र के प्रायः अनेक उत्तरकालीन संकलन-ग्रन्थों के साथ जोड़ा जाता है।[2]

यह परंपरागत वर्णन किसी को अति प्राचीन काल में होनेवाले शास्त्रीय समस्याओं के नियमित अनुसंधान संबंधी रोचक मत को व्यक्त करने की प्रेरणा दे सकता है, लेकिन ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि प्राचीन साहित्य में भी ऐसी कोई सामग्री नहीं है, जो हमें अति प्राचीन काल में अलंकारशास्त्र की उत्पत्ति खोजने में सहायता दे सके। वेदांग के नाम से अभिहित किए जानेवाले परंपरावादी शास्त्रों में अलंकारशास्त्र का कहीं भी उल्लेख नहीं है और न वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों अथवा पूर्ववर्त्ती उपनिषदों में ही ऐसा कोई अंश उपलब्ध है, जिसे अलंकार-शास्त्र का वास्तविक आधार माना जा सके। उदाहरण के लिए, उपमा शब्द का प्राचीनतम प्रयोग ऋग्वेद (v. 34. 9; i. 31, 15) में मिलता है, जिसका अर्थ सायण ने उपमान (यथा पाणिनि ने भी ii. 3. 72 में) अथवा दृष्टांत किया है। लेकिन औपम्य के सामान्य अर्थ में किए जानेवाले इस प्रयोग में कोई असाधारणता नहीं है, जिसका व्याख्यान एक विशेष काल्पनिक महत्तावाले अर्थ में किया जाय। यास्क और पाणिनि के साक्ष्य या प्रमाण पर यह माना जा सकता है कि उपमा अथवा औपम्य की संकल्पना ने वैदिक भाषा तथा इसके स्वराघात को भी काफी प्रभावित किया था, किंतु व्याकरणविषयक अथवा भाषा-मीमांसा की अभिरुचि के अतिरिक्त वैदिक काल में काव्यशास्त्र संबंधी किसी सिद्धांत की बात तो दूर, उस काल में किसी मत या वाद का भी संकेत नहीं मिलता। वैदिक साहित्य में अलंकारों के प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक बल भी नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि अलंकारों के स्वाभाविक और अनायास प्रयोग तथा विचारपूर्वक तैयार की गई एक सुनिश्चित नियमबद्ध पद्धति के बीच में अवश्य लंबी अवधि बीती होगी।[3]

---

1. जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स. IV. पृ० 95, कलकत्ता युनिवर्सिटी
2. नंदिकेश्वर के लिए दूसरे अध्याय के नीचे देखिए।
3. पी० वी० काणे (हिस्टरी ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, तृतीय सं०, बंबई 1951, पृ० 315-19; और इंडियन एंटिक्वेरी, xli;, 1912, पृ० 120 इत्यादि) ने कुछ विस्तार से यह तर्क दिया है, कि ऋग्वेदकालीन क़वियों को काव्यशास्त्र

2

अलंकारों के शास्त्रीय निरूपण की दिशा में निश्चित, किंतु कुछ स्थूल क्रिया-कलापों का प्रमाण निघंटु और निरुक्त में मिलता है। भाषा के सामान्य रूप की विशेषताओं के अनुसंधान से —जिसका प्रारंभ प्राचीनकाल में ही हो चुका था— स्पष्ट ही लोगों का ध्यान अलंकारों के विश्लेषण की ओर आकृष्ट हुआ, किंतु फिर भी यह प्रश्न केवल भाषा-संबंधी दृष्टिकोण से संबद्ध रहा था। निरुक्त में पारिभाषिक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किंतु यास्क ने 'अलंकरिष्णु' शब्द को 'अलंकृत करने के स्वभाववाला' के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। पाणिनि ने iii. 2. 136 में इसकी व्याख्या की है और स्पष्टतः शतपथ ब्राह्मण (xiii, 8. 4. 7; iii. 5. 1. 36) और छांदोग्य उपनिषद (viii. 8. 5) में यह शब्द इसी अर्थ में आया है। निघंटु (iii. 13) में वैदिक 'उपमा' के बारह भेदों को द्योतित करनेवाले शब्दों की एक सूची सन्निविष्ट है, जिनके उदाहरण निरुक्त (i. 4; iii. 13–18 और ix. 6) में दिए गए हैं। इनमें से 'इव', 'यथा', 'न', 'चित्', 'नु' और 'आ' निपातों से उद्दिष्ट छह भेदों की चर्चा यास्क ने 'उपमार्थे निपातः' का विवेचन करते समय की है (1. 4) और अंशतः इन्हें 'कर्मोपमा' के अंतर्गत भी सम्मिलित किया है (iii. 15)। तत्पश्चात् यास्क ने भूतोपमा और रूपोपमा का उल्लेख किया है। भूतोपमा में 'उपमित' आचरण या व्यवहार से 'उपमान' तुल्य हो जाता है और 'रूपोपमा' में 'उपमित' का रूप 'उपमान' के समान हो जाता है। उपमा के चतुर्थ प्रकार में 'यथा' निपात का प्रयोग वाचक शब्द के रूप में होता है। अनंतर सिद्धोपमा का वर्णन है, जिसमें तुलना का मान सुसिद्ध (सम्यक् सिद्ध) है और यह (मान) 'वत्' प्रत्यय के प्रयोग द्वारा विशिष्ट गुण और क्रिया में अन्य सबसे बढ़कर है। उपमा का अंतिम भेद 'लुप्तोपमा' अथवा अर्थोपमा है (जिसे परवर्ती सैद्धांतिकों ने 'रूपक' कहा है)। इसका उदाहरण iii. 18 (और ix. 6) में मिलता है, जहाँ प्रशंसावाचक 'सिंह' और 'व्याघ्र' तथा निंदावाचक 'श्वन्' और 'काक' शब्दों के लोकप्रिय प्रयोग का उदाहरण दिया गया है। यास्क ने केवल तुलनार्थक निपातों का निर्देश करने के लिए 'उपमान' शब्द का प्रयोग किया है (vii. 31)। तुलना का महत्व सामान्यतः i. 19; ii. 6; iii. 5; iv. 11; v. 22 और vii. 13 में भी निर्दिष्ट है। प्रसंगवश यास्क ने (iii. 13) में वैयाकरण गार्ग्य-कृत 'उपमा'[1] की परिभाषा का

तथा रूपक और नाट्य-तत्व की कुछ जानकारी अवश्य थी। जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेंट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, ix, 1923, पृ० 100 में बी० एन० भट्टाचार्य के लेख का भी अवलोकन करें।

उल्लेख किया है, जो हमारे दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। दुर्गाचार्य के व्याख्यानुसार यह कहा गया है कि उपमा वहाँ होती है, जहाँ कोई असमान वस्तु सादृश्य के कारण तादृश विशेषतावाली किसी दूसरी वस्तु के समान मान ली जाती है।[2] सामान्य नियम के रूप में यह भी कहा गया है कि उपमेय की अपेक्षा उपमान के गुण अधिक अच्छे और प्रसिद्ध होने चाहिए, किंतु (iii. 14-15) में इसका प्रतिलोम भी मान्य है और इसके दो उदाहरण ऋग्वेद (x. 40. 2, x. 4. 6) से उद्धृत किए गए हैं। यह परिभाषा अतिविस्तृत (अतिव्याप्त) होते हुए भी मम्मट की इसी प्रकार की अभ्युक्ति का स्मरण कराती है। और निस्संदेह प्राचीन शास्त्रीय उपमा की संकलपना की लगभग निश्चित रूप में स्थापना करती है।

पाणिनि के समय तक 'उपमा' की यह संकलपना अव्यक्त रूप से मानी जा चुकी थी और हम उन्हें एतत्संबंधी पारिभाषिक शब्दों 'उपमान'[3], 'उपमित'[4] और 'सामान्य'[5] तथा सामान्य शब्दों यथा, 'उपमा'[6] (जो अलंकारशास्त्रियों के उपमान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) 'औपम्य'[7] 'उपमार्थ'[8] और 'सुदृश्य'[9] का प्रयोग करते हुए पाते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र विकीर्ण लगभग 50 सूत्रों में यथाप्रसंग वैयाकरण के दृष्टिकोण से प्रत्ययों के क्षेत्र में, जिसमें अनुबंध, कारक और स्त्री-प्रत्यय, कृत, तद्धित और समासांत प्रत्यय[10] यौगिक[11] के निर्माण एवं स्वराघात[12] आदि भी सम्मिलित हैं,

1. अर्थात् उपमा यद् अतत् तत्सदृशं इति गार्ग्यः, तद् आसां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीतेऽथापि कनीयसा ज्यायांसम्।
2. एवमेतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यादुपमीयते इत्येवं गार्ग्याचार्यो मन्यते।
3. ii. 1. 55; iii. 1. 10, 2. 79, 4. 45; v. 4. 97, 137; vi. 1. 204, 2. 2, 72, 80, 127, 145, 169.
4. ii. 1. 56.
5. ii. 1. 55, 56; viii. 1. 74.
6. ii. 3. 72.
7. i. 4. 79; iv. 1. 69; vi. 2. 113.
8. viii. 2. 101.
9. ii. 1. 6-7; vi. 2. 11.
10. i. 4. 79; ii. 3. 72; iii. 1. 10, 2. 79, 4. 45; iv. 1. 69, 4. 9; v. 1. 115-16, 2. 39, 3. 96, 106, 4. 97, 137.
11. ii. 1. 7, 31, 55-6; vi. 2. 11.
12. v. 1. 18; vi. 1. 204, 2. 2, 11, 72, 80, 113, 127, 145, 169, इत्यादि।

भाषा पर पड़नेवाले उपमा का संकल्पना के प्रभाव पर विचार किया है। इसी प्रकार का प्रभाव 'अतिदेश' शब्द की विचारधारा में भी परिलक्षित होता है, जिसका प्रयोग पाणिनि ने स्वयं तो नहीं किया, किंतु उनके भाष्यकारों ने इसे स्पष्ट कर दिया। इसकी व्याख्या सादृश्य अथवा समरूपता द्वारा विस्तृत प्रयोग के रूप में हो सकती है। कात्यायन ने कई 'वार्तिकों'[1] में अनुरूपता की संकल्पना का वैसा ही प्रभाव दर्शाते हुए पाणिनि का अनुसरण किया है। शांतनव ने अपने 'फिट्सूत्र' में स्वरसंधान[2] के संबंध में इस पर चर्चा की है। पतंजलि ने ii.1.55 पर महाभाष्य में पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की परिभाषा उदाहरण के साथ दी है। उनके कथनानुसार 'मान' या माप वह है, जिसका प्रयोग किसी अज्ञात वस्तु का निर्धारण करने में किया जाता है। 'उपमान' 'मान' का समीपवर्ती होने से पूर्णतः तो नहीं, फिर भी सन्निकटतः किसी वस्तु को निर्धारित करता है; जैसे, हम कहते हैं, 'गवय'[3] गो के समान है। वस्तुतः कोई भी काव्यशास्त्री पतंजलि द्वारा दिए गए इस उदाहरण को काव्यगत 'उपमा'[4] का उदाहरण नहीं मानेगा, क्योंकि इस साधारण भावाभिव्यक्ति में काव्य-संबंधी अलंकार के लिए अपेक्षित विशिष्ट सौंदर्य का अभाव है; तथापि व्याकरण की दृष्टि से उपमा की सामान्य संकल्पना का ऐसा विश्लेषण प्राचीन है और काव्यशास्त्र की तकनीकी कल्पना के समीपतर है।[5]

3

पाणिनि के ये नियम और प्राचीन वैयाकरणों की उक्तियाँ—जहाँ तक वे उपमा के श्रौती और आर्थी भेदों के तथा 'कृत' और 'तद्धित' प्रत्ययों पर आश्रित भेदों के आधार हैं—विशेष महत्वपूर्ण हैं। उपमालंकार का यह उपविभाजन, जिसे हम व्याकरणमूलक कह सकते हैं, उद्भट के प्राक्तन समय तक स्वीकृत हो चुका था। इस प्रकार श्रौती उपमा के प्रमाण का आधार पाणिनि के दो सूत्र (v. 1. 115-16) हैं। इस उपमा में तुलना का भाव 'यथा', 'इव' और 'वा' निपातों अथवा

1. i. 3. 21; ii. 1. 55, 2. 24, 4. 71; iii. 1. 10 इत्यादि पर।
2. यथा ii. 16, iv. 18.
3. मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयतेऽनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति तत्समीपे यन्नात्यंताय मिमीते तदुपमानं गौरिव गवय इति, सं० कीलहार्न i, पृ. 397.
4. गो-सदृशो गवय इति नोपमा, चित्र. मी. पृ. 6.
5. उपमा की संकल्पना भर्तृहरि के वाक्यपदीय में पूर्ण रूप से सिद्ध प्रतीत होती है, यथा i. 63.

'इव' के अर्थ में प्रयुक्त 'वत्' प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया जाता है। उपर्युक्त सूत्रों में यह निर्धारित किया गया है कि 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग सप्तमी या षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त तुलना के मान (उपमान) के साथ विभक्त्यंत प्रत्यय और 'इव' के स्थान पर तृतीयांत संज्ञावाचक शब्द के साथ किया जाय। ऐसी अवस्था में अर्थ 'तेन तुल्यं' (उसकी तरह या उसके सदृश) होगा और यह सादृश्य गुणवाचक न होकर क्रियावाचक होगा। इस प्रकार हमें मथुरावत् (=मथुरा-याम् इव) पाटलिपुत्रे प्राकारः, चैत्रवत् (=चैत्रस्य इव), 'मैत्रस्य गावः' और 'ब्राह्मणवद्' (=ब्राह्मणेन तुल्यम्) अधीते आदि रूप मिलते हैं, किंतु 'चैत्रवत् कृशः' नहीं। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र ii. 4. 71 पर वार्तिक (इवेन समासो विभक्त्यलोपः) के अनुसार 'कुंभाविव स्तनौ' सामासिक उपमा की सिद्धि होती है, जो 'समासगा श्रौती उपमा' का उदाहरण है। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र iii. 1. 10 के अनुसार क्यच् प्रत्यय का प्रयोग कर्मभूत उपमान सुवंत के साथ भी आचार-द्योतन के लिए होता है और इससे 'पौरं जनं सुतीयसि' जैसे वाक्यांशों में उपमा के उदाहरण मिलते हैं। पाणिनि के अगले नियम के अनुसार 'क्यण्' प्रत्यय का प्रयोग कर्ता कारक में प्रयुक्त उपमानवाची से कर्तृ सुवंत के साथ आचार-द्योतन के लिए होता है। और यह नियम 'तव सदा रमणीयतेःश्री' जैसे वाक्यों में अभिव्यक्त उपमा का आधार है। अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है, क्योंकि इन्हीं उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्र संबंधी कतिपय विचारों को प्राचीन काल में इसी प्रकार के व्याकरणमूलक विश्लेषण में खोजा जा सकता है। ये इस तथ्य का संकेत देते हैं कि पाणिनि के समय में भी इनमें से कुछ विचार भली-भाँति स्थापित हो चुके थे और उन्होंने उसके अन्वेषण को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित भी किया था। यह मानना पड़ेगा कि वैयाकरणों की ये कल्पनाएँ इतनी सुनिश्चित नहीं हैं कि किसी पद्धति के अस्तित्व को सिद्ध कर सकें। इस प्रकार काव्यशास्त्र से परोक्ष रूप से संबद्ध वैयाकरणों के उपर्यक्त विचार परवर्ती काव्यशास्त्रीय भाषा और चिंतन के स्रोत पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

यदि इस शास्त्र के अलंकार (अभिधेयार्थ आभूषण[1]) नाम से अथवा इस विषय पर अत्यंत प्राचीन काल से विद्यमान ग्रंथों की विषय-सामग्री से कोई

1. वी. राघवन के इस सिद्धांत का (जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, ix, पृ० 264-67; और 'सम कन्सेप्ट्स आफ दि अलंकार शास्त्र', अड्यार 1942, पृ० 258-67) कि मूल नाम क्रियाकल्प था, निश्चित प्रमाण नहीं मिलता (देखिए, हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 329-31 में काणे की आलोचना)। साहित्य नाम निस्संदेह नया है। (काणे, वही, पृ० 528-29)।

निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो ऐसा प्रतीत होगा कि अलंकारशास्त्र का उद्भव भाषा के काव्यात्मक सौंदर्य की विश्लेषणात्मक व्याख्या के परिणामस्वरूप हुआ। यह कार्य काव्य-रचना के नियम-निर्धारण के क्रियात्मक उद्देश्य से किया गया था।

लेकिन यह बात भी निस्संदेह है कि वैयाकरणों द्वारा भाषा के स्वरूप के विषय में किए गए उदात्त विवेचन से भी इस शास्त्र को प्रेरणा मिली। अंतःसाक्ष्य और काव्यशास्त्र के कुछ निर्भ्रांत प्राचीन विद्वानों के वचनों के प्रमाण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक सीमा तक इस शास्त्र की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि भाषाशास्त्रीय दार्शनिक परिकल्पनाओं पर आधारित थी। अतएव भारत के प्राचीनतम और पुष्टतम विज्ञानों में से एक विज्ञान, व्याकरणशास्त्र, इस अलंकारशास्त्र का जनक था और इसे लोकग्राह्य बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। आनंदवर्धन ने अपने सिद्धांत को वैयाकरणों के प्रामाण्य पर आधारित बताते हुए अग्रणी और मूर्धन्य विद्वानों के रूप में उनकी प्रशंसा की :

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः।
व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्॥ (पृ० 47)

काव्य-सिद्धांत के एक अद्यावधि ज्ञात प्राचीनतम आचार्य भामह ने व्याकरण-संबंधी शुद्धता के प्रश्न पर एक पूरा अध्याय लिखने के अतिरिक्त व्यक्त रूप से vi. 63 में पाणिनि के विचारों की जयघोषणा की है। वामन ने भी इसी क्रियाविधि का अनुकरण किया है। तुलना के उपर्युक्त भाषा विषयक विश्लेषण के अतिरिक्त यह आसानी से प्रमाणित किया जा सकता है कि सामान्यतः भाषा से संबंधित काव्य-सिद्धांत के कतिपय मौलिक संप्रत्यय वैयाकरणों के विचारों पर आधारित हैं, किसी अन्य मतमतांतर पर नहीं। उदाहरणार्थ, जिस 'संकेत' द्वारा शब्द के 'अभिधा' अर्थ का बोध होता है, उसका विषय-निर्णय वैयाकरणों के मत के आधार पर ही किया गया है। नैयायिकों, सौगतों और मीमांसकों के विपरीत वैयाकरण यह मानते हैं कि शब्द का अर्थ 'जाति', 'द्रव्य', 'क्रिया' अथवा 'गुण'-परक होता है। मुकुलभट्ट (पृ० 4) और मम्मटभट्ट के महाभाष्य[1] का उद्धरण देते हुए (शब्द-व्या० पृ० 2) स्पष्ट लिखा है :—

'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।'

वास्तव में शब्द और अर्थ की दो शक्तियों—अभिधा और लक्षणा[2]—का

1. महाभाष्य, सं. कीलहार्न, पृ० 19, 1.20; कुमारसंभव ii. 17 से भी तुलना करें, जहाँ इसी मत का उल्लेख है, यद्यपि मल्लिनाथ ने चतुष्टयी प्रवृत्ति की वाच० के चार विवर्तों के संदर्भ में व्याख्या की है।
2. तुलना कीजिए—viii. 1. 12 पर महाभाष्य।

पूर्ण विश्लेषण वैयाकरणों द्वारा पहले ही परिष्कृत व्याकरण संबंधी दार्शनिक विचारधारा पर आधारित है। आनंदवर्धन के नवीन रस-शास्त्र ने भी, शब्द की तीसरी शक्ति 'व्यंजना' की स्थापना की पुष्टि में प्राक्-पाणिनीय वैयाकरण स्फोटायन के 'स्फोट' सिद्धांत का आश्रय लिया है। स्फोटायन के स्फोट सिद्धांत का 'वाक्यपदीय' में पूर्णतया विकास-पल्लवन हुआ है।

4

इनमें से कुछ संप्रत्ययों का विवेचन उन विविध दार्शनिक वादों में भी मिलेगा, जिनमें श्रुतियों और उनके भाष्यों के प्रसंग में 'शब्द' का सामान्य निरूपण किया गया है। काव्यशास्त्र से दूर का संबंध रखनेवाले स्फोट-सिद्धांत का कुछ दर्शन-शास्त्रों में अत्यंत महत्व है। 'व्यंजना वृत्ति' में निहित अभिव्यक्ति किसी नए गुण को अभिव्यक्त न करके विद्यमान गुण को ही व्यक्त करती है। भारतीय चिंतन-धारा में व्यंजना की इस प्रकार की कल्पना कोई नई वस्तु नहीं है।

सांख्य (i. 117-18) के सत्कार्यवाद में इसी प्रकार की विचार-शृंखला मिलती है। उसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। वह पहले से ही अव्यक्त रूप से कारण में निहित होता है और इसलिए उसकी व्यक्ति संभव हो जाती है। वेदांती की मोक्ष की सामान्य कल्पना में भी ऐसा ही सादृश्य है। इसमें मोक्ष ऐसी अवस्था है, जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, किंतु माया का आवरण[1] दूर होने से केवल उसकी अनुभूति होती है। काव्यशास्त्र की दो महत्वपूर्ण शब्द-शक्तियों (अभिधा और लक्षणा) से संबंधित सिद्धांत का वैयाकरणों ने ही नहीं, बल्कि दार्शनिकों ने, विशेषतः नैयायिकों और मीमांसकों ने, भी अध्ययन किया। उदाहरण-तया, नैयायिकों का मत है कि शब्द की 'अभिधा' से व्यक्ति का ही नहीं, अपितु 'जाति' और 'गुण'[2] का भी बोध होता है। मीमांसकों का कथन है कि यह मुख्य रूप से 'जाति' को निर्दिष्ट करता है और 'जाति'[3] से अवियुज्य संबंध होने के कारण 'व्यक्ति' का बोध आक्षेप से ही होता है। 'न्याय-सूत्र' में उन शब्दार्थ संबंधों की पूर्ण सूची दी गई है, जिनके माध्यम से शब्द का अमुख्य अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है। अमुख्य अर्थ को विभिन्न नाम

1. यह द्रष्टव्य है कि वेदांतसूत्र में रूपक शब्द प्रत्यक्ष रूप से शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त किया गया है (i. 4. 1.) और इसी संदर्भ में अप्पय दीक्षित ने यह कहा है— भगवता बादरायणेन 'नानुमानिकमपि एकेषामिति चेन्न, शरीर-रूपक विन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च' इति शारीरक सूत्रे रूपकमंगीकृतम् (चित्र. मी. पृ. 54, सं. काव्यमाला 1907)। वेदांतसूत्र iii. 2. 18 से भी तुलना करें।
2. न्यायसूत्र ii. 2. 68.
3. पूर्वमीमांसा i. 3. 33 इत्यादि।

दिए गए हैं, यथा, 'गौण', 'भाक्त', 'लाक्षणिक' अथवा 'औपचारिक अर्थ' आदि ।[1] इस मुख्येतर अर्थ का विवेचन लगभग सभी दर्शनों में किया गया है। वास्तव में, इन विषयों पर काव्यशोस्त्र के सिद्धान्त, न्याय और मीमांसा के सिद्धांतों से काफी घुल-मिल गए हैं, यहाँ तक कि भामह की काव्यशास्त्र विषयक प्राचीन रचना में काव्य की तर्कान्वियता और शब्दों की अर्थाभिव्यक्ति विषयक शक्तियों की विस्तृत चर्चा है।

रस के काव्य-सिद्धांत पर न्याय, सांख्य और वेदांत के प्रभाव का उल्लेख यथास्थान किया जायगा। किंतु यह उल्लेख करना उचित होगा कि 'उपमा' की कल्पना का, (जिसे दर्शनशास्त्र में उपमान कहा गया है), जिससे सादृश्य अथवा तुलना की सामान्य धारणा का बोध होता है, विभिन्न दर्शनशास्त्रों में प्रमा, प्रमेय और प्रमाण विषयक चर्चा में बड़ा महत्त्व है। उदाहरणार्थ, 'मैत्री उपनिषद्' में तीन प्रमाणों (v, 10, 14), अर्थात् 'दृष्ट' (अथवा 'प्रत्यक्ष'), 'लिंग' (अथवा 'अनुमान') और 'उपमा' (अथवा 'उपमान') की चर्चा की गई है। निस्संदेह, कणाद और कपिल ने उपमा को स्वतंत्र और पुष्ट प्रमाण नहीं माना है, किंतु नैयायिक उसे प्रमाण मानते हैं। उनके मतानुसार, उपमा द्वारा वस्तु में पहले से अज्ञात वस्तु का ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर ज्ञान होता है। वात्स्यायन ने i. 1. 3 पर टीका करते हुए उपमा की जो परिभाषा की है—'सामीप्यमानं उपमानम्' वह ऊपर उद्धृत महाभाष्य[2] के अंश से मिलती-जुलती है। अतएव, नैयायिकों के अनुसार, अभिधान और अभिधेय के संबंध की स्थापना में ही 'उपमा' अथवा 'उपमान' की सार्थकता है और इस प्रकार वही अभिव्यक्ति का आधार है। 'अतिदेश-वाक्य' भी, सादृश्यमूलक अभिज्ञान का साधन प्रतीत होता है। अर्थात् वह गौ आदि लोक-प्रसिद्ध पदार्थ और गवय आदि प्रथम बार दृष्ट नवीन वस्तु के मध्य समानता के आधार पर गवय आदि की पहचान के सहायक के रूप में द्रष्टव्य है। पंचावयव वाक्य में भी 'उपमान' का सहयोग आवश्यक माना गया है। वहाँ यह उपनय नामक अवयव के रूप में प्रकट होता है, (i. 1. 32.)। काव्यशास्त्र में उपमान के इस विचार का अवशेष भोज-कृत 'सरस्वती कंठाभरण' (3. 50) में मिलता है। उन्होंने 'उपमा' को 'उपमान' से भिन्न अलंकार माना है, यद्यपि अप्पय दीक्षित के अतिरिक्त किसी ने भी इसका समर्थन करके 'उपमान' को काव्य का एक पृथक् अलंकार

---

1. **वेदांतसूत्र** ii. 3.16, iii. 1.7; **न्यायसूत्र** ii.2.64 **और** i.2.11,14,15; **सांख्यसूत्र** v.67 **इत्यादि।**
2. **पृष्ठ 5 पर पादटिप्पणी 3.**

नहीं माना।[1] इस विषय पर अधिक चर्चा अनावश्यक है, किंतु मीमांसकों ने 'उपमान' के साथ-साथ 'अतिदेश' के विचार का भी इसी प्रकार विवेचन किया है। पर उनका कथन है कि 'उपमान' ऐसी ज्ञात वस्तु को लक्षित करता है, जो प्रथम बार दिखाई देनेवाली अन्य वस्तु के सदृश होती है, अथवा शबरस्वामी द्वारा उद्धृत उपवर्ष के शब्दों में, 'उपमान' वह सादृश्य है, जो असन्निकृष्ट वस्तु को स्मृति-पथ पर ले आता है, जैसे गवय का दर्शन सामने अविद्यमान परंतु गवय के सदृश गौ का स्मरण करा देता है।[2]

5

यद्यपि इस प्रकार के चिंतन का काव्यशास्त्र से अप्रत्यक्ष संबंध है और संभव है कि यह काव्यशास्त्र के कुछ मौलिक सिद्धांतों के विकास में सहायक रहा हो, किंतु इन विवेचनों के आधार पर हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि काव्यशास्त्र वास्तव में कितना प्राचीन है। विचित्र बात यह है कि प्राचीन ग्रंथों में काव्यशास्त्र का एक शास्त्र के रूप में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भी, कहीं उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि नवीं शती के अंत में राजशेखर ने इसे (वेद का) सप्तम 'अंग' मानने की परंपरा का उल्लेख किया है। छांदोग्य उपनिषद् (vii. 1.2.4 बोहटलिंग संस्करण), के विविध विद्या परिगणना विषयक सुप्रसिद्ध प्रकरण में काव्यशास्त्र का उल्लेख नहीं है। आपस्तंब (ii.4.11) ने तो सामान्यतः प्रसिद्ध छह अंगों का ही उल्लेख किया है, किंतु याज्ञवल्क्य (i. 3) ने कुल चौदह शास्त्रों का उल्लेख किया है और 'विष्णुपुराण' में इन चौदह के अतिरिक्त चार और विद्याओं का उल्लेख है, यद्यपि नमें काव्यशास्त्र का नाम कहीं नहीं है। 'ललित-विस्तर'[3] में भी ऐसी ही .क सूची है, जिसमें 'काव्य-करण-ग्रंथ' और 'नाट्य' सम्मिलित हैं, जिनसे क्रमशः काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र अभिप्रेत माने जा सकते हैं, किंतु 'अलंकार' नाम सर्व-प्रथम शुक्रनीति में मिलता है। अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और शिल्पशास्त्र इत्यादि बत्तीस शास्त्रों में उसकी गणना की गई है। राइस डेविड्स[4] के कथनानुसार

---

1. कुवलय सं० निर्णय सागर प्रेस, 1913, पृ० 174. नागेशभट्ट ने इसे उपमा में ही समाविष्ट माना है और वामन ने इसके एक भेद (अर्थात् अननुभूत-विषय) पर विचार करते हुए इसे तत्त्वाख्यानोपमा का उदाहरण बताया है (iv. 2.7)।
2. उपमानमपि सादृश्यं असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिं उत्पादयति, यथा गवय-दर्शनं गो-स्मरणम्, i. 1. 15 पर।
3. सं० लेफमान, पृ० 156.
4. लेखक को ता. 24.2.1921 के पत्र में। तुलना कीजिए—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली—xvii, पृ० 196 इत्यादि में विजयशेखर का लेख।

'अंगुत्तर' (i. 72, iii. 107) और 'संयुक्त निकाय' (i. 38, ii. 267) नामक प्राचीन पालि ग्रंथों में ऐसे ही एक शास्त्र का उल्लेख है। ये उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें इस शास्त्र की निंदा की गई है, परंतु वह उल्लेख 'अलंकार शास्त्र'[1] का ही है, यह बात न तो उस प्रकरण के अभिधार्थ से ही व्यक्त होती है और न व्यंग्यार्थ से।

अतएव, यह संभव है कि शास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र का उद्भव बाद में ही हुआ हो और कदाचित् ईसा की प्रारंभिक शतियों[2] में इसका विकासारंभ हुआ हो। गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में चौथी और पाँचवीं शती में संस्कृत साहित्य में बड़ी वृद्धि हुई, कदाचित् उसके साथ संस्कृत में इस शास्त्र की भी प्रगति हुई। उक्त अवधि में संस्कृत काव्य-शैली के जिस विकास का उल्लेख लासेन ने किया था, उसकी पुष्टि बूहलर के पुरालेखीय (epigraphical) अनुसंधानों[3] से हो गई है। पुरालेखीय साहित्य को उस काव्य-भवन का शिलान्यास कहा जा सकता है, जिसका विशद निर्माण आठवीं और नवीं शती में हुए काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के सम्यक् प्रतिपादन के रूप में हुआ। प्राचीन शिलालेखों के बूहलरकृत परीक्षण से यह तो प्रमाणित हो गया है कि ईसा की पहली पाँच शतियों के दौरान उत्तम काव्य-रीति में सुंदर पद्यमय और गद्यमय रचनाएँ उपलब्ध थीं। साथ ही इस अनुमान की भी पुष्टि होती है कि इनमें अधिकतर प्रशस्ति-लेखक 'भारतीय काव्यशास्त्र[4] के नियमों से परिचित थे।' बूहलर ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि अलंकारशास्त्रीय नियमों के अनुसार वस्तुतः भामह और दंडी के प्राचीनतम उपलब्ध

1. कौटिल्य के अर्थशास्त्र के एक अध्याय में, 'शासन' लिखने की विधि बताई गई है और अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य और स्पष्टता नामक वांछनीय गुणों का उल्लेख किया गया है। ये गुण पूर्ववर्ती अलंकार-ग्रंथों में बताए गए गुणों के समान प्रतीत होते हैं, किंतु वे इस विषय के सामान्य मत को परिलक्षित करते हैं।
2. पतंजलि ने काव्यशास्त्र से संबंधित अनेक ग्रंथों का उल्लेख किया है (सं० कीलहार्न, i, 283, 340, 426, 444, ii. 34, 102, 119, 107, 313, 315, iii. 143, 338 इत्यादि) जिससे यह सूचित होता है कि उनके समय में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन का विशेष प्रचलन था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का व्यवस्थित निरूपण किया जा रहा था, किंतु पतंजलि के समय अलंकार से संबंधित साहित्य का कहीं उल्लेख नहीं है।
3. Die Indischen Inschriften, अनुवाद—इंडियन एंटिक्वेरी, xiii, 1913, पृ० 29 इत्यादि।
4. वही, पृ० 146.

ग्रंथों में इन लेखकों का प्रौढ़ता प्राप्त करना शास्त्रीय नियमों का ही अनुसरण था। इससे सिद्ध होता है कि उस समय अलंकार-शास्त्र अथवा काव्यकला[1] के कतिपय सिद्धांत विद्यमान थे।

इस समय से काव्य-साहित्य में भी काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के अस्तित्व का, न्यूनाधिक निश्चय के साथ, संकेत मिलता है। निस्संदेह, रामायण और महा-भारत में अलंकार के कुछ अधिक सामान्य शब्दों (जैसे, 'उपमा', 'काव्य', 'नाटक', 'कथा' और 'आख्यायिका') का प्रयोग विद्यमान है, किंतु इस आधार पर इन शास्त्रीय विषयों के प्राचीन प्रयोग के प्रसंग में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उनके उपलब्ध पाठों में सर्वग्राहिता का प्रयास है। किंतु अश्वघोष रचित 'बुद्ध-चरित' में, जैसा कि कावेल ने कहा है, 'उपमा', 'उत्प्रेक्षा' और 'रूपक' जैसे सामान्य अलंकारों के अतिरिक्त 'यथासंख्य' और 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' जैसे विशद अलंकारों का भी ऐसा अनूठा प्रयोग मिलता है, जो अनुमानतः लेखक के काव्यशास्त्र के अध्ययन का परिचायक है।[2] प्रथम श्लोक में ही 'उपमा' शब्द का कुछ-कुछ पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है, और iii-51 में, 'रसांतर' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ ऐसे नए भाव का समावेश है, जो वर्तमान रस की निष्पत्ति में बाधक हो। अश्वघोष ने नाट्य-शास्त्र के रस प्रकरण में दिए गए अर्थों में 'हाव' और 'भाव' शब्दों का प्रयोग किया है (4.12), अतएव कावेल का यह कहना उचित है, कि इन कविताओं का विशेष महत्व है, क्योंकि इनसे प्रोफेसर बूहलर के इस विचार की पुष्टि होती है कि उत्तर-भारत में काव्य और अलंकार-शास्त्रों का सफल विकास ईसा की प्रारंभिक शतियों में हुआ था। यह बात कालिदास की रचनाओं पर और भी अधिक लागू होती है। उनमें एक सिद्धहस्त और कुशल कलाकार की परिष्कृत तथा प्रकृष्ट कला दृष्टिगोचर होती है। परवर्ती सैद्धांतिकों ने काव्य के विभिन्न अलंकारों, उक्तियों और सिद्धांतों (नियमों) के उदाहरणार्थ उन ग्रंथों से उद्धरणों

---

1. वही, पृ० 243. यह निष्कर्ष, गिरनार शिलालेख (ईसा की द्वितीय शती) के ही एक अंश से एक सीमा तक पुष्ट होता है—(स्फुट लघु-मधुर-चित्र-कांत-शब्द-समयोदारालंकृत गद्य-पद्य), एपिग्राफिका इंडिका, viii, पृ० 44. स्फुट, मधुर, कांत और चित्रगुण संभवतः प्रसाद, माधुर्य, कांति इत्यादि वे गुण हैं, जिनकी चर्चा दंडी ने की है। यह शिलालेख गद्य शैली में है, जिसमें दीर्घ समस्त पदों और शास्त्र-सम्मत अनुप्रास इत्यादि शब्दालंकारों का बाहुल्य है।
2. ई. एच. जांस्टन, अपने ग्रंथ के संशोधित सं० (पंजाब विश्वविद्यालय प्रकाशन, कलकत्ता, 1936) में इस मत से सहमत प्रतीत होता है। (भाग ii, प्रस्तावना, पृ० lxxxix).

की अनंत राशि प्राप्त की है। इन प्राचीन काव्यकारों ने काव्यालंकारों का परिष्कृत और सुविचारित रीति से प्रचुर प्रयोग किया है और काव्य के नियमों का सामान्य रूप से पालन किया है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है, और ऐसे तथ्य से यह अनुमान लगाना युक्तियुक्त होगा कि इस काल में काव्यशास्त्र के ज्ञान का सामान्य रूप से विस्तार हो चुका था।

सुबंधु और बाण की मधुर आख्यायिकाओं में भी प्रयत्न-प्रसूत सज्जा की यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। सुबंधु ने अपनी रचना, वासवदत्ता को प्रत्यक्षर-श्लेषमय विन्यास-वैदग्ध्य-निधि होने के कारण अपने को गौरवान्वित माना है।[1] इस गर्वोक्ति की पुष्टि वासवदत्ता में प्राप्त शब्द-चमत्कार से सर्वत्र होती है। अपनी रचना में ही उन्होंने उत्तम श्लेष तथा वक्र-प्रयोग में पटु दीर्घोच्छ्वासमय[2] सत्काव्य प्रबंधों के विषय में कहा है। उन्होंने 'उत्प्रेक्षा' और 'आक्षेप'[3] नामक दो महत्त्वपूर्ण अलंकारों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। बाण ने भी कादंबरी के एक आरंभिक श्लोक में 'उपमा', 'जाति' ('स्वभावोक्ति'), 'दीपक' और 'श्लेष' नामक काव्यालंकारों, काव्य-रस और 'शय्या' का उल्लेख करते हुए निस्संदेह अलंकारशास्त्र का परिचय व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त बाण ने शब्द पहेलियों, यथा, 'अक्षर-च्युत', 'विंदुमती', 'गूढ़-चतुर्थपाद' और 'प्रहेलिका'[4] का भी उल्लेख किया है। यही नहीं, उन्हें 'कथा' और 'आख्यायिका'[5] के अलंकारशास्त्रीय भेद का भी ज्ञान प्रतीत होता है।

1. प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रपंच विन्यास-वैदग्ध्यनिधि प्रबंधम्। सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबंधुः सुजनैकबंधुः ॥ सं० श्रीरंगम्, 1906, पृष्ठ 357—8
2. तुलना कीजिए—भामह i. 25-26; दंडी, i.26.27
3. सत्कवि-काव्य-रचनामिवालंकारप्रसाधिताम, पृ० 303; दीर्घोच्छ्वासरचनाकुलं सुश्लेषवक्त्रघटनापटु सत्यकाव्यविरचनामिव, पृ० 238-39; उत्प्रेक्षाक्षेपौ काव्यालंकारेषु, पृ० 146. कलकत्ता संस्करण में इनमें से प्रथम पाठ 'बौद्धसंगति-मिवालंकारभूषिताम्' है और शिवराम की टीका (18 वीं शती) में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—'अलंकारो नाम धर्मकीर्तिकृतो ग्रंथविशेषः।' अभी तक धर्मकीर्ति का बौद्धसंगत्यलंकार नामक कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ है। एक अत्यंत अर्वाचीन टीकाकार के अप्रमाणित कथन को अनावश्यक रूप से विश्वसनीय नहीं मान लेना चाहिए। लेवी का यह कथन संभवतः सही है कि सुबंधु ने धर्मकीर्त्ति की किसी साहित्यिक रचना का उल्लेख नहीं किया है। (Bulletin de l 'E' cole d' Extreme Orient 1903, पृ० 18).
4. सं० पीटर्सन, पृ० 7 सुबंधु ने (पृ० 146) शृंखलाबंध का उल्लेख किया है।
5. वही, पृ० 7 और हर्षचरित पृ० 7—अलंकार शब्द के अर्थ के विषय में एफ० डब्ल्यू० टामस को प्रदत्त (बंबई 1939) जे० गोंडा के ग्रंथ 'वाल्यूम आफ ईस्टर्न एंड इंडियन स्टडीज' पृ० 97-114 का अवलोकन करें; किंतु संस्कृत के अलंकार साहित्य में अलंकार शब्द का जैसा अर्थ है, उससे इसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। ए० बी० कीथ ने के० बी० पाठक को प्रदत्त (पूना BORS, 1934) कमेमोरेटिव एसेज, पृ० 311-14 में ही प्रयत्न किया है।

बाण ने हर्षचरित iii, अनु-5 में 'भरत-मार्ग-भजन-गीतम्' का और (ii.4) में आरभटी वृत्ति (भरत द्वारा xx, 54 में विवेचित) में अभिनय करते हुए नटों का उल्लेख किया है।

6

इन तथ्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि परिष्कृत गद्य और पद्य साहित्य की वृद्धि के साथ-साथ, छठी शती के अंत तक, काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में, कम से कम अलंकार विषयक नियमों के क्षेत्र में, काफी प्रगति हो चुकी थी। काव्यशास्त्र के प्राचीनतम ज्ञात आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। भामह ने मेधावी और अन्य विद्वानों का उल्लेख किया है और उनकी रचनाओं का निश्चित रूप से उपयोग भी किया है। इसी प्रकार दंडी ने भी प्राचीन ग्रंथों का उल्लेख किया है। उनके एक टीकाकार ने इस संबंध में दंडी के पूर्ववर्ती दो आचार्यों—कश्यप और वररुचि—का उल्लेख किया है। अलंकारशास्त्र विषयक आचार्यत्व के बारे में, जिसकी अन्यत्र कहीं जानकारी नहीं मिलती, प्राचीन आचार्यों के मतों के उद्धरणों से तो यह सिद्ध होता ही है कि भामह, दंडी आदि से पूर्ववर्ती आचार्य हुए हैं, पर इस बात की पुष्टि प्राप्य ग्रंथों की विवेचन-शैली की प्रौढ़ता से भी होती है, क्योंकि जैसी प्रतिपादन-शैली मिलती है, वह एकाएक विकसित नहीं हो सकती। उस रूप में विकसित होने से पूर्व अनेक ग्रंथ अवश्य रचे जा चुके होंगे। इस कल्पना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि प्राप्य ग्रंथों के आचार्यों ने अनेक पारिभाषिक शब्दों और सूत्रों (वक्रोक्ति, रीति, गुण) का प्रयोग बिना किसी व्याख्या के ही किया है, जिसका तात्पर्य है कि इनके अर्थ पहले से ही सुविदित थे और पूर्ववर्ती ग्रंथों में प्रतिपादित हो चुके थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्र के ही समानधर्मा नाट्यशास्त्र का उद्भव कुछ पहले हो चुका था और उसी शास्त्र से काव्यशास्त्र को एक आदर्श स्वरूप तथा अलंकारशास्त्र के महत्वपूर्ण रस-सिद्धांत की प्राप्ति हुई। अपेक्षाकृत प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों और बौद्ध ग्रंथों में भी अभिनय का उल्लेख मिलता है। पाणिनि-जैसे प्राचीन आचार्य ने भी कृशाश्व और शिलाली नामक 'नट-सूत्र'-रचयिताओं का उल्लेख (iv, 3, 110-11)[1] किया है। नाट्य-शास्त्र विषयक प्राचीन ग्रंथों का अस्तित्व इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि काव्यशास्त्र के सभी प्राचीन लेखकों—भामह, दंडी और वामन आदि—ने इस

---

1. यह द्रष्टव्य है कि अमर और शाश्वत ने अपने-अपने कोश में अलंकार विषयक शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या नहीं की है, यद्यपि उन्होंने नाट्यशास्त्रीय शब्दों का और रस का स्पष्ट उल्लेख किया है।

विषय का विवेचन स्वयं नहीं किया और पाठकों को तत्संबंधी ग्रंथों का अध्ययन करने का परामर्श दे दिया है। संभवतः इन रचनाओं के प्राचीनतर स्वरूप लुप्त हो चुके हैं। किंतु 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र', जिसे प्राप्य ग्रंथों में प्राचीनतम और प्रामाणिकतम माना जाता है, के वर्तमान पाठ को भी संभवतः छठी शती का परवर्ती नहीं कहा जा सकता। स्वयं भरत ने नाटकीय भाषा के आलंकारिक साधनों अर्थात् काव्य-गुणों और अलंकारों की चर्चा पूरे एक अध्याय में की है। इससे प्रतीत होता है कि अलंकार का शास्त्रीय रूप भरत से भी प्राचीन है और भामह और दंडी ने जिस मत-परंपरा का अनुसरण किया है, वह काल की दृष्टि से चाहे भरत से परवर्ती हो, किंतु वर्ण्य विषय की दृष्टि से संभवतः भरत से पूर्ववर्त्ती ही है। वास्तव में, 'अलंकार', 'रीति' और 'ध्वनि' के सिद्धांतों पर आधारित विभिन्न मत, भामह, दंडी और ध्वनिकार के वर्तमान ग्रंथों में प्रतिष्ठित होने से कुछ पहले ही विकसित हो चुके थे। इन लेखकों में कोई भी अपने सिद्धांत का एकमात्र प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। सिद्धांत रूप से प्रतिष्ठित होने से पूर्व अवश्य ही एक प्रयोगात्मक स्थिति रही होगी और यदि उस काल की रचनाएँ आज उपलब्ध होतीं तो उनसे सिद्ध हो पाता कि भामह, दंडी और ध्वनिकार के सिद्धांतों का विकास किस प्रकार हुआ। अतएव, इन लेखकों के ग्रंथों को हम इस शास्त्र का श्रीगणेश तो नहीं मान सकते, किंतु उन्हें इस शास्त्र के ऐतिहासिक और रचनात्मक युग का आदि-प्रवर्तक मान सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर बिना किसी पूर्वाग्रह के यह माना जा सकता है कि अलंकारशास्त्र का जन्म एक पृथक् शास्त्र के रूप में, ईसवी सन् के आरंभ में हुआ और ईसा की पाँचवीं और छठी शतियों में अपेक्षाकृत विकसित रूप में उसकी प्रगति हुई। भरत के नाट्य-शास्त्र और भामह के काव्यालंकार के कुछ अध्यायों में प्रकट होने से पूर्व का इसका सारा विकास-क्रम दुर्भाग्यवश अंधकाराच्छन्न है।

———

अध्याय 2

भरत

1

यद्यपि भारतीय परंपरा 'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध रचयिता भरत को 'मुनि' की पदवी से विभूषित करती है और उन्हें पौराणिकयुगीन मानती है, किंतु फिर भी उनके वास्तविक स्थितिकाल के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद पाया जाता है तथा उनकी तिथि ईसापूर्व दूसरी शती से लेकर दूसरी शती ईसवी तक की अवधि में भिन्न-भिन्न समयों में ठहराई गई है।[1] यह सामान्यत: एक स्वीकृत तथ्य है कि नाट्यशास्त्र, संगीत और तत्संबंधी विषयों के लेखकों में वे ही एक ऐसे प्राचीनतम लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ आज भी विद्यमान हैं, किंतु इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि उनकी रचना का उपलब्ध रूप कहाँ तक उनकी रचना के मौलिक रूप का प्रतिनिधित्व करता है। अभिनव-गुप्त नाट्यशास्त्र की टीका की प्रस्तावना के दूसरे श्लोक में कहते हैं कि जिस रूप में भरत का ग्रंथ उन्हें ज्ञात था, उसमें छत्तीस अध्याय (षट्-त्रिशकं भरतसूत्रमिदम्) थे। अभिवनगुप्त को कुछ अध्यायों के दो पाठांतरों का भी पता था (द्विविध:पाठो दृश्यते—अध्याय 15)। इस अध्याय के अंत में दी हुई ग्रंथ-सूची में उल्लिखित विभिन्न प्रकाशित संस्करणों की तुलना से तथा उपलब्ध पांडुलिपियों से भी प्रतीत होता है कि इनमें अध्यायों की संख्या, अध्याय-क्रम, तथा प्रत्येक अध्याय के श्लोकों की संख्या में एकरूपता नहीं है। इस प्रकार उसका पाठ अनिश्चित और असंतोषजनक है।[2] इन सब बातों

---

1. देखिए, रेनो—Annales du Mus. Guimet, ii, पृ० 66, और ग्रोसे के संस्करण की प्रस्तावना; पिशेल GgA, 1885, पृ० 763; भंडारकर का IA, xli पृ० 157; हरप्रसाद शास्त्री—जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल पृ० 352; Cat. Sansk. Mss. एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल vi. 1931 पृ० Clxxviii; सिल्वां लेवी; इण्डियन एंटीक्वेरी, xxxiii. पृ० 63; स्टेन कोनो Ind. Drama, पृ० 2; पी० वी० काणे —इंडियन एंटीक्वेरी, त xlvi (1917), पृ० 171-83 और हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 39 और मनमोहन घोष JDL xxv. 1934, पृ० 59।

2. उदाहरणार्थ, डेकन कॉलेज की एम० एस० संख्या 68 (अथवा 69) 1873-74 में 38 अध्याय हैं। इस प्रकार की कुछ असंगतियों के लिए देखिए पी० वी० काणे की हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 10-14. यह ध्यान रहे कि 'अभिनव टीका' का संपूर्ण पाठ न तो किसी प्रकाशित प्रति में और न ही किसी हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध है। अभिनव ने अनेक स्थलों पर दूसरों के मतों का 'केचित्' अथवा 'अन्ये' कहकर उल्लेख किया है तथा कई पाठों पर विचार-विमर्श किया है। (पृ० 50, 93, 96, 226, 241, 269, 340 इत्यादि।)

से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप प्राप्त करने से पूर्व, भरतोत्तर काल में यह पाठ अनेक हाथों में पड़ चुका था। इस तथ्य का, तथाकथित रचयिता की तिथि से गहरा संबंध है।

विद्यमान पाठ में कई ऐसे स्थल हैं, जो समय-समय पर इसमें किए गए प्रक्षेपों तथा इसके स्वरूप पर संभवतः कुछ प्रकाश डालते हैं। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के पुष्पिका लेख में ग्रंथ के उत्तरार्ध का नाम 'नंदिभरत'[1] दिया गया है, जिसने संभवतः उसके संपादक को द्विविधा में डाल दिया था। राइस (Rice) ने 'नंदि-भरत' नामक संगीत-विषयक ग्रंथ का उल्लेख किया है।[2] मद्रास केटलॉग xii संख्या 13009 के अंतर्गत संगीत और अभिनय-संबंधी ग्रंथों की एक हस्तलिपि में नाट्य-मुद्रा विषयक ग्रंथ के एक अध्याय का नंदिभरतोक्त संकरहस्ताध्याय नाम से उल्लेख किया गया है। ये ग्रंथ, जो शायद बाद में संकलित किए गए और जिनका नाम नंदि अथवा नंदिकेश्वर पर पड़ा, जो परंपरा के अनुसार संगीत, कामशास्त्र और नाट्यकला के आचार्य थे। वात्स्यायन (i-1-8) ने नंदी का एक पाठ उद्धृत किया है। ऑफ्रेक्ट के विचार में यह नंदी वही हैं, जिनका उल्लेख 'पंच साधक' (i-13) और 'रति-रहस्य' (i-5)[3] में कामशास्त्र के लेखक नंदिकेश्वर के रूप में किया गया है। नान्यदेव ने उन्हें नंदी कहा है।

नाट्य-कला पर अभिनय-दर्पण[4] नामक ग्रंथ नंदिकेश्वर-रचित माना गया है। इस ग्रंथ में अनेक बार भरत और उनके विचारों का उल्लेख मिलता है (उदाहरणार्थ श्लोक 12, 128, 149, 159, 162), इसलिए इस ग्रंथ का संकलन बाद में ही हुआ होगा। जैसा कि पहले कहा गया है, राजशेखर ने भी रस-शास्त्र के आचार्य के रूप में नंदिकेश्वर का उल्लेख किया है, किंतु नंदिकेश्वर संगीत के आचार्य के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं और शार्ङ्गदेव (13वीं शती) ने अपने ग्रंथ 'संगीत-रत्नाकर' (i-1-17) में, और उनके टीकाकार कल्लिनाथ (पृ० 47) ने उन्हें अपने ग्रंथ का आधार-स्रोत माना है। इनके अतिरिक्त संगीत के ये ग्रंथ भी नंदिकेश्वर-लिखित माने गए हैं :

1. समाप्तश्चायं [ग्रंथः] नंदिभरत-संगीत-पुस्तकम्।
2. मैसूर एंड कुर्ग कैटेलॉग, पृ० 292.
3. पंच-सायक, सदानंद शास्त्री घिलाडिया, लाहौर, 1921; रति-रहस्य, सं० वही, तिथि नहीं। देखिए, शमिट (Schmidt), इंडियन इरोटिक, 1911, पृ० 46, 59.
4. सं०-मनमोहन घोष, कलकत्ता, 1934 (लगभग 330 पद्य), अनुवादकः ए० कुमारस्वामी तथा जी० के० डुगीराला, कैंब्रिज मैस० 1917।

'नंदिकेश्वर-मते तालाध्याय' (वेबर 1729), और 'भरतार्णव',[1] जो नंदिकेश्वर के ग्रंथ का सुमति-कृत संक्षिप्त रूप माना जाता है और जिसमें नाट्यमुद्राओं और ताल-विषय का विवेचन है। अल्लराज-रचित रस-रत्न-प्रदीपिका में भी नंदिकेश्वर के ग्रंथ 'नाट्यार्णव' का उल्लेख मिलता है। अभिनव गुप्त का कथन है (भरत पर टीका, गायकवाड संस्करण, अध्याय, 29) कि 'मैंने नंदिकेश्वर के ग्रंथ को स्वयं तो नहीं देखा (साक्षान्न दृष्टं) किंतु कीर्तिधर ने जो कुछ लिखा है, उसी का विश्वास करते हुए (यत्-तु कीर्तिधरेण दर्शितं——तत् प्रत्ययात्) मैं संक्षेप में नंदिकेश्वर के मत का निरूपण करूँगा', किंतु वे 'नंदि-मत' नामक पुस्तक से परिचित (पृ० 171) थे। उसमें 'रेचित' अथवा 'रेचक' नामक अंगहार-विषयक एक श्लोक उद्धृत किया गया है। अन्यत्र, उनका कथन है कि नंदिमत का अर्थ है तंडु-मत, क्योंकि उनके विचार में नंदि और तंडु एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। भरत के ग्रंथ के उत्तर भाग का, जिसके एक अंश में अन्य विषयों के साथ संगीत का विषय भी है, यह नामकरण देखने से यह संभव प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का नंदिकेश्वर के विचारों के अनुरूप पश्चवर्ती काल में पुनः संकलन किया गया होगा या उसे नए रूप में व्यक्त किया गया होगा।

इसी प्रकार लक्ष्मण भास्कर रचित 'मतंग-भरत'[2] (समय अनिश्चित) का पता चला है, जिसमें प्रत्यक्षतः मतंग-मत की चर्चा प्रतीत होती है। मतंग एक प्राचीन आचार्य थे। अभिनवगुप्त ने (मतंग-मुनि के रूप में) उनका उल्लेख किया है और उनके दो अनुष्टुप् श्लोक (अध्याय XXX में) उद्धृत किए हैं, तथा शार्ङ्गदेव और उसके टीकाकार (i. 3. 24-25. i. 4.9; i. 8. 19 इत्यादि पर) ने, शिंगभूपाल (i. 51) ने, और अरुणाचलनाथ ने रघुवंश की टीका में (पृ० 100) 'तथा च मातंगे' कहकर, मतंग का उल्लेख किया है। बृहत्-देशी नामक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है, जिसे मतंग लिखित बताया जाता है।[3]

1. हस्तलिपि-केटलाग, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xii 460-63, मद्रास केटलॉग *xxii*, 13006.08.
2. ऐसा प्रतीत होता है कि समय पाकर 'भरत' शब्द सामान्यतः नाट्यकला और अभिनयकला का द्योतक हो गया और नट का भी। राघवभट्ट ने स्पष्ट रूप से 'शकुंतला' में आदिभरत का उल्लेख किया है, जो शायद इन परवर्ती भरतों से भिन्न, और नाट्यशास्त्र के लेखक हो सकते हैं। इस प्रश्न पर श्री एस० के० दे लिखित 'दि प्रॉब्लम ऑफ भरत ऐंड आदि-भरत' शीर्षक लेख 'आवर हरिटेज' में पृ० *193-207*, सम प्रॉब्लम्स ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, कलकत्ता *1959*, पृ० *156-76* में पुनः प्रकाशित।
3. त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, *1928*.

नाट्य-शास्त्र के अंतिम अध्याय के उपर्युक्त पुष्पिका-लेख में एक भविष्य-वाणी है कि अवशेष विषय पर कोहल[1] (जो उसी मत के अनुयायी थे[2]) के द्वारा विस्तार से चर्चा की जाएगी। इस बात से यह प्रमाणित होता है कि इस विषय पर कोहल और नंदिकेश्वर के विचार प्राप्त हो जाने के कुछ काल पश्चात् इस को दुबारा लिखा गया था। नंदिकेश्वर की तिथि ज्ञात नहीं है, किंतु भरत के साथ कोहल को भी आठवीं शती समाप्त होते-होते दामोदर-गुप्त की पुस्तक 'कुट्टनी-मत' (श्लोक 81) में भरत के साथ एक प्राचीन आचार्य मान लिया गया था।

इस संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के दसवें श्लोक की टीका में अभिनवगुप्त ने कहा है कि यद्यपि नाट्य के, साधारण तौर से, पाँच अंग माने जाते हैं, किंतु प्रस्तुत श्लोक में ग्यारह अंगों की परिगणना कोहल और अन्य[3] विद्वानों के मतानुसार है। टीकाकार ने नाट्य और गेय[4] विषयों पर इन विद्वानों के मतों का और भी अनेक बार उल्लेख किया है। और शिंगभूपाल (i. 51) ने उन्हें नाटक और तत्संबंधी कलाओं का आचार्य माना है। रूपक के भेदों का उल्लेख करते हुए हेमचंद्र ने कहा है (पृ० 329, और पृ० 325)—प्रपंचस्तु भरत-कोहलादि-शास्त्रेभ्योऽवगंतव्यः। नाट्य-विद्या के अधिकांश लेखकों ने कोहल को उपरूपक का प्रवर्तक माना है। कुमार-संभव के सातवें अध्याय के श्लोकों की टीका में मल्लिनाथ ने ताल की व्यवस्था करते हुए कोहल की परिभाषा उद्धृत की है। उन्हेंताललक्षण नामक संगीत-विषयक ग्रंथ का प्रणेता माना जाता है, जो कदाचित् परवर्ती काल का संग्रह ग्रंथ है।[5] उनका कोहलीय-अभिनय-शास्त्र[6] नामक ग्रंथ भी प्राप्त है, जिसमें कोहल के सिद्धांतों का निरूपण माना जाता है।

---

1. शेषं प्रस्तार-तंत्रेण कोहलः कथयिष्यति, xxxvii. 18.
2. देखिए xxxvii, 24.
3. अभिनय-त्रयं गीतातोद्ये चेति पंचांगं नाट्यम्—अनेन तु श्लोकेन कोहलादि मतेनैकादशांगत्वं उच्यते। (vi.10 की टीका)।
4. उल्लेखों के लिए देखिए, पी० वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 24, 54-55; और देखिए उनकी रचना फ्रेग्मेंटस् ऑफ कोहल इन प्रोसीडिंग्स ऑफ आल इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस, (पटना), 1930, पृ० 577-80. अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र का उन्हें ज्ञात संपूर्ण पाठ, स्वयं भरत-रचित था।
5. इंडिया आफिस कैटलाग 3025, 3089; तेलुगु टीका-सहित, 12992.
6. मद्रास कैटलाग, 12989, तेलुगु टीका सहित।

राग-विषयक 'कोहल-रहस्य'[1] नामक ग्रंथ भी कोहल ऋषि रचित माना गया है। इसमें कम-से-कम तेरह अध्याय हैं। इसमें कोहल को भरत-पुत्र कहा गया है। इस ग्रंथ में कोहल ने मतंग की प्रार्थना पर राग-शास्त्र का उपदेश किया है।[2] कोहल के भरत का पुत्र होने के उल्लेख का आधार कदाचित् नाट्य-शास्त्र i.26 (सं० चौखंबा 1929; सं० गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ौदा 1956; यह श्लोक निर्णयसागर प्रेस, सं० 1894 में नहीं मिलता) में मिलता हैं, जिसके अनुसार कोहल, शांडिल्य, धूर्तिल इत्यादि भरत-पुत्र हैं।

अभिनवगुप्त के कथनानुसार (अभि० भा० पृ० 25) कोहल ने 'रत्नावली' (i. 5) के श्लोक 'जितं उडुपतिना—।' को भरत के नियमानुसार नांदी का उदाहरण बताया है। इस आधार पर पी० वी० काणे का विचार है कि कोहल 'रत्नावली' की रचना के अर्थात् 650 ईसवी के पश्चात् हुए हैं, किंतु यह निष्कर्ष संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भरत और कोहल आठवीं शती में ही प्राचीन आचार्यों के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अभिनवगुप्त के उल्लेखों और उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि कोहल का अधुना लुप्त ग्रंथ अधिकांशतः श्लोकबद्ध था।

बर्नेल (पृ० 606) ने संगीत-विषयक दत्तिल-कोहलीय नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से कोहल और दत्तिल के मतों का संग्रह-ग्रंथ है। दत्तिल का नाम कहीं दंतिल और कहीं धूर्तिल भी मिलता है। दामोदर गुप्त (श्लोक 123) ने दत्तिल का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने दत्तिलाचार्य नाम सें उनका स्मरण किया है और उनको मुख्यतः संगीत का एक प्राचीन आचार्य कहा है तथा (नाट्यशास्त्र के अठाईसवें अध्याय की टीका में तथा पृ० 23 पर) उनके एक अनुष्टुप् श्लोक को उद्धृत किया है। शार्ङ्गदेव (i. 1. 16) और उनके टीकाकार कल्लिनाथ (पृ० 49), शिंगभूपाल (i. 51) तथा संगीत के अन्य अनेक ग्रंथकारों ने भी दत्तिल का प्राचीन आचार्य के रूप में उल्लेख किया हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न संगीत ग्रंथों में दत्तिल का उल्लेख हैं। संगीत विषय पर 'दत्तिल' नामक एक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुका है।[3]

---

1. मद्रास Trm I. C. 787 (केवल तेरहवाँ अध्याय)
2. एम० आर० कवि के संस्करण, (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज) और चौखंबा संस्कृत सीरीज में यह श्लोक (i.26) मिलता है, किन्तु उनमें यह कहा गया है कि निरीक्षित हस्तलिपि में यह श्लोक नहीं है। अभिनवगुप्त ने इसकी टीका लिखी है (पृ० 18), उन्होंने कोहल के विचारों का पृ० 25, 103, 173, 182, 266 इत्यादि पर उल्लेख किया है।
3. त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, 1930.

इसी प्रकार शिंगभूपाल (i. 51) ने नाट्यशास्त्रकार के रूप में शांडिल्य का उल्लेख किया है। भरत के एक पूर्ववर्ती आचार्य काश्यप अथवा कश्यप मुनि तथा उनके राग विषयक मत का उल्लेख अभिनवगुप्त (अध्याय 29, पृ० 394 पर) और नान्यदेव[1] ने किया है।

सागरनंदी ने (सूत्रधार, 1.1101) पर नाट्यविद्या के एक लेखक शात-कर्णी का उल्लेख किया है। वामन ने (i. 3.7) कलाशास्त्र के आचार्य विशाखिल का उल्लेख किया है, अभिनवगुप्त (अध्याय 28, 29, पृ० 31-33 पर) और नान्यदेव ने उन्हें संगीतशास्त्र का आचार्य कहा है। राजशेखर ने जिन पराशर अथवा पाराशर नामक आचार्य का नामोल्लेख किया है, उनकी गणना नाट्यशास्त्र (i-32) में भी भरत-पुत्र के रूप में की गई है। नांदी और तोटक के विषय में उनके मत को सागरनंदी (11.1091, 2770, 3202-3) ने उद्धृत किया है। इसी प्रकार नखकुट्ट एक अन्य भरत-पुत्र हैं। सागरनंदी (11.2668, 2994) ने इनका उल्लेख किया है। पौराणिक नारद को भी गांधर्व-वेद का प्रवर्तक माना गया है और 'भाव-प्रकाशन' में कहा गया है कि नारद ने ब्रह्मा से स्वयं रस विषयक ज्ञान प्राप्त किया और बाद में भरत को उसका उपदेश दिया।

इन संकेतों से यह बात संभव हो सकती है कि भरत की मौलिक रचना और उनके नाट्यशास्त्र के उपलब्ध रूप में पहुँचने के बीच की अवधि में कोहल और अन्य लोग उत्पन्न हुए और इसलिए उनके विचार नाट्यशास्त्र के उस रूप में समाविष्ट हो गए, जिसे अब भरतकृत कहते हैं और भावी पीढ़ियों के लोगों ने निस्संशय और निर्विवाद रूप से उन्हें असली मान लिया। नाट्यशास्त्र की पाठ-समस्या, कोहल और अन्य प्राचीन लेखकों द्वारा लिखित ऐसे ग्रंथों की पुनः प्राप्ति से ही हल हो सकती है। संभवतः अभिनवगुप्त को ऐसे कुछ ग्रंथ उपलब्ध थे।

समावेशन की प्रक्रिया बहुत प्राचीन काल में हुई होगी और प्रत्यक्ष रूप से आठवीं शती के अंत तक समाप्त हो चुकी होगी, जबकि इस ग्रंथ को न्यूनाधिक वर्तमान आकार प्राप्त हो गया होगा। उद्भट ने इसी समय वास्तव में 'नाट्य-शास्त्र' के श्लोक vi. 15 के पूर्वार्द्ध अध्याय 4, श्लोक 4 को यथावत् ग्रहण कर लिया और उसके उत्तरार्द्ध में केवल इतना परिवर्तन किया कि भरत द्वारा माने गए आठ

1. कश्यप के बारे में आगे दंडी के संदर्भ में देखिए। पृ० 239 पर अभिनवगुप्त द्वारा काश्यपाचार्य का उल्लेख प्रमाणित करता है कि उनकी रचना के कुछ अंश पद्यमय थे।

रसों के अतिरिक्त शांत नामक नवें रस का भी समावेश हो जाए।[1] अभिनवगुप्त ने दसवीं शती के अंत में विद्यमान पाठ पर टीका की है। उन्होंने स्वयं कई पूर्ववर्ती टीकाकारों के नाम गिनाए हैं। शायद उनमें से लोल्लट और शंकुक आठवीं और नवीं शती में हुए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र वर्तमान आकार में, और पहले नहीं तो भी, आठवीं शती में अवश्य विद्यमान था।

2

इसके विपरीत, एक जनश्रुति तथा भवभूति के कथनानुसार पौराणिक भरत 'तौर्यत्रिक सूत्रकार'[2] थे तथा उनका मूल ग्रंथ सूत्रबद्ध था। इसकी सत्यता की संभावना पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'नट-सूत्र' के उल्लेख से बढ़ जाती है, क्योंकि उससे प्रकट होता है कि पाणिनि के समय में नटसूत्र विद्यमान थे, रस और भावों का निरूपण करनेवाले नाट्य-शास्त्र के अध्याय vi और vii में, सूत्र-पद्धति के कुछ अवशेषांश का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि छठे अध्याय में रसोत्पत्ति की प्रतिपादक उक्ति[3] संक्षिप्त सूत्र रूप में ही है। अध्याय का अवशिष्ट भाग उस सूत्र का भाष्य अथवा वृत्ति है, जो गद्य-रूप में विवेचन और श्लोकों से परिपूर्ण हैं। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि अध्याय के आरंभ में ही पूर्व-व्याख्या जोड़ दी गई है, ताकि पाठ का यह विचित्र अंश शेष ग्रंथ से बेमेल न लगे। ऐसा कहा गया है कि भरत ने, ऋषियों के निवेदन पर, 'संग्रह', 'कारिका' और 'निरुक्त' के लक्षणों की व्याख्या की और प्रसंगवश, पाठ के एक अंश को सूत्र रूप में देकर 'सूत्रग्रंथ' का यह उदाहरण दिया। 'संग्रह', 'कारिका' 'निरुक्त' और 'सूत्र' के लक्षणों की

---

1. यह बात ध्यान देने योग्य है कि उल्लिखित स्थल (देखिए पृ० 21 पा०टि०) के ठीक बाद ही अभिनवगुप्त ने लिखा है कि 'अनेन तु श्लोकेन कोहलादि मतेनैकादशांगत्वं उच्यते, न तु भरते, तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात् निर्देशे चैतत् क्रमव्यत्यासनादित्युद्भटः नेति भट्ट लोल्लटः—वयं त्वत्र तत्त्वं अग्रे वितनिष्याम इत्यास्तां तावत् (भरत, अध्या० vi, श्लोक 10)। उद्भट और लोल्लट में प्रसंग-विशेष की पाठ व्याख्या के संबंध में जो मतभेद है, उससे इस निष्कर्ष को बल मिलता है कि उद्भट भी, संभवतः उसी पाठ से परिचित थे, जिससे अभिनवगुप्त थे और जो संप्रति विद्यमान है।
2. उत्तर-चरित, अंक iv, श्लोक 22 (निर्णय सागर प्रेस संस्करण 1906, पृ० 120) अभिनव गुप्त ने अपनी टीका में भरत के ग्रंथ को सूत्रबद्ध ग्रंथ कहा है।
3. 'तत्र विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः' ग्रोसेट संस्करण, पृ० 87, 1.8, काव्यमाला संस्करण पृ० 62, 1. 6. इस उक्ति को सभी परवर्ती लेखकों ने 'सूत्र' कहा है। इनमें अभिनवगुप्त के साथ अनुमानतः उनके पूर्ववर्ती लोल्लट इत्यादि आचार्य भी शामिल हैं। सूत्र-भाष्य पद्धति के अन्य उदाहरणों के लिए देखिए पी० वी० काणे की हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 15-16। इस पुस्तक में नाट्य-शास्त्र के पाठसंबंधी निर्देश सामान्यतः काव्यमाला संस्करण के हैं।

यह चर्चा अप्रासंगिक है और केवल लीपापोती के लिए की गई है, क्योंकि अन्यथा कारिका-पाठ के बीच में प्राचीन सूत्र-शैली का यह अवशेष अनुचित लगता। अतः इसके प्रयोग के कारण की जो कल्पना की गई, वह सप्रयोजन है। यह आवश्यक नहीं है कि सूत्र-पाठ कारिका-पाठ से पुराना हो, क्योंकि वर्त्तमान सूत्र-पाठ में ही 'अनुबद्ध' अथवा 'अनुवंश्य' श्लोकों[1] की वृत्तियों के उद्धरण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वैसी सामग्री भी पहले विद्यमान थी। साथ ही साथ इस परंपरागत विश्वास का खंडन भी होता है कि भरत ही नाट्य-वेद के प्राचीनतम आचार्य थे। किन्तु यदि इस परंपरागत मान्यता को स्वीकार किया जाए कि भरत की मूल रचना सूत्रबद्ध थी तो विद्यमान पाठ का यह अंश मूल रूप का अवशेष माना जा सकता है। सूत्र-भाष्य पद्धति में इस प्रकार के अंश अध्याय 28 के 'आतोद्य-विधिं इदानीं वक्ष्यामः' से प्रारंभ होकर इकतीसवें अध्याय तक अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इसी प्रकार अध्याय xxxiii, 212 में 'वाद्य-विधानं वक्ष्यामि' तथा अध्याय xxiv, श्लोक 93 में 'अत्र सूत्रधार-गुणान् वक्ष्यामः' इत्यादि उदाहरण मिलते हैं।

यदि भरत के ग्रंथ के काल की अंतिम सीमा आठवीं शती को मान लिया जाय तो उसकी दूसरी सीमा का निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। विशेषतः ऐसी अवस्था में, जब प्रत्यक्षतः उसके बारे में दो तरह की बातें प्रचलित हैं, जो या तो परस्पर स्वतंत्र हैं अथवा एक दूसरे पर आधारित हैं। भवभूति का कथन कितना प्रामाणिक है, यह स्पष्ट नहीं है; क्योंकि यदि आठवीं शती के प्रथम चरण में भवभूति को भरत एक सूत्रकार के ही रूप में ज्ञात थे तो यह समझ में नहीं आता कि उसी शती के अंत में उद्भट ने कैसे भरत की कारिका का प्रयोग कर लिया और उसी का एकदम अनुकरण करते हुए लोल्लट और अन्य विद्वानों ने उसी पाठ पर टीकाएँ भी लिख डालीं। यह नहीं हो सकता कि आधी शती से कम की अवधि में पुराने रूप के सभी चिह्न मिट जायं और एक सर्वथा नवीन कारिका-पाठ उनकी जगह ले ले, जो बाद में एकमात्र प्रामाणिक पाठ माना जाय और सबसे विचित्र बात यह है कि हमें उसमें प्राचीन सूत्र-पाठ के अवशिष्ट अंश भी मिलते हैं। भवभूति के उल्लेख का एकमात्र संभव स्पष्टीकरण यह है कि ऐतिहासिक भरत, जो नृत्य, संगीत और वाद्य की तीनों कलाओं के सूत्रकार थे, भवभूति के समय में पौराणिक

---

1. प्रत्यक्ष रूप से पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा लिखित अनुबद्ध श्लोक प्रस्तुत विषय से संबंधित हैं। अनुवंश्य श्लोक (ऐसे श्लोक महाभारत में भी उपलब्ध हैं) अभिनवगुप्त के अनुसार वे हैं, जो गुरु-शिष्य-परंपरा से प्राप्त हुए हैं (अनुवंश-भवं शिष्याचार्य-परंपरासु वर्त्तमानम्) अध्याय vi; पृ० 25-26

भरत से अभिन्न माने जा चुके थे, इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि 'उत्तर-चरित' के एक स्थल पर स्पष्ट रूप से लव-मुख से यह पौराणिक आख्यान कह-लाया जाता है कि भगवान् वाल्मीकि ने राम-कथा की रचना के पश्चात् उसे भगवान् भरत को, जो तीनों कलाओं के सूत्र-कर्त्ता और देवताओं के नाट्याचार्य थे, दे दिया और भरत ने उसमें यथेष्ट हेर-फेर करके दिव्य अप्सराओं द्वारा उसे अभिनीत करवाया।

किन्तु पाठ-संबंधी कठिनाइयाँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। अध्याय 17, 28, 29, 31 तथा 34 में कारिकाओं के बीच में स्वतंत्र गद्य-खंड भी हैं। वे पाठ के अभिन्न अंग हैं और इसलिए उन्हें केवल वृत्ति नहीं माना जा सकता। वे कई बातों में गद्यात्मक स्मृति के अंशों से मिलते-जुलते हैं। साथ ही 'मेल-संहिता' से भी, जिसके लेखक संदिग्ध हैं, उपर्युक्त अनुवंध और अनुवंश्य श्लोक परवर्ती ग्रथों में प्राप्य 'परिकर' अथवा संग्रह-श्लोकों के सदृश हैं और निश्चित रूप से उनसे यह संकेत मिलता है कि उस विषय पर प्राचीन साहित्य रहा होगा। ये श्लोक सामा-न्यतः दो पृथक् स्रोतों से लिए गए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनमें से कुछ आर्या छंद में हैं और कुछ अनुष्टुप में। अभिनव ने आर्या-श्लोकों के संबंध में कहा है—vi. 85. पृ० 328 'ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः' मुनिना तु सुख-संग्रहाय यथास्थानं विनिवेशिताः।' उनका मत है कि कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों ने इन आर्या-श्लोकों को रचा था और भरत ने यथास्थान उनका विनिवेश कर लिया।

उपर्युक्त तथ्यों के कारण चर्चाधीन पाठ में प्रत्यक्ष रूप से ऐसी अवशिष्ट सामग्री है, जिसमें (1) स्वतंत्र रूप से विद्यमान गद्य-अंश हैं, (2) आर्या और अनुष्टुप् छंदों में अनुवंश्य श्लोक हैं, (3) सूत्र-भाष्य रीति के स्थल हैं और (4) वर्तमान कारिका रूप भी हैं, अतः इन सब रूपों के पारस्परिक संबंध की समस्या उत्पन्न हो जाती है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इस समस्या पर विस्तार से विवेचन करना तो संभव नहीं, किंतु इन स्थलों की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये विभिन्न शैलियाँ संभवतः समकालिक नहीं हैं। हाँ, सामान्य रूप से नाट्यशास्त्रीय रचनाओं के विविध रूपों के विकास के अनेक सोपानों को लक्षित अवश्य करती है; इससे लगता है कि विकास के प्रत्येक सोपान में शैली-विशेष के प्रति अधिक प्रेम रहा है। यदि हम विद्यमान कारिका-पाठ को लेकर विवेचन आरंभ करें तो देखेंगे कि उसमें प्राचीन सूत्र-भाष्य की शैली के चिह्न मिलते हैं और अनुमानतः कारिका-पाठ उसी का नया रूप है। उधर सूत्र-भाष्य पाठ में श्लोकबद्ध

शब्द अंश भी विद्यमान हैं, जिससे प्रतीत होता है कि उससे प्राचीनतर भी कोई कारिका-स्थिति थी और स्वतंत्र गद्य-अंश तो शायद इन शास्त्रीय ग्रंथों के प्राचीनतम रूप को लक्षित करते हैं।

उनके विकास-क्रम में इस प्रकार भेद किया जा सकता है—(1) गद्य ग्रंथों के निर्माण की अवस्था, (2) कारिका-लेखन की प्रयोगात्मक अवस्था, (3) सूत्र-भाष्य पद्धति की अवस्था, और (4) संहिता ग्रंथों के संकलन की अंतिम अवस्था, जिसमें फिर से कारिका-शैली[1] अपना ली गई है। कदाचित् धर्म-शास्त्र, वैदिक-शास्त्र और संभवतः काम-शास्त्र के क्षेत्रों में भी न्यूनाधिक इसी प्रकार की अवस्थाएँ देखने से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। प्राचीन ग्रंथों के लुप्त हो जाने के कारण किसी सिद्धांत की दृढ़ स्थापना करना तो कठिन है, किंतु यदि यह निष्कर्ष सामान्यतः ठीक हो तो ऐसा माना जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के विद्यमान पाठ में इन सभी शैलियों और रूपों के अवशेष सम्मिलित हैं। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यह नहीं है कि भरत की रचना भी इन सभी अवस्थाओं और रूपों अर्थात् गद्य के प्रारंभिक रूप से सुव्यवस्थित श्लोकवद्ध रूप तक में से गुजरी[2] हैं; हाँ, वर्तमान पाठ में इतनी सामग्री अवश्य विद्यमान है, जिससे पता चलता है कि गद्य और पद्य में पर्याप्त चिंतन हो चुका था और यह भी लक्षित होता है कि शायद यह ग्रंथ कभी सूत्र-भाष्य रूप में लिखा गया होगा और बाद में दूसरे स्रोतों से पर्याप्त सामग्री लेकर उसे सरल श्लोकवद्ध संहिता का नया रूप दे दिया गया होगा।

3

विविध पाठांतरों की समस्या को यदि एक बार छोड़ दें और नाट्यशास्त्र के विषय-सार पर विचार करें, तो अंतःसाक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रमुखतः उसके संगीत विषयक अंश का संकलन[3] चौथी शती ईस्वी

---

1. यह निष्कर्ष दसवीं शती से परवर्ती काल के ग्रंथों पर (वे ग्रंथ केवल नाट्यशास्त्र की शैली के अनुकरणमात्र थे) लागू नहीं होता। कारिका और सूत्र, दोनों ही शैलियाँ साथ-साथ विद्यमान थीं।

2. काणे के कथनानुसार (HSP-पृ० 16) नाट्यशास्त्र का मूल बीज रूप गद्य और पद्य-मिश्रित था। उनका यह भी मत है कि पहले के पाँच अध्याय कुछ बाद में जोड़े गए थे। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के ग्रंथ में 36 अध्याय हैं, यद्यपि उन्होंने सैंतीसवें अध्याय पर टीका लिखी है। उस अध्याय को एम० आर० कवि ने उत्तर भारतीय पाठांतर कहा है। श्री कवि के अनुसार दक्षिणी पाठ प्राचीनतर है और उसमें केवल 36 अध्याय हैं।

3. इंडियन एंटीक्वेरी, xii; पृ० 158 इत्यादि।

के लगभग ही हुआ होगा। यह भी संभव प्रतीत होता है कि ग्रंथ के शेष अंश भी उसी समय अपना वर्तमान स्वरूप धारण कर चुके हों। इस प्रकार के मिश्रित ग्रंथ में शकों, यवनों, पह्लवों और बाह्लीकों (यथा अध्याय xxxii, 103 चौ० सं०) के उल्लेख के आधार पर ग्रंथ-तिथि के विषय में पिशेल ने जो तर्क उपस्थित किए हैं, उनका मूल्य तो संदिग्ध है और उससे इस तिथि का निर्णय अंतिम रूप से नहीं हो सकता, किंतु उससे इस बात की संभावना तो बढ़ ही जाती है कि उसकी तिथि अधिक प्राचीन नहीं मानी जा सकती।

फिर भी, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत के ग्रंथ का सार रूप शायद भामह[1] से बहुत पुराना है, जिन्हें सातवीं शती के अन्तिम चरण में हुआ मान सकते हैं। काव्यालंकारों पर चर्चा करते हुए भामह ने उनका विचित्र किंतु सार्थक भेद निरूपण किया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि इन अलंकारों[2] का विकास और इनकी संख्या में वृद्धि होते-होते काफी समय बीता होगा। आरंभ में उन्होंने केवल पाँच काव्यालंकारों के (अध्या० ii, 4) नाम और लक्षण दिए हैं, जिन्हें उनके कथनानुसार अन्य लेखकों ने भी मान्यता दी है। वे हैं—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा। इनसे अलंकार-विकास की अवस्था लक्षित होती है। लगता है कि उसके बाद की अवस्था में छह अन्य अलंकार भी अस्तित्व में आए। भामह ने उनका उल्लेख अध्याय ii, श्लोक 66 में किया है। तत्पश्चात् उन्होंने दो अथवा, स्वभावोक्ति के साथ तीन, अलंकारों की गणना की है, जिन्हें मेधावी (अध्याय ii, श्लोक 88) जैसे लेखकों ने मान्यता दी थी। इन्हीं मेधावी ने (अध्याय ii, श्लोक 40) उपमा इत्यादि अलंकारों की भी गणना की है। अन्त में भामह ने एक अलग (अध्याय iii 1-4) में तेईस और अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए हैं।

अलंकार-साहित्य में यह एक सुविदित तथ्य है कि चिंतन की प्रगति के साथ-साथ काव्यालंकारों के भेद-निरूपण की भी प्रगति हुई और जिस प्रकार भामह ने इन अलंकारों का जिस क्रम से नामोल्लेख और वर्गीकरण किया है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्रारंभ में उल्लिखित पाँच अलंकारों में ही क्रमशः वृद्धि हुई और शास्त्र

---

1. दंडी ने रस-सिद्धांत से अपना परिचय जताने के अतिरिक्त (ii. 281, 283 इत्यादि), संधि, अंग; वृत्ति और लक्षण इत्यादि नाट्यसंबंधी शास्त्रीय शब्दों का उल्लेख किया है और उनके विवेचन के लिए 'आगमांतर' का (ii. 366) उल्लेख किया है।

2. तुलना कीजिए, जैकबी Sb. der preuss, Akad. xxiv, 1922, पृ० 220 इत्यादि।

की उन्नति के साथ-साथ यथासमय अन्य अलंकार मिलते चले गये। भरत के अलंकार-विवेचन से विदित होता है कि उन्हें चार अलंकारों के नाम ज्ञात थे—(xvi, 41) वे हैं यमक, रूपक, दीपक और उपमा। वास्तव में ये चार अलंकार भामह द्वारा वर्णित पाँच अलंकारों के सदृश ही हैं; क्योंकि अनुप्रास वर्णाभ्यास है और यमक पदाभ्यास; अतः अनुप्रास को भी यमक में ही समाविष्ट माना जा सकता है। अनुप्रास और यमक में इस प्रकार के भेदनिरूपण से यह भी प्रकट होता है कि भामह के समय तक इन काव्यालंकारों के प्रसंग में कितना सूक्ष्म विवेचन हो चुका था। अतएव यह स्पष्ट है कि भरत के ग्रंथ की रचना उस काल में हुई, जब अलंकारों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई थी। भरत के नाट्यशास्त्र तथा भामह के काव्यालंकार के बीच अधिक नहीं तो कम से कम एक पूरा युग अवश्य बीता होगा, जिसमें काव्यालंकारों की संख्या में इतनी वृद्धि हुई कि चालीस तक पहुँच गई[1]। इसी मध्यवर्ती अवस्था में मेधावी और अन्य लेखक हुए होंगे, जिनका उल्लेख भामह ने किया है। उनकी रचनाओं के लुप्त हो जाने के कारण भामह द्वारा इंगित विकास का अन्वेषण करना कठिन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत का उपदेश कदाचित् कालिदास से पुराना है, क्योंकि कालिदास ने सामान्यतः भरत के नाट्यशास्त्रीय विधान[2] का पालन किया है। उन्होंने विक्रमोर्वशीय (ii. 18) में भरत का उल्लेख पौराणिक नाट्याचार्य के रूप में किया है।

रघुवंश (xix, 36) में कालिदास ने अंग-सत्व-वचनाश्रय नृत्य का उल्लेख किया है, जो मल्लिनाथ के कथनानुसार भरत की इस उक्ति[3] से मेल खाता है 'सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागंग-सत्वजः।' इसी प्रकार कुमारसंभव (vii, 91) में भी नाट्यशास्त्रोक्त xx-17 (चौखंबा सं० xxii. 17) संधियों और ललितांग-हार का उल्लेख है।

---

1. भट्टि काव्य छठी शती के अंत और सातवीं शती के आरंभ के मध्यवर्ती काल की रचना है। इसमें विभिन्न अड़तीस काव्यालंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं, जिनसे पता चलता है कि उनके समय तक अलंकारों के सूक्ष्म भेद-निरूपण की प्रक्रिया का वास्तव में बहुत विकास हो चुका था।

2. जिन नाटकों को भास-रचित माना जाता है, उनकी उपलब्धि से भी इस तर्क का निराकरण नहीं होता, क्योंकि यह संभव है कि उन नाटकों में किसी ऐसी परंपरा का अनुकरण किया गया हो, जिसके चिह्न अब लुप्त हो चुके हैं। वैसे भास की तिथि भी अनिश्चित है।

3. अमरकोश में केवल आंगिक और सात्विक अभिनय का उल्लेख है। इस कोश में जो 561-66 ईसवी के लगभग चीनी भाषा में अनूदित कहा जाता है

अतएव, भरत के ग्रंथ की प्राचीनता कम-से-कम, अस्थायी रूप से ही सही, चौथी अथवा पाँचवीं शती ईसवी तक तो मानी ही जा सकती है और यह भी लगभग निश्चित ही है कि यह ग्रंथ अपने वर्तमान रूप में कम से कम आठवीं शती ईसवी[1] में विद्यमान था। प्राचीनता की अधिकतम सीमा बहुत प्राचीन काल में नहीं ठहराई जा सकती। नाट्यशास्त्र में शकों, यवनों, पह्लवों तथा अन्य जातियों का उल्लेख है; अतः यह सीमा संभवतः ईसवी सन् के आरंभ से पूर्व नहीं हो सकती। किंतु हम पहले ही बता चुके हैं कि वर्त्तमान संकलनात्मक पाठ में उक्त जातियों के उल्लेख मात्र से समय के विषय में निर्णय संभव नहीं। सूत्र-पाठ तथा कारिका-पाठ की सापेक्ष तिथि निर्धारित करना कठिन है; किंतु यदि यह मान लिया जाय कि ईसा से ठीक पहले की कुछ शतियों में सूत्र-भाष्य शैली का प्रचलन था, तो वह सूत्र-पाठ, जिसका लेखक भरत को मान लिया गया है, प्रकट रूप से इसी काल में रचा गया होगा।[2] वर्त्तमान कारिका-पाठ से यह निश्चित रूप से बहुत प्राचीन है, क्योंकि इसमें भरत को नाट्य-वेद के प्रवर्तक के रूप में पौराणिक ऋषि माना गया है।

(देखिए मेघदूत 1894, पृ० 73 पर नंदरगीकर की प्रस्तावना) आठ रसों की गणना करते हुए और नाट्यशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हुए भी नाट्यशास्त्र का ही अनुसरण किया गया है। साथ ही नट के तीन पर्याय बताए गए हैं, जो नाट्य के तीन विख्यात आचार्यों के नाम हैं (शैलाली, कृशाश्वी और भरत)। पाणिनि ने पहले दो शब्दों की व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है, तीसरे का नहीं, किंतु उनके उल्लेख न करने से कोई अनुमान सिद्ध नहीं होता। जैन ग्रंथ अणुओगदार सुत्त (N.S.P. 1915, fol. 134-145; वेबर ने भी ii. 2, पृ० 701-02 पर उल्लेख किया है) में, जो विंटरनिट्ज के अनुसार शायद पाँचवीं शती में संकलित किया गया था, नौ रसों का उल्लेख है। प्रशांत का (जिसका उल्लेख भरत ने नहीं किया) समावेश होने के कारण यह परिगणना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्पष्टतः धार्मिक उद्देश्य से इसका समावेश हुआ था।

1. इस मत से श्री काणे भी सामान्यतः सहमत हैं (हि० स० पो० 19-22)
2. यह आगे सिद्ध किया जायगा कि यह अनुश्रुति भ्रांतिपूर्ण है कि भरत ने 'काव्य-लक्षण' नामक एक ग्रंथ लिखा था, जो वस्तुतः काव्यप्रकाश की कारिकाओं का सारांश-रूप था। लेवी (Lavi) का यह कथन भी उतना ही भ्रांत है कि ये कारिकाएँ संक्षिप्त रूप में अग्निपुराण से ली गई हैं। हाँ, सोमदेव ने अपने ग्रंथ यशस्तिलक (959-60 ई०) में भरत-प्रणीत एक काव्याध्याय (पीटर्सन ii. पृ० 45) का उल्लेख किया है, किंतु सोमदेव की तिथि को ध्यान में रखते हुए यह नहीं माना जा सकता कि उससे मम्मट की कारिकाओं के प्रणीत होने की अनुश्रुति की पुष्टि होती है। सोमदेव का संकेत तो संभवतः नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय की ओर है, जिसमें काव्य-लक्षण, काव्यालंकार, काव्यगुण और काव्यदोष आदि नाटकीय विषयों का विवेचन है।

भरत के टीकाकार

अभिनवगुप्त की टीका के अतिरिक्त भरत के नाट्य-शास्त्र पर कोई और टीका संप्रति विद्यमान नहीं है, किन्तु अभिनवगुप्त[1], शार्ङ्गदेव[2] और अन्य लेखकों ने भरत के कुछ तथाकथित और कुछ वास्तविक टीकाकारों का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

मातृगुप्ताचार्य, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, हर्ष, कीर्तिधर, अभिनवगुप्त, नान्यदेव ।

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त[3] ने कई अन्य लेखकों के मतों का उल्लेख किया है। वे हैं—भट्ट यंत्र (नाट्य और नृत्त पर पृ० 208), प्रियातिथि (लास्यांग पर), भट्टवृद्धि (ताल पर), भट्ट सुमनास (ताल पर), भट्ट गोपाल (ताल पर), भट्ट शंकर (वृत्त प्रकरण पर) और घंटक (नाटिका-भेद पर)। राहुल अथवा राहल (पृ० 115, 172, 197 इत्यादि) के, जिसका नामोल्लेख शार्ङ्गदेव (i. 1. 17) ने भी किया है, कई उद्धरण मिलते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने कुछ श्लोकों में भरत का नाम लिया है (भरतेनोदितं, अभिनव भारती i, पृ० 72), अतः वे अवश्य ही, उपर्युक्त अधिकतर लेखकों के समान, भरत के पश्चात् ही हुए होंगे। उनके नाम से और हेमचंद्र (पृ० 316) द्वारा दिए हुए उनके शाक्याचार्य अभिधान से, वे एक बौद्ध आचार्य प्रतीत होते हैं। हेमचंद्र ने उनके विचारों की निश्चित रूप से उपेक्षा की है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन सब लेखकों ने भरत के ग्रंथ के केवल कुछ अंश पर टीकाएँ लिखी थीं, अथवा पूर्ण ग्रंथ पर, किंतु उल्लेखों से यह अवश्य प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकतर लेखकों ने सामान्यतः संगीत के प्रकरण और कुछ ने विशेष अभिनय संबंधी अंश पर टीकाएँ लिखी थीं।

---

1. देखिए काणे का लेख—'ग्लीनिंग्स फ्राम अभिनवभारती'—के० वी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम पूना, 1934, पृ० 385-400. राघवन का लेख 'राइटर्स कोटेड इन अभिनव भारती' के लिए जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च iv, 1932, पृ० 149, पृ० 199 इत्यादि में।
2. शार्ङ्गदेव ने लिखा है : "व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकः। भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरो परः"। उन्होंने अन्यत्र दो आचार्यों, राहुल और मातृगुप्त, का नाम लिया है, जो संगीत के आचार्य प्रतीत होते हैं।
3. अभिनव-भारती के उल्लेखों के लिए यहाँ रामकृष्ण कवि के बड़ौदा, सं० 1926 के खंड और पृष्ठ दिए गए हैं। जहाँ खंड-संख्या नहीं दी गई है, केवल पृष्ठ-संख्या ही दी गई है, वहाँ प्रथम खंड समझना चाहिए।

अपनी टीका में अभिनव ने अपने गुरु भट्टतौत और परम-गुरु, उत्पलदेव का अनेक बार नामोल्लेख किया है। कहते हैं कि तौत ने काव्य-कौतुक नामक ग्रंथ लिखा था, जो अब उपलब्ध नहीं है। अपनी टीका के प्रारंभ में अभिनवगुप्त ने नाट्य-शास्त्र के उपदेश के लिए तौत के प्रति विनम्र शब्दों में आभार प्रकट किया है। विभिन्न विषयों पर तौत के मतों के उल्लेख[1] से भी इस बात की पुष्टि होती है; किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तौत ने वास्तव में नाट्य-शास्त्र पर टीका लिखी थी। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा और अन्य कृतियों के रचयिता के रूप में उत्पलदेव काश्मीरी शैववादियों में विख्यात हैं। संगीत-संबंधी अध्यायों में, मुख्य रूप से उनके मत उद्धृत किए गए हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने इन अध्यायों पर टीका लिखी थी अथवा स्वतंत्र रूप से संगीत पर कोई ग्रंथ लिखा था। शकलीगर्भ के बारे में भी यही कथन लागू होता है। उद्भट के साथ एक बार उनका उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र (iv. 17-18) में तंडु[2] का भी उल्लेख है, जिन्होंने भरत को अंगहारों, विभिन्न करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा दी थी। अभिनव ने अपनी टीका में अज्ञात टीकाकार अथवा टीकाकृत का भी बार-बार उल्लेख किया है।

मातृगुप्ताचार्य

राघव भट्ट ने शकुंतला[3] की टीका में और वासुदेव ने कर्पूरमंजरी[4] की टीका में मातृगुप्त का नाट्यविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख किया है, और सुन्दर मिश्र ने अपने ग्रंथ नाट्य-प्रदीप (रचना-काल : 1613 ईसवी) में 'नांदी' विषयक भरत के कथन की टीका करते हुए कहा है—अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः इयं

---

1. उल्लिखित पुस्तक के पृ० 388 पर काणे के विचार देखिए, और उनका हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पौएटिक्स, पृ० 209-12 तथा राघवन का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० 153-62. अभिनव ने पृ० 291-92 पर तौत के तीन छंदोबद्ध पदों का उल्लेख किया है।
2. पृ० 90 (खंड 1) पर उल्लिखित तंडु के विषय में यह कहा गया है कि उन्हीं का दूसरा नाम नंदी है। वैसे ही मुनि शब्द भरत का वाचक है (तंडुमुनिशब्दौ नंदि-भरतयोरपरनामानि) अतएव अभिनव के विचार में नंदिमत (पृ० 171 पर उल्लिखित) का अर्थ है तंडु का मत।
3. निर्णयसागर प्रेस सं० 1922, पृ० 5, 6, 7 (रस प्रकरण), 8 (नाटक लक्षण); 13 (वीथ्यंग), 15 (विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषाएँ), 20 (भूषण), 57 (संचारिका), 62 (सेनापति), 74 (हसित), 110 (पताका-स्थानक), 123 (वही), 126 (नीचे पात्रों द्वारा-संस्कृत का प्रयोग), 154 (कंचुकी), 156 (प्रतिहारी), 199 (परिचारिका), पृ० 230 (फल-योग), इत्यादि।
4. सं० निर्णयसागर प्रेस, 1900, पृ० 5 (सूत्रधार); तुलना कीजिए, ऑफ्रेक्ट i. 448 a.

उदाहृता ।[1] लेवी ने इससे यह अनुमान लगाया है कि मातृगुप्त ने भरत पर एक व्याख्यान अथवा टीका की रचना की थी, और उसे हर्ष-विक्रमादित्य (राजतरंगिणी, iii. 125, 252) का सभा-कवि मानकर यह मान सकते हैं कि वह भरत का एक बहुत प्राचीन टीकाकार (सातवीं शती) है। किंतु उपलब्ध साक्ष्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। राघव भट्ट और अन्य लेखकों के ग्रंथों में नाट्यविद्या-विषयक अनेक श्लोकबद्ध उद्धरणों से यह सूचित होता है कि मातृगुप्त ने शायद नाट्यविद्या-विषयक मौलिक, श्लोकबद्ध ग्रंथ लिखा था। संभवत: उस ग्रंथ में उन्होंने सामान्य रूप से भरत के सिद्धांतों की टीका की थी। व्याख्यान शब्द का अर्थ टीका करना आवश्यक नहीं है। कल्हण द्वारा उल्लिखित मातृगुप्त एक राजा तथा कवि थे, अत: इन ग्रंथों में उनका आचार्य रूप में उल्लेख कैसे हुआ, जबकि आचार्य का अर्थ गुरु होता है? अभिनवगुप्त मातृगुप्ताचार्य से परिचित थे, उन्होंने संगीत विषय पर उनके विचारों को उद्धृत किया है (अध्याय xxix)। अपने ग्रंथ 'भाव-प्रकाशन' में शारदातनय ने नाटक-वस्तु विषयक उनके मत का उल्लेख किया है, सागरनंदी ने अपनी पुस्तक नाटक-लक्षण-रत्न-कोश में उनके कई श्लोक उद्धृत किए हैं (पृ० 5, 14, 20, 21, 23, 50) और शार्ङ्गदेव ने भी उन्हें संगीत[2] का प्रमाणभूत आचार्य माना है।

उद्‌भट

जैसा कि पहले (पृ० 31 पा० टि० 2) कहा जा चुका है, शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रंथ संगीत-रत्नाकर (रत्नाकर i, 1. 19) में भरत के एक प्राचीन टीकाकार के रूप में उद्‌भट का उल्लेख किया है। बहुत संभव है, यह सच हो, यद्यपि उद्‌भट की टीका अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। अभिनव द्वारा उद्‌भट के अनेक मतोल्लेखों से भी शार्ङ्गदेव का यह कथन पुष्ट होता है। इसमें से एक उल्लेख (vi. 10 पृ० 266, 67 पर) अभिनव की टीका में मिलता है। यह उल्लेख (पृ० 24, पा० टि० 1) पहले भी उद्धृत किया जा चुका है। इसमें कहा गया है कि

---

1. IOC iii में पृ० 347 पर उद्धृत। विक्रमोर्वशीय (ति० 1659 ईसवी) की अपनी टीका में रंगनाथ ने भी मातृगुप्त का उल्लेख किया है, सं० NSP, 1914. पृ० 5 (नंदीपर); अमर (कोश ?) पर सर्वानंद ने; पृ० 145 (अद्‌भुत रस), 147 (बीभत्स रस), 150 (व्यभिचारीभाव), 161 (श्रृंगार में अनुभाव), 16 (ताल)।
2. टी० आर० चिंतामणि ने जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च ii. 1928, पृ० 118-28 पर मातृगुप्त संबंधी उद्धरणों का संग्रह अपने लेख 'फ्रेग्मेंट्स ऑफ मातृगुप्त' में किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र के एक अन्य टीकाकार लोल्लट ने पाठ की व्याख्या से संबंधित उद्भट के कुछ विचारों को स्वीकार नहीं किया। अध्याय ix.182 (खंड ii, पृ० 70) और xviii. 76 (खंड ii, पृ० 441) पर टीका करते हुए अभिनव ने पाठ के ऐसे उद्धरण दिए हैं, जिनका उद्भट ने भिन्न अर्थ किया है। अन्य दो स्थलों (xxi. 17 और xxi. 42) पर अभिनव ने उद्भट की व्याख्या को लक्ष्य अथवा आगम-विरुद्ध कहकर विरोध प्रकट किया है। वृत्ति विषयक (xviii. 110, खंड ii, पृ० 451-52, टीका) एक और स्थल पर अभिनव का कथन है कि उद्भट ने केवल तीन वृत्तियाँ मानी हैं (भरत के अनुसार चार नहीं), अर्थात् न्याय-चेष्टा, अन्याय-चेष्टा और फल-संवित्ति। इस संबंध में अभिनव ने शकलीगर्भ नामक लेखक का भी उल्लेख किया है, जिसने पाँच वृत्तियाँ (अर्थात् भरत की चार और उद्भट की फल-संवित्ति के स्थान पर आत्म-संवित्ति नामक एक अन्य वृत्ति) स्वीकार की हैं, किंतु लोल्लट और अन्य लेखकों ने इन मतों का खंडन किया है। कुतंक (पृ० 113-15) रस के स्व-शब्द-वाच्यता संबंधी उद्भट के मत से असहमत हैं, क्योंकि वह भरत-मत से भिन्न है। अनेक अध्यायों, यथा vi, ix, xviii तथा xxi आदि, में विवेचित विषयों पर उद्भट के विचारों के सविस्तर उल्लेख से यही संभव प्रतीत होता है कि उन्होंने संपूर्ण नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी। किंतु शकलीगर्भ के विषय में भी ऐसा ही अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। वे संभवतः उद्भट और लोल्लट के मध्यवर्ती काल में हुए थे और उन्होंने नाट्यविद्या के कुछ प्रकरणों पर लिखा होगा, किंतु भरत पर उन्होंने कोई टीका लिखी या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है।

लोल्लट

अभिनवगुप्त ने रस-सूत्र की टीका करते हुए न केवल छठे अध्याय में (रस-सूत्र पर) ही, बल्कि बारहवें, तेरहवें, अठारहवें तथा इक्कीसवें अध्यायों में भी लोल्लट का पर्याप्त उल्लेख किया है। ऐसा कहा गया है कि लोल्लट ने वृत्तियों (ऊपर देखिए) और नाट्य के ग्यारह विषयों पर (vi. 10, की टीका में)[1] उद्भट के मत को स्वीकार नहीं किया। लोल्लट के और भी विशिष्ट मतों का उल्लेख है, यथा (i) रस अनेक हैं (vi. 45 की टीका में)[2], यद्यपि परंपरा में रंगमंच के लिए आठ अथवा नौ रस ही स्वीकार किए गए हैं, (ii) शंकुक के मत के विरुद्ध, नाटिका अष्टपदा नहीं षट्पदा (xviii. 60

1 खंड i. पृ० 266; 2. खंड i. पृ० 299.

की टीका)[1] है। ध्रुव-ताल (xii. 14)[2], कक्ष्या (xiii. 1)[3] अनुसंधि xxi. 29 (पताका नायक के कृत्यों के विषय में प्रयुक्त उन्हीं के शब्द) के विषय में भी लोल्लट का मत उद्धृत है और लोल्लट कृत टीका में अध्याय xviii के श्लोक 32 के लुप्त होने का[4] भी उल्लेख है। नाट्य-शास्त्र के अनेक अंशों के विषय में लोल्लट के मत के उल्लेख से इस परंपरा की पुष्टि होती है कि उन्होंने भी भरत के संपूर्ण ग्रंथ पर टीका लिखी थी।

लोल्लट की तिथि के निर्धारण में सहायक कोई निश्चित सामग्री प्राप्त नहीं है, किंतु फिर भी परवर्ती उल्लेखों से यह परंपरागत धारणा पुष्ट होती है कि वे शंकुक नामक टीकाकार से पहले हुए। शंकुक का रस-सिद्धांत प्रत्यक्षतः लोल्लट के सिद्धांत के विरुद्ध था। नाम को देखते हुए संभवतः लोल्लट काश्मीरी थे, यदि काश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त के इस उल्लेख से, कि लोल्लट ने उद्भट के एक मत का विरोध किया था, काल-संबंधी कोई अनुमान लगाया जा सके, तो यह कह सकते हैं कि वे काश्मीरी लेखक उद्भट के परवर्ती अथवा समकालीन थे और उद्भट को 813 ई० से बाद का नहीं माना जा सकता।

लोल्लट द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत संभवतः परंपरागत था। लोल्लट ने ही उसे सुव्यवस्थित किया और बाद में वे ही उसके प्रथम पक्षधर के रूप में प्रसिद्ध हुए, क्योंकि अभिनव ने भी (अध्याय vi पर) अपनी टीका में कहा है कि दंडी ने रस संबंधी विचारों में वैसे ही मत का अनुसरण किया है। जब तक लोल्लट को दंडी का पूर्ववर्ती न माना जाय, तब तक तो यही मानना होगा कि लोल्लट द्वारा इस सिद्धांत को प्रकाश में लाने से पूर्व भी दंडी को यह सिद्धांत अथवा इससे मिलता-जुलता कोई मत ज्ञात था।

अभिधा शक्ति के व्यापार से संबंधित विवाद के प्रसंग में लोल्लट को दीर्घ-व्यापार-वादी कहा गया है, क्योंकि उनके अनुसार शब्द के संकेतार्थ के मुख्य व्यापार का प्रभाव इतना दूर-व्यापी होता है कि वह स्वयं ही लक्ष्य अथवा व्यंजित अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ होता है। संस्कृत के किसी प्रामाणिक आचार्य ने प्रत्यक्ष रूप से लोल्लट को इस मत का प्रवर्तक कदाचित् ही कहा हो, यद्यपि इसके प्रवर्तक का नाम-निर्देश किए बिना ही मम्मट (पृ० 225), महिमभट्ट (पृ० 27), हेमचंद्र (पृ० 215), विद्यानाथ (पृ० 43) इत्यादि आचार्यों ने इस मत की आलोचना की है। अपने ग्रंथ काव्य-प्रदीप (पृ० 149) में गोविंद ने कहा है कि इस मत को माननेवाले भट्ट मत के अनुयायी हैं। अभिनव ने ऐसे ही मत

---

1. खंड ii पृ० 436;
2. खंड ii पृ० 134;
3. खंड ii पृ० 196.
4. खंड ii पृ० 423.

(लोचन पृ० 188) को भट्ट अथवा प्रभाकर संप्रदाय द्वारा समर्थित कहा है। हो सकता है, गोविंद के कथन का आधार भी यही हो। मीमांसक और वैयाकरण अभिधा के प्रश्न पर चर्चा कर चुके थे, और स्मरण रहे कि स्वयं ध्वनिकार से पहले भी ध्वनि, और विशेषकर रस-ध्वनि, के निरूपण के कई प्रयत्न हो चुके थे। यह संभव है कि लोल्लट ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में उल्लिखित प्रश्न के अनेक समाधानों में एक समाधान प्रस्तुत किया हो। लोल्लट दीर्घ-व्यापार-वादी न रहे हों तो भी यह संभव है कि रस के विषय में वे मीमांसक ही थे। हेमचंद्र (पृ० 215) ने लोल्लट के केवल दो श्लोकों को उद्धृत किया है (उनके मत की चर्चा मात्र ही नहीं की)। लोल्लट का वही उद्धरण उपलब्ध है, अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वे गद्य-टीकाकार थे तो यह श्लोकबद्ध उद्धरण कहाँ से आया ?[1]

शंकुक

अभिनवगुप्त ने नाट्यविद्या के विभिन्न विषयों पर शंकुक के विचारों का बार-बार उल्लेख किया है, जैसे, रंगपीठ (अध्याय iii, श्लोक 21-22)[2]; रस-सूत्र (अध्याय vi)[3]; नाटक (अध्याय xviii, श्लोक 10) पात्र के रूप में राजा (अ० xviii, श्लोक 12)[4]; नाटिकाभेद (अ० xviii, श्लोक 60)[5]; प्रतिमुख और विमर्श संधि (अध्याय xxi, श्लोक 40, 42) इत्यादि। क्योंकि ये उद्धरण तीसरे

---

1. वी० राघवन (सम कान्सेप्ट्स, पृ० 207-8, जर्नल आँफ ओरिएंटल रिसर्च vi, पृ० 169) का विचार है कि लोल्लट का अन्य नाम आपराजिति तथा उनके पिता का नाम अपराजित था, क्योंकि हेमचंद्र (पृ० 215) ने लोल्लट के नाम से एक ऐसा पाठ उद्धृत किया है, जिसे राजशेखर ने (पृ० 45) आपराजितिक वचन कहा है।

2. खंड i, पृ० 75.
3. खंड i, पृ० 239, 298, 318.
4. खंड ii, पृ० 411,
5. खंड ii, पृ० 414,
6. खंड ii, पृ० 436.

7. छह अन्य उदाहरणों (अध्याय xxiv से xxix) के लिए, जहाँ अभिनव गुप्त ने शंकुक का उल्लेख किया है, देखिए पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 50-51, पहले दो संग्रह ग्रंथों में शंकुक को मयूर-पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने उन्हें सूर्य शतक का रचयिता मयूर माना है, जो बाण के समकालीन थे।

अध्याय से लेकर उनतीसवें अध्याय तक के विषयों से संबंधित हैं, इसलिए यह संभव है कि शंकुक ने भरत के संपूर्ण पाठ पर ही टीका लिखी हो। अभिनवगुप्त का कथन है (पृ० 275) कि मेरे गुरु भट्टतौत रस-विषयक शंकुक के मत से सहमत नहीं थे।

शार्ङ्गधर, कल्हण और वल्लभदेव[1] के संग्रह-ग्रंथ में शंकुक-रचित कई श्लोक बताए गए हैं, जिससे पता चलता है कि इस नाम का कोई कवि भी हुआ है। कल्हण ने (iv. 703-5) शंकुक नामक एक कवि और उनके काव्य भुवनाभ्युदय का उल्लेख किया है। इस उल्लेख के अनुसार ये शंकुक अजितापीड़ के समकालिक थे और अजितापीड़ का काल कनिंघम ने 813 ईसवी और एम० पी० पंडित ने 816 ईसवी ठहराया है। हमारे टीकाकार शंकुक और यह कवि शंकुक एक ही व्यक्ति हों तो उनका काल नवीं शती के प्रथम चरण में ठहराया जा सकता है।

भट्टनायक

अभिनवगुप्त (लोचन पृ० 27; और अभि०भा० xvi. 4)[2] ने भरत के रस-सूत्र (अध्याय vi)[3] के प्रसंग में भट्टनायक के मत का उल्लेख करने के अतिरिक्त उनके नाम से शब्द-प्राधान्यं आश्रित्य[4] इत्यादि एक श्लोक भी उद्धृत किया है। इस श्लोक को हेमचंद्र (पृ० 3-4) ने हृदय-दर्पण[5] नामक ग्रंथ से उद्धृत कहा है और महिमभट्ट तथा उनके टीकाकार ने भी उस श्लोक को उद्धृत किया है, यद्यपि इसके रचयिता का नामोल्लेख नहीं किया। जयरथ ने भी (पृ० 12) भट्टनायक को हृदय-दर्पणकार कहा है। संभव है, यह भट्टनायक के किसी लुप्त ग्रंथ का नाम रहा हो, और उल्लेखों से यह भी प्रतीत हो जाता है कि वह उद्धरण किस ग्रंथ का है, जिसका प्रसंगाधीन श्लोक से ठीक पहले अभिनवगुप्त ने भी उल्लेख किया है। फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि यह हृदय-दर्पण भरत पर रचित उनकी संप्रति लुप्त टीका का ही नाम है। महिमभट्ट के अज्ञातनाम

---

1. पहले दो संग्रह-ग्रंथों में शंकुक को मयूर-पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने उन्हें 'सूर्य-शतक' का रचयिता मयूर माना है, जो बाण के समकालीन थे।
2. खंड ii. पृ० 298;
3. खंड i, पृ० 278;
4. जयरथ ने भी पृ० 9 पर इस श्लोक का उल्लेख किया है। माणिक्यचंद्र (पृ० 4) ने भी इस श्लोक को भट्टनायक-लिखित कहा है। पृ० 8 पर भट्टनायक को हृदय-दर्पणकार कहा गया है।
5. काणे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 187) का मत है कि वस्तुतः इस ग्रंथ का नाम सहृदयदर्पण था, किंतु इस मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है।

टीकाकार का कथन है कि 'व्यक्ति-विवेक' के समान ही 'हृदय-दर्पण' भी आनंद-वर्धन के ध्वनि-सिद्धांत[1] के खंडनार्थ रचा गया था। इस कथन से यह भी विदित हो जाता है कि व्यक्ति-सिद्धांत का अनुयायी होने के कारण अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथों 'लोचन'[2] और 'अभिनव-भारती'[3] में भट्टनायक के मत का खंडन करने की उतनी आवश्यकता क्यों समझी है। महिमभट्ट का भी ध्वनि-सिद्धांत के विरोध का समान उद्देश्य था। उनका दावा है कि इस सिद्धांत पर उनके विचार मौलिक हैं और उन्होंने दर्पण को देखा तक नहीं।[4] हृदय-दर्पण के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि इसकी रचना श्लोकबद्ध थी और लगता तो यही है कि इसका टीका-रूप कभी गद्यमय नहीं रहा।

इस ग्रंथ का उल्लेख करनेवाले कुछ श्लोकों के परीक्षण से मालूम होता है कि इसमें ध्वनि तथा उससे घनिष्ठ संबंध रखनेवाले विषय रस के परस्पर संबंधों का विवेचन रहा होगा। उदाहरणार्थ, आनंदवर्धन ने विधिरूप उक्ति में निषेधात्मक व्यंजना का निरूपण करते हुए (पृ० 16) 'भम धम्मिअ वीसत्थो' आदि जो उदाहरण प्रस्तुत किया था, उसका विवेचन करते हुए अभिनव ने निषेधात्मक संस्था के प्रसंग में भट्टनायक के मत का खंडन किया है। एक और स्थान पर 'अत्ता एत्थ णिमज्जई' श्लोक के अर्थ में अहं शब्द को भट्टनायक ने जो महत्त्व दिया है, अभिनव ने उसका खंडन (पृ० 21) किया है। आनंदवर्धन ने इस श्लोक को ऐसी ध्वनि के उदाहरण के रूप में रखा है, जिसमें वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होने पर भी विधिरूप होता है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महिमभट्ट की तरह भट्ट-नायक का ग्रंथ, ध्वनि के सामान्य सिद्धांत का खंडन करने के लिए ही नहीं, अपितु आनंदवर्धन कृत उसकी स्थापना का विशेष रूप से खंडन करने के लिए लिखा गया था। जैसा कि आनंदवर्धन (और अभिनव) की व्याख्या से स्पष्ट है, ध्वनिकार ने i. 13 में व्यक्तः रूप का द्विवचन में विशेष प्रयोजन से प्रयोग किया है। भट्टनायक ने द्विवचन के प्रयोग पर आक्षेप किया है। इस पर अभिनवगुप्त ने कहा है—(लोचन पृ० 33) 'भट्टनायकेन यद् द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव।'[5]

---

1. 'दर्पणो हृदय-दर्पणाख्यो ध्वनि-ध्वंस-ग्रंथोऽपि' (i. 4) में महिमभट्ट द्वारा प्रयुक्त दर्पण शब्द गत श्लेष की व्याख्या की गई है।
2. लोचन में (पृ० 27, 28, 63 पर) भट्टनायक और उनके ग्रंथ हृदयदर्पण, दोनों का नामोल्लेख है। अन्य उल्लेख पृ० 11, 12, 15, 19, 21, 29, 36, 67, 68. पर हैं। वे ध्वनि-सिद्धांत के पक्ष में की गई अधिकतम प्रत्यक्ष आलोचना के रूप में हैं।
3. उदाहरण के लिए भरत, पृ० 1 'भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतं ····इति व्याख्यानं हृदयदर्पणे प्रत्यग्रहीत्।'
4. अदृष्ट-दर्पणा मम धीः, i. 4.
5. अभिनव के इन शब्दों का लोचन से उद्धरण देते हुए महिमभट्ट ने भी इस चर्चा का उल्लेख किया है। (पृ० 19)

इससे यह सूचित होता है कि हृदय-दर्पण भरत के नाट्यशास्त्र की टीका नहीं है।[1] यह गद्यमय टीका सहित अनुष्टुप् छंद में रचित एक श्लोकबद्ध ग्रंथ है। इसमें ध्वनि की और प्रसंगत: रस-ध्वनि की चर्चा की गई है। निस्संदेह, नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका में अभिनव ने, और उनका अनुकरण करते हुए परवर्ती अन्य अनेक लेखकों ने तथा लोल्लट और शंकुक के साथ भट्टनायक ने भी रस-सिद्धांत की आलोचना की है, विशेषकर छठे अध्याय में भरत के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र के प्रसंग में (लोचन 67-68, पर भी) किंतु उस पाठ के टीकाकार के रूप में भट्टनायक का कहीं स्पष्ट नामोल्लेख नहीं मिलता। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के विशेष अंशों पर भट्टनायक की टीका के विषय में वैसा उल्लेख बहुत कम किया है,[2] जैसा उद्भट लोल्लट या शंकुक की टीकाओं का किया है।

यह संभव है कि भट्टनायक के विशिष्ट रस-सिद्धांत (जो अभिनव के अपने सिद्धांत से बहुत कुछ साम्य रखता है) का खंडन करने की आवश्यकता ध्वनि-सिद्धांत के प्रबल समर्थक अभिनव गुप्त को विशेष रूप से प्रतीत हुई हो, क्योंकि भट्टनायक ने ध्वनि की व्यंजना-शक्ति को अस्वीकार किया था और भोगीकरण की शक्ति के अभ्युपगम से रस की व्याख्या करने का प्रयत्न किया था। ऐसा कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि भट्टनायक के व्यंजना-सिद्धांत के उपसिद्धांत के रूप में प्रतिपादित रस का यह सिद्धांत, उसकी मुख्य विचार-सरणि की ही एक प्रासंगिक अभिव्यंजना नहीं था, जिसका उद्देश्य तो ध्वनि की नवीन कल्पना का खंडन करना और उसके स्थान पर किसी अन्य मत की स्थापना कराना था। संभव है, इसी कारण अपने पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्र के टीकाकारों की परिगणना में शार्ङ्गदेव ने भट्टनायक का नामोल्लेख न किया हो।[3]

---

1. देखिए भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 390 (विपक्ष के लिए, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी 1909, पृ० 450-52) पर वी० वी० सोवानी का यही कथन है।

2. टी० आर० चिंतामणि ने जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च i. 1927 पृ० 267-76 और प्रोसीडिंग्स, आल इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस, इलाहाबाद, 1929, ii. पृ० 155, 193 में 'फ्रेग्मेंट्स ऑफ भट्टनायक', में भट्टनायकोक्ति माने जानेवाले वचनों का संग्रह किया है।

3. देखिए पृ० 31 पर 2 संख्यक पाद-टिप्पणी। पी० वी० काणे भी इस विचार से सहमत हैं। (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 214)। इसी प्रकार अपने से पूर्ववर्ती विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए रुय्यक ने भी भट्टनायक का टीकाकार के रूप में नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र लेखक के रूप में नामोल्लेख किया है और कहा है कि उन्होंने भी ध्वनिस्थापक अन्य मतों के साथ-साथ एक नवीन मत का प्रवर्तन किया था (पृ० 9, निर्णयसागर प्रेस सं०)।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्टनायक ध्वन्यालोक के मूल पाठ और आनंदवर्धन-कृत उनकी वृत्ति से परिचित थे; अतएव उनका काल-निर्धारण आनंदवर्धन के पश्चात् ही किया जाना चाहिए। यह निष्कर्ष जयरथ (पृ० 12) के इस कथन से पुष्ट होता है कि भट्टनायक ध्वनिकार के परवर्ती हैं। ध्वनिकार से जयरथ और उनके परवर्ती लेखकों का अभिप्राय सदा आनंदवर्धन से होता था—वेशक तथाकथित ध्वनिकार से आनंदवर्धन का भेद किए विना ही। इसके विपरीत अभिनवगुप्त ही प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने भट्टनायक का नामोल्लेख किया है और उनके उद्धरण दिए हैं। यह भी लगता है कि अभिनवगुप्त, भट्टनायक से बहुत बाद में हुए होंगे। अतएव, संभवत: भट्टनायक नवीं शती के अंतिम चरण और दसवीं शती के अंतिम चरण के मध्यवर्ती काल में हुए हैं और इसलिए उनका काल नवीं शती के अंत और दसवीं शती के आरंभ में निर्धारित करना गलत नहीं है। इस तिथि से और पीटर्सन के सुझाव से यह प्रतीत होता है कि वे उन भट्टनायक से अभिन्न हैं, जिनका उल्लेख कल्हण (v. 159) ने किया है और जिसे काश्मीर-नरेश अवंतिवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी शंकरवर्मा के राज्यकाल में हुआ बताया है।

हर्ष

कहा जाता है कि हर्ष अथवा श्रीहर्ष ने नाट्य-शास्त्र पर एक वार्तिक की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने कभी तो नाम लेकर उनका उल्लेख किया है (v. 7, 180[1] xxix, 101) और कभी वार्तिक-कृत या वार्तिककार (i.84,ii.97-98, iv. 267-68)[2] के रूप में। इसके अतिरिक्त, लेखक[3] के नाम के बिना केवल वार्तिक या हर्षवार्तिक (iv. 331)[4] का भी उल्लेख है। अध्याय v. 8-15 पर उल्लिखित वार्तिक[5] का गद्य उद्धरण मिलता है। पहले छह अध्यायों से लिए गए उद्धरणों की संख्या अधिक है, किंतु उन्नीसवें अध्याय का एक ही उद्धरण है। शारदातनय (पृ० 238) ने हर्ष के मत का निर्देश करते हुए कहा है कि तोटक और नाटक में भेद यह है कि तोटक में विदूषक नहीं होता।[6] वार्तिक के अप्राप्य होने के कारण कोई

1. खंड i, पृ० 211 और 251.
2. खंड i, पृ० 31; i, पृ० 67; i, 172, 174 क्रमशः।
3. खंड i, पृ० 174.
4. खंड i, पृ० 207.
5. खंड i, पृ० 212.
6. प्रभाकर भट्ट के ग्रंथ रसप्रदीप (एक गद्य अंश) में उल्लिखित श्रीहर्ष मिश्र शायद यही लेखक हों।

निश्चित निष्कर्ष संभव नहीं है। इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि वार्तिक नाम होते हुए भी,[1] यह पूर्णतया टीका-ग्रंथ नहीं था, किंतु नाट्य-शास्त्र के कुछ अंशों पर आर्या छंद में (कहीं-कहीं गद्य में भी) विवेचन मात्र था।

कीर्तिधर

शार्ङ्गदेव का कथन है (पृ० 31; पा० टि० 2) कि कीर्तिधर भरत के ग्रंथ के टीकाकार थे। अभिनवगुप्त से पहले ही हुए होंगे, क्योंकि अभिनव का कथन है (अध्याय xxix) कि मैंने स्वयं नन्दिकेश्वर का ग्रंथ नहीं देखा, इसलिए मैंने उनके संबंध में कीर्तिधर के वर्णन का ही आश्रय लिया है (देखिए पृ० 20)। अभिनव की टीका में कीर्तिधर अथवा कीर्तिधराचार्य के नाट्य और नृत्त (अध्याय iv)[2] और गेयाधिकार खंड के प्रसंग में अनेक उद्धरण[3] हैं। इनसे मालूम होता है कि शार्ङ्गदेव की तरह कीर्तिधर भी अधिकतर संगीत में रुचि रखते थे, किंतु इससे इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने भरत के सम्पूर्ण ग्रंथ पर नियमित रूप से टीका लिखी या नहीं।

अभिनवगुप्त

यद्यपि अभिनवगुप्त में संस्कृत काव्यालंकार-क्षेत्र में ही टीकाएँ लिखीं, फिर भी उनके ग्रन्थ विद्वत्ता और आलोचनात्मक सूक्ष्मता के कारण स्वतन्त्र ग्रंथों के समान मूल्यवान हैं। काव्यालंकार के क्षेत्र में उनकी ख्याति ध्वनि-सिद्धांत की व्याख्या के कारण है, इसलिए ध्वनिकार और आनंदवर्धन के साथ ही उनकी भी चर्चा की जायगी।

छत्तीस अध्यायों के भरत-रचित ग्रंथ पर अभिनव की **अभिनवभारती** नामक टीका का पूर्ण पाठ, मुद्रित संस्करण अथवा पांडुलिपि के रूप में उपलब्ध नहीं है। अध्याय vii (गद्यांश और आरंभ के कुछ पद्यों को छोड़कर), अध्याय viii और अध्याय xxxiii-xxxiv पर उनकी टीका उपलब्ध नहीं है। साथ ही बीच-बीच में कुछ और पाठ भी लुप्त हैं (उदाहरणतः, पाँचवें अध्याय के अन्तिम श्लोकों की टीका)। क्योंकि अभिनव ने इसमें 'लोचन' का उल्लेख किया है, इसलिए अभिनव-भारती का लेखन-काल 'लोचन' से परवर्ती ही होना चाहिए।

---

1. नान्यदेव के भरत-भाष्य या भरत-वार्त्तिक की तरह।
2. देखिए खंड i, पृ० 208.
3. देखिए, जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च में वी० राघवन, खंड v, 1932, पृ० 198; पाठक स्मारक ग्रन्थ में काणे, पृ० 388।

नान्यदेव

नान्यदेव अथवा नान्यपति लिखित भरत भाष्य (कई जगह इसे भरत-वार्तिका भी कहा गया है), भंडारकर प्राच्य शोध-संस्थान के संग्रह[1] में एक अद्वितीय पांडुलिपि (221 पृष्ठ) के रूप में उपलब्ध है। इसके एक श्लोक में लेखक को मिथिलेश्वर (मिथिला का राजा) कहा गया है और ग्रंथ के पुष्पिका लेख में उन्हें महासामंताधिपति कहा गया है। अभिनवगुप्त इनसे पूर्ववर्ती थे। इस ग्रंथ में उनकी रचनाओं का उपयोग तो किया गया है, लेकिन नामतः उनका उल्लेख शायद ही कहीं हुआ है। नान्यदेव मिथिला के कर्णाटक वंश के संस्थापक थे और उन्होंने (1097 से 1147) ईसवी तक राज्य किया था।[2] लेखक ने ग्रन्थमहार्णव नामक अपने एक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख भी किया है।

यद्यपि इसे भाष्य कहा गया है, फिर भी भरत के ग्रन्थ पर यह कोई प्रत्यक्ष टीका नहीं है। लगता है कि अभिनय के चार प्रकारों को ध्यान में रखकर प्रत्येक के लिए एक-एक खंड की रचना करने की विशाल योजना बनाई गई थी; किन्तु उपलब्ध खंड में, जो पर्याप्त वृहदाकार है, केवल वाचिक अभिनय की चर्चा है और वह मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र के xxviii से लेकर xxxiii तक के अध्यायों से संबंधित है। इनमें संगीत की चर्चा है। 'पांडुलिपि' प्राचीन होने पर भी दोषपूर्ण है। इसमें पाँचवें, सोलहवें और सत्रहवें (आयोजित अध्यायों की कुल संख्या सत्रह बतलाई गई है) अध्यायों का अभाव है। भरत का उल्लेख बहुलता से किया गया है। नारद, शातातप, दत्तिल, काश्यप (वृहत्काश्यप और वृद्ध काश्यप भी,), मतंग, (बृहद्देशी) नंदि-मत, यष्टिक (अन्यत्र अज्ञात), कीर्तिधर और विशाखिल सरीखे अन्य प्राचीन लेखकों का भी प्रायः उल्लेख मिलता है। शार्ङ्गदेव ही एकमात्र लेखक हैं, जिन्होंने नान्यदेव का उल्लेख किया है।

ग्रंथ-सूची

नाट्यशास्त्र और अभिनव-भारती

संस्कार और अनुवाद : (1) शिवदत्त और के० पी० परब, निर्णय-सागर प्रेस-संस्करण, काव्यमाला 42, 1894 (अध्याय 1-37). (2) Traite de

1. देखिए भंडारकर ओरिएटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की पांडुलिपि-सूची, xii संख्या, 111, 1869-70, पृ० 377-83. ग्रंथ का दूसरा नाम सरस्वतीहृदयालंकार है। तारापुर, थाना, बम्बई के डा० सी० पी० देसाई, खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश के लिए इस ग्रंथ का संपादन कर रहे हैं।
2. एपिग्राफिका इंडिका, i, 395, पृ० 364; इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, vii पृ० 679-87.

Bharata Surle Theatre, Texte Sanskrit, edition critique par Jounny Grosset, t. i. pt. i. Paris 1898 (अध्याय i-14 मात्र, अपूर्ण), in Annales de 1 universite de Lyon. रोमन अक्षरों में। (3) अध्याय 18, 19, 20 और 24, एफ० हॉल द्वारा प्रकाशित दशरूपक के संस्करण में, बिब्लियोग्राफिका इंडिका, कलकत्ता, 1865. (4) Le 17me chapitre de Bharatiya Natyashastra, intitule vag-abhinay par P. Regnaud, in Annales Musee Guimet I, 1880. रोमन अक्षरों में। (5) La Metrique de Bharata, Texte Sanscrit de duex chapitres (15-16), suivi dune interpretation francaise, par P. Regnaud, in Annales du Musee Guimet II, 1881. रोमन अक्षरों में। (6) Textes Sanscrits des 6me et 7me chapitres, in *Rhetorique Sanscrit* par P. Regnaud. Paris, 1884. रोमन अक्षरों में। (7) अध्याय 28, (रोमन अक्षरों में) in contribution a l'etude de la musique hindoue by J. Grosset, Paris, 1888, in Bibl. de la faculte de Lettres pe Lyon; also B. Breloer, Grundelemente der altindischen Music nachh dem Bharatiya Natya-Shastra, Text. Uebersetzung und Erklaerung (ch. 28). Diss. Bonn. 1922. दोनों रोमन अक्षरों में। (8) अध्याय 6 का एक भाग (रस-सूत्र पर), एस० के० दे की पुस्तक 'थ्योरी ऑन रस' के परिशिष्ट रूप में आशुतोष मुकर्जी कमेमारेशन वाल्यूम में प्रकाशित, ओरिएंटालिया, भाग iii, 1922, पृष्ठ 240 आदि, अधुना संशोधित तथा उनके 'सम प्रॉब्लम्स ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' में पुनर्मुद्रित कलकत्ता, 1959, पृ० 219-35. (9) अध्याय 6 (रसाध्याय) अभिनव की टीका-सहित, अध्याय के मूल पाठ के अंग्रेजी अनुवाद सहित, सं० सुबोध चंद्र मुकर्जी, कलकत्ता, 1926 (शोध-ग्रंथ, पेरिस यूनिवर्सिटी). (10) सं० बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1929, इस संस्करण में 36 अध्याय हैं। (11) अभिनव भारती सहित, सं० एम० रामकृष्ण कवि। चार खंडों में। गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज, बड़ौदा, 1926, 1934 आदि। (इस संस्करण के संबंध में देखिए पी०वी० काणे, हरप्रसाद शास्त्री, पृ० 14-16, 'फंडामेंटली अनक्रिटिकल; इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली में एस० के० दे iii, पृ० 859-68). (12) अध्याय xxxii में प्राकृत छंद, इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली में मनमोहन घोष द्वारा संपादित, viii, 1932. (13) मनमोहन घोष द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, बिब्लिओग्राफिका इंडिका, भाग i (अध्याय i-xxvi), 1959.

●

अध्याय 3

भामह से आनंदवर्धन तक

भामह

परवर्ती अलंकार-साहित्य में भामह का प्राचीनतम उल्लेख ध्वन्यालोक (पृ० 39, 207) में आनंदवर्धन की वृत्ति में दो स्थलों पर मिलता है। इसके अतिरिक्त आनंदवर्धन ने पृ० 236 पर भामह का नाम लिए बिना उनका उद्धरण दिया है (iii. 27). इसके बाद प्रतिहारेंदुराज की टीका में भी एक रोचक उल्लेख है (पृ० 13)। उसके अनुसार उद्भट ने संभवतः भामह के ग्रंथ पर भामह-विवरण नामक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त (लोचन पृ० 10, 40, 159, विवरणकृत) और हेमचंद्र (टीका पृ० 17, 110) ने इस कथन की पुष्टि की है। रुय्यक ने इस टीका का सामान्यतः भामहीय उद्भट-लक्षण (पृ० 183) के नाम से उल्लेख किया है और समुद्रबंध ने इसे काव्यालंकार-विवृति (पृ० 89) कहा है। उद्भट के स्वतंत्र ग्रंथ, काव्यालंकार-संग्रह में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें भामह द्वारा दिए गए अलंकारों के कुछ लक्षणों का यथावत् भाव तो ग्रहण किया ही गया है, साथ-ही-साथ उनकी भाषा को भी तद्वत् रूप में अपनाने में संकोच नहीं किया गया।[1]

उद्भट के समकालीन विद्वान्, वामन भी भामह के ग्रंथ से परिचित प्रतीत होते हैं।[2] उदाहरणार्थ भामह ने उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है

1. उदाहरण के लिए रसवत्, अतिशयोक्ति, ससंदेह, सहोक्ति, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, आक्षेप, विभावना, विरोध, और भाविक आदि की परिभाषाएँ। अभिनवगुप्त और अन्य परवर्ती लेखकों ने भामह के पर्याप्त उद्धरण दिए हैं।

2. 'भामहालंकार' (किंतु पहले श्लोक के अनुसार 'काव्यालंकार') नामक भामह के ग्रंथ में छह परिच्छेद अथवा अध्याय और 400 श्लोक हैं। उसमें इन विषयों का निरूपण है—

(क) काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण तथा काव्य-भेद के विषय में अनेक मतों का उल्लेख, सर्गबंध, कथा और आख्यायिका, वैदर्भी और गौडी रीतियों का उल्लेख, कुछ सामान्य काव्य-दोष। (ख, ग) तीन गुण (माधुर्य, प्रसाद और ओज) तथा अलंकार-विवेचन, जो अध्याय iii के साथ समाप्त हो जाता है (अलंकारों की सूची के लिए देखिए खंड ii, अध्याय ii (i) (घ) ग्यारह दोषों के नाम, लक्षण और उदाहरण, (ङ) अशुद्ध प्रतिज्ञा, हेतु अथवा दृष्टांत-जन्य ग्यारह दोष, (च) सौशब्द्य अथवा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध प्रयोग (वामन ने अपने ग्रंथ के पाँचवें अधिकरण में इस पर और विस्तार से लिखा है।)

(ii.30)—विरुद्धेनोपमेयन…उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा; और वामन ने इस लक्षण का केवल अन्वय करके उसे सूत्र-रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है—उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्य उपमा (iv. 2. 1.)।[1] उपमा में दृष्ट अर्थातिशय के संबंध में भामह ने इस प्रकार कहा है (ii. 50)—

यस्यातिशयवानर्थः कथं सोऽसंभवो मतः।
इष्टं चातिशयार्थत्वं उपमोत्प्रेक्षयोर्यथा ।।

वामन के iv.2.20 और 21 (अनुपपत्तिरसंभवः और न विरुद्धोऽतिशयः) को इसके साथ पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि वामन का भी यही मत है। पहले सूत्र पर अपनी वृत्ति में उन्होंने कहा है—उपमायां अतिशयस्येष्टत्वात्' और अगले सूत्र में स्पष्ट कर दिया है कि अतिशय यदि विरोधी हो तो परिहार्य है। वामन ने एक अज्ञातनाम कवि का श्लोक उद्धृत किया है। भामह ने (ii. 46) उसी श्लोक के रचयिता का नाम शाखवर्धन बताया है। किसी शास्त्रीय ग्रंथ में एक-सी प्रतिष्ठित शब्दावली के बारंबार प्रयोग अथवा एक ही प्रकार के संदर्भ में एक ही श्लोक के उदाहरण के उद्धरण के आधार पर कोई अंतिम निर्णय नहीं किया जा सकता। वामन ने v. 2.38 पर अपनी वृत्ति में वस्तुतः—यद्यपि शुद्ध रूप में नहीं—भामह ii. 27 के श्लोकांश को उद्धृत किया है और उसमें प्रयुक्त शब्द भंगुरम् के विशिष्ट प्रयोग पर टिप्पणी की है।[2]

इस प्रकार भामह की तिथि, उद्भट और वामन से पूर्व निर्धारित करना ही उचित होगा और वे दोनों आठवीं शती के अंतिम चरण में हुए हैं, जैसा कि आगे सिद्ध किया जाएगा। इस प्रकार भामह की तिथि की एक अंतिम सीमा प्राप्त हो जाती है, अर्थात् यह निश्चय हो जाता है कि भामह कम-से-कम कितने प्राचीन हैं।

दूसरी सीमा के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। पाठक के अनुसार भामह vi. 36 में न्यासकार का उल्लेख है, जो स्पष्टतः काशिका पर न्यास (वरेंद्र अनुसंधान, संस्था, राजशाही, 1913, 1919-25) नामक टीका के रचयिता बौद्ध विद्वान् जिनेंद्रबुद्धि हैं। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि न्यासकार (अर्थात् जिनेंद्र) 700 ईसवी के लगभग हुए हैं, इसलिए भामह की तिथि आठवीं

---

1. नाट्यशास्त्र, xvi.41. से तुलना कीजिए।
2. भट्टि (x-21) की जयमंगला टीका में यह श्लोक भामह के नाम के साथ उद्धृत है। यह व्यक्ति-जीवित (भामह के अन्य श्लोकों के साथ) और 'लोचन' पृ० 40 में भी है, परंतु रचयिता का नाम नहीं दिया गया है।

शती निर्धारित की जानी चाहिए।[1] इसके विपरीत के० पी० त्रिवेदी ने यह प्रमाणित किया है[2] कि न्यासकार के मत के उल्लेख को निर्दोष रूप से जिनेंद्रबुद्धि के मत का उल्लेख नहीं माना जा सकता। माधव के उद्धरणों से और बाण के हर्षचरित[3] में एक श्लेषमय स्थल से कुछ अन्य न्यासकारों का अस्तित्व भी संभव है। पाठक द्वारा जिनेंद्रबुद्धि की निर्धारित तिथि की शुद्धता पर संदेह प्रकट करके जैकोबी[4] ने पाठक-विरोधी मत को और भी पुष्ट कर दिया है। जैकोबी के आधार कीलहार्न हैं, जिनके अनुसार जिनेंद्रबुद्धि संभवतः हरदत्त (मृत्यु 878 ईसवी) के पश्चात् हुए हैं।

भामह ने i. 42 में कहा है कि साहित्य में मेघादि का दूत के रूप में उल्लेख करना उचित नहीं। इस प्रसंग में मेघदुत की ओर संकेत मानने से[5] भी भामह के काल की समस्या का समाधान नहीं होता। डा० पाठक के इस सुझाव से भी कोई सहायता नहीं मिलती कि माघ ने दूसरे सर्ग के श्लोक 86 में भामह का संकेत किया है।[6] और इस विवाद में पड़ने से भी कोई लाभ नहीं कि भामह के ग्रंथ के आदि और अंत के श्लोकों से सार्वभक्त और रक्रिलगोमिन के पुत्र भामह के बौद्ध होने का संकेत मिलता है या नहीं।[7] हाँ, जैकोबी ने यह अवश्य बताया है[8] कि भामह ने बौद्ध दार्शनिकों की शिक्षा का अपने ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में पर्याप्त

1. इंडियन ऐंटिक्वेरी, खंड xli पृ० 232 इत्यादि; पृ० 235 पर जर्नल ऑफ दि बंबई ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, खंड xxiii पृ० 25-26 भी देखिए।
2. इंडियन ऐंटिक्वेरी, खंड xlii पृ० 204 इत्यादि और पृ० 260-1 पर।
3. कृत-गुरु-पदन्यासाः (निर्णयसागर प्रेस सं० बंबई, पृ० 96) की व्याख्या शंकर ने इस प्रकार की है—कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिविवरणो यैः।
4. Sb. der preuss. Akad. xxiv (1922), pp. 210-11
5. Haricand, L' Art poetique de l'Inde. p. 77; J. Nobel in ZDMG lxxiii, p 192.
6. किंतु काव्य के अंग के रूप में शब्द और अर्थ के विषय में दंडी i.10; वामन i.1.1, (वृत्ति); रुद्रट ii. 1 और आनंदवर्धन पृ० 5 का एक-जैसा दृष्टिकोण द्रष्टव्य है।
7. इस विवाद पर देखिए, जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी 1905. पृ० 535 इत्यादि; वही, 1908 पृ० 543 इत्यादि, प्रतापरुद्र में त्रिवेदी की प्रस्तावना, हरिचंद-उपर्युक्त ग्रंथ में पृ० 71; पाठक, इंडियन एंटिक्वेरी, 1912. पृ० 235.
8. उपर्युक्त ग्रंथ में पृ० 211-12 में जी० टुच्ची (इंडियन एंटिक्वेरी, (जून 1930) का मत है कि भामह के तार्किक सिद्धांत 'भामह एंड दिङ्नाग' शीर्षक लेख से लिया गया है, धर्मकीर्ति से नहीं, जो भामह के परवर्ती हैं।

प्रयोग किया है और इसलिए भामह की तिथि की ऊपरी सीमा बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के समय का ध्यान रखकर ही निर्धारित करनी चाहिए, क्योंकि भामह ने उनके दार्शनिक मतों का उपयोग करने में उनकी शब्दावली तक का यथा-वत् उपयोग कर डाला है। जैकोबी ने धर्मकीर्ति की तिथि युआन च्वांग की भारत-यात्रा (63?-643 ईसवी) और यि-त्सिंग की यात्रा (673-695 ईसवी) के बीच की अवधि में निर्धारित की है। युआन च्वांग धर्मकीर्ति से परिचित थे, जबकि यित्सिंग ने कुछ ही पूर्ववर्त्ती अन्य विद्वानों के साथ-साथ उनका भी उल्लेख किया है।[1] अतएव भामह की तिथि की ऊपरी सीमा सातवीं शती ईसवी के तीसरे चरण में निर्धारित की जानी चाहिए। शांतरक्षित ने, जिनका समय 705-762 ई० के लगभग माना जाता है, अपने ग्रंथ 'तत्वसंग्रह' (गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज, सं० 1926 पृ० 219 श्लोक 912-14) में बौद्ध अपोहवाद की आलोचना करते हुए भामह के तीन श्लोकों (vi. 17-19) को उद्धृत किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि भामह की तिथि सातवीं शती के अधिक पश्चात् निर्धारित नहीं की जा सकती।

अतएव, भामह का काल सन्निकटतः सातवीं शती के अंतिम चरण और आठवीं शती के मध्य की अवधि में निर्धारित किया जा सकता है। हो सकता है कि वे धर्मकीर्ति के कनिष्ठ समकालीन रहे हों और अपने टीकाकार उद्भट से कुछ समय पहले हुए हों। इसलिए उनका काल यदि सातवीं शती के अंतिम और आठवीं शती के प्रारंभिक चरण में निर्धारित किया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

2

भरत द्वारा अलंकारों के विवेचन और तत्पश्चात् भामह द्वारा उनके सविस्तर निरूपण के पारस्परिक संबंध पर पहले ही चर्चा हो चुकी है। भरत के ग्रंथ में उस विषय पर विद्यमान प्राचीनतम निरूपण की उस समय तक की उपलब्ध सामग्री मिलती है, पर स्वयं भामह का कथन है कि उनसे पूर्ववर्ती कई आचार्य थे और संभवतः उन्होंने उनकी रचनाओं का उपयोग किया है। इन पूर्ववर्ती (अथवा सम-

1. देखिए ताकाकुसु 'रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन' 1896, पृ० 181; तुलना कीजिए lviii. अपने ग्रंथ Geschichte (अनु० Schiefner 184-5) में तारानाथ ने उन्हें तिब्बती राजा 'स्यांग वत्तान-गंपो' जिसकी 650 ई० के आसपास मृत्यु हुई, का समकालीन माना है; तुलना कीजिए, कर्न-कृत मैन्युअल ऑफ इंडियन बुद्धिज्स पृ० 130.

कालीन) आचार्यों को अन्ये,[1] अपरे[2] अथवा केचित्[3] आदि शब्दों से निर्दिष्ट करते हुए भामह ने ii.40, 88 में दो बार मेधाविन का नामोल्लेख किया है। रुद्रट xi. 24 पर अपनी टीका में नमि-साधु ने इनमें से एक स्थल को उद्धृत किया है। वहाँ अन्य दो स्थलों पर भी (अर्थात् i.2, ii. 2 की टीका में) मेधाविरुद्र पूरा नाम दिया गया है। नाम का यही रूप राजशेखर (पृ० 12) में भी मिलता है।[4] अतएव यह लेखक भामह से पूर्व और शायद भरत के पश्चात् हुआ है।

भामह का ग्रंथ छह अध्यायों में विभक्त है और उसमें कुल मिलाकर 400 श्लोक (अधिकतर अनुष्टुप्) हैं, (देखिए पृ० 44, पा० टि० 2)। आकार में यह दंडी के ग्रंथ से (जिसमें लगभग 660 श्लोक हैं) छोटा है। भट्टि काव्य की जयमंगला नामक टीका के आधार पर किसी समय यह माना जाता था[5] कि उस काव्य[6] में अलंकार-संबंधी सर्ग, विशेषत: दशम सर्ग, केवल भामह के अलंकारों के उदाहरण देने के लिए लिखा गया था, किंतु भामह की जो तिथि अब निर्धारित की

---

1. i. 13, 24; ii. 4, 57; iii. 4; iv. 12 इत्यादि।

2. i. 14, 13; ii. 6, 8; iii. 4; iv. 6 इत्यादि।

3. ii. 2, 37, 93; iii. 54 इत्यादि। उन्होंने ii. 19 में रामशर्मा का भी उल्लेख किया है, किंतु ii. 58 से यह लेखक कवि प्रतीत होता है। उसके ग्रंथ का नाम अच्युतोत्तर दिया गया है। ii. 45 से निर्दिष्ट राजमित्र iii. 10 से काव्य का नाम प्रतीत होता है। न्यास (vi. 36), पाणिनि-(vi. 62-63) और कणभक्ष (v.17) के अतिरिक्त शाकवर्धन (ii.47) और अश्मकवंश नामक ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है। तैथिक दृष्टि से इन उल्लेखों का अधिक महत्त्व नहीं है।

4. राजशेखर ने मेधाविरुद्र के नाम के साथ कुमारदास का नाम जोड़ दिया है और कहा है कि वे जन्मांध कवि थे। यह नाम दो भिन्न कवियों के नाम को मिलाने से नहीं बना है, जैसा कि कुछ लेखकों का सुझाव रहा है और न 'त्रिकाव्यशेष' के परवर्ती साक्ष्य के आधार पर उसे कालिदास का दूसरा नाम ही माना जा सकता है। हुल्ट्श (मेघदूत सं० पृ० xi) का कथन है कि वल्लभदेव ने अपनी टीका (xi.6) में मेधाविरुद्र का उल्लेख किया है, किंतु प्रकाशित ग्रंथ में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

5. ZDMG lxiv, p. 130 इत्यादि में जैकोबी का लेख।

6. ऐसा माना जाता है कि भट्टि काव्य के प्रसन्न कांड, अर्थात् दशम, एकादश और द्वादश सर्गों की रचना अलंकारशास्त्रीय विषयों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए की गई थी। दशम सर्ग (75 श्लोकों) में अलंकारों के उदाहरण हैं, एकादश सर्ग (47 श्लोकों) में, माधुर्य गुण के और द्वादश सर्ग (87 श्लोकों) में भाविक नामक प्रबंध-गुण के उदाहरण हैं। भट्टि काव्य में 22 सर्ग हैं, जिनमें मुख्यतः संस्कृत व्याकरण के विषयों के उदाहरण दिए गए हैं।

गई हैं, उसे देखते हुए भामह और भट्टि के परस्पर संबंध के विषय में धारणा बदलनी अपेक्षित है। भट्टि ने बाईसवें सर्ग के पैंतीसवें श्लोक में कहा है कि उन्होंने अपने काव्य की रचना श्रीधरसेन-शासित वलभी नगरी में की।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि 500 और 650 ई० के बीच की अवधि में वलभी में श्रीधरसेन नामके चार राजा हुए हैं। उनमें से अंतिम श्रीधरसेन 651 ई० में विद्यमान थे, जैसा कि उनके उक्त वर्ष के अंतिम दानपत्र से विदित होता है। अतएव, भट्टि को यदि अधिक प्राचीन नहीं, तो भी कम-से-कम सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में तो मानना ही होगा। और यदि उनके ग्रंथ के संपादक के निष्कर्ष[2] का आधार मानकर उनका काल छठी शती के अंत और सातवीं शती के आरंभ में मान लें तो निस्सन्देह उन्हें भामह से लगभग एक शती पूर्ववर्ती मानना होगा। शायद भामह उनके ग्रंथ से परिचित थे और इसीलिए उन्होंने प्रहेलिका-जैसा (ii-20) रचनाओं के काव्यत्व को अस्वीकार करते हुए कहा है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हंत दुर्मेधसो हताः॥

इसमें निस्सन्देह भट्टि की निम्नलिखित गर्वोक्ति की ओर संकेत है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यं उत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥

भट्टि के ग्रंथ में अलंकारों के विवेचन को भामह से पूर्ववर्ती अलंकार-निरूपण के इतिहास की श्रृंखला की एक लुप्त कड़ी माना जा सकता है। यह एक विचित्र संयोग है कि भामह और भट्टि के अलंकार-निरूपण में बहुत साम्य है। उनका क्रम एक-सा है, संख्या लगभग बराबर है। नाम और लक्षण भी एक-से हैं। स्पष्टतः दृष्टिगोचर होनेवाले इस साम्य के कारण ही संभवतः यह मत प्रचलित हो गया कि भट्टि ने भामह का अनुकरण किया है; किन्तु सूक्ष्म परीक्षण से प्रमाणित हो गया है कि इन सामान्य समताओं के होते हुए भी इतनी मात्रा में विषमताएँ दृष्टिगोचर होती हैं कि इनमें से किसी ने भी जानबूझकर दूसरे का मतानुकरण नहीं किया है। समानताओं से केवल यह प्रकट होता है कि ये दोनों लेखक, काल की दृष्टि से, एक-दूसरे से इतने अधिक आगे-पीछे नहीं हुए कि अलंकारों की संख्या,

---

1. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां। श्रीधरसेन नरेंद्रपालितायाम्॥
जयमंगला में दूसरे चरण का पाठांतर श्रीधर-सूनु-नरेंद्र है, किंतु वलभी के राजाओं की उपलब्ध नामावलि में श्रीधर-पुत्र-नरेंद्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए इस पाठांतर को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। मल्लिनाथ और भरतमल्लिक ने इस श्लोक की टीका नहीं की है।
2. सं० बंबई संस्कृत सीरीज, भूमिका, पृ xxii.

उनके क्रम अथवा लक्षण आदि में अधिक अंतर हो पाता। इसके साथ उनका परस्पर वैषम्य यह लक्षित करता है कि उनकी रचनाओं को स्रोत एक नहीं था।

भट्टि-काव्य के सर्गविशेष में कवि का स्पष्ट उद्देश्य अपने समय के अलंकारों और उनके भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करना है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वह सर्ग लिखते समय कवि ने अपने युग में विद्यमान अलंकार-शास्त्र के किसी विशिष्ट ग्रंथ का अनुसरण किया होगा। उन्होंने 38 मुख्य अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अलंकारों के उपभेदों के भी उदाहरण हैं। इन उपभेदों की संख्या 39 है। उन्होंने स्वयं इन अलंकारों के नाम नहीं दिए हैं। उनका नामोल्लेख जयमंगला और कुछ पांडुलिपियों में मिलता है, जिनमें परंपरागत अलंकार-नाम सुरक्षित हैं।[1] ये नाम एक नगण्य अपवाद (उदार-उदात्त) को छोड़कर वे ही हैं, जो भामह के ग्रंथ में दिए गए हैं। यदि भामह और भट्टि के अलंकारों की तुलनात्मक सारणी बनाई जाय तो ज्ञात होगा कि भामह के प्रारंभिक 23 अलंकारों का प्रायः वही क्रम है, जो भट्टि में है; अंतर केवल रूपक और दीपक तथा अर्थांतरन्यास और आक्षेप के युग्मों के क्रम में हैं, जो उलटे क्रम में दिए गए हैं। शेष अलकारों का क्रम कुछ भिन्न है, क्योंकि भामह ने अप्रस्तुत प्रशंसा को स्वीकार किया है (जिसे भट्टि ने छोड़ दिया है) और 'विरोध' अलंकार से पहले के पाँच अलंकारों के नाम यद्यपि भट्टि में भी मिलते हैं, परंतु उनका क्रम भिन्न है। विरोध से आगे फिर वही क्रम है, जो भट्टि में है, किंतु भामह ने 'भाविक' का उल्लेख किया है (जिसका उदाहरण भट्टि ने पृथक रूप से एक अन्य सर्ग में दिया है)। इसके अतिरिक्त भट्टि ने एक अज्ञात अलंकार 'निपुण' भी माना है और हेतु तथा वार्ता नामक दो अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें भामह ने स्पष्टतया स्वीकार किया है। 'जयमंगला' की व्याख्या से तो यही प्रमाणित होता है कि जहाँ अलंकार (और उनके उपभेद) समान हैं,[2] वहाँ कुछ अपवादों को छोड़कर, भट्टि ने सामान्यतः भामह के लक्षणों का ही अनुसरण किया है।

---

1. अनेक श्लोकों में आए हुए अलंकारों के नामकरण के विषय में टीकाकारों में मतभेद है। 'जयमंगला' का प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस की काव्यमाला (1887) के अंतर्गत हुआ है, और मल्लिनाथ की टीका का बंबई संस्कृत सीरीज सं० (दो खंड, 1898) में। 'जयमंगला' के साथ भरत मल्लिक की टीका कलकत्ता से (1871-73) दो खंडों में संपादित की गई है।
2. उदाहरण के लिए, आक्षेप अलंकार के दो भेद अर्थात् 'उक्तविषय' और 'वक्ष्यमान-विषय', भामह और भट्टि दोनों में उपलब्ध हैं, जब कि उन्हें न तो वामन की भिन्न व्याख्या का ही ज्ञान है और न दंडी के सूक्ष्म भेदीकरण का।

ये अपवाद संख्या में कम होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषरूप से इन अलंकारों के प्रसंग में। 'यमक' (भट्टि ने इसके 20 किंतु भामह ने केवल 5 उपभेद बताए हैं), 'उपमा' (जिसके उपभेदों का विवेचन एक-सा नहीं है), 'रूपक' (जिससे भट्टि निर्दिष्ट, चार उपभेद भामह के दो उपभेदों से मेल नहीं खाते), 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' जिसे भट्टि ने छोड़ दिया है और 'निपुण' जिसे भामह ने छोड़ दिया है, का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही भामह ने प्रहेलिका, हेतु, सूक्ष्म, लेश और वार्ता अलंकारों का नामोल्लेख तो किया है, किंतु उन्हें स्वीकार नहीं किया। भट्टि ने इनमें से केवल हेतु (शायद पुनर्विचारस्वरूप) और 'वार्ता' को स्वीकार किया है। भट्टि 'स्वभावोक्ति' को अलंकार नहीं मानते। भामह ने इसका नाम तो लिया है, किंतु इसे माना नहीं है। संभव है, भट्टि ने अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के प्रसंग की समाप्ति भामह के अनुसार ही आशीः अलंकार के साथ कर दी हो, किंतु अपने समय में प्रचलित दो अलंकारों, हेतु और निपुण, को भी परिशिष्ट रूप में सम्मिलित कर लिया हो।[1] भाविक को भामह और दंडी दोनों ने प्रबंध-गुण कहा है और भट्टि ने भाविकत्वप्रदर्शन नामक सर्ग (xii) में पृथक रूप से इसके उदाहरण दिए हैं। किंतु सबसे अधिक असमानता यमक, रूपक और उपमा के प्रसंग में दृष्टिगोचर होती है। यमक के वर्गीकरण और विवेचन में कोई भी दो लेखक सहमत नहीं हैं; और इस विषय पर भट्टि तो भरत, दंडी, रुद्रट, अग्नि-पुराणकार और भोज आदि किसी प्राचीन प्रामाणिक आचार्य से सहमत नहीं हैं। हो सकता है कि भट्टि ने किसी ऐसे लेखक की रचना का अनुसरण किया हो, जिसे हम नहीं

'दीपक' और उसके तीन उपभेदों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। वे भी भरत, दंडी अथवा वामन द्वारा की गई व्याख्या के अनुरूप नहीं हैं। भट्टि ने श्लेष के तीन उपभेदों, अर्थात्, सहोक्ति-श्लेष, उपमा-श्लेष और हेतु-श्लेष के उदाहरण दिए हैं और भामह ने (iii.17) उनका उल्लेख किया है। दंडी और उद्भट आदि परवर्ती लेखकों ने श्लेष का अन्य कई अलंकारों के साथ भी उल्लेख किया है। भामह द्वारा स्वीकृत इस विभाजन का प्रतीहारेंदुराज ने स्पष्ट रूप से संकेत (पृ० 47) किया है—भामहो हि "तत्, सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा" इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह।

1. 'जयमंगला' में यह अलंकार ,उदार' अथवा 'उदात्त' में ही अंतर्भूत कर लिया गया है। परंतु भरतमल्लिक और मल्लिनाथ ने दंडी और देवानाथ को प्रमाण मानकर इसे 'प्रेयस' का उदाहरण माना है। ये देवानाथ संभवतः मम्मट के टीकाकार देवानाथ ही हैं।

जानते ।[1] रूपक के वर्गीकरण में भामह ने 'समस्त-वस्तु-विषय' और 'एकदेश-विवर्ति' दो भेद किए हैं। भट्टि ने इससे भिन्न परंपरा का अनुसरण किया है और चार उपभेदों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—कमलक (विशिष्टोपमा-युक्त), अवतंसक (शेषार्थान्ववसित अथवा खंड-रूपक)[2], 'अर्थ-रूपक' और ललामक (अन्वर्थोपमा-युक्त)। उपमा के उपभेदों का विवेचन करते हुए भट्टि ने भामह की तरह 'उपमा' के 'इव' और 'यथा' वाचक शब्दोंवाले उदाहरण दिए हैं। उनकी लुप्तोपमा और तद्धितोपमा शायद किसी हद तक भामह की 'समासोपमा' और 'वत्' वाचक शब्द के साथ 'उपमा' के समरूप हैं; किंतु भट्टि ने भामह की 'प्रति-वस्तूपमा' का उदाहरण नहीं दिया है और न ही 'निंदोपमा', 'प्रशंसोपमा', 'आचिख्यासोपमा' और 'मालोपमा' को निर्दिष्ट किया है। भामह ने इनका खंडन किया है, किंतु दंडी ने इनको स्वीकार किया है।[3] इसके साथ-साथ, भामह के ग्रंथ में भट्टि के 'सहोपमा' और 'समोपमा' जैसे अलंकार नहीं हैं।

इस संक्षिप्त विवेचन[4] से यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टि और भामह ने, उपभेदों को छोड़ दें तो, स्वतंत्र अलंकारों का विवेचन समान रूप से किया है। यह

1. यदि इनमें से यमक के कुछ उपभेदों का भट्टि काव्य में उल्लेख न होता तो उनका नाम ही लुप्त हो गया होता। परवर्ती लेखकों ने उनसे नितांत भिन्न उपभेदों का नामोल्लेख किया है। हाँ, उनमें से कुछ नाम भरत में सुरक्षित हैं। उन्होंने दस उपभेदों का वर्णन किया है, किंतु अधिकांशतः उनके लक्षण भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, भट्टि का 'समुद्ग' वही अलंकार है, जिसका लक्षण भरत ने भी दिया है किंतु भट्टि ने x. 2 में जिसे युक्पाद कहा है, उसे भरत ने 'विक्रांत' कहा और रुद्रट ने 'संदष्ट' नाम दिया है। इसी प्रकार भट्टि ने x. 3 में जिसे पादांत' कहा है, उसे भरत ने 'आम्रेडित' संज्ञा दी है। भरत का 'चक्रवाल' भट्टि के 'चक्रवाल' से तो भिन्न है, किंतु 'कांचि' के समरूप है, जब कि भरत का कांचि अलंकार एक बिलकुल भिन्न उपभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी प्राप्य ग्रंथ में 'वृत्त', 'मिथुन' अथवा 'विपथ' नाम के अलंकार नहीं मिलते, किंतु संभव है कि भट्टि के परवर्ती लेखकों के ग्रंथों में केवल भट्टि द्वारा वर्णित इस प्रकार के अलंकार किन्हीं अन्य नामों से मिलते हों। भट्टि काव्य में इनका उल्लेख करते हुए जयमंगलाकार ने शायद किसी ऐसी श्रुति-परम्परा अथवा प्रमाण-परम्परा का अनुसरण किया है, जो संप्रति अज्ञात है।
2. इनका वर्णन 'वाग्भटालंकार' iv. 66 में है।
3. भरत (xvi. 49-50) ने निंदोपमा और प्रशंसोपमा का उल्लेख किया है। उनकी कल्पितोपमा शायद आचिख्यासोपमा के समरूप है। वामन (iv. 2. 2) ने कल्पितोपमा को माना है, किंतु उसकी परिभाषा भिन्न रूप में की है।
4. भामह और भट्टि द्वारा किये गए विवेचन में साम्य और भेद के विषय में और भी देखिए एच० आर० दिवाकर, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, *1929, पृ० 825-41.*

ध्यान देने की बात है कि भामह ने 'अनन्वय', 'ससंदेह', 'उपमा-रूपक' और 'उत्प्रेक्षावयव' को भट्टि की तरह स्वतंत्र अलंकार माना है, जबकि दंडी ने प्रथम दो अलंकारों को उपमा के और अंतिम दो को क्रमशः 'रूपक' और 'उत्प्रेक्षा' के उपभेद माना है।[1] भट्टि की तरह भामह ने भी 'प्रहेलिका', 'सूक्ष्म' और 'लेश' को अस्वीकार किया है, किंतु भामह द्वारा अस्वीकृत 'वार्ता' और 'हेतु' अलंकारों को भट्टि ने स्वीकार किया है। दंडी इन सब को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं, किंतु 'वार्ता' के स्थान में उन्होंने अधिक व्यापक अलंकार 'स्वभावोक्ति' को माना है। भामह ने इस अलंकार को मान्यता नहीं दी है और न ही भट्टि ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्वतंत्र अलंकारों के विषय में सबसे बड़ी विसंगति यह है कि भट्टि ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' को तो छोड़ दिया है, जिसे बाद में स्वभावोक्ति की तरह मान्यता प्राप्त हुई है, किंतु 'निपुण' का उल्लेख किया है, जिसका परवर्ती साहित्य में अस्तित्व नहीं मिलता। उपभेदों के संबंध में विसंगतियाँ और भी स्पष्ट हैं। संभव है कि अलंकारों का सूक्ष्म विभेदीकरण, जैसा कि दंडी प्रोक्त स्वतंत्र अलंकारों के असंख्य उपभेदों में द्रष्टव्य है, किसी सिद्धान्तकार की निजी प्रतिभा का आविष्कार हो, किंतु यह तर्क भट्टि पर अच्छी तरह लागू नहीं होता, क्योंकि भट्टि स्वयं सिद्धांतकार नहीं थे। भट्टि का उद्देश्य अपने समय में प्रचलित अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करना मात्र था और संभव है, उन्होंने किसी प्रामाणिक ग्रंथ को आधार माना हो। इससे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भट्टि ने किसी ऐसे ग्रंथ का उपयोग किया हो, जो भामह को ज्ञात नहीं था, किन्तु जो स्वयं उनके अपने स्रोत-ग्रंथ से अधिक भिन्न नहीं था। इन दोनों लेखकों की बीच की अवधि (अंतराल) में अलंकार-निरूपण की स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। केवल 'यमक' और 'रूपक' के विवेचन में सरलता आ गई, निपुण अलंकार का लोप हो गया तथा अप्रस्तुतप्रशंसा जैसे मुख्य अलंकार अथवा प्रतिवस्तूपमा जैसे अलंकार-उपभेद को सम्मिलित कर लिया गया। यह प्रगति इतनी अधिक नहीं है, जितनी भरत और भट्टि के बीच की अवधि में हुए विकास से लक्षित होती है, जहाँ भरत ने केवल चार स्वतंत्र अलंकारों का उल्लेख किया था, जबकि भट्टि ने अड़तीस अलंकार गिनवाए हैं।[2]

---

1. वामन को छोड़कर अन्य सभी परवर्ती लेखकों ने इस विषय में दंडी का मतानुसरण किया है। वामन इन्हें स्वतंत्र अलंकार मानते हैं। पीटर्सन के अनुमान के विपरीत, vi .3-33 में दंडी ii. 358 की आलोचना की गई है।
2. भामह नाम के अनेक लेखक संस्कृत साहित्य में नहीं हैं। हाँ, इस नाम के एक लेखक वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' के एक टीकाकार हैं, पर वह भामह शायद हमारे भामह से भिन्न थे। इसके अतिरिक्त 'सुभाषितावली' के 1644-1645

ग्रंथ सूची

संस्करण—(१) के० पी० त्रिवेदी द्वारा बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, 1909 में प्रकाशित ग्रंथ 'प्रताप-रुद्र' के सं० के अनुबंध viii के रूप में छपा है। यह संस्करण मद्रास की पांडुलिपि संख्या 12920 (Cat xii, पृ० 8675) पर आधारित है। ग्रंथ का नाम है भामहालंकार। (2) पी० वी० नागनाथ शास्त्री द्वारा अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी सहित, तंजोर से 1927 में प्रकाशित। इसके अतिरिक्त केवल मूल भी तंजोर से 1927 में छपा। (3) बी० एन० शर्मा और बी० उपाध्याय द्वारा, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस से 1928 में छपा। पांडुलिपि की सामग्री अपर्याप्त है और परवर्ती लेखकों के ग्रंथों में उपलब्ध भामह के उद्धरणों का विवेचन नहीं किया गया है। कई स्थानों पर पाठ संतोषजनक नहीं है। **टीका**—एकमात्र ज्ञात टीका 'भामह-विवरण' उद्भट लिखित है, जो अप्राप्य है। देखिए पृ०-46.

दंडी

1

काव्यादर्श के रचयिता दंडी का काल-निर्णय अलंकारशास्त्र के आचार्यों के पौर्वापर्य-निर्धारण में सबसे विकट समस्या है। आनंदवर्धन ने भामह की तरह प्रकट रूप से उनका उल्लेख नहीं किया है। दंडी के नाम का प्राचीनतम उल्लेख प्रतीहारेंदुराज (26) में मिलता है। दंडी के अपने ग्रंथ में भी कोई संकेत नहीं मिलता। उन्होंने 'भूत-भाषा' में लिखित वृहत्कथा (i.38) तथा 'महा-राष्ट्री' प्राकृत में लिखित 'सेतु-बंध' (i.34) का जो उल्लेख किया, उससे भी इस प्रश्न पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। दूसरे अध्याय के श्लोक सं० 278-79 में

श्लोक भी भामह कृत बताए जाते हैं, जो भामह की रचना (ii. 92, iii, 21) में भी उलपब्ध हैं। वामन के ग्रंथ पर की हुई 'कामधेनु' नामक टीका में प्रकट रूप से ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो कलाविषय पर लिखे भामह के किसी ग्रंथ (पृ० 29 सं० बनारस) से उद्धृत हैं। किंतु हमारे आचार्य भामह और उनके 'भामहालंकार' (पृ० 39) से भी उसी टीका में कई स्थलों पर उद्धरण मिलते हैं। संभव है कि ये श्लोक उनके ग्रंथ के किसी संप्रति लुप्त अध्याय में रहे हों, जिसमें भामह ने कलाओं के नामों का उल्लेख किया था (अब कलानामुद्देशः कृतो भामहेन, उद्धृत श्लोक से पहले)। 'वृत्त रत्नाकर' पर अपनी टीका (पृ० 5-6) में नारायण ने भामह के अनेक श्लोक दिए हैं। यदि यह प्रामाणिक हो तो संभव है कि भामह ने छंदः शास्त्र पर भी कुछ लिखा हो।

.... 'प्रेयस्' अलंकार के अंतर्गत, राजवर्मा (अथवा रातवर्मा) नामक राजा को अपने इष्टदेव के दर्शन से परमानंद की अनुभूति का जो वर्णन है, उससे भी समय-निर्धारण विषयक कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।[1] तरुणवाचस्पति और अन्य टीकाकारों ने iii. 114 (तथा, iii. 112 से तुलना कीजिए) के अंतर्गत 'प्रहेलिका' का हल सुझाते हुए कहा है कि वहाँ कांची के पल्लववंशीय राजाओं का निर्देश है।[2] किंतु इस बात से केवल तमिल परंपरा की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार दंडी शायद एक दक्षिण-भारतीय लेखक थे। एक श्लोकविशेष में दंडी के i. 1 का संकेत मिलता है और वह श्लोक-शार्ङ्गधर के अनुसार विज्जा अथवा-विज्जका-रचित है (विज्जा की तिथि अज्ञात है, किंतु कुछ लोगों का अनुमान है कि वह चंद्रादित्य की पत्नी और लगभग 659 ई० में हुए पुलकेशी द्वितीय[3] की पुत्र-वधू, विजया है), पर वह श्लोक केवल किसी परवर्ती अभिमानिनी कवयित्री द्वारा दंडी पर किए गए विनोद को प्रदर्शित करने के अतिरिक्त कोई सहायता नहीं देता।

दंडी की तिथि की निश्चित सीमा दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्राप्य अलंकार-ग्रंथों से ही निर्धारित होती है। ये ग्रंथ शायद नवीं शती ई० में लिखे गए थे और इनमें दंडी का प्रतिष्ठित और प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लेख है। सिय-वस लकर (siya-bas-lakar) नामक सिंहली ग्रंथ के लेखक ने, जो बार्नेट के अनुसार,

---

1. कुछ विद्वानों ने (देखिए रंगाचार्य की भूमिका पृ० 8 तथा 'दशकुमार' सं० बंबई संस्कृत सीरीज, पृ० lxii इत्यादि में अगाशे भूमिका) यह अनुमान लगाया है कि राजवर्मा राजसिंह वर्मा ही था, जो कांची-नरेश नरसिंह वर्मा द्वितीय भी कहा जाता है (वह सातवीं शती के अंत में हुआ है)। कहते हैं कि दंडी ने iii-50 में उसी के एक विरुद (अर्थात् 'कालकाल', जो शिव का नाम है) का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त iii-25 के अंतर्गत 'महावाराह' शब्द का भी श्लिष्ट प्रयोग बताया जाता है, जो चालुक्य पुलकेशी द्वितीय का राजसी चिह्न (महावाराह) को लक्षित करता है। किंतु उक्त स्थल पर किसी तत्कालीन राजा का निर्देश न होकर किसी पौराणिक राजा के निर्दिष्ट होने की अधिक संभावना प्रतीत होती है। संभव है कि पिशेल (Pischel) का यह सुझाव ठीक हो कि कदाचित् 278वाँ श्लोक पूरा का पूरा किसी पौराणिक कथा से संबंधित ग्रंथ से उद्धृत हो। जैकोबी लिखित उपर्युक्त ग्रंथ के पृ० 214 से भी तुलना कीजिए।
2. जैसा कि जी० के० शंकर ने लिखा है, 'प्रहेलिका' का 'अष्ट-वर्ण' पद महेंद्रवर्मा I के ममंडुर शिलालेख में भी मिलता है। दंडी के टीकाकार प्रेमचंद्र ने, इस श्लोक में 'पल्लव' शब्द के स्थान पर 'पुंड्रक' शब्द की व्याख्या की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि इसकी अनेक व्याख्याएँ संभव हैं। iv. 43-44 में कावेरी, चोल और कलिंग शब्द भी प्रयुक्त हैं।
3. देखिए अगाशे का उपर्युक्त ग्रंथ पृ० lix इत्यादि।

किसी तरह भी नवीं शती ई० के पश्चात् का नहीं हो सकता[1], v.2 में दंडी को आदर्श प्रामाणिक आचार्य माना है। तीन अध्यायवाले 'कविराजमार्ग' नामक कन्नड ग्रंथ में, जो राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्द्धन नृपतुंग (नवीं शती के पूर्वार्ध में) द्वारा रचित बताया जाता है, छह ऐसे श्लोक हैं[2] जो दंडी के श्लोकों के अनुवाद-मात्र हैं। पाठक ने इस ग्रंथ (पृ० 19) के अपने संस्करण (1898) की भूमिका में कहा है कि "तीसरे अध्याय में अधिकतम पद्य 'काव्यादर्श' के अनुवाद अथवा रूपांतर मात्र हैं, और इसके अतिरिक्त "ग्रंथ के अन्य भागों में भी दंडी के प्रभाव की निश्चित रूप से झलक मिलती है।"

इस प्रकार, दंडी के ग्रंथ की अर्वाचीनतम सीमा नवीं शती प्राप्त होती है। यह निष्कर्ष दंडी को वामन से पहले सिद्ध करने से भी प्राप्त होता है। वामन का समय इसी शती के प्रारंभ में ठहराया जा सकता है। इस विषय पर यहाँ विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है, किंत ऐसे अनेक स्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि वामन के ग्रंथ में दंडी द्वारा प्रतिपादित कुछ मौलिक विचारों का और भी अधिक परिवर्धन और परिमार्जन हुआ है। जिस रीति-सिद्धांत का दंडी ने (जिसे उन्होंने मार्ग कहा है) महत्त्व प्रतिपादित किया है, उसे वामन ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है और काव्य का प्राण माना है। दंडी ने इस मार्ग के केवल दो भेद माने हैं, जब कि वामन ने एक मध्यवर्ती तीसरी रीति भी मानी है। मम्मट ix-4 से यह ज्ञात होता है कि सबसे पहले वामन ने ही तीन रीतियों का प्रतिपादन किया था।[3] जहाँ भामह और दंडी, कथा और आख्यायिका के अंतर्गत काव्य का वर्गीकरण करने के विवाद में काफी उलझे हैं, वहाँ वामन ने तत्संबंधी चर्चा की उपेक्षा की है और तद्विषयक ज्ञान को अन्यतोग्राह्य[4] बताया है। दीर्घ विवाद में पड़कर दंडी ने तो विषयांतर भी कर दिया है और कहा है कि 'इव' शब्द 'उत्प्रेक्षा' का सूचक है, जबकि भामह ने अलंकारों में उसकी गणना भी (ii-88) केवल 'मेधाविन' का ध्यान रखकर की है। उधर वामन की दृष्टि में

1. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1905, पृ० 841. हेंड्रिक जयतिलक ने इस ग्रंथ का संपादन किया है और वह कोलंबो से 1892 में छपा है।
2. अर्थात् जिन पद्यों में क्रमशः असाधारणोपमा, असंभवोपमा, अनुशयाक्षेप, विशेषोक्ति, हेतु और अतिशयोक्ति के लक्षण दिए गए हैं।
3. और यह बात ध्यान देने योग्य है कि दंडी 'रीति' संज्ञा से प्रायः अनभिज्ञ थे, जिसे वामन ने इतना प्रचलित कर दिया था। दंडी ने रीति के पर्याय रूप में 'मार्ग' का प्रयोग किया है, जिसका उल्लेख वामन के द्वारा भी iii. 1. 12 में किया गया है।
4. 1.2.32 पर—यच्च कथाख्यायिका महाकाव्यमिति तल्लक्षणं च नातीव हृदयंगममित्युपेक्षितमस्माभिः तदन्यतो ग्राह्यम्।

(iv. 3. 9 वृत्ति) तो उत्प्रेक्षा का अलंकारत्व एक सुप्रतिष्ठित तथ्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, किंतु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे कम से कम वामन की अपेक्षा दंडी की पूर्वभाविता तो पर्याप्त रूप से सिद्ध हो ही जाती है[1] और इस प्रकार उनकी तिथि की अधिकतम सीमा आठवीं शती के अंत और नवीं शती के आरंभ में ठहराई जा सकती है।[2]

---

1. कीलहॉर्न (Kielhorn) के मतानुसार ('दशकुमार' की अपनी भूमिका में पीटर्सन भी इनसे सहमत हैं) दंडी का श्लोक ii. 51. जिसमें कुछ उपमा-दोषों के दुष्टत्व का खंडन किया गया है, वामन के श्लोक IV.2.8 इत्यादि के खंडनार्थ लिखा गया है। इससे दंडी का वामन के पश्चात् होना सिद्ध होता है। इस विषय पर यदि भामह, दंडी और वामन के पाठों की तुलना की जाय तो उससे ये तथ्य निकलते हैं—मेधावी का मतानुसरण करते हुए भामह ने (ii.39-40) सात उपमा-दोष बताए हैं, अर्थात् 'हीनत्व', 'असंभव', 'लिंग-भेद', 'वचन-भेद', 'विपर्यय', 'अधिकत्व' और 'असादृश्य'। दंडी ने अप्रकट रूप से इन्हें माना है और केवल दो युग्मों (अर्थात् 'लिंग-भेद' और 'वचन-भेद', तथा 'अधिकत्व' और 'हीनत्व') के बारे में कहा है कि यदि सूक्ष्म-संवेद्यता की उपेक्षा न हो तो आवश्यक नहीं कि उनसे उपमा का व्याघात हो ही। इस बात में उन्होंने अधिकांशतः भामह के मत का अनुसरण किया है, जिनका कथन है कि 'उपमेय' की 'उपमान' में सर्वांगसमता नहीं होती (ii.43)। अधिकतर परवर्ती विद्वानों ने इस उक्ति का समर्थन किया है और उपमा का लक्षण इस प्रकार दिया है—भेदाभेदप्रधाने उपमा। इसलिए हीनत्व इत्यादि दोष तभी होते हैं, जब वे सहृदय की रसानुभूति में बाधा डालते हैं। वामन ने सात के स्थान पर छह 'उपमा-दोष' बताए हैं और विपर्यय को 'अधिकत्व' और 'हीनत्व' में ही अंतर्भूत कर लिया है (iv 2.11 वृत्ति), और अंत में कहा है—अतएवास्माकं मते षड्दोषाः। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि दंडी के ii.51 आदि भामह के ii.39 इत्यादि और वामन के iv. 2.8 इत्यादि के बीच की कड़ी के समान हैं।
2. पिशेल (Pischel) का कथन है (शृंगार तिलक की भूमिका में) कि दंडी मृच्छकटिक के लेखक से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि दंडी का श्लोक ii. 362 (लिंपतीव तमोंगानि, सं०, बिब्लियोग्राफिका इंडिका) उस नाटक में भी उपलब्ध है (सं०, निर्णयसागर प्रेस, 1916. i. 34)। यदि यह बात मान ली जाए तो, अन्य आपत्तियों के अतिरिक्त हमें यह भी मानना पड़ेगा कि दंडी भास से भी अभिन्न थे, क्योंकि यही श्लोक भास के तथाकथित-नाटकों में भी उपलब्ध है, यथा, 'चारुदत्त' (अंक 1 श्लोक 19) और 'बालचरित' (अंक 2 श्लोक 15)। शार्ङ्गधर 3603 और वल्लभदेव 1890 ने वही श्लोक क्रमशः भर्तृमेंठ और विक्रमादित्य-रचित बताया है। इससे पिशेल की बात और भी अमान्य सिद्ध होती है। दंडी (ii.226) में इस श्लोक के 'इति' के साथ पाए जाने से (इस विषय पर प्रेमचंद्र की टिप्पणी से तुलना कीजिए) यही प्रतीत होता है कि उदाहरणार्थ और आलोचनार्थ दंडी ने अन्य लेखकों के प्रसिद्ध श्लोकों के उपयोग को त्याज्य नहीं माना। उन्होंने स्वयं सामान्यरूप से इस बात को i.2 में स्वीकार किया है। यह बात भी ध्यान देने की है कि

2

दंडी के काल की प्राचीनतम सीमा निर्धारित करना आसान नहीं है। महेशचंद्र न्यायरत्न के मतानुसार पीटर्सन का कहना है[1] कि दंडी ii. 197 बाण-रचित 'कादंबरी' के एक प्रसंग, पृ० 102. 1. 16 (सं० बंबई संस्कृत सीरीज) का स्मारक है। जैकोबी इस बात को मानते हैं। बाण लगभग 606-647 ई० में राजा हर्ष के राज्यकाल में हुए थे और उन्होंने हर्ष की जीवनी लिखी थी। जैकोबी ने दंडी ii.302 और माघ ii.49 में परस्पर समानता निर्दिष्ट की है। पाठक का कहना है[2] कि दंडी ने 'कर्म' के तीन भेदों को अर्थात्, 'निर्वर्त्य', 'विकार्य' और 'प्राप्य' (ii.240), का वर्गीकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय, iii.45 इत्यादि से लिया गया है। यि-त्सिग के अनुसार भर्तृहरि का देहांत लगभग 651 ई० में हुआ, और माघ शायद सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे।[3] इस प्रकार बाण, भर्तृहरि

पाठ के बिब्लियोग्राफिका इंडिका संस्करण में यह श्लोक दो बार मिलता है, (1) ii.226 आधे श्लोक के रूप में और (2) ii.362 में पूरा श्लोक। किंतु यह पाठ, जो पिशेल (Pischel) के मत का आधार है, संदिग्ध है, और अन्य पांडुलिपियों के पाठों से मेल नहीं खाता। पाठ के तिब्बती रूप (जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1903) में और मद्रास संस्करण में भी इस श्लोक (ii.226) का आधा भाग ही उद्धृत किया गया है और वह भी केवल एक बार। मद्रास संस्करण के मूल पाठ में तो श्लोकार्ध ही है; हाँ, उनकी टीका में अवश्य पूरा श्लोक दिया गया है। पिशेल का यह कथन ठीक नहीं है कि प्रतीहारेंदु ने दंडी को इस श्लोक का रचयिता माना है, क्योंकि उत्प्रेक्षा पर चर्चा करते हुए टीकाकार ने केवल यह कहा है (पृ० 26) कि दंडी ने इस विषय का सविस्तर विवेचन किया है कि 'लिंपतीव' आदि पाठ 'अतिशयोत्प्रेक्षा' का उदाहरण है।

1. देखिए 'दशकुमार चरित' की भूमिका, नवीन सं० 1919, पृ० ix. दंडी में ऐसे अन्य स्मारकों का अनुमान भी संभव है, जैसे उसके i. 45 में (शकुंतला i. 20, मोनियर विलियम्स सं०, तुलना कीजिए, जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1905, पृ० 841 इत्यादि), ii. 286 में (रघुवंश viii. 57), ii. 12 में (शकुंतला i. 26). इत्यादि। तरुणवाचस्पति का (i. 2) यह मत है कि दंडी ने कालिदास जैसे कवियों के प्रयोगों का उपयोग किया है। दशकुमारचरित पर भूमिका liv. इत्यादि में अगाशे द्वारा संगृहीत अन्य समांतर स्थल देखिए।
2. इंडियन एंटीक्वेरी, xli. 1912, पृ० 237.
3. देखिए कीलहॉर्न GN, 1906, पृ० 143-46. तुलना कीजिए : माघ, दूसरे सर्ग का 83 वाँ श्लोक, जिसमें माघ काव्यशास्त्र से भलीभाँति परिचित प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त ii 8, 86.87 सं० 13, xiii. 69; xiv. 50; xix. 37; xx. 44 (जहाँ उन्होंने भरत का उल्लेख किया है) माघ की तिथि के संबंध में देखिए, सु० के० दे रचित संस्कृत साहित्य का इतिहास, कलकत्ता 1942, पृ० 88-89 और उसके अंतर्गत उल्लेख इत्यादि।

और माघ सभी लगभग समकालीन थे और सातवीं शती के पूर्वार्द्ध अथवा मध्य भाग में हुए थे।

इन प्रमाणों से कुछ संकेत तो मिलते हैं, पर उनके आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। और अंततः दंडी और भामह के परस्पर संबंध का वह प्रश्न शेष रह ही जाता है, जिससे इन प्रमाणों की पुष्टि हो सकती है और जिसके आधार पर दंडी की तिथि निर्धारित की जा सकती है। यदि भामह को निश्चित रूप से दंडी से पूर्ववर्ती ठहराया जा सके तो दंडी की तिथि की लगभग संतोषजनक सीमा प्राप्त हो जाती है। किंतु इन दोनों विद्वानों के ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से तो भामह की पूर्वभाविता ही अनुमानित हो सकती है, क्योंकि दंडी ने भामह की नवीन उद्भावनाओं की आलोचना की है, जबकि प्रकटरूप से भामह ने दंडी की नवीन भावनाओं की कहीं भी आलोचना नहीं की, यद्यपि दंडी की नवीन उद्भावनाओं की संख्या बहुत है! इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन की सामग्री के अंतर्गत (उनके सामान्य सिद्धान्तों के विवेचन को छोड़ भी दें तो) उन दोनों के पाठ में ऐसे अनेक अंश हैं, जो या तो (1) शब्दावली में अभिन्न अथवा समान हैं, अथवा (2) परस्पर इस प्रकार से संबंधित हैं कि एक लेखक दूसरे की आलोचना करता हुआ प्रतीत होता है। इस प्रश्न पर बहुत विवाद हो चुका है[1] और क्योंकि सभी सूक्ष्म तथ्यों का भी गंभीरता से विवेचन किया जा चुका है, इसलिए यहाँ पर इस संबंध में संक्षेप से ही चर्चा की जाएगी। पहले वर्ग अर्थात् एक-सी शब्दावली के उदाहरणों के रूप में ये अंश निर्दिष्ट किये जा सकते हैं: भामह i. 20क ख और दंडी i. 7 ग घ; भामह i. 17 ग घ और दंडी i. 29 क ख (महाकाव्य का लक्षण); भामह ii. 66 क ख और दंडी ii. 4 ग घ (कुछ अलंकारों के नामोल्लेख); भामह ii. 87 क ख और दंडी ii. 244 क ख (वार्ता का उदाहरण) भामह iii.1 क ख और दंडी ii.5 ग घ (कुछ अलंकारों के नामोल्लेख), भामह iii. 53 और दंडी iii.

1. एम. टी. नरसिंह हेंगर, जर्नल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1905, पृ० 53 इत्यादि; के० बी० पाठक, जर्नल ऑफ़ दि बांबे ब्रांच ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, xxiii, पृ० 19; आर. नरसिंहाचार, इंडियन एंटीक्वेरी xli. 1912; पृ० 90, 232; त्रिवेदी की 'प्रतापरुद्र' पर भूमिका, पृ० 32 और इंडियन एंटीक्वेरी xlii, 1913, पृ० 25, 8-74 एच० जेकोबी ZDMG, lxiv. पृ० 134, SBAW, xxiv.1922 (भामह और दंडी इत्यादि) पृ० 210-226 और xxxi, 1928 (Zur Fruhgeschichted ind Poetik) जे० नोबल ZDMG, lxxiii 1919, पृ० 190 इत्यादि और उनका Beitraege Zur aelteren Geschichte des Alamakar Sastra, बर्लिन 1911, पृ० 78 पी० बी० काणे : संस्कृत काव्यालंकार का इतिहास, पृ० 96-108 इत्यादि।

363 (भाविक-अलंकार); भामह iii. 5 और दंडी ii. 276 (प्रेयस् का उदाहरण); भामह iv-1-2 और दंडी iv. 2-3 (दोषों की गणना); भामह iv.8 क ख और दंडी iv. 5 क ख (अपार्थ का लक्षण)। इन अंशों में शाब्दिक साम्य इतना स्पष्ट है कि उसे काकतालीय मान लेने से काम नहीं चलेगा। पर यह भी संभव है, इन दोनों का स्रोत-ग्रंथ एक ही रहा हो अथवा लक्षणों के मानक रूप स्थिर हो चुके हों तथा अलंकारादि संख्याएँ स्थिर हो चुकी हों, अथथा इस प्रकार के शास्त्रीय ग्रंथों में उनका पर्याप्त प्रचलन रहा हो।

दूसरे वर्ग के पाठांशों में भी पर्याप्त शाब्दिक समानता विद्यमान है। यह वर्ग अपेक्षाकृत अधिक प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह चाहे सिद्ध न होता हो कि दोनों लेखक परस्पर खंडन-मंडन कर रहे हैं, पर इतना स्पष्ट है कि उनके विचार परस्पर विरोधी हैं। इनमें से दो अंश ऐसे हैं, जिनमें से एक में दंडी ने भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को अस्वीकार किया है, जबकि दूसरे में भामह ने दंडी के उदाहरण को त्याज्य माना है। लेकिन दोनों ने ही दोनों स्थलों पर अपने उदाहरण में समान शब्दावली का प्रयोग किया है। भामह ने 'हेतु' अलंकार के पश्चात् 'गतोऽस्तमर्को भातींदुर्याति वासाय पक्षिण:' उदाहरण का उल्लेख करते हुए यह कहकर अस्वीकार किया है कि यह पद्य बेतुका है (ii. 87) उन्होंने यह भी कहा है कि कुछ विद्वानों ने इसे 'वार्ता' अलंकार माना है। दंडी ने 'वार्ता' अलंकार का उल्लेख तो नहीं किया, किंतु 'हेतु' अलंकार के अंतर्गत उसी श्लोकार्ध का समर्थन के साथ उल्लेख किया है (ii. 24) और उसे अच्छा उदाहरण बताया है। उधर भामह ने 'हिमापहामित्रधरै:' श्लोकार्ध को 'अवाचक' दोष के उदाहरण के रूप में दिया है (i. 41), किंतु दंडी ने इसी श्लोक के पूर्ण रूप को एक भिन्न संदर्भ (iii. 120) में एक प्रकार की 'प्रहेलिका' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। भामह ने इसे सदोष मानकर अस्वीकार किया है, किंतु दंडी ने इसके रचना-वैचित्र्य को स्वीकार किया है। एक ही स्रोतग्रंथ से उद्धृत, किंतु विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त, इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि दंडी और भामह में परस्पर मतैक्य नहीं है। भामह ने उन्हें दोषयुक्त ठहराया है, किंतु दंडी ने स्पष्ट रूप से उनकी निर्दोषिता का समर्थन किया है।

विचार अथवा भाव-सामीप्य और अभिव्यक्ति की समानता इस वर्ग के उन अंशों में अपेक्षाकृत अधिक है, जिनमें (1) गौडीय और वैदर्भी-मार्ग के गुणों की तुलनात्मक विवेचना की गई है (भामह i-31-35 और दंडी, i. 40 इत्यादि), (2) गद्य के भेदों—'कथा' और 'आख्यायिका'—के परस्पर अंतर का निरूपण किया गया है (भामह i. 25 इत्यादि और दंडी i. 23 इत्यादि); और (3) दस दोषों की संख्या

के (भामह iv. 1 और दंडी iv. 2-4) विषय में विमर्श किया गया है। जो विद्वान भामह की अपेक्षा दंडी की पूर्वभाविता का समर्थन करते हैं, उनका कथन है कि उपर्युक्त विषयों में भामह ने दंडी की आलोचना की है। इनमें पहले तर्क के विषय में तो केवल यह कह सकते हैं कि भामह प्रबंध-रचना के प्रसंग में रीति अथवा मार्ग के साहित्यिक मूल्य के प्रति उदासीन थे। उन्होंने ऐसे लेखकों की हंसी उड़ाई है, जिन्होंने गौडी और वैदर्भी रीतियों में परस्पर भेद माना है, यद्यपि स्वयं उन्होंने गौडी रीति का ही समर्थन किया है। उनके मत से, जैसा कि उन्होंने अगले श्लोक (1. 36) में कहा है, काव्य में रीति का नहीं, वक्रोक्ति का महत्व है, ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने किसी व्यक्तिविशेष के विचारों की नहीं, केवल ऐसे सामान्य विचारों की आलोचना की है, जो परंपरागत थे अथवा सामान्यरूप में विवादास्पद माने जाते थे। उन्होंने स्वयं इस संबंध में कहा है—

'गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्'।

जैकोबी का कथन है कि दंडी से बहुत पहले गौडी मार्ग को अधिक सम्मान प्राप्त नहीं था और बाण ने तो हर्ष-चरित (1.7) में 'अक्षर-डंबर' कहकर इसे हेय बताया है। इसके विपरीत दंडी ने काव्य में रीति को बड़ा महत्व दिया है। उन्होंने उसे 'मार्ग' नाम से अभिहित करके अपने ग्रंथ में उसकी प्रचुर चर्चा की है। गौडी और वैदर्भी की दो सर्वथा पृथक् कोटियाँ मानते हुए भी उन्होंने इन दोनों के मध्यवर्ती अनेक सूक्ष्म भेदों के अस्तित्व को स्वीकार किया है (i.40)। उन्होंने यह भी कहा है कि उन भेदों की यथार्थ रूप में परिभाषा नहीं की जा सकती (i.101 इत्यादि), यद्यपि वे स्वयं वैदर्भी को उत्कृष्ट मानते हैं। यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि दस आवश्यक 'गुणों' के संबंध में दंडी द्वारा किए गए 'मार्ग' के विशिष्ट प्रतिपादन से भामह परिचित नहीं थे। उन्होंने रीति के संबंध में गुणों का उल्लेख न करके केवल प्रसंगवश तीन ही 'गुणों' का उल्लेख किया है, जिनका उत्कृष्ट प्रबंध में समावेश हो सकता है।

दोनों आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रीतियों के लक्षणों में कोई समानता नहीं है और यदि यह समझा जाय कि इस विषय में भामह का कथन विशेष रूप से दंडी का खंडन करने के लिए है तो यह आक्षेप मिथ्या होगा, क्योंकि इस विषय पर इन दोनों आचार्यों के मतों की आधारशिला सर्वथा भिन्न है।[1]

अन्य दो स्थलों पर भी यही बात लागू होती है। उनमें भी भामह ने कहीं भी प्रकट रूप में दंडी को निर्देश करके कुछ कहा हो, ऐसा नहीं लगता। भामह

1. इस विषय पर खंड ii में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

ने कथा और आख्यायिका के लक्षणों में जो विशिष्ट अथवा आवश्यक भेद बताए हैं, उन्हें दंडी ने स्वीकार नहीं किया है और इस संबंध में भामह के प्रथम परिच्छेद के सताईसवें श्लोक के उत्तरार्ध को अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद के उनतीसवें श्लोक के पूर्वार्ध के रूप में उद्धृत किया है। जिस भेद को दंडी ने अस्वीकार किया है, उसी को (भामह के अतिरिक्त) उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती विद्वानों ने स्वीकार किया है। बाण ने अपने 'हर्ष-चरित' को आख्यायिका और कादंबरी को 'कथा' नाम दिया है।[1] 'अमरकोश' से भी ऐसा ही भेद लक्षित होता है। दोषों की परिगणना से संबंधित अंशों से यह प्रतीत होता है कि भामह ने परंपरागत दस दोषों (तुलना कीजिए, भरत 26. 84)[2] की परिगणना करते हुए वही दस दोष बताए हैं, किंतु यह कहा है कि काव्य में 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टांतहीनत्व' अवांछनीय है (iv.2)। तार्किक प्रतिपादन के दृष्टिकोण से यह ग्यारहवाँ दोष उनके लिए महत्वपूर्ण है। यह मानते हुए कि सदोष तर्क भी सामान्यतः प्रबंध में एक बड़ा दोष है, उन्होंने[3] v. में इस पर चर्चा की है।

दंडी ने बिलकुल मिलते-जुलते शब्दों में वे ही दस दोष गिनाए हैं (2-3) और परंपरा-प्राप्त-मत का समर्थन करते हुए कहा है (iv.4) कि तथाकथित ग्यारहवें दोष का निर्णय करना कठिन है और उसकी चर्चा अनर्थक है।[4]

1. दंडी i.25 पर तरुणवाचस्पति की टिप्पणी देखिए।
2. लक्षण एक से नहीं हैं। देखिए जैकोबी की उपर्युक्त पुस्तक, पृ० 222 इत्यादि।
3. अन्य दार्शनिकों के संबंध में भामह के तार्किक प्रतिपादन के लिए एनाल्स ऑफ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, के भाग 12, पृ० 272-87 में के. बी. पाठक का लेख देखिए।
4. भामह के पहले परिच्छेद के 22वें श्लोक और दंडी के पहले परिच्छेद के 21वें और 22वें श्लोकों में भी परस्पर बहुत साम्य बताया जाता है। उक्त अंशों में यद्यपि शब्द-योजना एक-सी है, तथापि दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण स्पष्टतया भिन्न हैं। (नाटक में रूढ़िगत दुःखांत के परंपरागत निषेध का अनुकरण करते हुए यहाँ भामह ने (काव्य में) दुखांत समाप्ति के प्रति असहमति प्रकट की है। इसके विपरीत दंडी यह मानते हैं कि नायक को तो विजयी होना ही चाहिए, अतः वे दुखांत समाप्ति के निषेध की परवाह नहीं करते। उनके मत से प्रतीत होता है कि यदि प्रतिनायक के पराक्रम की प्रशंसा की जाए और तब वैसे पराक्रमी प्रतिनायक पर नायक की विजय दिखाते हुए उसके उत्कर्ष की व्यंजना की जाय तो अभिव्यक्ति अधिक कलापूर्ण होगी। भामह ने दूसरे परिच्छेद के 37-38 श्लोक में उपमा के (निंदोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा आदि) भेदों के निरूपण की जो अनावश्यकता बताई है, उसका कुछ लोगों ने यह अर्थ निकाला है कि वह दंडीकृत विस्तृत भेद-निरूपण का खंडन है, परंतु इस मान्यता में वास्तव में कोई तथ्य नहीं है। भामह ने जिस त्रिप्रकारत्व का खंडन किया है, वह दंडीकृत प्रकार विधान नहीं है, क्योंकि दंडी ने तीन नहीं 32 भेद बताए हैं। उधर निंदोपमा, प्रशंसोपमा आदि का उल्लेख भरत ने भी किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दंडी को भामह की रचना ज्ञात थी। अतः वह भामह की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि भामह अपने युग के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे और दंडी उनके अनेक मतों से सहमत नहीं थे। इस संबंध में दंडी के टीकाकारों[1] ने एक स्वर से इस बात की पुष्टि की है कि इन अधिकांश विवादास्पद स्थलों पर दंडी ने भामह के मतों का खंडन करने का यत्न किया है। यहाँ उनके सिद्धांतों की विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है। दो भिन्न संप्रदायों के अनुयायियों में मौलिक और महत्वपूर्ण अंतर होना स्वाभाविक है। दंडी ने अधिकतर विषयों का अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से भेद-निरूपण किया है, जिससे यह सूचित होता है कि भामह के समय की अपेक्षा दंडी के समय में अलंकारों का अध्ययन अधिक समुन्नत और व्यापक था।[2]

यदि इस निष्कर्ष को भामह की संभावित अग्रता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी तिथि को दंडी की तिथि की ऊपरी सीमा माना जा सकता है। उनकी तिथि की निचली सीमा, जिस पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है, भामह की तिथि से अभिन्न है, अर्थात् उनकी तिथि उद्भट के समकालिक वामन की ही तिथि है। संभवतः दंडी आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही हुए हैं।[3]

---

1. यथा, तरुणवाचस्पति की टीका 23-24, 29; ii. 235, 237, 258; iv. 4 इत्यादि; हरिनाथ i. 15 पर (ABOD 206b में उद्धृत) टीका; वादिजंघाल की *i*. 21 पर टीका।

2. उदाहरण के लिए 'रीति', 'गुण', 'दोष', अलंकार (दंडी ने अलंकार को मूलतः 'गुण' से अभिन्न माना है, ii 3), और 'वक्रोक्ति' (भामह ii. 85 और दंडी ii. 362) पर उनके विचार देखिए। इसी प्रकार अलंकारों का विवेचन-क्रम भी द्रष्टव्य है (भामह ने उनका विवेचन क्रमबद्ध वर्गों के रूप में किया है, किंतु दंडी के पैंतीस स्वतंत्र अलंकार ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे पूर्णतः मान्य हैं। दंडी ने एक-एक अलंकार के अनन्त उपभेद बताकर उनके सूक्ष्म भेदों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त दोनों आचार्यों द्वारा किया हुआ 'यमक', 'उपमा', 'उत्प्रेक्षा', 'अनन्वय' और 'ससंदेह', 'उपमा-रूपक' और 'उत्प्रेक्षावयव' (इनमें से अंतिम चार को दंडी ने स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है) इत्यादि का क्रमशः विवेचन भी द्रष्टव्य है। इन विषयों पर अगले खण्ड में विस्तार से चर्चा की जायगी।

3. यहाँ पर यह समस्या कि हमारे दंडी 'दशकुमारचरित' के रचयिता दंडी से अभिन्न हैं, अप्रासंगिक है। इस विषय पर देखिए—एस० के० डे का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' कलकत्ता 1947, पृ० 207-9. यह मानना पड़ेगा कि दोनों दंडी अभिन्न हैं और 'अवंतिसुंदरीकथा' (सं०एम०आर० कवि, मद्रास 1924) दंडी रचित है, अन्यथा उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। देखिए, एस० के० डे का Aspects of Sk. Lit. कलकत्ता, 1959, पृ० 296-308.

3

इसमें कोई संदेह नहीं कि भामह की तरह दंडी भी अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के अभारी रहे होंगे। दंडी ने उनका नामोल्लेख नहीं किया, फिर भी उनकी रचना में इस बात के यथेष्ठ प्रमाण मिल जाते हैं कि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों का उपयोग किया और उन आचार्यों में भामह भी एक हैं। दंडी ने इस आभार को सामान्य रूप में स्वीकार किया है तथा स्थान-स्थान पर 'अन्यों' और 'आचार्यों' के मतों का निर्देश किया है (यथा i, 9, 10; ii. 2, 7, 9, 54; iii-106)। वे इस बात को छिपाते नहीं कि उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के उदाहरणों का अवलोकन किया है और संभवतः उन्हें अपने उदाहरणों में सम्मिलित भी किया है। ऐसे कवियों का उल्लेख उन्होंने i. 30, 100; ii. 65, 223, 225, 363; iv. 7, 32, 42, 57 में किया है।[1] दंडी के i. 2 पर 'हृदयंगम' टीका में दो लेखकों, काश्यप और वररुचि (vi. 2; ii. 7), का विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। अनुमान है कि दंडी ने इनके ग्रंथों का उपयोग किया है। इसी प्रकार, वादिजंघाल की 'श्रुतानुपालिनी' टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त और नंदिस्वामी को दंडी से पूर्ववर्ती आचार्य बताया गया है। संभव है, ये नाम पौराणिक अथवा परंपरा-प्राप्त हों, किंतु काश्यप के नाम का उल्लेख दंडी के एक अन्य प्रशंसक ने भी किया है, जिसने सिंहली में काव्य-शास्त्र-विषयक ग्रंथ लिखा था। इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अभिनवगुप्त काश्यप को भरत से पूर्ववर्ती मुनि मानते हैं और 'अभिनव भारती' में उन्होंने रागों के विषय में उनके मत का उल्लेख भी किया है। संगीत-रत्नाकर' (ii. 2. 31) की टीका में कल्लिनाथ ने काश्यप के तीन श्लोक दिए हैं। संगीत पर प्राचीन आचार्यों में से नान्यदेव (11वीं से 12वीं शती) ने उनकी गणना संगीत के प्राचीन आचार्यों में की है और बृहत्काश्यप और वृद्ध-काश्यप के साथ-साथ इनका भी उल्लेख किया है। इसके विपरीत, पंचसायक (iv. 9) में उन्हें कामशास्त्र का और 'अग्नि-पुराण' में छंद-शास्त्र का अधिकारी आचार्य कहा गया है। पाणिनि ने viii. 4. 67 में एक काश्यप का नामोल्लेख किया है और आफ्रेक्ट (Aufrecht) के कथनानुसार माधव ने काश्यप नामक एक वैयाकरण का उल्लेख किया है।

पिशेल (Pischel)[2] ने प्रेमचंद्र तर्कवागीश,[3] पीटर्सन,[4] और जैकोबी[5] के इस सुझाव का निराकरण किया है। i. 12 में दंडी ने 'छंदो-विचिति' शब्द द्वारा

1. अगाशे के उपर्युक्त ग्रंथ में पृ० liii. इत्यादि पर इस विषय की चर्चा देखिए।
2. 'श्रृंगार-तिलक' पर भूमिका, पृ० 14 इत्यादि।
3. दंडी के i. 12 पर टीका।
4. दशकुमारचरित की भूमिका, पृ० ix-x.
5. Ind. Stud. xvii, पृ० 447.

छंद:शास्त्र पर लिखित अपने ग्रंथ का उल्लेख किया है। दंडी ने स्वयं उसी श्लोक में छंदो-विचिति के लिए 'सा विद्या' कहा है, जिससे यही लगता है कि वह शब्द सामान्य छंद:शास्त्र के लिए ही प्रयुक्त है, किसी विशिष्ट ग्रंथ को लक्षित नहीं करता।[1] पिशेल के निर्देशों के अतिरिक्त, कौटिल्य का अर्थशास्त्र (i.3.1.), आपस्तंब 'धर्म-सूत्र' ii. 4.8. में भी छंदो-विचिति शब्द का उल्लेख हुआ है तथा राजशेखर पृ० 6 और हेमचंद्र की टीका पृ० 5 का उल्लेख पर्याप्त होगा। दंडी ने iv. 49 में एक कला-परिच्छेद का उल्लेख किया है। पीटर्सन ने इसे दंडी का एक अन्य ग्रंथ मान लिया है; किंतु यह उल्लेख संभवत: उनके 'काव्यादर्श' के एक अतिरिक्त अथवा पूरक अध्याय को निर्दिष्ट करता है। तरुणवाचस्पति ने ऐसा ही सुझाव दिया है (पृ० 282)। यह ध्यान देने योग्य है कि वामन पर 'कामधेनु' नामक टीका में कलाओं पर भामह के किसी लुप्त ग्रंथ अथवा अध्याय से इसी प्रकार के उद्धरण दिए गए हैं।[2]

दंडी के 'काव्यादर्श' में तीन परिच्छेद अथवा अध्याय (एम० रंगाचार्य के संस्करण में चार) और लगभग 660 पद्य हैं। इसमें निम्नलिखित विषय हैं—(i) काव्य की परिभाषा और उसके भेद, तत्संबंधी दो मार्ग (वैदर्भ और गौड) और दस गुण, उत्कृष्ट कवि के अनिवार्य गुण (प्रतिभा, श्रुत और अभियोग)। (ii) अलंकार की परिभाषा, परिगणना और 35 अर्थालंकारों का वर्णन, अर्थात् 'स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृति, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश अथवा लव, यथासंख्य अथवा क्रम, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी., संकीर्ण और भाविक।' (iii) शब्दालंकारों का विस्तृत विवेचन, अर्थात् यमक, चित्रबंध और प्रहेलिका के 16 भेद, दस दोष (रंगाचार्य के संस्करण में अध्याय iv. में)।

4

दंडी के टीकाकार

निम्नलिखित ग्रंथसूची के अनुसार दंडी पर अनेक टीकाएँ हैं। मद्रास संस्करण में प्रकाशित तरुण वाचस्पति की टीका और 'हृदयंगम' नामक अज्ञात

---

1. देखिए, पी. वी. काण, इंडियन ऐंटीक्वेरी, 191, i. पृ० 177.
2. देखिए, पृ० 53, पा. टि. 2।

लेखक की टीका को छोड़कर, अधिकतर टीकाएँ अपेक्षाकृत आधुनिक हैं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक अथवा आलोचनात्मक दृष्टि से उनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

ग्रंथ-सूची

संस्करण : (1) बिब्लिओथिका इंडिका, 1863, में प्रेमचंद्र तर्कवागीश का संस्करण, उनकी अपनी टीका सहित, भवदेव चट्टोपाध्याय, कलकत्ता 1881, द्वारा पुनर्मुद्रित। (2) जीवानंद विद्यासागर, 1882 इत्यादि। (3) ओ० बोह्टलिंक, लिपजिग, 1890 का संस्करण, अनुवाद सहित। (4) एम० रंगाचार्य मद्रास 1900, दो टीकाओं सहित (एक तरुणवाचस्पति की है और दूसरी का नाम है 'हृदयंगम'। (5) एस० के० बेल्वलकर और रंगाचार्य, बी० रेड्डी का संस्करण, संस्कृत टीका और अंगरेजी टिप्पणी सहित, बंबई संस्कृत सीरीज, बंबई, भाग i (1919) और भाग ii (1920)। (6) एस० के० बेल्वलकर, पूना 1924 (अग्र प्रकाशन, अध्याय i-ii, 1920) कृत संस्कृत पाठ और अंगरेजी अनुवाद। (7) अनुकूल चंद्र बनर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1939, कृत संस्कृत और तिब्बती पाठ का संस्करण। (8) रत्नश्रीज्ञान का रत्नश्री टीका सहित संस्करण। इन्होंने अनंतलाल ठाकुर और यू० झा, मिथिला इंस्टीट्यूट, दरभंगा, 1957, के तिब्बती पाठ का अनुकरण किया है। (9) हृदयंगम सहित डी० टी० तताचार्य का संस्करण, वादिजंघाल और तरुण-वाचस्पति, बंबई (?) (1941) की टीकाएँ। (10) सं० वादिजंघाल की टीका सहित वी० कृष्णमाचार्य, श्रीनिवास प्रेस, तिरुवाडी, 1936. अन्यथा निर्दिष्ट न होने पर हमारे ये निर्देश एम० रंगाचार्य के मद्रास संस्करण से संबंधित हैं। इस संस्करण में पाठ को तीन की जगह चार अध्यायों में विभक्त किया गया है।

टीकाएँ : (1) तरुणवाचस्पति, मद्रास कैटलॉग xii, 12834. ऊपर कहे अनुसार मुद्रित। यह पुरानी टीका प्रतीत होती है; किंतु चूँकि इसमें (i.40-पर) भोज ii·28 और दशरूपक i·8 (i·31 पर टीका में) का उल्लेख है, अतएव इसे बहुत प्राचीन नहीं माना जा सकता। इस टीका में (i·30 पर) कवि हस्ति-मल्ल का उल्लेख है। ये जैन कवि हस्तिमल्लसेन हो सकते हैं, जिन्होंने नाटक और काव्य लिखे हैं। तरुणवाचस्पति के पुत्र केशव भट्टारक, महाराजाधिराज रामनाथ (होयसल वीर रामनाथ) के गुरु थे। वे 1255 ई० में राजसिंहासन पर बैठे। देखिए वी० राघवन, जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, xiii पृ० 305, इस प्रकार तरुणवाचस्पति की तिथि 12वीं शती के अंत और 13वीं शती के पूर्वार्ध के मध्य संभव हो सकती है। कुछ पांडुलिपियों के अंतिम पृष्ठ-विवरण (Colophon) में उन्हें 'साधु' नाम से अभिहित किया गया है।

(2) अज्ञात लेखक की टीका 'हृदयंगम', मद्रास केटलॉग 12833, जैसा ऊपर बताया गया है (केवल अध्याय i-ii); भोज ने इसका नामोल्लेख किए बिना दंडी पर इसकी टिप्पणियों (ii. 284, 286, 288, 289-91) को शब्दशः अपने ग्रंथ शृंगार-प्रकाश, (अध्याय xi) में उद्धृत किया है।

(3) विश्वधर के पुत्र और केशव के कनिष्ठ भ्राता हरिनाथ की टीका, 'मार्जना'। Abod. 206 पीटर्सन vi. 30 (उद्धरण). B O R I (केटलॉग xii. संख्या 124) के अंतर्गत पांडुलिपि, प्रतिलिपि 1746-1690 ई०। भोज की सरस्वती-क. पर भी हरिनाथ ने टीका लिखी थी। वे केशवमिश्र के पश्चात् हुए हैं, क्योंकि अलंकार पर उनके ग्रंथ से उन्होंने उद्धरण दिए हैं।

(4) गदाधर के पुत्र और कृष्णशर्मा के पौत्र नरसिंह सूरी की मुक्तावली। मित्र 2394 (औफ्रेक्ट i. 102b)

(5) त्रिशरणतटभीम रचित 'चंद्रिका'। हाल की सूची पृ० 63 पर इसका उल्लेख है।

(6) विश्वनाथ रचित 'रसिक-रंजनी'। औपर्ट (Oppert 4112, औफ्रेक्ट i. 103a)।

(7) कृष्णकिंकर तर्कवागीश भट्टाचार्य, गोपालपुर, बंगाल निवासी, कृत 'विवृति' अथवा 'काव्य-तत्व-विवेक-कौमुदी'। 10c pt. iii. संख्या 1128-1497, पृ० 321.

(8) वादिजंघाल (अथवा वादि-घंघाल) रचित 'श्रुतानुपालिनी'। ऊपर बताए अनुसार मुद्रित। स्टीन (Stein) पृ० 61, xxviii, उद्धरण संख्या 1179. दि रिपोर्ट ऑफ पेरीपेटेटिक पार्टी ऑफ मद्रास, Mss लाइब्रेरी 1917-19 में पुस्तकालय के लिए इस टीका की प्राप्ति का उल्लेख है। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में पांडुलिपि, कैटलॉग xii संख्या 125. इस टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त और नंदिस्वामी का दंडी के पूर्ववर्ती विद्वानों के रूप में उल्लेख है।

(9) भागीरथ रचित टीका। औफ्रेक्ट i. 102 b.

(10) विजयानंद की टीका। Bori कैटलॉग xii, संख्या 123 (अपूर्ण) के अंतर्गत पांडुलिपि।

(11) जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ की 'वैमल्य-विधायिनी' टीका। औफ्रेक्ट (Aufrecht) ii. 20a. शायद ये वही मल्लिनाथ हैं, जिनका उल्लेख काव्यादर्श के टीकाकार के रूप में विश्वेश्वर ने अलंकौस पृष्ठ 69 पर किया है। इन्हें प्रसिद्ध कोलाचल मल्लिनाथ से भिन्न मानना चाहिए।

(12) त्रिभुवनचंद्रकृत (अपूर्ण) टीका। उनका दूसरा नाम वादिसिंह था। वे जैन थे। पी० वी० काणे कृत संस्कृत काव्यालंकार का इतिहास, iii, संख्या 57.

(13) यामुन अथवा यामुनेय रचित टीका, Bori, कैटलॉग xii, संख्या 126 के अंतर्गत पांडुलिपि। कदाचित् यह दक्षिण-भारतीय रचना है। इसमें रंगाचार्य के मद्रास संस्करण के समान काव्यादर्श को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है।

(14) रत्नश्रीज्ञान रचित 'रत्नश्री' टीका। संस्करण पूर्वोक्त अनुसार। लेखक लंका के भिक्षु थे। उन्होंने किसी राष्ट्रकूट राजा के संरक्षण में यह टीका लिखी थी। इस राजा का नाम तुंग था और वह गौड़ और मगध के महाराजा (तिथि 908 ई०) राज्यपाल के अधीन था। अश्वघोष और कालिदास के अतिरिक्त इसमें इन लेखकों का उल्लेख मिलता है—मातृचेट, आर्यशूर, कोहल, रामशर्मा, मेधाविरुद्र, कंबल, हरिवृद्ध, भामह, भर्तृमेंठ, गुणाढ्य, 'चंद्र-व्याकरण' मल्लनाग और धर्मकीर्ति।

(15) अज्ञात लेखकों की टीकाएँ : मित्र 297; ओपर्ट (Oppert) 7903; Scc vii. 21; ओपर्ट 2581 के अंतर्गत धर्मवाचस्पति की एक टीका, जो संभवतः अशुद्ध है। शुद्ध नाम तरुणवाचस्पति है। रेगनो (Regnaud) (Rhetorique पृ० 367 पा० टि०) ने भी वाचस्पति की एक टीका का उल्लेख किया है और टेलर (Taylor) ii. 501 का हवाला दिया है। शायद वह ग्रंथ भी इसी टीका को लक्षित करता है।

उद्भट

1

उद्भट ने भामह पर 'भामह-विवरण' अथवा 'भामह-विवृति'[1] नामक टीका लिखी और साथ-ही-साथ अपने ग्रंथ, काव्यालंकार-संग्रह' की रचना में भामह के ग्रंथ का उपयोग किया।[2] आनंदवर्धन[3] ने ध्वनि-सिद्धांत को विकसित करके उसे

1. परवर्ती लेखकों ने 'भामह-विवरण' का अनेक बार उल्लेख किया है। उदाहरणतया, अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में (पृ० 10, 40, 134, 159); हेमचंद्र ने (टीका, पृ० 17, 110); माणिक्यचंद्र ने (संकेत, सं. मैसूर, पृ० 289); समुद्रबंध ने ('अलंकार-सर्वस्व' पर पृ० 89); प्रतीहारेंदुराज ने (पृ० 13 पर) इत्यादि।
2. ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट ने इन अलंकारों की परिभाषाओं में शब्दशः भामह के ग्रंथ का उपयोग किया है—आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, कथासंख्य, उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससंदेह और अनन्वय। अलंकारों की परिगणना में भी भामह के क्रम का अनुकरण किया गया है। किंतु उद्भट ने कुछ ऐसे अलंकारों को छोड़ दिया है, जिसकी भामह ने परिभाषा दी है (यथा यमक, उपमा रूपक, उत्प्रेक्षावयव) और कुछ ऐसे अलंकारों को सम्मिलित कर लिया है, जिनकी परिभाषा भामह ने नहीं दी (यथा पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिंग, दृष्टांत और संकर)।
3. प्रतीहारेंदुराज (पृ० 79), रुय्यक और जयरथ (पृ० 3) और जगन्नाथ (पृ० 414-5) के मतों की तुलना कीजिए।

अंतिम रूप दिया। उन्होंने, वास्तव में, भट्टउद्भट का पृ० 96 और 108 पर उल्लेख किया है : क्योंकि आनंदवर्धन 9वीं शती में हुए हैं, इसलिए उद्भट निश्चित रूप से उनसे पहले हुए हैं। उद्भट के नाम से मालूम होता है कि वे काश्मीरी थे।[1] कल्हण (iv 495) ने एक भट्ट उद्भट का नाम लिया है, जो काश्मीर के राजा जयापीड (लगभग 779-813 ई०) के सभापति थे, और बूहलर (Buhler) ने, काश्मीर में उद्भट के ग्रंथ की खोज करने के लिए हम जिनके आभारी हैं, उन्हें 'काव्यालंकार संग्रह' (अथवा 'काव्यसार-संग्रह') के लेखक से अभिन्न माना है। इस अभिन्नता को मानते हुए, जैकोबी के कथनानुसार, उद्भट के अधिक सक्रिय काल को जयापीड के राज्यकाल के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया जा सकता है, क्योंकि इसके राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में प्रजापीडन के कारण ब्राह्मण इससे विमुख हो गए थे। अतएव, उद्भट की तिथि 8वीं शती के अंत में निर्धारित की जानी चाहिए। संभव है, वे 9वीं शती के आरंभ तक वर्तमान रहे हों।

लुप्त 'भामह-विवरण' के अतिरिक्त प्रतीहारेंदुराज का कथन है (पृ० 15) कि उद्भट ने 'कुमारसंभव' नामक काव्य भी लिखा था। पाठ में अधिकतर उदाहरण उसी में से लिए गए हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संभवतः उद्भट ने भरत के 'नाट्य-शास्त्र' पर एक टीका भी लिखी थी। वह अब उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त ने भरत पर अपनी टीका में औद्भटों अथवा उद्भट के अनुयायियों का उल्लेख किया है।

उद्भट के 'काव्यालंकार-संग्रह' में छह अध्याय (वर्ग) हैं। इसमें अनुष्टुप् में 75 कारिकाएँ और उदाहरण हैं और 41 अलंकारों पर चर्चा की गई है। 'सुभाषितावली' में 498, 1463, 3453 पद्य उद्भट-रचित कहे जाते हैं। इनमें संख्या 498 का पद्य प्रसिद्ध सुभाषित है। यह 'चाणक्य-शतक' जैसे संग्रहों में भी उपलब्ध है। यद्यपि उद्भट ने अलंकारों के विवेचन में भामह का अनुकरण किया है, तथापि उनके अपने विशिष्ट विचार भी हैं, जिनका अस्तित्व तो भामह में है ही नहीं अथवा जिनके संबंध में उनका भामह से मतभेद है। उदाहरण के लिए, भामह ने श्लेष के तीन भेद बताए हैं; जबकि उद्भट ने केवल दो भेद बताए हैं और उनके वर्गीकरण का आधार भी भिन्न है। उद्भट की तीन वृत्तियों का, जो अनुप्रास के वर्गीकरण का आधार है, भामह में अभाव है।[2]

---

1. Kashmir Rep, पृ० 65.
2. अधिक उदाहरणों के लिए पी. वी. काणे, HSP, पृ० 127-128 देखिए। उद्भट के ग्रंथ के अंतर्गत विषयों का संक्षेप वर्णन खंड ii. अध्याय ii (2) में दिया गया है।

2

मुकुल और प्रतीहारेंदुराज

उद्भट के टीकाकार, प्रतीहारेंदुराज, अपने ही कथनानुसार, कोंकण के निवासी और मुकुल के शिष्य थे। मुकुल, 'अभिधावृत्ति-मातृका' के रचयिता होने के नाते प्रसिद्ध हैं। यह ग्रंथ अभिधा और लक्षणा की व्याकरण और अलंकार संबंधी समस्या पर लिखा गया है। इसमें वृत्तिसहित 15 कारिकाएँ हैं। ग्रंथ के अंतिम पद्य से मालूम होता है कि लेखक के पिता का नाम भट्ट कल्लट था, जो कल्हण v. 66 के अनुसार, काश्मीर-नरेश अवंतिवर्मा (855-884 ई०)[1] के राज्यकाल में हुए और इस प्रकार रत्नाकर और आनंदवर्धन के समकालीन थे। कल्हण के कथन को स्वीकार कर लिया जाय, तो मुकुल की तिथि लगभग 9वीं शती के अंत और 10वीं के आरंभ में निर्धारित की जा सकती है। उनके शिष्य प्रतीहारेंदुराज, इस प्रकार, 10वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए थे।[2] उद्भट पर अपनी टीका, 'लघु-वृत्ति' प्रतीहारेंदुराज ने भामह, दंडी, वामन, 'ध्वन्यालोक' और रुद्रट के उद्धरण अधिकांशतः नामसहित दिए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे आनंदवर्धन के ध्वनि-सिद्धांत से भलीभाँति परिचित थे, किंतु उसके अनुयायी नहीं थे।

पीटर्सन ने प्रतीहारेंदुराज और भट्टेंदुराज की अभिन्नता का सुझाव दिया है।[3] अभिनवगुप्त ने अपने लोचन (पृ० 25, 43, 116, 160, 207, 223) में अस्मदुपाध्याय और भरत पर अपनी टीका में केवल 'उपाध्याय' कहकर उनका उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ 'लोचन'[4] के आदि और अंत में इस गुरु के प्रति अपना असीम ऋण-भार प्रकट किया है। एक स्थल पर (पृ० 160) उन्होंने उनकी प्रशंसा में उन्हें 'विद्वत्कविसहृदयचक्रवर्ती' की उत्कृष्ट उपाधि दी है। इन सबसे और अभिनव के कथन से कि उन्होंने काव्य की शिक्षा भट्टेंदुराज से प्राप्त की, इस अनुमान की पुष्टि होती है कि यह आचार्य काव्य विद्या में प्रवीण थे। तिथि-

---

1. बूहलर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 66, 78.
2. तुलना कीजिए, शृंगारतिलक पर पिशेल की भूमिका, पृ० 12.
3. 'सुभाष' पर भूमिका पृ० 11, किंतु ऑफ्रेक्ट ने i. 59a में इसका विरोध किया है। बनहट्टी द्वारा प्रस्तुत अभिन्नता के आधुनिक तर्क के आधार ठोस और युक्तियुक्त नहीं हैं। समुद्रबंध पृ० 132 में केवल एक ऐसा उदाहरण है, जहाँ पर दोनों इंदुराजों की अभिन्नता का भ्रम है, किंतु यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है।
4. सं. काव्यमाला, पृ० 1 और जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेंट ऑफ़ लैटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय 1922, पृ० 42 (एस. के. दे के ग्रंथ 'कुछ समस्याएँ'—(Some Problems) पृ० 245 इत्यादि में पुनर्मुद्रित।

संबंधी वाधा न होते हुए भी ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे दोनों इंदुराजों में परस्पर भेद किया जा सकता है। 'भगवद्‌गीता'[1] पर अभिनव की टीका से प्रतीत होता है कि भट्टेंदु, श्रीभूतिराज के पुत्र और कात्यायन-गोत्रोत्पन्न सौचुक के पौत्र थे; किंतु प्रतीहारेंदु की वंशावली अथवा उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि वे कोंकण के निवासी और मुकुल के शिष्य थे।[2] भट्टेंदु मुख्यतः एक कवि थे और अभिनव के उद्धरण से प्रतीत होता है कि उन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखा है। कदाचित् उनकी प्रेरणा से उनके शिष्य ने अपने ग्रंथों में उनके पद्यों को उपयुक्त उदाहरणों के रूप में प्रयोग किया। अभिनव ने भरत पर अपनी टीका में रस और तत्संबंधी विषयों पर, उनके विचारों का जैसा उद्धरण दिया है, वह उद्भट पर प्रतीहारेंदु की टीका में व्यक्त विचारों के साथ मेल नहीं खाता। भट्ट और प्रतीहार केवल सम्मानसूचक शब्द हैं, उनसे कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। किंतु अभिनव ने अपने गुरु के उल्लेख में सदा भट्टेंदुराज (प्रतीहारेंदुराज का नहीं) शब्द का प्रयोग किया है। यह बात महत्वपूर्ण है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि दोनों ही इंदुराज शायद समकालीन थे, संभव है, अभिनव ने दोनों में भेद लक्षित किया हो। परवर्ती काव्यसंग्रहों में भी इस बात पर कोई भ्रम नहीं, क्योंकि कवि सदैव इंदुराज[3] अथवा भट्टेंदुराज कहा गया है। संभवतः यह कहा जा सकता है कि कवि भट्टेंदुराज ही अभिनव के गुरु थे। उन्हें इसी नाम से क्षेमेंद्र के दो ग्रंथों[4] और शार्ङ्गधर, वल्लभदेव और जल्हण के काव्य संग्रहों[5] में निर्दिष्ट

1. बूहलर का उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 30 और cxlxii-viii.
2. यह विचित्र बात है कि अभिनव ने अपने अधिकतर गुरुओं और परम-गुरु का उल्लेख किया है, किंतु मुकुल को छोड़ दिया है। यदि मुकुल परमगुरु थे तो उनका ग्रंथ अभिनव के लिए महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि इसमें अलंकार के समान शब्द के कार्य (शक्ति) और उसके अर्थ की समस्या पर विवेचन किया गया था।
3. इंदुराज के दो पद्य कवि के नाट्यशास्त्र के संस्करण में 287 और 306 पर मिलते हैं।
4. 'औचित्य विवेचन', श्लोक 25, 31 के नीचे। 'सुवृत्ततिलक' श्लोक 2, 24. 29, 30 के नीचे।
5. 'सुभाषितावली' 918. शार्ङ्गधर पद्धति (1052) में 'परार्थे यः पीडां' पद्य इंदुराज-रचित माना गया है, आनंदवर्धन ने इसका दो बार (अज्ञात लेखक) उल्लेख किया है। किंतु इस बात से कोई निर्णय नहीं होता, क्योंकि अभिनव की टीका इस पद्य के रचयिता के बारे में चुप है जो 'भल्लट-शतक' 56 में मिलता है और 'सुभाष' 947 में एक अन्य कवि, यश, का लिखा माना गया है। 'सदुक्तिकर्णामृत' में यह पद्य वाक्पति पर आरोपित है। हेमचंद्र (टीका पृ० 257) और जयरथ (पृ० 108) ने अज्ञात लेखक के रूप में इस पद्य का उल्लेख किया है।

किया गया है। इसके विपरीत, टीकाकार प्रतीहारेंदुराज कोई प्रसिद्ध कवि नहीं थे। मुख्यत: उन्होंने अलंकार पर लिखा है और वे अपने विचारों में उद्भट के प्राचीन मत के अनुयायी थे। यद्यपि, अभिनव के समान, नव-प्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धांत में उनकी आस्था नहीं थी; फिर भी उन्हें उसका पूर्ण ज्ञान था। आनंदवर्धन के इस नए सिद्धांत को लक्षित करते हुए, प्रतीहारेंदु ने एक स्थान पर (पृ० 79) इस प्रकार कहा है—ध्वनि, जिसे कुछ चिंतकों ने काव्य का 'प्राण' माना है, उसे कुछ चर्चाधीन अलंकारों के विवेचन के अंतर्गत, उसके लेखक उद्भट ने शामिल कर लिया है। इसलिए उसकी पृथक् चर्चा आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत होता है कि, भट्टेंदुराज ध्वनि के नवीन सिद्धांत के पक्ष में थे; क्योंकि अभिनव (लोचन-पृ० 2) का कथन है कि मेरे गुरु ने ध्वनि-सिद्धांत के संबंध में आनंद की वृत्ति के मंगलश्लोक की व्याख्या मुझे बताई थी। प्रतीहारेंदुराज और अभिनव के दृष्टिकोण में इतनी भिन्नता है कि यह मानना कठिन है कि उन दोनों में कोई आध्यात्मिक संबंध रहा होगा, क्योंकि अभिनव जिस ध्वनि-सिद्धांत के मान्यताप्राप्त प्रवर्तक थे, पूर्वोक्त लेखक किसी प्रकार भी उसके अनुयायी नहीं थे।

राजानक तिलक

रुय्यक (अथवा रुचक) के ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' पर अपनी टीका में जयरथ ने अनेक स्थानों पर (सं० NSP 1893, पृ० 15, 124, 305) राजानक तिलक रचित 'उद्भट विचार' का उल्लेख किया है और कहा है कि रुय्यक ने साधारणतया तिलक के विचारों का अनुकरण किया है। हमें ज्ञात है कि राजानक तिलक रुय्यक के पिता थे। गायकवाड़ सीरीज (ग्रंथसूची में नीचे देखिए)[1] के अंतर्गत उद्भट के पाठ पर टीका सहित, एक अज्ञातनाम लेखक की, 'विवृति' नामक टीका प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के संपादक का दावा है कि 'विवृति' जयरथ द्वारा उल्लिखित 'विवेक' अथवा 'विचार' से अभिन्न है। वर्तमान लेखक[2] और उसी समय बनहत्ति (Benhatti) ने भी उद्भट के ग्रंथ के अपने संस्करण में, मद्रास गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में टीकाओं की इस अद्वितीय पांडुलिपि के वर्तमान होने की ओर ध्यान आकर्षित किया था। बनहत्ति ने अभिन्नता के प्रश्न पर संकोच से काम लिया है; किंतु उनका विचार है कि 'विवृत्ति' स्पष्टतया जयरथ कथित राजानक तिलक के 'उद्भट-विवेक' अथवा 'विचार' से भिन्न है।

---

1. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1934, पृ० 173, 74 में वर्तमान लेखक द्वारा उसकी समीक्षा देखिए।
2. BSOS, iv, 1926 पृ० 279.

'विवृत्ति' के संपादक ने 'विवृत्ति' को तिलक का लुप्त ग्रंथ, 'विवेक' अथवा 'विचार' प्रमाणित करने का बड़ा प्रयत्न किया है।[1] प्रस्तुत प्रमाण स्वीकार्य है, किंतु निर्णायक नहीं है, और निश्चित सामग्री के अभाव में अच्छा यही है कि इस प्रश्न को ज्यों-का-त्यों ही रहने दिया जाय। यह अनामलेखक टीका आधुनिक है, इसका प्रमाण इसकी अंतर्वस्तु, राजशेखर की 'विद्धशालभजिका' का इसमें उल्लेख, और स्पष्ट रूप से मम्मट के मानक ग्रंथ के विनियोग में मिलता है। व्याख्या के रूप में इस ग्रंथ को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

ग्रंथ सूची

उद्‌भट

संस्करण : (1) रोमन लिपि में पाठ जी० ए० जेकब कृत, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी (JRAS) 1897; पृ० 829-53; (2) प्रतीहारेंदुराज का टीकासहित पाठ, एम० आर० तेलंग कृत, निर्णय सागर प्रेस 1905, 1915 (यह संस्करण अपनी टीका के कारण उपयोगी है, किंतु टीका-गत कुछ पद्य गलती से कारिका-पद्य के रूप में दिए गए हैं); (3) प्रतीहारेंदुराज की टीका सहित एन० डी० बनहत्ती का संस्करण, बंबई संस्कृत सीरीज, पूना 1925. अन्यथा निर्देश न होने पर सभी हवाले तेलंग के संस्करण से दिए गए हैं।

टीकाएँ : (i) प्रतीहारेंदुराज-कृत टीका (ऊपर कहे संस्करणों में मुद्रित) (ii) एक अज्ञात लेखक की 'विवृति' नामक टीका (संपादक ने इसे राजानक तिलक रचित माना है), सं० के० एस० रामस्वामी शास्त्री, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज 1931.

मुकुल

संस्करण ए० आर० तेलंग-कृत, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1916.

प्रतिहारेंदुराज

उपर्युक्त, उद्‌भट के पाठसहित।

राजानक तिलक

टीकाओं के अंतर्गत, ऊपर देखिए।

वामन

1

वामन की तिथि की ऊपरी सीमा उनके अपने उद्धरणों (iv. 3, 6 और i·2·12) से प्राप्त होती है, जो भवभूति-रचित 'उत्तर-राम-चरित' (1·38) और

---

1. पी. वी. काणे (HSP; पृ० 130) इस विचार से सहमत हैं।

'महावीर-चरित' (1·54) में दिए गए हैं। भवभूति, कन्नौज के राजा यशोवर्मा के संरक्षण में, 8वीं शती के प्रथम चरण में हुए।[1] उनकी तिथि की निचली सीमा राजशेखर द्वारा वामन i·2·1-3 से लिए गए उद्धरण (पृ० 14) से और वामनीयों के निर्देश से प्राप्त होती है। इससे विदित होता है कि 9वीं शती के अंत तक वामन के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। अभिनवगुप्त ('लोचन', पृ० 37)[2] से यह भी विदित होता है कि 9वीं शती के मध्य में आनंदवर्धन वामन से परिचित थे, यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से वामन का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी iii. 52 पर वृत्ति में स्पष्टतया उनके रीति-सिद्धांत को लक्षित किया है। भामह, दंडी और उद्भट की तरह शायद वामन उस समय हुए, जब आनंदवर्धन के ध्वनि-सिद्धांत को ख्याति नहीं प्राप्त हुई थी। प्रतिहारेंदुराज वामन के विचारों के बड़े भक्त थे। उन्होंने 'अलंकार-ध्वनि' की चर्चा करते हुए स्पष्टतया कहा है (पृ० 81) कि वामन

---

1. 'राजतरंगिणी' iv. 144; 'मालती-माधव' पर भंडारकर की भूमिका, पृ० xiii इत्यादि; JBRAS xxiii, पृ० 92; एस. सी. पंडित की 'गौडवहो' पर भूमिका पृ० xvii; WZKM. ii. 332। चंद्रगुप्त के एक मंत्री, सुबंधु (पाठांतर, वसु-बंधु) को iii. 2.2 पर वृत्ति के अंतर्गत एक उदाहरण से संबंधित एक तर्क में निर्दिष्ट किया गया है। सुबंधु अथवा वसुबंधु के संरक्षक (भूपति) की अभिन्नता का विषय बहुत विवादास्पद रहा है, (देखिए, एंडियन इंटीक्वेरी xl, 1911, पृ० 170, 312; xii. 1912 1.15; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली i, पृ० 261)। वी. राघवन (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली xix. 1943, पृ० 70-72) ने यह प्रदर्शित किया है कि यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि वामन ने प्रसिद्ध गद्यकथा 'वासवदत्ता' के लेखक सुबंधु को निर्दिष्ट किया है, वामन का निर्देश तो चंद्रगुप्त मौर्य और बिंदुसार के मंत्री सुबंधु की ओर है। अभिनव गुप्त ने महाकवि सुबंधु को 'वासवदत्ता नाट्य-धारा' नामक नाटक का लेखक कहा है। नाट्य-धारा शब्द से विदित होता है कि क्रमानुसार अंक के अंदर अंक देकर इस नाटक की पूर्त्ति (विकास) की गई थी।

2. 'लोचन' में वामन के उद्धरण पृ० 8, 10, 180 पर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'अभिनव-भारती' खंड 1. पृ० 288 (वामन i.3, 30-21) पर। वामन ने (iv. 3.10 उभौ यदि व्योम्नि) माघ iii. 8 का उद्धरण दिया है, इसके अतिरिक्त वामन v.2.9 माघ i. 25 'यो भर्तृ-पिंडस्य', जिसे v. 2.28 में व्याकरण के अनुसार अशुद्ध कहा गया है, 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण' iv.3 में मिलता है, और iv.3.25 में उल्लिखित पद्य 'शरच्छशांक गौरेण', 'स्वप्नवासवदत्ता' iv. 7 में मिलता है।

ने ऐसे अवसरों पर 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है (iv.3.8.)।[1] यदि वामन की तिथि को 9वीं शती के मध्य में निर्धारित किया जाय तो गलत नहीं होगा।[2]

इन बातों से यह संभव प्रतीत होता है कि वामन 8वीं शती के मध्य और 9वीं शती के मध्य के अंतर्वर्ती काल में, अर्थात् लगभग 800 ई० के आसपास हुए। कल्हण iv.497 और 'काश्मीरी पंडितों की परम्परा' का आदर करते हुए, हमारे वामन और काश्मीर-नरेश जयापीड (779-813 ई०) के मन्त्री वामन में बूहलर द्वारा प्रतिपादित अभिन्नता को मानना पड़ेगा। इस निष्कर्ष से उद्भट और वामन समकालीन और प्रतिस्पर्धी सिद्ध होते हैं। राजशेखर, हेमचन्द्र और जयरथ ने जिस प्रकार वामनीय और औद्भटीय दो प्रतिस्पर्धी मतों का उल्लेख किया है, उससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है।

सूत्रों पर सोदाहरण वृत्ति, कविप्रिया, जैसा कि मंगल श्लोक से विदित होता है, वामन ने स्वयं लिखी थी (तुलना कीजिए, iv.3.33)। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि परवर्ती लेखकों ने दोनों भागों को वामन-रचित माना है। उनके अपने कथन के अनुसार, उदाहरण 'स्वीय' और परकीय, दोनों हैं (iv. 3.33)। सूत्रपद्धति के अनुसार रचित, वामन के ग्रन्थ में पाँच अधिकरण हैं और प्रत्येक अधिकरण में कई अध्याय हैं। पहले और चौथे अधिकरण में तीन अध्याय हैं और शेष अधिकरणों में दो-दो अध्याय हैं। कुल मिलाकर बारह अध्याय हैं। अधिकरणों के नाम से विषय-सामग्री सूचित होती है—(i) शारीर, (ii) दोष-दर्शन, (iii) गुण-विवेचन (iv) आलंकारिक और (v) प्रायोगिक। अन्तिम अध्याय में शब्द-शुद्धि अथवा प्रायोगिक के एक अंग व्याकरण-शुद्धि का विवेचन है। उदाहरण सहित छत्तीस अलंकारों की परिभाषा दी गई है।

---

1. यदि जैकोबी के कथनानुसार यह मान लिया जाय कि वामन अनाम ध्वनिकार के समकालीन थे तो भी यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि वे किसी तरह उस सिद्धान्त से प्रभावित हुए थे। रुय्यक के कथन (पृ० 7) और जयरथ से प्रतीहारेंदुराज के मत की पुष्टि होती है। जयरथ ने प्राचीन लेखकों को लक्षित करके स्पष्ट रूप से कहा है कि वे ध्वनिकार के मत से अनभिज्ञ थे ('ध्वनिकार मतमेभिर्नदृष्टम्, पृ० 3)। जयरथ के विचार में ध्वनिकार वास्तव में स्वयं आनन्दवर्धन ही थे।

2. कैपेलर (Cappeller) के थीसिस (Vaaman's Stilregen) पृ० iii तथा उनके संस्करण की भूमिका पृ० vii का, कि वामन को 1000 ई० के पश्चात् निर्धारित किया जाय, उपर्युक्त उद्धरणों से पूर्णतया निराकरण होता है। तुलना कीजिए, पिशेल (Pischel) का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 23। पिशेल के अनुसार कविराज के उल्लेख मात्र से वामन को 1000 ई० में निर्धारित करना आवश्यक नहीं है।

2

यह पहले ही बताया जा चुका है कि वामन ने, कई बातों में दंडी की पद्धति को परिष्कृत करने की चेष्टा की है। प्रयुक्त उदाहरणों के विषय में, वामन ने मौलिकता का दावा नहीं किया है। अनेक उदाहरण प्रसिद्ध ग्रंथों से उद्धृत प्रतीत होते हैं। वामन ने जिस रीति-सिद्धांत का पहली बार व्यवस्थित और स्पष्ट रूप में प्रतिज्ञापन किया, वह शायद भामह से भी प्राचीन है, क्योंकि उन्होंने 'गौडी' और 'वैदर्भी' के वर्गीकरण का उल्लेख किया है। वामन ने स्वयं अपनी वृत्ति में यथा, I. 2.11, 12-13, 3.15, 29, 32; II.¹, 18, 2.19; III. 1. 2.9, 25, 2.15 IV. 1. 7 पर 'अत्र लोकाः' अथवा 'तथा चाहुः' के साथ प्राचीन अज्ञात आचार्यों के उद्धरण दिए हैं। इन अज्ञात लेखकों और वामन के मध्य में दंडी एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं, किंतु वामन के ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का पूर्ण चेतन रूप उपलब्ध हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में वामन के प्रभाव से उत्पन्न वामनीय मत के होते हुए भी, मैदान में आनंदवर्धन के आ जाने के कारण, इस सिद्धान्त का पतन हो गया।

मंगल

मंगल शायद इसी सिद्धान्त के अनुयायी थे। वे अपेक्षाकृत प्राचीन लेखक थे। राजशेखर ने पृ० 11, 14, 16, और 20 पर उनके उद्धरण दिए हैं। हेमचंद्र के कथनानुसार (टीका पृ० 195) ओज की परिभाषा पर वे भरत से सहमत थे। वामन के साथ उनका भी कथन है कि दंडी का यह कहना कि ओज केवल गौडी रीति में है, ठीक नहीं, क्योंकि ओज सभी रीतियों में विद्यमान है।[1] इस लेखक के विषय में हमें केवल इतना ही ज्ञात है, किंतु यह प्रतीत होता है कि उनके विचार वामन-पक्षीय थे, जो शायद उनसे पूर्व हुए हैं। 'सदुक्ति-कर्णामृत' में मंगल नामक कवि का उल्लेख मिलता है।

वामन के टीकाकार

वामन पर विद्यमान अधिकतर टीकाएँ अर्वाचीन हैं और आलोचनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक स्वीकार्य नहीं हैं। दक्षिण-भारतीय विद्वान्, गोपेंद्र तिप्प भूपाल विजयनगरवंशीय देवराय II (1423-46 ई०) के अधीन राज्यपाल रहे थे। उनकी लिखी 'कामधेनु' नामक टीका, पाठ की विशद व्याख्या करती है और भारत में अनेक बार प्रकाशन से उसकी सर्वप्रियता सिद्ध होती है।

1. तुलना कीजिए; माणिक्यचंद्र (संकेत, मैसूर सं०, पृ० 292)।

ग्रंथ-सूची

संस्करण और अनुवाद : (1) कार्ल केपेलर, जीना, 1875, कृत Vaman's Lehrbuch der Poetik; (2) संस्करण, दुर्गाप्रसाद और के० पी० परब, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1880, और 1889; (3) सं० ए० बरुआ, कलकत्ता 1883, (4) सं० ग्रंथ प्रदर्शिनी, 1895; (5-6) सं० कामधेनु टीका सहित, बनारस संस्कृत सीरीज और 1908 और श्रीवाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम् 1909; (7) सं० एन० एन० कुलकर्णी, कामधेनु के उद्धरणों के साथ पूना, 1927; (8) Vaman's Stil egelen, Bearbeitet V. C. Cappelier (अंतिम अध्याय का अनुवाद), स्ट्रासबर्ग, 1880.-अंगरेजी अनुवाद, गंगानाथ झा, इलाहाबाद (तिथि रहित), इंडियन थाट में सर्वप्रथम प्रकाशित, खंड iii-iv. 1912, पुनर्मुद्रण, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना 1928 (द्वितीय संशोधित संस्करण)। हमारे निर्देश अन्यथा संकेत न होने पर 1938 के बनारस संस्करण के प्रति हैं।

टीकाएँ : (1) 'कामधेनु गोपेंद्र (अथवा गोविंद) तिप्प (अथवा, स्वकथित नाम के अनुसार, तिरपुरहर, भूमिका V. 8) भूपाल द्वारा। उनके विषय में ऊपर देखिए। उन्होंने अन्य लेखकों के अतिरिक्त, विद्याधर, विद्यानाथ, भट्ट गोपाल (मम्मट के टीकाकार ?), घंटापथ (मल्लिनाथ कृत) और धर्मदास सूरी रचित 'विदग्ध-मुख-मंडन' (ii. 2. 21 पर) को निर्दिष्ट किया है। इस प्रकार वे 14 वीं शती के पश्चात् हुए हैं। उन्होंने 'कवि गजांकुश' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। ग्रंथ-प्रदर्शिनी 1895 में सपाठ संस्करण, बनारस संस्कृत सीरीज और श्रीवाणी विलास प्रेस, इत्यादि। हमारे निर्देश पृष्ठों के अनुसार बनारस संस्करण के प्रति हैं।

(2) महेश्वर रचित 'साहित्य-सर्वस्व' (I. O. C. 566; ABod 207b.) देखिए श्रीवत्सलांछन (मम्मट पर टीकाओं के अंतर्गत, आगे देखिए) (3) सहदेव रचित एक टीका, 'काव्यमीमांसा' पृ० 5, के गायकवाड संस्करण बड़ौदा की टिप्पणी में उल्लेख किया गया है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

1

राजशेखर (पृ० 31) ने, जो 9वीं शती के अंत और 10वीं शती के आरंभ में हुए हैं, रुद्रट के अलंकार 'काकुवक्रोक्ति' (ii.16) का उनके नामसहित उल्लेख किया है। इस प्रकार रुद्रट की तिथि की निचली सीमा प्राप्त हो जाती है। यह निष्कर्ष दो कारणों से पुष्ट होता है। वल्लभदेव, जैसा कि आगे बताया जायगा, 10वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए थे। उन्होंने माघ पर अपनी टीका (सं० काशी संस्कृत

सीरीज, 1929. ii. 44) में रुद्रट का नाम-सहित उल्लेख किया है और कहा है (iv. 21, पर) कि उन्होंने स्वयं रुद्रट द्वारा अलंकार पर रचित एक ग्रंथ पर टीका लिखी है। उस टीका में उन्होंने इस प्रश्न पर विस्तार से चर्चा की है। इसी टीका में हुल्ट्श (Hultzsch) ने रुद्रट संबंधी कई उद्धरण देखे हैं।[1] अधिकतर वे अनाम हैं। प्रतीहारेंदुराज ने भी, लगभग उसी समय में, अनामतः (पृ० 42, 49) रुद्रट के कारिकापद्यों vii. 35 और xii. 4 को उद्धृत किया है और रुद्रट vii.36 के उदाहरण-पद्य का उल्लेख किया है[2] (पृ० ४३)। अभिनवगुप्त ने भी रुद्रट का एक कारिका-पद्य (vii. 38) अनामतः उद्धृत किया है ('लोचन' पृ० 45)। इस प्रकार बूहलर (Buhler) द्वारा अनुमानित तिथि,[3] अर्थात्, 11वीं शती का उतरार्द्ध, और उनकी संशोधित तिथि[4] अर्थात्, 10वीं शती का मध्य दोनों का निराकरण हो जाता है। सर्वप्रथम पीटर्सन[5] ने इस तिथि को प्रस्तुत किया था।

ऊपरी (उच्च) सीमा का निर्धारण निश्चय से नही किया जा सकता; किंतु यह संभव है कि रुद्रट भामह, दंडी और वामन से कनिष्ठ थे। उनकी तिथि का निर्धारण अपेक्षित है। जैकोबी[6] की तरह हम यह नहीं मान सकते कि रुद्रट ने 'वक्रोक्ति' का विचार रत्नाकर के प्रसिद्ध काव्य 'वक्रोक्ति-पंचाशिका' से प्राप्त किया और इस तरह वे काश्मीर नरेश बृहस्पति और अवंतिवर्मा के राज्यकाल में अमृत-भानु के पुत्र रत्नाकर के पश्चात् हुए हैं। किंतु, बात स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के

---

1. देखिए वल्लभदेव की टीका सहित हुलट्श-रचित 'मेघ-दूत' के संस्करण की भूमिका, लंदन 1911, पृ० x-xi. ये निर्देश मुद्रित पाठ में उपलब्ध नहीं हैं। यह वल्लभदेव, 'सुभाष' के संकलक वल्लभदेव से भिन्न हैं।

2. तुलना कीजिए, पिशेल (Pischel) Gga, 1885, पृ० 764. प्रतीहारेंदुराज ने अन्य उद्धरण भी दिए हैं, यथा, पृ० 11—रुद्रट iii.40; पृ० 31—रुद्रट viii.89; पृ० 34—रुद्रट viii.95; धनिक का iv.35 पर उद्धरण—रुद्रट xii.4.

3. Kashmir Rep. पृ० 67.

4. इंडियन एंटीक्वेरी, xii. 30.

5. पीटर्सन (विस्तृत रिपोर्ट, 1883) पृ० 14. और 'सुभाष०' की भूमिका. पृ० 105 इनके तर्क रुद्रट पर नमि-साधु की टीका पर आधारित हैं। इसे अब 1069 ई० में निर्धारित किया गया है नमि-साधु के विषय में आगे देखिए।

6. WZKM ii.151 इत्यादि।

इस नए विचार की उत्पत्ति यदि रत्नाकर अथवा रुद्रट के समय में नहीं हुई तो भी रुद्रट ने सर्वप्रथम इसकी परिभाषा की और रत्नाकर ने विशिष्ट अलंकार के रूप में इसका उदाहरण दिया। इस अलंकार को श्लेष अथवा काकु पर आधारित कहा गया है, जिसमें चतुर प्रत्युत्तर देने के लिए जान-बूझकर दूसरे के शब्दों का अन्यथा ग्रहण किया जाता है (रुद्रट ii.14-17)। इसके विपरीत, भामह ने (ii.85) वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार न मानकर अभिव्यक्ति का वैचित्र्य माना है, जो सभी अलंकारों में विद्यमान होता है। दंडी ने वक्रोक्ति का क्षेत्र सीमित कर दिया था और स्वभावोक्ति के सिवा सभी अलंकारों के लिए इसे सामूहिक नाम के रूप में माना था (11.362 और उस पर टीका)। वामन ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति को विशेष अलंकार (अर्थालंकार) माना। किंतु उन्होंने भी इसे लक्षण पर आधारित विशेष व्यंजना की अभिव्यक्ति के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया (iv.3.8)[1] इससे यह प्रतीत होता है कि (1) इन सब ग्रंथों में वक्रोक्ति, प्रथमतः सभी अलंकारों में सामान्य गुण लक्षित करते हुए व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ और अंत में रुद्रट द्वारा प्रदत्त परिभाषा के अंतर्गत एक विशिष्ट शाब्दिक अलंकार के सूक्ष्म और संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सभी परवर्ती लेखकों ने इस परिभाषा की प्रतिष्ठा की (किंतु अपवादस्वरूप, कुंतक ने स्वयं भामह से यह विचार लेकर उसका विकास किया)। (2) विकास-क्रम से यह स्पष्ट निष्कर्ष मिलता है कि रुद्रट संभवतः दंडी और वामन के पश्चात् हुए हैं, क्योंकि उनके समय में वक्रोक्ति का प्रयोग पुराने व्यापक अर्थ में नहीं होता था और इसे परिभाषाबद्ध शब्दालंकार की कोटि के अंतर्गत माना जा चुका था। (3) रत्नाकर ने वक्रोक्ति का, रुद्रट-निरपेक्ष उदाहरण दिया है। इससे 9वीं शती में वक्रोक्ति का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। भामह, दंडी और वामन के साथ रुद्रट के अन्य सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन से निरपेक्ष, संभव है कि सार रूप में, रुद्रट का मत इन प्राचीन लेखकों से अपेक्षाकृत आधुनिक था। यदि यह निष्कर्ष मान लिया जाय तो रुद्रट को वामन के पश्चात् मानना चाहिए। वे इस लेखकवर्ग के अंतिम सदस्य थे। इस प्रकार हमें उनकी तिथि की उच्च सीमा प्राप्त हो जाती है।

क्योंकि रुद्रट आनंदवर्धन से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं, अतएव इनकी तिथि 9वीं शती के प्रथम चरण में निर्धारित की जा सकती है। यदि पिशेल[2] (Pischel)

---

1. तुलना कीजिए, जैकोबी 2 DMG/xiv, पृ० 130 इत्यादि।
2. शृंगार-तिलक की भूमिका, पृ० 12, 26.

द्वारा निर्धारित मान्य तिथि अर्थात् 9वीं शती का मध्य[1] को स्वीकार कर लिया जाए तो गलत न होगा। इस तिथि से वे आनंदवर्धन के समकालीन ठहरते हैं, किंतु आनंदवर्धन ने जहाँ अन्य प्रसिद्ध पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने न कहीं रुद्रट का उल्लेख किया है और न ही कोई उद्धरण दिया है। यदि उन्हें वक्रोक्ति का यह आलंकारिक अर्थ ज्ञात था, तो भी उन्होंने उसे प्रत्यक्ष रूप में मान्यता नहीं दी।

रुद्रट के काव्यालंकार में 16 अध्याय और (अंतिम पद्य को छोड़कर) आर्या छंद में 734 कारिकाएँ हैं और काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर विशद चर्चा की गई है। अध्याय xii. 40 (जिसमें आठ प्रकार के नायिका भेद बताए गए हैं) के पश्चात् 14 कारिकाएँ इस परिगणना के अतिरिक्त हैं। इन्हें प्रक्षिप्त पद्य माना गया है।[2]

2

रुद्रट के विषय में यहाँ जो कुछ बताया गया है, वह रुद्रट अथवा रुद्रभट्ट पर लागू नहीं होता, यद्यपि पिशेल (Pischel)[3], वेबर[4] (Weber), औफ्रेक्ट (Aufrecht)[5] बूहलर (Buhler)[6], ने दोनों लेखकों को अभिन्न माना है। पीटर्सन (Peterson)[7] ने इस अभिन्नता को संदिग्ध घोषित किया है और दुर्गा

1. जैकोबी के इस सुझाव से कि रुद्रट काश्मीरी थे और काश्मीर-नरेश अवंतिवर्मा के उत्तराधिकारी शंकरवर्मा के समकालीन थे, हमारे निष्कर्ष पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ii.15 में रुद्रट द्वारा दिया गया वक्रोक्ति का उदाहरण रत्नाकर प्रेरित था। उनके ग्रंथ में शिव और गौरी में परस्पर इस प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर मिलते हैं।
2. रुद्रट के ग्रंथ के अंतर्गत विषयों के संक्षिप्त विवरण के लिए खंड ii, अध्याय ii(3) देखिए।
3. शृंगार-तिलक पर भूमिका, 2DMG x/ii.1888, पृ० 296-304, 425.
4. Ind. Shud. xvi.
5. ZDMG xxvii, पृ० 80-1, xxxvi पृ० 376; Cat., Bod. 209b; Cat. Cat. पृ० 528b, 530a.
6. Kashmir Rep. पृ० 67.
7. Rep. i, पृ० 14 सुभाष की भूमिका, पृ० 104-5; किंतु इसके विरुद्ध, Report ii 19, पा० टि०।

प्रसाद[1] और त्रिवेदी[2] ने इसे अस्वीकार किया है। अंततः दोनों लेखकों के ग्रंथों की विस्तार से जाँच करने के बाद जैकोबी ने यह कहकर इस विवाद का अंत कर दिया है कि संभवतः ये दोनों लेखक भिन्न व्यक्ति थे।[3]

रुद्रट लिखित काव्यालंकार के v. 12-14 पर नमि साधु की व्याख्या के अनुसार यह प्रतीत होता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानंद था और वे सामवेद के अनुयायी भट्ट वामुख के पुत्र थे। रुद्रटभट्ट की वंशावली अथवा व्यक्तिगत जीवन ज्ञात नहीं है, किंतु इन दोनों नामों के प्रत्यक्ष साम्य पर बहुत कुछ कहा गया है। शृंगारतिलक के अंतिम पद्य[4] में स्पष्ट रूप से लेखक का नाम रुद्र दिया गया है और अधिकतर पांडुलिपियों में ऐसा ही विवरण मिलता है,[5] किंतु नमिसाधु और वल्लभ ने काव्यालंकार के लेखक का नाम रुद्रट बताया है। ये दोनों लेखक भिन्न मतावलबी थे। रुद्र शिवोपासक थे, किंतु रुद्रट ने शिव के स्थान पर (गणेश के अतिरिक्त) भवानी और मुरारि का उल्लेख किया है।

ग्रंथों की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि रुद्रट के ग्रंथ के सोलह अध्यायों के अंतर्गत बहुत अधिक सामग्री है, जबकि रुद्र के अपेक्षाकृत लघु ग्रंथ में केवल तीन अध्याय हैं और विचारप्रवाह स्पष्ट रूप से भिन्न है। नमिसाधु के कथनानुसार, रुद्रट ने काव्य के अलंकारों पर बड़ा बल दिया है और इसीलिए ग्रंथ का शीर्षक भी काव्यालंकार है। ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का ही विवेचन किया गया है। अंतिम पाँच अध्यायों में रस, नायक-नायिका-भेद और काव्य की सामान्य समस्याओं का संक्षिप्त विवेचन है। इसके विपरीत, रुद्र की पद्धति की आधारशिला रस का सिद्धान्त है, जिसमें शृंगार (अध्याय i और ii) का विशिष्ट

---

1. 'शृंगारतिलक' के सं०, पृ० 1 पर पा० टि०।
2. 'एकावली' के उनके सं० की टिप्पणी, पृ० 3.
3. WZKM ii, 1888, पृ० 151-56; ZDMG xlii पृ० 425 इत्यादि।
4. कुछ पांडुलिपियों में अंतिम पद्य नहीं है।
5. शारदा लिपि में एक काश्मीरी पांडुलिपि इसका अपवाद है (बूहलर की Kashmir Rep. सं० 264)। उसमें रुद्रट नाम दिया गया है। इस अद्वितीय साक्ष्य से एक वैध संदेह उत्पन्न होता है। किंतु इस विषय में यह कहा जा सकता है कि स्वभावतः यह किसी काश्मीरी लिपिक की गलती के कारण है। शायद वह रुद्रट के अधिक प्रसिद्ध नाम से विशेष परिचित था। यही बात इंडिया आफिस पांडुलिपि सं० 11.31 (Cat. vii, पृ० 321) और दक्षिण भारतीय पांडुलिपि (मद्रास, xxii (1918) सं० 12955 पर भी लागू होती है। इसके अंतिम पद्य में रुद्र नाम दिया गया है। पांडुलिपियों के अंतिम पृष्ठ-विवरण का यह प्रमाण निर्णायक नहीं है। यह सर्वविदित है कि परवर्ती संग्रहों और प्रसिद्ध लेखकों में इन दोनों लेखकों के नाम-साम्य से भ्रांति हुई है।

उल्लेख है और अन्य रसों का संक्षेप में वर्णन किया गया है (अध्याय iii)। इस अपेक्षाकृत लघु ग्रंथ की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें शृंगार रस और नायक-नायिका विषय पर सूक्ष्म रूप से चर्चा की गई है। रुद्रट का सैद्धांतिक क्षेत्र और प्रणाली विशद और विस्तृत है, किंतु रुद्रट ने केवल एक अंश को लेकर शृंगार और अन्य रसों पर उपयुक्त, सुंदर और सुबद्ध पद्यों से सुसज्जित पुस्तिका की रचना की। उन्होंने परिभाषा और नियमों की परवाह नहीं की (वे शब्दशः रुद्रट के ग्रंथ के समान हैं)। जैकोबी का यह कथन वस्तुतः ठीक प्रतीत होता है कि "रुद्रट अलंकारों के मौलिक आचार्य थे, जबकि रुद्र एक उत्कृष्ट और मौलिक कवि थे, जिन्होंने अपने सामान्य शास्त्र की व्याख्या की।"

इन दोनों लेखकों के समान विषयों में बड़ा साम्य है। इसीलिए, कुछ विद्वानों ने एक ही लेखक को दोनों ग्रंथों का रचयिता मान लेने की गलती की है। किंतु यह साम्य ऊपरी ही है, क्योंकि दोनों में अनेक विषयों पर मतभेद है, जिन्होंने लेखकों के मूलभूत विचारों को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ रस के विवेचन को लीजिए। रुद्र (i. 9) ने उद्भट के समय से सामान्य परम्परा का पालन करते हुए; नौ रसों का उल्लेख किया है। रुद्रट ने इसके अतिरिक्त दस, अर्थात् प्रेयस् (xii.3) भी माना है और रुद्र से कुछ भिन्न क्रम में रसों का विवेचन किया है। रुद्र ने भावों (i. 10-9) की परिगणना और विवेचना कुछ विस्तार से की है, किंतु रुद्रट ने केवल एक पद्य (xii.4) में ही उन्हें निबटा दिया है। वृत्तियों के विवेचन में भी यही भेद दृष्टिगोचर होता है। भरत (xx.24 इत्यादि) का अनुसरण करते हुए रुद्र ने (i.12) चार सामान्य वृत्तियों (अर्थात्, कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती) का उल्लेख किया है। मूलतः ये नाटक-रचना की रीतियाँ मानी गई थीं, किंतु यहाँ इन्हें समान प्रयोजन के हेतु नाट्य-कला से लेकर काव्य में ग्रहण कर लिया गया (तुलना कीजिए, भरत-रचित उपर्युक्त ग्रंथ 21)। इसके विपरीत, उद्भट[1] का अनुसरण करते हुए रुद्रट ने पाँच वृत्तियों (अर्थात् मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का उल्लेख किया है। इनका उपर्युक्त चार से कोई संबंध नहीं है, किंतु अनुप्रास के अंतर्गत होने के कारण विशेष अक्षरविन्यास द्वारा वे मुख्यतः उपर्युक्त शब्द-समन्वय को लक्षित करती हैं। तत्संबंधी नायक-नायिका के विषय में भी इसी प्रकार की अशुद्धियाँ देखी जा सकती हैं। जहाँ रुद्र ने नायिका की रूढ़िगत आठ अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया है। (i.131-32), वहाँ रुद्रट ने केवल चार (अर्थात् अभिसारिका, खंडिता, स्वाधीन-पतिका और प्रोषित-पतिका, xii.41

---

1. **अनुप्रास के संबंध में उद्भट ने केवल तीन वृत्तियों, अर्थात् परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या का उल्लेख किया है (i. 4-7).**

इत्यादि) का ही उल्लेख किया है। यद्यपि इस भिन्नता की पूर्ति के हेतु कुछ पांडुलिपियों में एक बड़ा पद्यांश (xii. 40 और 41 के बीच) है, जिसमें सामान्य आठ अवस्थाओं का वर्णन है, किंतु वह संदर्भ के साथ मेल नहीं खाता। रुद्रट के ग्रंथ के संपादक ने उसे प्रक्षिप्त बताकर ठीक ही उसकी निंदा की है। रुद्र, तीसरे प्रकार की नायिका (वेश्या) के पक्ष में प्रतीत होते हैं (i. 120-30), किंतु रुद्रट ने उसे केवल दो पद्यों (xii. 39-40) में निबटा दिया है और प्रकट रूप में उसकी निंदा की है। रुद्रट ने (xiv. 4-5) नायक की वासना (इच्छा) से लेकर मृत्यु तक की दस अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है, किंतु रुद्र ने प्रत्येक अवस्था की परिभाषा और उदाहरण दिया है (ii. 6-30)। रुद्र के अनुसार (ii. 53) परकीया-प्रेम काल, देश और प्रसंग पर निर्भर करता है, किंतु रुद्रट (xiv. 18) के अनुसार एक चौथी दशा, अर्थात् पात्र, भी मानी जानी चाहिए।

इन सब बातों से यह संभव प्रतीत होता है कि रुद्रट और रुद्र दो भिन्न व्यक्ति थे। किंतु यदि ऐसा हो तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण करना होगा, क्योंकि शृंगारतिलक और काव्यालंकार के अधिकतर पद्य, छंद-भेद (क्रमशः अनुष्टुप् और आर्या) को छोड़कर, शब्दशः समान हैं। दोनों लेखकों को एक ही माननेवालों ने इस साम्य पर बड़ा बल दिया है। किंतु इसमें यह देखना होगा कि यह विशिष्ट शाब्दिक साम्य केवल उन्हीं पद्यों तक सीमित है, जिनमें नियम और परिभाषाएँ दी गई हैं। शृंगारतिलक में उदाहरण-पद्यों की रचना में विविध छंदों का प्रयोग किया गया है और यही इस काव्य-ग्रंथ का विशिष्ट गुण है। काव्यालंकार में यह बात नहीं मिलती। ऐसे तकनीकी ग्रंथों में, जिनमें मानकीकृत (standardised) और रूढ़िगत (conventional) नियमों और परिभाषाओं का बाहुल्य होता है, इस प्रकार का विवेचन और शब्दावली का अस्तित्व साधारण बात है। किंतु इतना कहने मात्र से इस साहित्य-चौर्य (plagiarism) का स्पष्टीकरण नहीं होता, भले ही शुष्क नियमों और परिभाषाओं के उदाहरणों के रूप में उसमें उत्तम और अनुमानतः मौलिक[1] पद्यों का समावेश हो। उपर्युक्त अशुद्धियों को ध्यान में रखते हुए दोनों लेखकों की अनुमानित अभिन्नता पर आधारित, यह स्पष्टीकरण संदेह से मुक्त नहीं है। वास्तविक स्पष्टीकरण का आधार यह हो सकता है कि रुद्र (वे अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक थे) मुख्यतः एक कवि थे और उन्होंने अलंकारशास्त्र का मौलिक आचार्य होने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने रुद्रट के बने-बनाए नियमों में पर्याप्त सामग्री देखी और अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए

---

1. 'शृंगार-तिलक' में कुछ उदाहरण-पद्य प्राचीन ग्रंथों, यथा 'अमरु-शतक', से लिए गए हैं।

उन अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए, जो पहले छूट गए थे।[1] क्योंकि उन्होंने इस विषय पर मौलिक ग्रंथ रचने की भी आकांक्षा नहीं की, इसलिए निश्चित पद्धति में शब्द-परिवर्तन की आवश्यकता न समझते हुए केवल छंद के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन किए। जहाँ रुद्रट का प्रत्यक्ष संबंध नियम-विधान से रहा है, वहाँ रुद्र अपने विषय और विवेचन में अधिक व्यावहारिक रहे हैं। श्रृंगार पर उनका ग्रंथ एक पद्यमय मनोवैज्ञानिक पथप्रदर्शक के समान है, जिसमें उन्होंने विभिन्न भावों का विशद विश्लेषण किया है। इस ग्रंथ का कामशास्त्र और काव्यशास्त्र, दोनों में समान स्थान है।[2]

---

1. रुद्रट के ग्रंथ में ये अध्याय केवल व्याख्यात्मक हैं और पिछले अध्यायों की तरह उनमें सभी उदाहरण नहीं दिए गए हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि रुद्र ने इसी कमी को पूरा करने के लिए स्वयं 'श्रृंगार-तिलक' की रचना की। किंतु इस परिकल्पना से उपर्युक्त बातों में मतभेद का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इससे यह प्रतीत होता है कि वे स्वयं इस कमी को पूरा नहीं कर सके। वह कार्य किसी अन्य लेखक ने किया, जिसका उनसे कुछ मतभेद था।

2. परवर्ती साहित्य में इन दोनों लेखकों के उद्धरण अनामत: मिलते हैं और इस प्रश्न के निर्णय में उनसे कुछ सहायता नहीं मिलती। पद्यों के साथ लेखक का नाम बहुत ही कम स्थानों पर दिया गया है। मम्मट, जो स्वयं काश्मीरी थे, 'स्फुटमर्थालंकार' पद्य को (ix. 8a) ठीक ही रुद्रट (iv. 32) प्रणीत मानते हैं। समुद्रबंध (पृ० 6) और हेमचंद्र (पृ० 286 टीका) ने यथार्थ में क्रमश: vii. 38-40 और vii. 27 को रुद्रट-रचित निर्दिष्ट किया है। रुय्यक ने रुद्रट के मत पर चर्चा करते हुए रसों पर इनके विवेचन का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत, बलदेव विद्याभूषण (पृ० 35) ने 'श्रृंगारतिलक' (ii. 41) से 'वामता दुर्लभत्वं' का ठीक उल्लेख किया है और रुद्र को लेखक बताया है। वल्लभदेव ने अपने काव्य-संग्रह में 'काव्यालंकार' से कई पद्य उद्धृत किए हैं (421-ii. 17; 730-iii. 57; 1387-vi. 10; 1667-ii. 30; 2047-vii. 71; 2061-vii. 33; 2234. vii. 41; 2409-vii. 32) और दो स्थानों को छोड़कर लेखक का ठीक नाम रुद्रट दिया है। इसी प्रकार शार्ङ्गधर ने 'श्रृंगारतिलक' में से आठ पदों का उद्धरण दिया है (3409-i. 95; 3567-i. 35; 3568-i. 81; 3679-ii. 107; 3578-ii. 12; 3579-ii. 50; 3675-i. 51; 3754-i. 30) और दो स्थानों को छोड़कर ठीक ही रुद्र को लेखक बताया है। शार्ङ्गधर के दो उद्धरण (अर्थात् 3773 और 3788) गलती से रुद्र-रचित मान लिए गए हैं, किंतु वल्लभदेव ने उन्हीं दो पद्यों का उल्लेख किया है (2234 और 1667) तथा अशुद्धि का निवारण करके उन्हें ठीक रुद्रट-रचित निर्दिष्ट किया है। वल्लभदेव के दो अपवाद (2247 और 3122) जिन्हें रुद्रट-रचित माना गया है, न रुद्रट के ग्रंथ में मिलते हैं और न ही रुद्र के ग्रंथ में हैं। जह्लण ने 21 पद्यों को रुद्र का लिखा माना है। इनमें से 5 पद्य उनके ग्रंथ में नहीं मिलते। इनमें से 'किं गौरि मां' रुद्रट ii. 16 में, 'अंबा शेतेऽत्र' कवि वचन-समय में; 505= सुभाष 2247 (रुद्रट पर आरोपित)=सदुक्तिकर्ण ii. 73 (भट्ट पर आरोपित);

3

रुद्रभट्ट की तिथि अनिश्चित है। हेमचंद्र ही सबसे प्राचीन कवि हैं, जिन्होंने उनके मंगल पद्य (i.1) का अनामतः उद्धरण दिया है और उसकी आलोचना भी की है। इसलिए रुद्रभट्ट को रुद्रट और हेमचंद्र के मध्य में, अर्थात् 9वीं शती के पश्चात् और, अधिक पहले नहीं तो, 12वीं शती से पहले रख सकते हैं। रुद्र के एक पद्य का, जो उनके शृंगारतिलक में नहीं मिलता, धनिक ने उल्लेख किया है (iv.60, सं० निर्णय सागर प्रेस, 1917, पृ० 103)। यदि यह रुद्र हमारे ही लेखक हैं तो उनकी तिथि 10वीं शती से पहले निर्धारित की जानी चाहिए।[1]

4

रुद्रट के टीकाकार

वल्लभदेश

माघ (iv. 21, vi. 28) पर अपनी टीका में वल्लभदेव ने रुद्रटालंकार पर अपनी टीका का उल्लेख किया है। रुद्रट के ग्रंथ पर यह प्राचीनतम ज्ञात टीका है, किंतु अभी तक यह प्राप्त नहीं हो सकी है। वल्लभदेव का उपनाम परमार्थ-चिह्न था। अपने कथनानुसार वे राजनायक आनंददेव के पुत्र थे।[2] वे कई उच्चकोटि के मानक काव्यों के टीकाकार के नाते प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कालिदास, माघ, मयूर और रत्नाकर के काव्यों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। वे एक काश्मीरी विद्वान थे और संभवतः 10वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए थे, क्योंकि उनके पौत्र और चंद्रादित्य के पुत्र कय्यट ने आनदवर्द्धन के ग्रंथ 'देवी-शतक' पर 977-78 ई० में टीका लिखी थी।[3] उस समय

'एकाकिनी यदबला' गलती से रुद्र पर आरोपित है (जैसे 'पद्धति' में 3773), किंतु वल्लभदेव ने ठीक ही इसे रुद्रट-रचित कहा है। हेमचंद्र ने अनामतः रुद्र के तीन पद्यों का उल्लेख किया है (i. 1=पृ० 110, i. 44. पृ० 304; i. 68= पृ० 305)।

1. धनिक ने रुद्रट के पद्य (xii. 4) भी iv. 35 पर अपनी टीका (सं० निर्णयसागर प्रेस) में अनामतः उद्धृत किया है। तुलना कीजिए, रुद्रभट्ट i. 16।
2. 'वक्रोक्ति-पंचाशिका' की टीका के अंतिम पद्य से प्रतीत होता है कि आनंददेव काश्मीर में कोई उच्च अधिकारी थे (काव्यमाला गुच्छक i. पृ० 114, पर अंतिम पृष्ठ-विवरण मित्रा x सं० 4064)।
3. देखिए काव्यमाला गुच्छक i. में 'वक्रोक्ति-पंचाशिका' पृ० 101-2 पर पादटिप्पणी और इसके अंतर्गत 'देवी शतक' सं० गुच्छक ix. पृ० 1. तुलना कीजिए हुलट्श लिखित मेघदूत की भूमिका, पृ० ix.

भीमगुप्त काश्मीर में राज्य करते थे (977-82) ई०। वल्लभ के गुरु प्रकाशवर्ष थे। हुलट्श (Hultzsch) के मतानुसार यह प्रकाशवर्ष शायद वही थे, जिनका उल्लेख 'सुभाषितावली' और शार्ङ्गधर-पद्धति, में मिलता है और जिन्होंने भारती पर एक टीका लिखी थी (औफ्रेक्ट i. 347)। हमारे लेखक 'सुभाषितावली' के संकलनकर्त्ता वल्लभदेव से अवश्य ही भिन्न व्यक्ति थे। औफ्रेक्ट ने उन्हें 16वीं शती में निर्धारित किया है।[1] माघ पर अपनी टीका में वल्लभ ने जो उद्धरण दिए हैं, हुलट्श ने उनकी एक सूची बनाई है। उन उद्धरणों में वल्लभ ने मेधाविरुद्र, भामह, उद्भट, भट्टि और 'विषमबाण-लीला' (आनंदवर्द्धन का प्राकृत काव्य) का उल्लेख किया है। यह ध्यान देने योग्य बात है।

नमि-साधु

नमि (अथवा नमि साधु अथवा नमि पंडित) वल्लभदेव के पश्चात् हुए हैं। उन्हें श्वेत-भिक्षु भी कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे श्वेतांबर जैन थे। उन्होंने अपने विषय में कहा कि 'मैंने थारापद्र नगर-भूषण श्रीशालिभद्र सूरी के चरणकमलों का मधुचूषण किया है' यह विदित है कि जिनभद्र सूरी, शालिभद्र के शिष्य थे और उन्होंने संवत् 1204 = 1148 ई० से ग्रंथ-रचना की।[2] नमि के एक अन्य ग्रंथ 'षडावश्यक टीका' में शालिभद्र को श्रीशालि-सूरि भी कहा गया है। इस ग्रंथ की रचना-तिथि स्वयं ग्रंथ के अनुसार संवत् 1122 = 1066 ई० है।[3] रुद्रट पर अपनी टीका के एक अंतिम पद्य में नमि ने कहा है कि मेरी टीका 1125 =

---

1. बूहलर (Buhler, Kunst Poesie, पृ० 71) का मत है कि पद्य संग्रहकर्त्ता वल्लभदेव 1400 और 1350 ई० के बीच हुए हैं। इस तिथि में अब संशोधन करने की आवश्यकता है, क्योंकि वंद्यघटीय सर्वानंद ने 1160 ई० में 'अमरकोश' पर अपनी टीका में, ग्रंथ और लेखक दोनों का नाम देते हुए, प्रत्यक्ष रूप में इस काव्य-संग्रह का उल्लेख किया है। इस प्रश्न पर देखिए, एस० के० डे, जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1927, पृ० 471-91, और BSOS, v, खंड, i. पृ० 27 इत्यादि, v खंड iii. पृ० 499 इत्यादि।
2. पीटर्सन i. पृ० 68.
3. पीटर्सन iii. पृ० 13.

1069 ई० में लिखी गई थी।[1] रुद्रट पर अपनी टीका में नमि ने अलंकारशास्त्र पर इन नामों का उल्लेख किया है—भरत (पृ० 150, 156, 164), मेघाविरुद्र (पृ० 2, 9, 145), भामह (पृ० 2, 116), दंडी (पृ० 2, 5, 169), वामन (पृ० 11, 100, 116), उद्भट (पृ० 69, 82, 150) और आनंदवर्धन का 'अर्जुन-चरित'। इसके अतिरिक्त उन्होंने धनपाल लिखित 'तिलकमंजरी (xvi, 3 की टीका में) और छंदःशास्त्र पर जयदेव का उल्लेख किया है। (i, 18, 20 की टीका में)[2] मज़ेदार बात यह है कि नमि ने काव्य-शास्त्र के एक लेखक हरि (ii, 10) के एक पद्य का उद्धरण दिया है, जिसमें रुद्रट की पाँच वृत्तियों के स्थान पर आठ वृत्तियों का वर्णन है।

आशाधर

पीटर्सन (Peterson) ने (ii. पृ० 85) रुद्रट के एक और जैन टीकाकार, सल्लक्षण और रत्नि के पुत्र, आशाधर को खोज निकाला। वे एक जैन आचार्य थे और संवत् 1296 = 1240 ई० तक जीवित रहे। वे रामजी भट्ट के पुत्र उस आशाधर से, जिन्होंने अप्पय के कुवलयानंद[3] पर बहुत बाद में टीका लिखी है, भिन्न थे। उनके ग्रंथ धर्मामृत के अंत में प्रशस्ति के अंतर्गत उनके व्यक्तिगत जीवन की झलक मिलती है। वे व्याघ्रेरवाला परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का

---

1. पंचविंशति संयुक्तैरेकादश समाशतैः।
   विक्रमात्समतिक्रांतैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥
   इस पद्य में 'पंचविंशति' पाठ को, कीलहार्न (Kielhorn) की भोजपत्र पांडुलिपि (Report, 1880-81 पृ० 63) के प्रमाण के अनुसार संदेहास्पद माना गया है, क्योंकि उसमें 'षट्-सप्तति' पाठांतर है। इस पाठांतर से नमि और भी बाद में ठहरते हैं, किंतु, यह बात अन्य पांडुलिपियों से पुष्ट नहीं होती (यथा, मित्रा 3102, स्टीन (Stein) 61, पीटर्सन (Peterson) i. पृ० 16) और न ही अन्य स्रोतों से उद्धृत प्रमाणों से पुष्ट होती है। कीलहॉर्न का पाठ स्वयं अशुद्ध है, क्योंकि पद्य में छंदोभंग दोष है।
2. इस लेखक के विषय में देखिए, एच० डी० वेलंकर, 'जयदामन' बंबई। 1951 भरत पर अपनी टीका में अभिनवगुप्त ने जयदेव और उनके छंदः शास्त्र का उल्लेख किया है। उनकी तिथि (950 ई० से पूर्व) के विषय में देखिए, पी०के० गोडे, पूना ओरिएंटलिस्ट, पृ० 33-38 (उनकी पुस्तक Studies in Indian Lit. Hist. i. पृ० 138-43 इसका पुनर्मुद्रण हुआ है।)
3. औफ्रेक्ट (Aufrecht) i. 54b दोनों नामों से भ्रम में पड़ गए हैं और इसी प्रकार उनके अनुसरण में हरिचंद शास्त्री भी (पृ० 18), किंतु औफ्रेक्ट ने उनकी अभिन्नता के बारे में संदेह प्रकट किया है।

नाम सल्लक्षण (अथवा, लक्षण) और माता का रत्नि था। शाकंभरी (सांभर) झील के प्रदेश में मंडलकर नामक किले में उनका जन्म हुआ था। उनकी पत्नी, सरस्वती से छाहड नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह मालवा के अर्जुनवर्मा (13वीं शती का प्रथम चरण) का कृपापात्र था। तुरुष्क बादशाह (अर्थात् शहाबुद्दीन गोरी; जो दिल्ली का सुल्तान था और जिसने 1193 ई० में पृथुराज, अर्थात् पृथ्वीराज, को परास्त किया) के आक्रमण के पश्चात् आशाधर मालवा चले गए और धार में रहने लगे। वहाँ उन्होंने धर्मसेन के शिष्य, पंडित महावीर से जैन-धर्म के सिद्धांत और जिनेंद्रव्याकरण का अध्ययन किया। आशाधर अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। ऋषि उदयसेन, कवि विह्लण (ये काश्मीरी कवि विह्लण से भिन्न हैं, ये लगभग 1070-90 ई० में हुए थे और विध्य देश के राजा विजयवर्मा के मंत्री थे)। महान् यति मदनकीर्ति ने उनकी प्रशंसा की है। उन्होंने 15 से अधिक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने इन ग्रंथों की सूची भी दी है और रुद्रट पर अपनी टीका का भी उल्लेख किया है[1]। उनका ग्रंथ त्रिषष्टि-स्मृति शास्त्र, जिसमें जैन पुराणों के 63 महापुरुषों की कथाएँ हैं, 1236 ई० में लिखा गया था।[2]

ग्रंथ-सूची

रुद्रट

संस्करण—काव्यालंकार, सं० दुर्गाप्रसाद और के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई (काव्यमाला 2) 1886, 1900, नमि की टीका संहिता। यहाँ पर 1909 के दूसरे संस्करण से निर्देश दिए गए।

नमि-साधु

संस्करण—काव्यमाला 2, 1886, 1909, पाठ सहित (ऊपर देखिए)।

आशाधर

पांडुलिपियां—औफ्रेक्ट (Aufrecht) i. 103a. 779a. रुद्रट पर वल्लभदेव की टीका की कोई भी पांडुलिपि ज्ञात नहीं है।

रुद्र भट्ट

संस्करण—शृंगार-तिलक (i) पिशेल (Pischel) की भूमिका सहित कील (Kiel, 1886) (2) काव्यमाला गुच्छक iii. 1887, 1899. यहाँ पर पिशेल (Pischel) के संस्करण से निर्देश दिए गए हैं।

---

1. पीटर्सन ii. पृ० 85 तथा पादटिप्पणी Bhandarkar Rep. 1883-84, पृ० 103-4.
2. औफ्रेक्ट (Aufrecht) i. 54b विंटरनित्ज़ (Geschichte. पृ० 354 पा० टि० 5) ने आशाधर का साहित्य-रचना-काल 1228-1244 ई० में निर्धारित किया। देखिए कीलहॉर्न (Kielhorn) EI. ix. 1908, पृ० 10 इत्यादि।

टीकाएँ—रस-तरंगिणी, हरिवंश भट्ट द्रविड के पुत्र गोपाल भट्ट। आगे देखिए मम्मट और भानुदत्त पर टीकाकारों के अंतर्गत। पाठ के काव्यमाला संस्करण (पृ० iii) पर इसका उल्लेख है। लेखक का नाम रुद्र बताया गया है। यदि कुमारस्वामी द्वारा निर्दिष्ट गोपाल भट्ट वही व्यक्ति हैं तो वे 15वीं शती के आरंभ से पहले ठहरते हैं; क्योंकि गोपाल भट्ट दक्षिण भारतीय लेखक प्रतीत होते हैं, इसलिए उनका अनुमान ठीक हो सकता है। रुद्रट पर ओपर्ट (Oppert) द्वारा वन तरंगिणी (ii. 271, 1787) का उल्लेख अशुद्ध है। रुद्र का नाम भ्रांतिवश रुद्रट दिया गया है।

विष्णुधर्मोत्तर तथा अग्निपुराण में अलंकारों का लेखक

विष्णुधर्मोत्तर

विष्णुधर्मोत्तर[1] एक उपपुराण है। यह एक विश्वकोशीय ढंग का अर्वाचीन पौराणिक ग्रंथ है। इसमें अनेक विषयों पर संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त नृत्त (नृत्य), गीत, आतोद्य (संगीत), अलंकार, नाट्य और तत्संबंधी विषयों पर कुछ अध्यायों में चर्चा की गई है। यह ग्रंथ तीन कांडों में विभाजित है और इसमें आठ सौ से अधिक अध्याय है। प्रत्येक कांड में अध्यायों का विभाजन इस प्रकार है: i—अध्याय 269, ii—अध्याय 183, iii—अध्याय 355। यहाँ केवल तीसरे कांड के ही कुछ अध्याय विचाराधीन हैं। यह कांड चित्रसूत्र अथवा चित्रकला से आरंभ होता है और इसमें नृत्य, गीत और संगीत इत्यादि से संबंधित विषयों की भी चर्चा है। इस कांड के अध्याय 14—15 में काव्यशास्त्र के कुछ विषयों का सामान्य वर्णन है। इनमें परिभाषा-सहित अलंकार के 17 भेद बताए गए हैं, जो इस प्रकार है— अनुप्रास, यमक (संदष्ट और समुद्ग दो भेद बताए गए हैं), रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थांतरन्यास, उपन्यास (संभवत: व्याजोक्ति का एक भेद), विभावना, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति (अथवा, कुछ पांडुलिपियों के अनुसार, वार्ता), यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निंदा-स्तुति, निदर्शन तथा अनन्वय। इस सूची में उपमा को भी शामिल किया जा सकता है, किंतु उसका उल्लेख स्पष्ट रूप में नहीं किया गया है और न ही उसकी परिभाषा दी गई है। कुछ पद्यों में पुरातन अथवा पुराण अधिकारी

1. इस बृहत् संकलन के प्रत्येक अध्याय के सविस्तर विवरण के लिए देखिए, आर० सी० हाजरा, Studies in the Upapuranas; i, कलकत्ता 1958, पृ० 147-218.

विद्वानों का भी उल्लेख मिलता है। अध्याय 15 में शास्त्र और इतिहास से काव्य का अंतर बताया गया है। तत्पश्चात् महाकाव्य की परिभाषा और लक्षण दिए गए हैं, उसमें नौ रस, अर्थात् शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत, होने चाहिए; नगर-वर्णन, देश वर्णन इत्यादि होना चाहिए। उसमें नायक और प्रतिनायक होना चाहिए, किंतु नायक की मृत्यु का वर्णन नहीं होना चाहिए। अध्याय 16 में प्रहेलिकाओं के नाम, परिभाषाएँ और उनका वर्गीकरण है। अध्याय 17-31 अधिकांशतः भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित हैं और उनमें सामान्यतः नाट्य पर चर्चा की गई है। रूपकों के 12 भेद बताए गए हैं, यथा: नाटक, नाटिका, प्रकरण, प्रकरणी, उत्सृष्टिकांक, भाण, समवकार, ईहामृग, व्यायोग, वीथि, डिम तथा प्रहसन। नायिकाओं के आठ भेद दिए गए हैं, अर्थात्, वासक-सज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीन-भर्तृका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-भर्तृका, तथा अभिसारिका। अध्याय 189 के अंतर्गत नौ रसों के अनुकूल विभिन्न प्रकार के गीत और आतोद्य (संगीत) पर चर्चा की गई है। अध्याय 20-29 में नाट्य की परिभाषा, नृत्त का वर्गीकरण, रंगमंच की सामान्य रचना और तत्संबंधी संस्कार-विधि का वर्णन और अभिनय के चार प्रकार अर्थात् आसंगिक, सात्विक, वाचिक और आहार्य का वर्णन है। अध्याय 30 में 28 पद्यों के अंतर्गत भेदसहित नवरस (शांतसहित) की व्याख्या की गई है। अध्याय 31 में निर्वेद सहित 49 भावों का वर्णन किया गया है।

इस संक्षिप्त वर्णन से इस उपपुराण के 28 अध्यायों के अंतर्गत मोटे तौर पर अलंकार, नाट्य और तत्संबंधी विषयों का पता चलता है। किंतु पुराण का यह भाग केवल संक्षिप्त संकलन मात्र है; इसमें कोई सिद्धांत अथवा पद्धति प्रस्तुत नहीं की गई है। इस उपपुराण का रचना-काल अवश्य ही प्राचीन है। भरत के नाट्य-शास्त्र का इसमें मूल-रूप में उपयोग किया गया है और इसलिए यह अवश्य ही उसके पश्चात् रचा गया है, किंतु संभवतः इसकी रचना भट्टि और भामह और दंडी के ग्रंथों से पहले हुई थी, क्योंकि उन्होंने अपेक्षाकृत बहुत अधिक अलंकारों की परिगणना की है। आंतरिक प्रमाणों से प्रतीत होता है कि इसका रचनाकाल 400 ई० के पश्चात् और 500 ई० से पूर्व ही निर्धारित किया जा सकता है। इसकी रचना काश्मीर अथवा पंजाब के उत्तर-सीमांत भाग में हुई थी, किंतु प्राचीन रचना होने के कारण इसका काश्मीरी ध्वनि-सिद्धांत से, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, कोई संबंध नहीं हो सकता।[1]

---

1. उपपुराण की तिथि और मूल रूप (Provenance) के प्रश्न पर देखिए आर० सी० हाजरा उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 205-12.

अग्नि-पुराण

अग्नि-पुराण (अध्याय 336-346) में काव्य विषय पर लेखक ने उद्धरणात्मक ढंग अपनाया है, किंतु विवरण अधिक व्याप्त और व्यवस्थित है। यद्यपि यह ग्रंथ अधिक प्राचीन नहीं है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें आनंदवर्धन के काश्मीरी मत से भिन्न, किंतु अपेक्षाकृत प्राचीन परंपरा का पालन किया गया है। अग्नि-पुराण को अठारह महापुराणों के अंतर्गत माना गया है, किंतु संदिग्ध-प्रमाण-ग्रंथ होने के कारण इसका रचना-काल अनिश्चित है,[1] किंतु इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि इसका अलंकार-संबंधी खंड मुख्यतः संग्रहमात्र ही है। इसके लेखक स्वयं कोई बड़े सैद्धांतिक नहीं थे। उनका उद्देश्य एक कामचलाऊ संग्रह प्रस्तुत करना था। उन्होंने किसी विशेष मत अथवा सिद्धांत का अनुसरण न करके सभी सूत्रों से प्राप्त सामग्री को सार रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें अलंकारों का विवेचन यत्किंचित् असंबद्ध और आलोचना-निरपेक्ष होते हुए भी स्वतंत्र है और इसके अतिरिक्त भरत, भामह, दंडी और संभवतः अन्य प्राचीन अज्ञात लेखकों[2] के पद्यों के उद्धरणों से भी पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है। अग्नि-पुराण 339.6 में भरत के नाम का उल्लेख है और नाट्य, नृत्य, अभिनय और रस का अधिकांश विवेचन भरत की व्याख्या के इतना निकट है कि भरत के कुछ प्रसिद्ध पद्यों का शब्दशः उद्धरण देकर उनकी व्याख्या की गई है। उदाहरणार्थ, अग्नि 337.11-12 = भरत (xxii.28-29. अग्नि 338.12 = भरत iv. 36; अग्नि 338.7-8 = भरत vi.39, अग्नि 342.15-17 = भरत xvii.62-65. काव्य की परिभाषा (अग्नि 336.6) और अलंकार की परिभाषा (अग्नि 341.17) शब्दशः दंडी i. 10 और ii. 1 से क्रमशः उद्धृत की गई है। इसके अतिरिक्त, तुलना कीजिए अग्नि 336.13 = दंडी i.29 = भामह i.27; अग्नि 336. 23, 25, 26 = दंडी i. 12, 15, 17 = भामह i.20. इससे स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि इस पुराण के इन अध्यायों को दंडी के पश्चात् संकलित किया

---

1. वर्तमान अग्निपुराण (i. H2, xi·, पृ० 683-89) एक मूल और प्राचीन अग्नि-पुरान का नवीन रूप है। इसके पाठ का मत्स्यपुराण और स्कंदपुराण में वर्णन किया गया है और धर्मशास्त्र के कुछ लेखकों ने भी इसके उद्धरण दिए हैं।

2. यथा, 'अभिधेयेन संबंधात्', (अग्नि. 344. 11-12) पद्य, जिसे मम्मट ने (शब्द-व्य.पा०' पृ० 8) और वामन iv. 3. 8 पर 'कामधेनु' ने अनामतः उद्धृत किया है, मुकुल (पृ० 17) द्वारा भर्तृमित्र आरोपित किया गया है। भर्तृहरि में यह पद्य नहीं मिलता। मम्मट पर अपनी टीका में (पृ० 16) सोमेश्वर ने भर्तृमित्र का उल्लेख किया है।

गया था।[1] 'अपरे काव्य-संसारे' तथा श्रृंगारी चेत्कविः 'दो पद्य अग्नि 338. 10-11 और आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक (पृ० 222) में मिलते हैं। वे 9वीं शती के मध्यभाग में हुए हैं।[2] क्योंकि अभिनवगुप्त (अभि० भा० सं० GOS. i. पृ० 295) ने आनंदवर्धन को स्पष्ट रूप में इन में से एक पद्य (श्रृंगारी चेत्कविः) का लेखक माना है, इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि अग्निपुराण में यह पद्य ध्वन्यालोक से लिया गया है। क्योंकि अग्निपुराण ने वामन के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है, इसलिए इससे कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाला जा सकता। किंतु 'वक्रोक्ति' की परिभाषा (341.33) रुद्रट द्वारा दी गई इसी अलंकार की परिभाषा ii. 14-16 से मिलती-जुलती है।[3] इसके विपरीत, अग्निपुराण का यह भाग ('विष्णुधर्मोत्तर' में अलंकार-भाग के समान), भोज द्वारा अनामतः विनियोग को छोड़कर, काव्यालंकार के क्षेत्र में, विश्वनाथ (14वीं शती) के समय से पूर्व, आधिकारिक नहीं माना जाता था। उन्होंने अग्निपुराण के 336.3—4(=1.2) और 337.7 का उल्लेख किया है। यह पुराण एक प्रकार के बड़े विश्वकोश के समान है और इसमें ज्ञान (विद्या) के विविध अंगों का समावेश है। संपूर्ण पुराण की रचना-तिथि भले ही कुछ हो, किंतु उपर्युक्त कथन के अनुसार इसके अलंकार भाग को 9वीं शती के मध्यभाग के पश्चात् ही निर्धारित करना युक्तियुक्त होगा[4]। अधिकतर प्राचीन लेखकों का, जो इस सिद्धान्त के विकास से पहले हुए हैं,[5] अनुसरण करते

1. अग्नि में दी गई कुछ अलंकारों की परिभाषाएँ (यथा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति और पर्यायोक्ति) दंडी और भामह के ग्रंथों में लगभग वैसी ही भाषा में मिलती है।
2. क्योंकि भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती-कंठाभरण' में अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण और उसका विकास किया, इसलिए इसकी तिथि अनुमानतः 11वीं शती से पूर्व है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भोज ने अपने सिद्धांत को अग्निपुराण के भ्रांतिजनक पद्यों पर आधारित किया था, किंतु मतपरंपरा में विशेष भिन्नता नहीं है। भोजोत्तर तिथि के लिए देखिए, IHQ. x पृ० 767-79.
3. इस विषय पर अधिक बल देना अनावश्यक है, क्योंकि 'वक्रोक्ति' की कल्पना रत्नाकर के काव्य के अनुसार, 9वीं शती में विद्यमान थी।
4. पी०वी० काणे ने (Hist. of Dharma-sastra) धर्म-शास्त्र का इतिहास, i. पृ० 170-73 में स्मृति-अध्यायों का रचनाकाल 900 ई० दिया है। अलंकार भाग का भी यही काल निर्धारित किया गया है। IHQ. xii. पृ० 689-90 भी देखिए।
5. तुलना कीजिए रुय्यक, पृ० 3 इत्यादि।

हुए ध्वनि की कल्पना को सामान्यतः 'आक्षेप' अलंकार के अंतर्गत समाविष्ट कर लिया गया है।[1]

अलंकार भाग में विषयवस्तु और अध्यायों की व्यवस्था इस प्रकार है— अध्याय 336 में काव्य की परिभाषा और वर्गीकरण है। अध्याय 337 में नाट्य रूपक तथा उपरूपक के 12 भेद, 5 अर्थप्रकृतियाँ और 5 संधियाँ) संबंधी विषयों का विवेचन है। अध्याय 338 में रस (स्थायी-भाव, विभाव और अनुभावसहित), नायक-नायिका भेद और उनके लक्षणों का विवेचन है। अध्याय 339 में चार रीतियों (पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी), चार वृत्तियों (भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी) का उल्लेख है। अध्याय 340 में नृत्य का वर्णन है। अध्याय 341 में अभिनय के चार भेदों (सात्विक, वाचिक, आंगिक और आहार्य) पर चर्चा की गई है। अध्याय 342 में चित्र के सात भेदों और प्रहेलिका के सोलह भेदोंसहित शब्दालंकारों की परिभाषा और वर्गीकरण है। अध्याय 343 में अर्थालंकारों पर चर्चा है। अध्याय 344 में शब्दालंकारों का विवेचन है, किंतु इसमें आक्षेप, समासोक्ति और पर्यायोक्ति भी सम्मिलित है। अध्याय 345-46 में गुण-दोष का वर्णन है।

ग्रंथ-सूची

संस्करण : विष्णुधर्मोत्तर, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, 1912 में, पोथी-आकार में मुद्रित हुआ था। अग्निपुराण भारत में अनेक बार मुद्रित हुआ है। राजेंद्रपाल मित्र द्वारा जो Bibliotheca Indica के अंतर्गत 3 खंडों का संस्करण 1873, 1876 और 1878 में मुद्रित हुआ था, वह अधिक उपयोगी है। यहाँ उसी संस्करण का उपयोग किया गया है। (इस संस्करण के अध्याय 336-346 = आनंदाश्रम संस्करण के अध्याय 337-347)। इसका अंग्रेजी अनुवाद, दो खंडों में, मन्मथनाथ दत्त, कलकत्ता, 1903-4, द्वारा हुआ है। अन्य संस्करण— आनंदाश्रम, पूना 1900 और वेंकटेश्वर प्रेस, (पोथी-आकार) बंबई 1901। वह्नि पुराण भिन्न ग्रंथ है।

---

1. इस अध्याय (336. 1. तुलना कीजिए भोज i. 1) के प्रथम पद्य में ही 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग मिलता है, किंतु यहाँ वह व्याकरण-संबंधित शब्द को लक्षित करता है, जिससे 'स्फोट' की अभिव्यक्ति होती है। 'वाक्यपदीय' में इसे इसी शब्द से लक्षित किया गया है। भोज ने भी यही भूल की है, किंतु उन्हें आनंदवर्धन और उनके अनुयायियों के मत का अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान था। संभव है, इस पुराण-लेखक को भी आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धांत का ज्ञान रहा हो, किंतु वे प्रकट रूप में उनके अनुयायी नहीं थे।

अध्याय 4

ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन

1.

बूहलर (Buhler) तथा जैकोबी (Jacobi) ने राजतरंगिणी v. 34 के आधार पर आनंदवर्धन को 9वीं शती के मध्यभाग में निर्धारित किया है। इस पद्य के अनुसार आनंदवर्धन ने अवंतिवर्मा (855-84 ई०) की राजसभा को अलंकृत किया था। आनंदवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप में ज्ञात है, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' पर उनकी 'बृहतीवृत्ति' 1015 ई० में, और 'क्रमस्तोत्र' 990-991 ई० में 'भैरव-स्तोत्र' अथवा 'ईश्वर-स्तोत्र' 992-993 ई० में रचा गया था। अभिनव-गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' के 'उद्योत' i और iii पर अपनी 'लोचन' टीका के अंत में जो कुछ कहा है, उससे यह प्रतीत होता है कि उनके परिवार में इस प्रसिद्ध ग्रंथ के अध्ययन की परंपरा थी; उन्होंने अपनी टीका को स्वगोत्रोत्पन्न पूर्ववर्ती एक अन्य विज्ञान द्वारा लिखित 'चंद्रिका' (पृ० 60) नामक टीका के प्रत्युत्तर में लिखा था;[1] इस पूर्ववर्ती टीकाकार का उन्होंने पृ० 178 और 185 पर चंद्रिकाकार[2] के नाम से उल्लेख किया है; इनके मत की चर्चा अथवा विरोध 'लोचन' में चार बार (पृ० 123, 174, 185, 215) किया गया है। आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त के मध्य कई पीढ़ियों का व्यवधान आवश्यक प्रतीत होता है, अतएव पिशेल (Pischel) के इस मत का

---

1. चंद्रिकाकारैस्तु पठितं......इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना पृ० 185; इत्यलं निज-पूर्वजसगोत्रैः साकं विवादेन, पृ० 123, इत्यादि। मम्मट पर अपनी टीका में सोमेश्वर ने (पृ० 55) भी चंद्रिकाकार का उल्लेख किया है।

2. महिमभट्ट-लिखित 'व्यक्ति-विवेक' (1.5) के आरंभ में एक श्लेषमय पद्य में भी 'चंद्रिका' का उल्लेख मिलता है—

ध्वनिवर्त्मन्यतिगहने स्खलितं
वाण्याः पदे पदे सुलभम्।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं
चंद्रिकाद्यदृष्टैव ॥

इस पर टीकाकार ने इस प्रकार कहा है—
चंद्रिका ज्योत्स्ना ध्वनि-विचारणग्रंथोऽपि (पृ० 1)।

कि अभिनवगुप्त ने तीन स्थलों पर आनंदवर्धन को अपना गुरु कहा है, निराकरण हो जाता है। ये स्थल मुद्रित पाठ के पृ० 37, 183 और 214 पर हैं, किन्तु सन्दर्भ के अनुसार उनके परीक्षण से प्रतीत होता है कि आदरसूचक शब्द गुरु का प्रयोग यदि आनंदवर्धन के लिए ही किया गया है तो वह शाब्दिक नहीं है, बल्कि 'परम्परा-गुरु', जिनके ग्रन्थ का परिवार में बहुत आदर था[1], के समान आलंकारिक प्रयोग है अथवा यह अधिक संभव है कि शब्द से अभिनवगुप्त का कोई अन्य गुरु, यथा, भट्टतौत अथवा भट्टेंदुराज लक्षित होते हों। भरत पर अपनी टीका में अभिनव ने पूर्वोक्त को 'अस्मदुपाध्याय' कहा है। कय्यट का कथन है कि उन्होंने आनंदवर्धन के 'देवीशतक' (सं० काव्यमाला, गुच्छक ix) पर लगभग 977 ई० में टीका लिखी थी। इसका तात्पर्य यह है कि दसवीं शती के अन्त तक आनंदवर्धन इतने विख्यात हो चुके थे कि उनके ग्रन्थ पर दो विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त, राजशेखर ने जो 9वीं शती के अन्त और दसवीं शती के आरंभ में हुए हैं, अपनी काव्यमीमांसा पृ० 16 में आनंदवर्धन के नाम का उल्लेख किया है। इस प्रकार कह्लण-निर्धारित और बूह्लर और जैकोबी द्वारा स्वीकृत तिथि को प्रामाणिक मानने में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है।

2

काव्यालंकार पर ध्वन्यालोक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ आनंदवर्धन-रचित माना जाता है। इसे 'काव्यालोक' अथवा 'सहृदयालोक' भी कहा गया है।[2] इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, अर्थात्, (1) कारिका पद्यमय है और इसमें 'ध्वनि' का विवेचन किया गया है; और (2) वृत्ति, अथवा कारिका की व्याख्या, सामान्यतः गद्यमय है, किंतु उदाहरण पद्यमय हैं। प्रश्न यह है कि कारिका तथा वृत्ति का लेखक एक ही था अथवा भिन्न-भिन्न थे।

परवर्ती अनेक लेखकों ने इस विषय में अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। उन्होंने कारिकाकार और वृत्तिकार में स्पष्ट रूप से भेद किया है और उनका विरोध भी किया है। उन्होंने 'वृत्ति-ग्रन्थ' शब्द को 'कारिका' शब्द से बिल्कुल

1. जैकोबी, WZKM iv. पृ० 237-38.
2. अभिनव ने उद्योत iii. और iv. के अन्तिम पद्यों में इसे 'काव्यालोक' कहा है। किंतु भरत पर अपनी टीका (vii. खंड i. पृ० 344, xvi, 5, खंड ii., पृ० 299-300) में उन्होंने ध्वन्यालोक पर अपनी टीका को 'सहृदयालोक-लोचन' कहा है। इस ग्रंथ की संक्षिप्त विषय-सूची के लिए देखिए, HSP, पृ० 190, 191. ध्वन्यालोक और ध्वनि-कारिकाओं के पाठ के बारे में देखिए, एम० पी० भट्टाचार्य, Proc. A-I. O. C., पटना 1933, पृ० 613-22.

भिन्न माना है।[1] इन तीन स्थलों (पृ० 123, 130-1; अध्याय iv. पृ० 29) पर अभिनवगुप्त ने कारिकाकार और वृत्तिकार के परस्पर विरोधी मतों का समाधान करने का यत्न किया है।

सर्वप्रथम बूहलर (Buhler)[2] ने इस तथ्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अभिनवगुप्त के प्रमाण के आधार पर जैकोबी (Jacobi) ने[3] यह सुझाव दिया कि कारिका के अनुमानित प्राचीन लेखक, ध्वनिकार, वृत्ति के लेखक आनंदवर्धन से भिन्न व्यक्ति होने चाहिए। इस सुझाव को पुष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि ग्रन्थ के दोनों भागों में पूर्ण मतैक्य का अभाव है, यद्यपि दूसरा खंड पहले की व्याख्या करता है। इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत होता है कि कारिकाकार द्वारा संक्षिप्त-पद्य-रचित-सिद्धान्त की रूपरेखा का वृत्तिकार ने पर्याप्त विस्तार से व्याख्या, संशोधन और परिवर्तन किया है। इसके अतिरिक्त ऐसी अनेक समस्याएँ हैं, जिनकी विवेचना पूर्ववर्ती ने बिल्कुल नहीं की है, जबकि परवर्ती ने उनका बड़े विस्तार से विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, एक स्थान पर (पृ० 123) अभिनवगुप्त ने स्पष्टतया यह कहा है कि कारिका में वस्तु, अलंकार और रसादि के अनुसार ध्वनि के वर्गीकरण का प्रतिपादन नहीं है; इसके अतिरिक्त अध्याय iv में एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि वृत्तिकार ने काव्य में अर्थ की अनंत विविधता के स्रोत अथवा कारण की समस्या का उल्लेख किया है, किन्तु कारिकाकार ने उसे अछूता ही रहने दिया है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि आनंदवर्धन ने कारिकाओं की संक्षिप्त और असंबद्ध सामग्री के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा-प्राप्त वृत्ति में काव्यशास्त्र के अव्यवस्थितप्राय सिद्धान्त के निर्माण का यत्न किया। उनको इस कार्य में इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि कुछ समय के बाद इस महान् टीकाकार की तुलना में कारिकाकार पीछे छूट गए। ऐसा माना जाने लगा कि ध्वनिकार कुछ स्मरणीय पद्यों के रचयिता ही नहीं थे, बल्कि स्वयं

---

1. पृ० 1. 59-60, 71, 78, 85, 104, 123, 30-1; अध्याय iv. पृ० 25, 29, 37, 38, 39, 40, JDL, ix. 1923 कलकत्ता विश्वविद्यालय। 'लोचन' पृ० 123 पर एक स्थल से यह लक्षित होता है कि पूर्ववर्ती टीकाकार अर्थात् चंद्रिकाकार ने कारिकाकार और वृत्तिकार में ऐसा ही भेद किया था। इन स्थलों के संग्रह के लिए देखिए, एस० के० डे, BSOS i. खंड 4, पृ० 3 (एस० के० डे कृत, Some Problems of Sanskrit Poetics, कलकत्ता, 1959, पृ० 80-90) में पुनर्मुद्रित वहाँ सारी समस्या पर चर्चा की गई है) तथा हरिचन्द शास्त्री का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० 86-87.
2. Kashmir Rep. पृ० 65.
3. DMG, 1902, पृ० 405 इत्यादि।

टीकाकार आनंदवर्धन थे और उन्होंने ही सिद्धांत के वर्तमान आकार को व्यवस्थित किया। धीरे-धीरे ध्वनिकार शब्द का ध्वनि-सिद्धांत के रचयिता के अर्थ में प्रयोग होने लगा और परवर्ती लेखकों ने अविवेकवश इस शब्द को आनंदवर्धन के लिए प्रयुक्त किया। संभवतः, वे इस सिद्धांत के प्रवर्तक नहीं थे, किंतु सैद्धांतिक मत-मतांतरों के पारस्परिक संघर्ष में विजय का श्रेय उन्हीं को प्रदान किया गया।

इसमें कोई विस्मय नहीं कि जह्लण के ग्रंथ में तथाकथित राजशेखर-रचित पद्य में आनंदवर्धन को ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तक माना गया है। इसी प्रकार, समुद्रबंध (पृ० 4) में, रुय्यक से पूर्व काव्यशास्त्र के पाँच सिद्धांतों की समीक्षा करते हुए, आनंदवर्धन को ध्वनि-सिद्धांत का पाँचवाँ अथवा अंतिम प्रवर्तक कहा गया है। परवर्ती लेखकों के ग्रंथों में 'ध्वन्यालोक' के दो भ्रांतिजनक उद्धरण मिलते हैं। इन उद्धरणों में उन लेखकों ने आनंदवर्धन को ध्वनिकार से अभिन्न माना है अथवा उनके नामों के कारण भ्रांतिग्रस्त हो गए हैं। उपर्युक्त चर्चा से यह भ्रांति दूर हो जाती है कि एक ओर, आनंदवर्धन के नाम से अनेक कारिकाओं का उल्लेख है, जबकि दूसरी ओर वृत्ति में अनेक अंश ध्वनिकार के बताए गए हैं। परवर्ती लेखक इस कारण पूरी तरह भ्रांत रहे, यहाँ तक कि ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में महिमभट्ट, जिन्होंने नवीन सिद्धांत के उन्मूलनार्थ 'व्यक्ति-विवेक' में भीषण प्रहार किया, सामान्य ध्वनिकार के नाम से कारिका और वृति दोनों के भेदभाव-रहित रूप से उद्धरण देते गए हैं। इसी प्रकार, क्षेमेंद्र ने ग्यारहवीं शती के अंतिम चरण में, और हेमचंद्र ने बारहवीं शती के प्रथम चरण में आनंदवर्धन को, क्रमशः iii.24 और i.4 का रचयिता माना है। इनसे भी परवर्ती लेखकों, यथा जयरथ, विश्वनाथ, गोविंद तथा कुमारस्वामी ने स्वयं आनंदवर्धन को ही ध्वनिकार माना है और कारिका और वृत्ति, दोनों का ही उन्हें अभेद रूप से रचयिता स्वीकार किया है।[1] मम्मट सामान्यतः एक जागरूक लेखक थे। उन्होंने आनंदवर्धन को कारिका-लेखक से भिन्न माना है।

1. क्षेमेंद्र, 'औचित्य-विचार', पृ० 134 = 'ध्वन्यालोक' iii. 24; हेमचंद्र, टीका, पृ० 26 = वल्लभदेव, 'सुभाष' 157 = 'ध्वन्यालोक' i. 4; गोविंद ठक्कुर, पृ० 16 = ध्वन्यालोक, पृ० 221; विश्वनाथ, पृ० 114 = ध्वन्यालोक, पृ० 130; जयरथ, पृ० 119 = ध्वन्यालोक 111; कुमारस्वामी, पृ० 64 = ध्वन्यालोक iii. 3. राजशेखर ने (पृ० 15) आनंदवर्धन के अपने केवल एक उद्धरण में (पृ० 137 पर) वास्तव में वृत्ति के एक परिकर-श्लोक का उल्लेख किया है। इसके विपरीत, कुंतक ने आनंदवर्धन के अपने प्राकृत पद्य 'तला जाअंति' ('ध्वन्यालोक' पृ० 62) (उनके लुप्त ग्रंथ विषम-बाण-लीला से उद्धृत) का उल्लेख किया है कि आनंदवर्धन को ध्वनिकार-मानते थे (देखिए, 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० xi)।

कारिका-लेखक को उन्होंने 'ध्वनिकार' अथवा 'ध्वनिकृत' (पृ० 213 तथा 214) कहा है। किंतु एक स्थान पर (पृ० 445) वे भी भटक गए और ध्वनिकार को एक ऐसे पद्य का लेखक मान बैठे, जो निस्संदेह वृत्ति के अंतर्गत है। कारिकाकार और वृत्तिकार के भेद की समस्या का अभी अंतिम रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता।

3

यदि ध्वनिकार को आनंदवर्धन से भिन्न मान लिया जाय तो स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ध्वनिकार कौन थे ? और उनकी तिथि क्या निर्धारित की जाय ? अभिनवगुप्त इस विषय पर सर्वथा मौन हैं। जैकोबी ने 'ध्वन्यालोक' के अपने विद्वत्तापूर्ण अनुवाद की भूमिका में बड़े सुन्दर रूप में इस प्रश्न को उठाया है, किंतु वे कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। सोवनी (Sovani) की यह परिकल्पना[1] कि अज्ञात कारिकाकार का नाम सहृदथ था, निश्चयात्मक नहीं है। उन्होने इस आधार पर यह अनुमान किया है कि (1) स्वयं ग्रंथ का वैकल्पिक नाम 'सहृदयालोक' है, और (2) 'ध्वन्यालोक' के अध्याय iv के अंत में और अभिनव गुप्त की टीका के आदि में 'सहृदय' तथा 'कवि-सहृदय' शब्दों का प्रयोग इस अनुमान की अर्थवत्ता को पुष्ट करता है। यह सर्वविदित है कि सहृदय शब्द (अर्थात् हृदय सहित व्यक्ति) विचाराधीन पद्यों की तरह, अलंकार साहित्य में अनेकानेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, और एक सुरुचिसंपन्न, साहित्य-सौंदर्य के पारखी तथा रस-मर्मज्ञ व्यक्ति को परिलक्षित करता है। आनंदवर्धन ने अपनी वृत्ति (पृ० 160) में 'सहृदयत्व' की चर्चा की है, और अभिनवगुप्त ने 'सहृदय' की परिभाषा इस प्रकार की है (पृ० 11) :

> "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे
> वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता, ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"

यह परिभाषा इतनी मान्यताप्राप्त (मानक) हो गई कि हेमचंद्र ने, बिना किसी कठिनाई का अनुभव किए, इसको शब्दशः उद्धृत कर लिया (टीका, पृ० 3)।[2]

---

1. JRAS, 1910, पृ० 164-67.

2. मम्मट ने अपने ग्रंथ (पृ० 10) के आरंभ में ही 'कवि' और 'सहृदय' शब्दों का उल्लेख किया है। विद्याधर (पृ० 21) ने इन दोनों में व्युत्पत्ति-भेद किया है। मम्मट और विश्वनाथ का कथन है कि सहृदय ही काव्य-रस का प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सामग्री के अभाव के कारण इस समस्या का समाधान करना बहुत कठिन है। अभिनव के एक स्थल के आधार पर जैकोबी (Jacobi) का मत है कि अज्ञात ध्वनिकार मनोरथ के समकालीन थे। 'राजतरंगिणी' (iv. 497 तथा 671) ने मनोरथ को जयापीड और उनके उत्तराधिकारी ललितापीड के राज्यकाल में, अर्थात् आठवीं शती के तीसरे चरण और नवीं शती के प्रथम चरण (लगभग 780-813-ई०) के मध्यवर्ती काल में निर्धारित किया है। किंतु इस विषय का निर्णय करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। 'ध्वनि' के विरुद्ध विविध सिद्धांतों की चर्चा करते हुए आनंदवर्धन ने एक अज्ञात लेखक के पद्य को उद्धृत करते हुए यह कहा है—'तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः।' इस पर अपनी टीका में अभिनवगुप्त ने यह कहा है—"तथा चान्येन इति। ग्रंथकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना।" यदि यह मान लिया जाय कि 'ग्रंथकृत्' से अभिनवगुप्त का तात्पर्य आनंदवर्धन से है, तब मनोरथ आनंदवर्धन के समकालीन हो जाते हैं और उनकी तिथि नवीं शती का मध्यभाग अथवा उत्तरार्द्ध ठहरती है, अर्थात् कल्हण द्वारा निर्धारित तिथि के कुछ पश्चात्। किंतु इसमें यह मानना पड़ेगा कि दोनों मनोरथ एक ही व्यक्ति थे। इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाय कि ग्रंथकृत्, जैकोबी के कथनानुसार, अज्ञात ध्वनिकार थे, तो एक नई कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने 'ग्रंथकृत्' शब्द को सभी जगह आनंदवर्धन के लिए ही प्रयुक्त किया है (पृ० 12, 37, 90 इत्यादि)। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह मानना पड़ेगा कि या तो (1) (जैसा कि पिशेल का तर्क है) कल्हण ने मनोरथ को जयापीड और ललितापीड के राज्यकाल में वर्त्तमान मानकर गलती की है, या (2) दोनों मनोरथ एक ही व्यक्ति नहीं थे, या (3) स्वयं अभिनवगुप्त किसी असावधानी के कारण कारिकाकार और वृत्तिकार के विषय में भ्रांतिग्रस्त हो गए हैं। उपर्युक्त सभी प्रस्ताव समान रूप से ग्राह्य हैं, किंतु इस बात का निर्णय करने के लिए कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है, अतएव यह कहना कि मूल ध्वनिकार कल्हण के मनोरथ के समकालीन थे, अनुमान मात्र ही है। इसे प्रमाणित नहीं माना जा सकता।[1]

4

इसके विपरीत, कारिकाएँ नवीं शती के प्रथम चरण से भी प्राचीन हैं। जैकोबी ने इसी काल में ध्वनिकार को मनोरथ का समकालीन माना है। मनोरथ का उल्लेख और कल्हण का अशुद्ध कथन कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता और

---

1. टी० आर० चिंतामणि ने JOR ii. (1928), पृ० 44-47 में अशुद्धियों का समाधान करने का प्रयत्न किया है।

सामान्य रूप में अभिनवगुप्त के प्रमाण का विरोध भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि यह मान लेना युक्तियुक्त है कि विवेचनाधीन मनोरथ एक कवि हुए हैं। अभिनवगुप्त के कथनानुसार वे आनंदवर्धन के समकालीन थे और कल्हण के प्रसिद्ध मनोरथ से सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। क्योंकि स्वयं अभिनवगुप्त ने इसका विरोध किया है, इसलिए 'ग्रंथकृत शब्द का कारिकाकार अर्थ करना अनावश्यक है। इससे समस्या सुलझ जाती है। इसमें कल्हण द्वारा मनोरथ के उल्लेख से कोई अंतर नहीं पड़ता—उनसे यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है। इसके विपरीत, यदि ध्वनिकार को कल्हण के मनोरथ का समकालीन मान लें तो कारिकाकार और वृत्तिकार में केवल एक या दो पीढ़ी का अंतर रह जायगा। इतना अल्प समय प्रतिपाद्य विषय की शास्त्रीय व्याख्या के लिए अपर्याप्त है। किंतु निस्संदेह इस व्याख्यात्मक सक्रियता के कुछ अवशेष 'परिकर-श्लोकों' (पृ० 34, 130, 137, 147, 163), 'संग्रह-श्लोकों' (पृ० 87. 223) तथा संक्षेप-श्लोकों (पृ० 44, 74, 243) के रूप में आनंदवर्धन की वृत्ति के अंतर्गत अद्यावधि सुरक्षित हैं, और संभवतः वह पहली वृत्ति नहीं थी। ये श्लोक एक प्रकार के पुनरावृत्ति पद्य हैं। वृत्तिकार ने इन्हें अज्ञात ग्रंथों से उद्धृत किया था। उन्हें कारिकाओं की व्याख्या करने के लिए अथवा उनके प्रवर्धन एवं पूर्ति के लिए प्रयोग किया गया है—किंतु सिद्धांत के मूल सूत्रकार और उसके प्रथम चिंतनशील व्याख्याता के मध्य में बहुत अधिक अवकाश (अंतराल) मान लेना अनावश्यक है। इसलिए किसी पद्धति की रचनात्मक व्यवस्था के लिए बहुत अधिक समय लगना आवश्यक नहीं है। यह साधारण बात है कि यदि कोई साहित्यिक अथवा बौद्धिक विचारधारा विकासमान अवस्था में हो तो कुछ पीढ़ियों में अथवा अधिकाधिक एक शती में अपनी निश्चित चरमोन्नति को प्राप्त कर लेती है अथवा पूर्ण हो जाती है। यदि मान लिया जाय कि ध्वनि-सिद्धांत बहुत प्राचीन काल में विद्यमान था, तो रस-सिद्धांत की तरह किसी सीमा तक, आनंदवर्धन के पूर्ववर्ती लेखकों पर उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य होना चाहिए था, यद्यपि यह तर्क स्वयं में निर्णायक नहीं है। इसके विपरीत यह मानना पड़ेगा कि ध्वनिकार रस, रीति और अलंकार के सिद्धांतों से परिचित थे, किंतु इससे उनकी अथवा उनके सिद्धांत की प्राचीनता सिद्ध अथवा असिद्ध नहीं होती, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि वे इन सिद्धांतों के समर्थक भामह, दंडी अथवा वामन के विशिष्ट विचारों से परिचित थे। ध्वनिकार की तरह इन लेखकों को भी अपने-अपने सिद्धांतों का एकमात्र प्रवर्त्तक नहीं माना जा सकता। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत इन दूसरे सिद्धांतों के साथ-साथ उसी तरह विद्यमान था, जैसा कि उपलब्ध ग्रंथों में दृष्टिगोचर होता है,

क्योंकि यदि इसे अधिक अर्वाचीन मान लिया जाय तो यह स्वयं आनंदवर्धन के समय के अत्यंत निकट हो जायगा। यदि ध्वनिकार, दंडी अथवा वामन के समकालीन थे तो उन्हें अपने टीकाकार से अधिकाधिक एक शती पूर्व, अर्थात् आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया जा सकता है।

5

यदि आनंदवर्धन ने ही 'ध्वनि सिद्धांत' को अंतिम अधिकृत रूप दिया तो अनाम ध्वनिकार इसके एकमात्र रचयिता नहीं हो सकते। अभिनवगुप्त इत्यादि लेखकों ने तो केवल इसका परिमार्जन किया है। यह बात कारिका के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन आचार्यों ने इस सिद्धांत का उपदेश किया और स्वयं ध्वनिकार के समय में भी यह विविध रूपों में विद्यमान था। जैसा कि आनंदवर्धन ने अपनी व्याख्या में कहा है, यह सिद्धांत अविच्छिन्न परंपरा (परंपरया यः समाम्नातः) में चलता आया है, यद्यपि, जैसा कि आनंदवर्धन ने अपनी टीका में कहा है, विशेष ग्रंथों में इसकी व्याख्या नहीं की गई है (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं, विनापि विशिष्ट पुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः, पृ० 23)। इससे निस्संदेह यह परिलक्षित होता है कि यह सिद्धांत बहुत प्राचीनकाल से विद्यमान था और किसी अज्ञात लेखक ने इसे संगृहीत करके सिद्धांत रूप में व्यवस्थित किया। उनके इस ग्रंथ को साहित्य-क्षेत्र में बड़ा सम्मान मिला, किंतु स्वयं लेखक को अस्पष्ट-सी, आदरसूचक उपाधि 'ध्वनिकार' प्राप्त हुई। उनके महान वृत्तिकार ने उनके सिद्धान्त को एक स्थायी रूप दिया और आगामी पीढ़ियों ने पूर्ववर्ती लेखक के स्थान पर उन्हें ही सम्मानित किया। कालांतर में वृत्तिकार ध्वनिकार से भी अधिक प्रसिद्ध हो गए, यहाँ तक कि अलंकार के आधुनिकतम लेखक, कुमारस्वामी ने (पृ० 288) उन्हें विचित्र किंतु महत्वपूर्ण उपाधि—ध्वन्याचार्य—से विभूषित कर उनका सम्मान किया है।

6

आनंदवर्धन के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके ग्रंथ की इंडिया आफिस पांडुलिपि के अंतर्गत अध्याय iii के पृष्ठांत विवरण में उन्हें 'नोणोपाध्यायात्मज' नाम से संबोधित किया गया है। अध्याय iv के पृष्ठांत-विवरण में 'जोनोपाध्याय' रूप है। उनके पिता के नाम के इन दो रूपों में पहला शुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि आनंदवर्धन के 'देवी-शतक' को संकेत करते हुए हेमचंद्र ने (टीका पृ० 225) लेखक को 'नोणसुतः श्रीमदानंदवर्धननामा' कहा है। इसी ग्रंथ के अंतिम श्लेषमय पद्य पर टीका करते हुए कय्यट ने लेखक

को नोण-पुत्र कहा है और उनके दो ग्रंथों—'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित'—का उल्लेख किया है। इस पद्य में इन दोनों ग्रंथों का श्लेषमय उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने (पृ० 152, 176, 222) आनंदवर्धन की वृत्ति में और हेमचंद्र ने (पृ० 15, 213 पर) इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख किया है। प्रथम ग्रंथ प्राकृत में था। आनंदवर्धन ने पृ० 233 पर अपने एक अन्य ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस पर अभिनव ने इस प्रकार टीका की है—'ग्रंथांतरिति विनिश्चयटीकायां धर्मोत्तमायां या विवृतिरमुना ग्रंथकृता कृता।' यह ग्रंथ वास्तव में धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय पर 'धर्मोत्तमा' नामक टीका है। अभिनव ने 'लोचन' iv (पृ० 31) में आनंदवर्धन के 'तत्त्वालोक' नामक एक अन्य ग्रंथ का उल्लेख किया है। ऐसा कहा जाता है कि उसमें लेखक ने अन्य विषयों के साथ-साथ काव्य-मय और शास्त्र-नय के पारस्परिक संबंधों का विवेचन किया है।

7
अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त मुख्यतः काश्मीरी शैव-सिद्धांत पर अपने दार्शनिक ग्रंथों के कारण प्रसिद्ध हैं। काव्यालंकार के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत यश प्राप्त किया है। वे भरत और आनंदवर्धन पर क्रमशः अपनी 'अभिनवभारती' तथा 'काव्यालोक-लोचन' नामक टीकाओं के लिए विख्यात हैं। क्योंकि 'लोचन' का अनेक बार उल्लेख मिलता है, इसलिए वह अन्य टीकाओं से पहले लिखा गया होगा। अपने एक गुरु (अस्मदुपाध्याय) भट्टतौत के ग्रंथ 'काव्य-कौतुक' पर अपनी एक अन्य टीका का उन्होंने 'लोचन' (पृ० 119 तथा 29) में उल्लेख किया है। यह टीका अब लुप्त हो चुकी है। भट्टतौत (अथवा भट्टतोट) के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है; किंतु प्रारंभिक चतुर्थ पद्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके गुरु ने ही उन्हें भरत पर टीका लिखने के लिए प्रेरित किया था। इस टीका में उनके नाम का अनेक बार उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार उनके एक अन्य गुरु, भट्टेंदुराज ने उन्हें 'लोचन' लिखने के लिए प्रेरित किया था। तौत के लुप्त ग्रंथ के वस्तु-विषय के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु अभिनवगुप्त के उल्लेख (पृ० 187, 275, 310) से यह प्रतीत होता है कि उसमें सामान्य रूप से काव्य-सिद्धांत, विशेष रूप से रस-सिद्धांत और 'नाट्यशास्त्र' के तत्संबंधी अंश की व्याख्या की गई थी।[1]

1. भरत पर टीकाकारों के अंतर्गत देखिए, पृ० 33, 101 सोमेश्वर ने (मम्मट पर टीका पृ० 55) इस ग्रंथ को तथा इस पर अभिनव की टीका को देखा था (तच्च भट्टतौतेन काव्यकौतुके, अभिनवगुप्तश्च तद्वृत्तौ निर्णीतम)।

'व्यक्ति-विवेक' (पृ० 13) पर अनामलेखक टीका में भी काव्य-कौतुक का उल्लेख मिलता है। हेमचंद्र (पृ० 316) ने अपने पाठ में भट्टतौत के तीन पद्यों का उद्धरण दिया है और भरत पर अभिनव के अंश को लेकर अपनी टीका में रस-सिद्धांत से संबंधित इस आचार्य के मत का उल्लेख किया है। क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथ औचित्य-विचार (श्लोक 35 के नीचे) में तौत का एक पद्यांश दिया है; हेमचंद्र (पृ० 3)[1] ने इसी पद्य का पूर्ण, किंतु अनाम उद्धरण दिया है। माणिक्यचंद्र (पृ० 5 पर), श्रीधर और चंडीदास ने भी मम्मट पर अपनी-अपनी टीकाओं में तौत का उल्लेख किया है।

भट्टतौत और भट्टेंदुराज दोनों संभवतः काव्य और अलंकार में उनके गुरु रहे हैं। लोचन में भट्टेंदुराज की बहुत प्रशंसा की गई है। अभिनव और उनके संबंध में पहले ही बताया जा चुका है। उन्होंने दर्शनशास्त्र में अपने गुरुओं, यथा सिद्धिचेल,[2] लक्ष्मण गुप्त इत्यादि का अपने दर्शनशास्त्रीय ग्रंथों में उल्लेख किया है। हमें उससे कुछ मतलब नहीं है, किंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि अभिनव ने अपने ग्रंथ प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-लघुवृत्ति में उत्पल को अपने परम-गुरु, अर्थात् गुरु का भी गुरु, कहा है। अपने लोचन (पृ० 30) में उत्पल (देखिए, पृ० 32) के इस वर्णन का उन्होंने पुनरुल्लेख किया है। यहाँ अभिनव ने पाठ (i. 8) के अंतर्गत प्रत्यभिज्ञा शब्द पर चर्चा की है और इस विषय में उत्पल के मत का भी उल्लेख किया है। काश्मीर-शैव-सिद्धांत के इतिहास में अपने ग्रंथ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (इसके सूत्रों और वृत्ति पर अभिनव ने क्रमशः लघुवृत्ति तथा बृहती वृत्ति लिखी है) के कारण उत्पल बहुत प्रसिद्ध हैं। बूहलर ने (उपर्यक्त ग्रंथ, पृ० 79) इनकी तिथि दसवीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित की है। काश्मीर शैव-सिद्धांत पर अपने अनेक ग्रंथों में अभिनव के कथनानुसार गुरु-परंपरा इस प्रकार थी—सोमानंद-उत्पल-लक्ष्मणगुप्त-अभिनवगुप्त। सोमानंद संभवतः प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के आदि प्रवर्तक, वसुगुप्त के शिष्य थे। तंत्रशास्त्र के अध्ययन में उनकी यह गुरुपरंपरा मानी जा सकती है—सुमतिनाथ-सोमदेव-शंभुनाथ-अभिनवगुप्त।

अपने ग्रंथ, 'परात्रिंशिका-विवरण' के अंतिम अंश में अभिनवगुप्त ने अपना व्यक्तिगत तथा आनुवंशिक वर्णन दिया है। उसमें उन्होंने बताया है कि वे

---

1. वामन पर 'कामधेनु' नामक टीका (बनारस संस्करण) पृ० 4 पर। शायद यह पद्य गलती से मामह (अथवा भामह ?) का माना गया है।
2. 'लोचन' के अंतिम पद्यों में ऐसा उल्लेख मिलता है।

काश्मीरक चुखल[1] के पुत्र तथा वराहगुप्त के पौत्र थे। मनोरथगुप्त नामक उनके एक भ्राता थे। उत्पल तथा आनंदवर्धन के साथ उनके संबंधों के तथा स्वयं अपने कुछ ग्रंथों में ग्रंथरचना की तिथि के उल्लेख से, उनकी तिथि सरलता से निर्धारित की जा सकती है। पूर्वोक्त कथनानुसार, उनका ग्रंथ 'क्रमस्तोत्र' 990—91 ई० में, तथा 'भैरव' अथवा 'ईश्वरस्तोत्र' 992—93 ई० में लिखा गया था। उत्पल के 'प्रत्यभिज्ञा' पर उनकी 'बृहती वृत्ति' में 1015 ई० का उल्लेख है। इसलिए उनका समय निश्चित रूप से दसवीं शती के अंतिम चरण और ग्यारहवीं शती के प्रथम चरण में स्थिर किया जा सकता है।[2]

ग्रंथ-सूची

आनंदवर्धन

संस्करण तथा अनुवाद : (i) कारिका तथा 'लोचन' सहित, सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब, काव्यमाला 25, निर्णय सागर प्रेस बंबई 1820, 1911. (ii) अभिनवगुप्त के 'लोचन' तथा उदयोत्तुंग की कौमुदी सहित, सं० कुप्पुस्वामी शास्त्री; केवल प्रथम उद्योत, मद्रास 1944. जर्मन-भाषा में अनुवाद हेर्मन जैकोबी (Hermann Jacobi) की भूमिका सहित, ZDMG—lvi-lvii, 1902-03, के अंतर्गत (लाइपजिग—1903, में अलग से पुनर्मुदित) अंग्रेजी अनुवाद, केवल i—ii, के० राम पिशरोती, इंडियन थॉट ix-x के अंतर्गत (1917—18); अपूर्ण। यहाँ काव्यमाला सं० 1911, में से ही उद्धरण दिए गए हैं।

यह पाठ आधुनिक टीकाओं सहित मुद्रित हुआ है (इनमें किसी भी नई पांडुलिपि का उपयोग नहीं हुआ है, इसलिए इन्हें समालोचनात्मक संस्करण नहीं

---

1. बूहलर की पांडुलिपि में काश्मीरक 'विचुलक' (उपर्युक्त ग्रंथ पृ० clv तथा 'चुखल' (पृ० clvii) दोनों पाठ हैं। उनका वास्तविक नाम नरसिंहगुप्त प्रतीत होता है। उसकी माता का नाम विमला था।

2. अभिनवगुप्त-रचित ग्रंथों के विषय में देखिए—के० सी० पांडे, 'अभिनवगुप्त, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1935, पृ० 122-24; वी. राघवन, JOR, xiv. पृ० 318-20 तथा New Cat. Cat i. 224-26. 'अभिनव भारती' के अंतर्गत लेखकों के विषय में देखिए, वी० राघवन, JOR, vi, पृ० 153-62.

कहा जा सकता)। (i) मधुसूदन मिश्र, उनकी अपनी अवधान नामक टीका, सहित, कलकत्ता 1939 (ii) बदरीनाथ शर्मा, उनकी अपनी टीका, दीधिति सहित, हरिदास संस्कृत सीरीज, बनारस, 1937, इत्यादि।

अभिनवगुप्त

संस्करण (1) काव्यमाला 25, 1890, 1911 के अंतर्गत, उपर्युक्त पाठ के अनुसार (केवल प्रथम तीन उद्योत) (2) चतुर्थ उद्योत, पाठ-रहित (Journal of the Department of letters, कलकत्ता विश्वविद्यालय, खंड ix, 1923, के अंतर्गत वर्त्तमान लेखक-रचित (एस० के० डे रचित Some Problems पृ० 236-267 के अंतर्गत पुनर्मुद्रित)। 'काव्यालोक-लोचन' पूरा शीर्षक है। (3) प्रथम उद्योत, पाठ सहित, सं०, पट्टाभिराम शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज, बनारस 1940.

टीकाएँ : (1) परमेश्वराचार्य रचित 'लोचनव्याख्या कौमुदी'। Oppert 2694. (2) 'अंजन', अज्ञात-लेखक, मद्रास कैटलॉग xii, 12895, उद्धरण (केवल प्रथम उद्योत पर)। संभवत: लेखक का नाम दाशरथी था (के० कुंजुनी राजा के ग्रंथ 'कंट्रिब्यूशन ऑफ केरल', मद्रास 1958, पृ० 244)। लेखक ने गलती से भट्टेंदुराज को अभिनव का परमगुरु कहा है। (3) 'लोचन-कौमुदी' (केवल उद्योत i पर), केरल के उद्योत्तुंग अथवा उदयराज रचित; प्रकाशन यथापूर्व, मद्रास 1944, कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा। लेखक संभवत: 15वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए हैं (के० आर० पिशरोती, जर्नल ऑफ़ दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, i, पृ० 445-52)। उन्होंने 'मयूरसंदेश' नामक एक 'दूतकाव्य' लिखा है (सं० सी० कुन्हन राजा, पूना ओरिएंटल सीरीज 1944); इस पर कुँजुन्नी राजा का उपर्युक्त ग्रंथ देखिए, पृ० 228।

अभिनव तथा अन्य लेखकों द्वारा उल्लिखित आनंदवर्धन पर 'चंद्रिका' नामक टीका लुप्त है।

भरत पर 'अभिनवभारती' विषय में भरत के अंतर्गत ऊपर देखिए।

अभिनव के 'काव्यकौतुक-विवरण' अथवा स्वयं 'काव्य-कौतुक' की कोई भी पांडुलिपि प्राप्त नहीं हुई है।

जेकब (Jacob) ने JRAS, 1897 पृ० 290 तथा 297 पर काव्य और अलंकार पर आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के ग्रंथों के उल्लेखों की एक सूची दी है। जेकब के कथनानुसार उसमें से अभिनव द्वारा उल्लिखित धनिक नामक लेखक का नाम छोड़ देना चाहिए।

अध्याय 5

राजशेखर से महिम भट्ट तक

राजशेखर

1

राजशेखर, महामंत्री दुर्दुक अथवा दुहिक तथा शीलावती[1] के पुत्र और यायावर कुलोत्पन्न कवि अकालजलद के प्रपौत्र थे। वे काव्यालंकार-शास्त्र के लेखक होने की अपेक्षा कवि तथा नाटककार के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। अपने 'बाल-रामायण' i. 12 में राजशेखर ने अपने को छह ग्रंथों का लेखक बताया है। संभवत: वे ग्रंथ 'बाल-रामायण' से भी पूर्व विद्यमान थे। उन्होंने 'बाल-रामायण' अपेक्षाकृत आरंभिक काल में लिखी थी।[2] यह तो ज्ञात नहीं है कि उन्होने अपने अन्य तीन प्रसिद्ध नाटक भी इसी काल में लिखे थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने संभवत: छह ग्रंथ लिखे थे। हेमचंद्र (टीका, पृ० 335) ने 'हर-विलास' नामक राजशेखर-कृत ग्रंथ को स्व-नामांक्ता' कविता का उदाहरण बताया है और उसके दो पद्य उद्धृत किए हैं (टीका, पृ० 334-335)। उज्ज्वलदत्त ने भी (ii 28) उनका एक पद्यार्द्ध उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त काव्यमीमांसा (xvii.18) में सामान्य भूगोल पर 'भुवनकोश नामक उनके एक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। उज्ज्वलदत्त ने (ii. 76) शिव के पर्यायवाची शब्दों के संबंध में राजशेखर के एक पद्यार्द्ध का उल्लेख किया है। यदि वह पद्यार्द्ध 'हरविलास' में नहीं है तो संभवत: उसे राजशेखर के किसी अज्ञात कोश से उद्धृत किया गया है।

---

1. 'बालरामायण', अध्याय i. 7, 13; 'बालभा०, अध्याय i. 8; विद्धशालभंजिका अध्याय i. 5. राजशेखर ने अपने को कविराज कहा है (कर्पूरमंजरी i. 9; विद्धशालभंजिका i. 5), जो काव्यमीमांसा के अनुसार काव्य-कौशल की दस श्रेणियों में से सातवीं श्रेणी है और महाकवि से एक सोपान ऊपर है।
2. 'कर्पूरमंजरी' i. 9 में कहा गया है कि राजशेखर ने अपना लेखनकार्य 'बालकवि' से आरंभ किया। वे बालकवि इसलिए कहलाए, क्योंकि उन्होंने 'बालरामायण' तथा 'बालभारत' लिखा, इस प्राकृत नाटक तथा 'विद्धशालभंजिका' की रचना से उन्होंने 'कविराज' की उपाधि प्राप्त की।
3. काणे (HSP पृ० 207-8) का मत यह है कि 'भुवनकोश' कोई पृथक् ग्रंथ नहीं था, बल्कि 'काव्यमीमांसा' का ही एक भाग था।

वल्लभदेव और शार्ङ्गधर के कोशों में राजशेखर-रचित अनेक पद्य मिलते हैं। स्टेन् कोनो (Sten Konow) ने इनमें से लगभग 24 पद्यों को राजशेखर के चार नाटकों में ढूंढ़ निकाला है।[1] किंतु लगभग 10 पद्य अभी तक उनकी किसी भी ज्ञात रचना में अथवा 'काव्यमीमांसा' में भी नहीं मिले हैं। ये पद्य तथा कवियों के स्मारक अधिकतर अन्य पद्य संभवतः एक भिन्न और कनिष्ठ राजशेखर द्वारा लिखे गए थे।[2]

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'काव्यमीमांसा' के लेखक, नाटककार राजशेखर ही हैं, यद्यपि राजशेखर की रचनाओं की इन परिगणनाओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।[3] राजशेखर ने अपने इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय के अंत में अपना नाम 'यायावर' राजशेखर बताया है। उनके नाटकों में भी ऐसा ही वर्णन है और इसी के आधार पर परवर्ती लेखकों ने उन्हें केवल 'यायावर' ही कहा है।[4] अपने यायावर वंश के विचारों अथवा मतों का उन्होंने सामान्य 'यायावरीय' नाम से अनेक बार उल्लेख किया है।[5] उनके वंश में सुरानंद,

---

1. सं० 'कर्पूरमंजरी' पृ० 189-91.
2. यह दूसरे राजशेखर, 'प्रबंध-कोश' (1348 ई०) के रचयिता, जैन राजशेखर हो सकते हैं, अथवा नहीं भी। राइस (Rice) 282 ने बालकवि के ग्रंथ 'कर्पूर-रस-मंजरी' का उल्लेख किया है, जो राजशेखर और उनके प्रसिद्ध प्राकृत नाटक को ही निर्दिष्ट करता है, न कि किसी अलंकार ग्रंथ को।
3. Aufrecht (ABOD 135a) का कथन है कि शंकर ने 'शकुंतला' पर अपनी टीका में 'काव्यमीमांसा' का नामशः उल्लेख किया है।
4. 'बालभारत' i. 6. 13. 'विद्धशालभंजिका' i. 5, तथा धनपाल तिलकमंजरी, सं० काव्यमाला 85, 1903, श्लोक 33, तथा माणिक्यचंद्र, 'संकेत' टीका (सं० मैसूर) पृ० 308. इसके अतिरिक्त, हेमचन्द्र (पृ० 235) तथा सोमेश्वर (सं० जोधपुर 1959, पृ० 224 'यायावरीय')। नारायण दीक्षित ने 'विद्धशालभंजिका 1·5 पर देवल का उद्धरण दिया है और कहा है कि 'यायावर' एक प्रकार का गृहस्थ होता है (द्विविधो गृहस्थः यायावरः शालिनश्च; देखिए 'मिताक्षरा' में यज्ञ-भाग, i. 128) जिसके अनुसार यायावर का अर्थ होता है, ब्राह्मण का एक विशिष्ट वर्ग, जो सादा जीवन बिताता है और दान आदि नहीं लेता। राजशेखर की पत्नी क्षत्रियकुल की थी, लेकित अनुलोम विवाह विहित था। देखिए काणे का 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' ii. पृ० 641-42.
5. चेदि देश का अलंकार (चेदि-मैंडल-नंदन, जह्लण की सूक्ति-मुक्तावली, 88-82, पृ० 47। इनके संरक्षक रणविग्रह को भंडारकर ने (रिपोर्ट 1887-91, पृ० xix) राष्ट्रकूट राजवंश के कृष्ण द्वितीय का बहनोई माना है, जिनका समय 875 से 911 ई० के बीच है। काव्य-मीमांसा के पृ० 75 पर भी इनका उल्लेख है।

अकालजलद[1] तरल[2] तथा कविराज-जैसे कवि तथा विद्वान् हुए हैं। इसके अतिरिक्त अपने वंश के कीर्तिप्राप्त सदस्यों, जिनका 'बालरामायण' i. 13 तथा अन्य स्थलों पर वर्णन किया गया है, के मतों का उन्होंने व्यक्तिशः उल्लेख किया है। उन्होंने चाहुआन कुलोत्पन्न अपनी पत्नी, अवंतिसुन्दरी के विचारों का भी सादर वर्णन किया है (पृ० 20, 46, 57)। उन्होंने 'कर्पूरमंजरी' (i. 1) की रचना विशेषतया अपनी पत्नी के मनोविनोद के लिए की थी। वे भी विदुषी लेखिका थीं। इस ग्रंथ में उन्होंने प्राकृत भाषा के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन किया है (पृ० 34, 51) तथा अपने भूगोल-ज्ञान का परिचय (अध्याय xvii) दिया है और 'बालरामायण' के अंक x में इस विषय पर अपनी जानकारी का प्रभूत प्रमाण दिया है। इन तथ्यों से प्रतीत होता है कि विवेचनाधीन राजशेखर प्रसिद्ध नाटककार राजशेखर से भिन्न व्यक्ति नहीं थे।[3]

2

अट्ठारह अध्याय पर्यंत 'काव्यमीमांसा' का प्रकाशित पाठ योजनागत एक बृहद् ग्रंथ का प्रथम खंड है। उस बृहद् ग्रंथ की साररूप योजना प्रथम अध्याय में दी गई है। आगामी खंडों में विषय-विवेचन से संबंधित टिप्पणियों (यथा), रीतयस्तिस्रस्तास्तु प्ररस्तात्, पृ० 10, तथा तमौपनिषदिके वक्ष्यामः, पृ० 11) से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। यदि उस योजनाबद्ध ग्रंथ में अट्ठारह अधिकरण थे, तो इस समय 'कविरहस्य' के प्रारंभिक विषय पर केवल एक ही खंड शेष है।[4] राजशेखर के अलंकार-संबंधी एक ग्रंथ में से केशवमिश्र (पृ० 32, 67) ने तीन पद्य उद्धृत किए हैं। यदि वे इसी लेखक द्वारा लिखे गए थे, तो वे, जैसा कि उनके

---

1. राजशेखर के प्रपितामह। यह इनका वास्तविक नाम नहीं है, बल्कि उपनाम है, जिसकी अभिव्यक्ति श्रीपद्धति 777=सुभाष 843 (दाक्षिणात्य) में है। ये अपने काव्य-रत्नों के लिए प्रसिद्ध थे, जिनमें से कुछ की चोरी कादंबरी राम ने (जह्लण, सूक्ति-मुक्तावली 83-84, पृ० 46) की थी। बालरामायण (i. 3) में इन्हें 'महाराष्ट्र चूड़ामणि' कहा गया है। विद्धशालभंजिका (i. 5) भी देखें।
2. इनका उल्लेख जह्लण ने किया है। ये एक पुस्तक के लेखक हैं, जिसका नाम सभवतः 'सुवर्णबन्ध' है।
3. देखिए, एस० के० डे कृत History of Kavya Literature (काव्य साहित्य का इतिहास; अध्याय viii—राजशेखर तथा उनके नाटक 'कर्पूरमंजरी' (i. 6 पर) उन्होंने अपने को सर्वभाषा-चतुर कहा है। कवि के रूप में उनका दावा है कि वे पूर्वजन्म में वाल्मीकि, मेंठ तथा भवभूति थे।
4. तुलना कीजिए, 'काव्यमीमांसा' की भूमिका, पृ० xvii-xviii.

विषय से प्रतीत होता है, क्रमशः 'उभयालंकारिक' तथा 'वैनोदिक' पर लुप्त अध्यायों में से लिए गए थे।

परवर्ती लेखकों में 'काव्यमीमांसा' बहुत प्रिय रही है। क्षेमेंद्र, भोज, हेमचंद्र तथा कनिष्ठ वाग्भट ने इसका प्रभूत उपयोग किया है। उदाहरणार्थ, हेमचंद्र ने इसके अध्याय viii, ix, xiii, xviii में कई दीर्घांशों की शब्दशः अनुलिपि की है। वाग्भट ने भी उन्हीं अंशों को या तो सीधे इसी ग्रंथ से लिया है अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हेमचंद्र से लेकर उद्धृत किया है।[1]

राजशेखर ने स्वयं कई प्राचीन लेखकों के प्रति आभार प्रकट किया है और मेधाविरुद्र (पृ० 12), उद्भट तथा औद्भटों (पृ० 22, 44), वामान तथा वामनीयों (पृ० 14, 20), रुद्रट (पृ० 31), मंगल (पृ० 11, 14, 16, 20) तथा आनंद (पृ० 16) के मतों का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त सामान्य 'आचार्य'[2] नाम से कई अज्ञात लेखकों का भी उल्लेख किया है। अपराजिति के नाम का भी उल्लेख मिलता है। सुभाषितावली 1024 में एक अपराजित[3] का भी वर्णन है। उनके विषय में 'कर्पूरमंजरी' i. 8 में कहा गया है कि वे समकालीन कवि तथा 'मृगांकलेखाकथा' के रचयिता थे। इसके अतिरिक्त, राजशेखर ने अपने एक पूर्वज सुरानंद, अपनी पत्नी अवंतिसुंदरी,[4] पाल्यकीर्ति (पृ० 46), श्यामदेव (पृ० 11, 13, 17) तथा वाक्पतिराज[5] (पृ० 62) का भी उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि इन सब ने विवेचनाधीन विषयों पर अपने-अपने मतों का प्रकाशन किया था।

3

राजशेखर की तिथि लगभग ठीक-ठीक निर्धारित की जा चुकी है। उनके

1. पाठ के गायकवाड़ संस्करण में टिप्पणी के अंत में इन उद्धरणों की तुलनात्मक सारणी दी गई है।
2. पृ० 3, 9, 13, 16, 20, 23, 30, 35, 50, 51, 56. 57, 58, 61, 62, 78, 94, 99.
3. 'कवींद्र-वचन' में एक अपराजित-रक्षित का उल्लेख है, किंतु नाम से वे बौद्ध प्रतीत होते हैं। संभवतः, वे राजशेखर के समकालिक अपराजिति से भिन्न थे। वी० राघवन (JOR. vi. पृ० 170) के मत से राजशेखर के अपराजिति वास्तव में लोल्लट हैं।
4. काव्यमीमांसा पृ० 46 में अवंतिसुन्दरी का एक पद्य उद्धृत किया गया है. किंतु उनकी कोई रचना अभी प्राप्त नहीं हुई है। हेमचंद्र ने अपने 'देशीनाममाला' (i.81 तथा i.157) में अवंतिसुन्दरी के तीन प्राकृत पद उद्धृत किए हैं।
5. ये वाक्पतिराज (वापाइ-रा) स्पष्टतः गौडवहो के लेखक हैं (आठवीं शती का मध्य; कह्लण iv.144) ये निश्चित रूप से मालव के सातवें परमार-नरेश मुंज-वाक्पतिराज से, जिन्होंने 947 से 995 ई० तक राज्य किया, भिन्न हैं। धनंजय के अंतर्गत आगे देखिए।

चार उपलब्ध नाटकों[1] से विदित होता है कि उनके पूर्वज महाराष्ट्र में निवास करते थे। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय मध्यदेश में व्यतीत किया। वे महेंद्रपाल (अथवा निर्भय अथवा निब्भय) नामक राजा के गुरु (उपाध्याय) थे। राजा महेंद्रपाल के पुत्र तथा उत्तराधिकारी, महीपाल[2] ने भी राजशेखर को संरक्षण प्रदान किया। यह भी विदित होता है कि उनका 'बालभारत' नाटक महोदय नामक स्थान पर अभिनीत हुआ था। अपनी 'काव्यमीमांसा' (पृ० 94) में भी उन्होंने इस स्थान के प्रति पक्षपात प्रकट किया है। फ्लीट (fleet) ने यह प्रमाणित[3] किया है कि यह महीपाल 917 ई० के अस्नी शिलालेख के महीपाल ही हैं। वे पिशेल से इस बात में सहमत हैं[4] कि महोदय ही कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज का दूसरा नाम है।[5] सियदोनी शिलालेख[6] के अनुसार यह राजा तथा महेंद्रपाल कन्नौज से ही संबंधित थे। सियदोनी शिलालेख के आधार पर कीलहॉर्न (Kielhorn) ने कन्नौज के चार राजाओं का निर्धारण किया है और उससे प्रतीत होता है कि महेंद्रपाल की तिथि 903-07 ई० थी। औफ्रेक्ट (Aufrecht)[7] तथा पिशेल (Pischel)[8] ने यह भी प्रमाणित किया है कि महेंद्रपाल निर्भर अथवा निर्भय (प्राकृत में निब्भर अथवा निब्भय) नाम से भी प्रसिद्ध थे। संभवतः फ्लीट को यह बात मालूम नहीं थी।[9] ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर किसी समय युवराज के शिष्य हो गए थे। यह युवराज चेदि राज्य के अंतर्गत, कलचुरि-वंशीय, त्रिपुरी के राजा, प्रथम युवराज कयूरवर्ष थे। राजशेखर

1. विद्धशालभंजिका i.6; बालरामायण 1.5; बालभारत 1.7, 11; कर्पूरमंजरी i. 5, 9
2. 'बालभारत' i. 9.
3. IA (इंडियन एंटीक्वेरी) xvi. 175-78.
4. GgA, 1883, पृ० 1217 इत्यादि।
5. तुलना कीजिए, 'बालरामायण' x अध्याय 87, 89, 90. काव्यमीमांसा में भी महोदय के प्रति राजशेखर का पक्षपात दृष्टिगोचर होता है (पृ० 8, 94)।
6. EI (एपिग्राफिका इंडिका) i.170 इत्यादि।
7. ZDMG.xxvii (शार्ङ्गधर पद्धति पर)
8. उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 1221.
9. इसके अतिरिक्त फ्लीट (fleet) ने यह भी प्रमाणित किया है (देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 175 इत्यादि) कि यह महेंद्रपाल सामंत महेंद्रपाल से भिन्न थे, जैसा कि पीटर्सन (Peterson) तथा दुर्गाप्रसाद का विचार है। उन्होंने इंडियन एंटिक्वेरी (IA XV. 105) के अंतर्गत उनके 761—62 ई० के शिलालेख का संपादन किया है। वे राजशेखर के शिष्य से भिन्न थे।

के संबंधी सुरानंद, इसी प्रदेश में रहकर बस गए थे। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर निश्चित रूप से 10वीं शती के आरंभ में हुए हैं और सम्भवत: 9वीं शती के अंतिम अंश में भी थे। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि राजशेखर ने जिन अर्वाचीनतम लेखकों के नाम लिए हैं, उनमें काश्मीरी रत्नाकर तथा आनंदवर्धन हैं, जो 9वीं शती के मध्य-भाग अथवा उत्तरार्द्ध में हुए हैं। जैन सोमदेव ऐसे प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने राजशेखर का उल्लेख किया है। उनके 'यशस्तिलक' की तिथि 960 ई० है।[1] लगभग इसी काल में अभिनवगुप्त ने भरत पर अपनी टीका में स्पष्ट रूप से 'कर्पूरमंजरी' नामक एक सट्टक तथा 'बाल-रामायण' का उल्लेख किया है। 12वीं शती से आगे के काव्यसंग्रहों में राजशेखर के उद्धरण मिलते हैं।[2]

ग्रंथसूची

संस्करण—भूमिका तथा टिप्पणी सहित, सी० डी० दलाल, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा 1916। नारायण शास्त्री खिस्ते ने अपनी टीकासहित पाठ को चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस (1931) के अन्तर्गत मुद्रित करवाया है। इसके अतिरिक्त, इसी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मधुसूदन मिश्र ने अपनी टीका तथा हिंदी अनुवादसहित 1931-1932 में मुद्रित करवाया है। ये सन्दर्भ बड़ौदा संस्करण से ही दिए गए हैं। नादिन शोपाक (Nadine Stchoupak) तथा लूई रीनो (Louis Renou) का फ्रेंच अनुवाद, पैरिस 1946 में छपा है।

---

1. राजशेखर के संबंध में अन्य जानकारी के लिए, कोनो (Konow) द्वारा सम्पादित 'कर्पूरमंजरी' का संस्करण देखिए (हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज 4, 1901) पृ० 175 इत्यादि पर सम्पूर्ण ग्रन्थसूची दी गई है। 'काव्यमीमांसा' के विविध तथा विस्तृत विषयों का संक्षित रूप में विवरण देना कठिन है, किन्तु खंड ii अध्याय iv (3) के अन्तर्गत सामान्य सार (general resume) दिया गया है। काणे ने भी अपने उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० 199-201. में संक्षिप्त सार दिया है।

2. देखिए 'कवींद्रवचन' पर एफ० डब्ल्यू० टामस (F. W. Thomas) की भूमिका। अधिकतम उल्लेख वहीं से उद्धृत किए गए हैं।

धनंजय तथा धनिक

1

धनंजय की लगभग निश्चित तिथि 10वीं शती का अन्तिम चरण मानी जा सकती है। इनका कथन है कि (iv, 80) कि इनके पिता का नाम विष्णु था और थे राजा मुंज द्वारा संरक्षित विद्वन्मंडल के सदस्य थे। मुंज स्वयं सहृदय विद्वान तथा विद्या-प्रेमी थे। पीटर्सन (Peterson)[1] ने इस मुज को, जो मुंज वाक्पतिराज के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, कह्लण (iv. 144) तथा राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट, 18वीं शती के पूर्वार्द्ध में कन्नौज के राजा यशोवर्मा द्वारा संरक्षित, 'गौडवहो' के लेखक, वाक्पतिराज (अथवा बाप्पै-राज) को समझने में गलती की है। हमारे मुंज मालवा के परमार वंश के सप्तम राजा थे। उनके अपने शिलालेखों[2] से विदित होता है कि वे 974 ई० में अपने पिता हर्षदेव सीयक के पश्चात् राज-सिंहासन पर बैठे और उन्होंने लगभग 995 ई० तक राज्य किया। चालुक्य शिलालेखों से परिलक्षित होता है[3] कि चालुक्य तैलप II ने उन्हें परास्त किया, बन्दी बनाया और अन्त में उनका वध करवा दिया। संभवतः स्वयं एक कवि होने के नाते वाक्पतिराज[4] नाम से विख्यात होने के अतिरिक्त वे कई और उपनामों से प्रसिद्ध थे, यथा, अमोघवर्ष, पृथ्वी-वल्लभ तथा श्रीवल्लभ। उनके एक शिलालेख में उन्हें उत्पलराज[5]

---

1. 'सुभाष०' पर भूमिका, पृ० 115.
2. आर्कियोलाजिकल सर्वे वेस्टर्न इण्डिया iii. 100 = इण्डियन एंटिक्वेरी vi. 48-51; इण्डियन। एंटिक्वेरी xiv. 159-60 देखिए बूहलर, 'नवसाहसांकचरित' (अनुवाद, इण्डियन एंटिक्वेरी xxxvi. पृ० 149-172), 1888, पृ० 116 इत्यादि।
3. इण्डियन एंटिक्वेरी xii. 270, xvi. 18, 23, xxi. 167-68; एपिग्राफिका इंडिका ii. 212 इत्यादि। मुंज की तिथि के सम्बन्ध में सभी संदर्भ हास (Hass) ने 'दशरूपक' के अपने संस्करण की भूमिका में एकत्र किए हैं।
4. धनिक ने (iv. 54-55 पर) मुंज के एक पद्य को दो बार उद्धृत किया है। पहली बार उन्हें मुंज कहा है और दूसरी बार वाक्तपतिराजदेव। 'तिलकमंजरी' में धनपाल ने दोनों नामों से एक ही व्यक्ति को लक्षित किया है। मुंज के एक उत्तराधिकारी, अर्जुनवर्मा ने, जो 13वीं शती के आरम्भ में राज्य करते थे, मुंज का एक पद्य प्रस्तुत किया है और कहा है कि यह पद्य उनके एक पूर्वज "मुंज ने रचा था, उसका दूसरा नाम वाक्पतिराज था" ('अमरु-शतक' पर टीका, सं० काव्यमाला 1916, पृ० 23)। जहलण ने (पृ० 199) भी इस पद्य को मुंज-रचित माना है।
5. क्षेमेंद्र ने अपनी रचनाओं में मुंज के पद्य उद्धृत किए हैं ('औचित्य विचार' श्लोक 16 के नीचे; 'कविकंठा' ii. 1 के नीचे; 'सुवृत्त-तिलक' ii. 6. के नीचे) और

कहा गया है। काव्यमाला सीरीज (गुच्छक i. पृ० 131) के संपादकों ने अनवधानता के कारण उन्हें काश्मीर के शैव दार्शनिक तथा अभिनवगुप्त का परम गुरु उत्पल मान लेने की गलती की है। शंभु[1] तथा पद्मगुप्त[2] ने इस राजा को 'कवि-बांधव' अथवा 'कवि-मित्र' कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके भतीजे तथा उत्तराधिकारी भोज ने ये गुण उन्हीं से प्राप्त किए थे।

2

धनंजय के 'शतरूपक' के अंतर्गत नाट्य का विवेचन भरत के प्राचीन आधिकारिक ग्रंथ पर आधारित है। भरत का बृहद् ग्रंथ व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दृष्टिकोण से नाटक-कला तथा अन्य विषय-विस्तार के कारण बहुत जटिल है। धनंजय ने इसमें बड़ी काट-छाँट की है। अपने आप को केवल नाट्य-क्षेत्र में ही सीमित करके उन्होंने सामान्य सिद्धांतों को व्यावहारिक, संक्षिप्त तथा सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। इन गुणों के कारण यह नया ग्रंथ इतना प्रसिद्ध तथा प्रचलित हो गया कि कालांतर में इसने अपने विषय पर अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त भरत के आधारभूत ग्रंथ को भी विस्थापित कर दिया। उदाहरणार्थ, विश्वनाथ ने यदा-कदा भरत का उल्लेख किया है तथा 'नाट्यशास्त्र' में से उनके एक-दो रूढ़ उद्धरण ही दिए हैं, किंतु नाटक-विषयक विवेचन में धनंजय ही को अपना आधार बनाया है। अपने ग्रंथ के 'नाटक-प्रकरण' में धनंजय के प्रति आभार प्रकट किया है और यह कहा है—एषा प्रक्रिया दशरूपोक्तरीत्यनुसारेण (पृ० 131)।

'दशरूपक' में चार प्रकाश, अथवा अध्याय हैं। इसमें मुख्यतः नाट्य-विषय पर विवेचन किया गया है, किंतु चतुर्थ अथवा अंतिम प्रकाश में रस-सिद्धांत पर भी चर्चा की गई है। प्रथम प्रकाश में नृत्य के लक्षण, पाँच अर्थ-प्रकृतियों तथा अंगों सहित संधियों की परिभाषा और अंत में विष्कंभक, प्रवेशक तथा अन्य नाट्य-युक्तियों की परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय प्रकाश के अंतर्गत नायक-नायिका विचार, उनके लक्षण तथा चार नाट्य-वृत्तियों और उनके अंगों की विवेचना की गई है। तृतीय प्रकाश में दस प्रकार के रूपकों की प्रस्तावना इत्यादि पर विचार किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में इस ग्रंथ के विशिष्ट रस-सिद्धांत की व्याख्या की गई है। इसमें भट्ट नायक के मतानुसार रस तथा काव्य में व्यंग्य-व्यंजक संबंध के स्थान पर भाव्य-भावक संबंध का स्थापन किया गया है।

उन्हें उत्पलराज कहा है। इसके अतिरिक्त देखिए शार्ङ्गधर (1·6 वाक्पतिराजस्य; 1017 उत्पलराजस्य), वल्लभदेव (3414 श्रीहर्षदेवात्मज-वाक्पतिराजस्य) तथा जह्लण पृ० 63 तथा 199 (श्री मुंजस्य)।

1. राजेंद्रकर्णपूर, श्लोक 17, 36.
2. नवसाहसांक i. 7, 8; ii. 93.

3

धनिक को विष्णु-पुत्र तथा धनंजय के ग्रंथ पर 'अवलोक' नामक टीका का रचयिता कहा गया है। संभवत: वे धनंजय के समकालीन एक प्रसिद्ध विद्वान् थे और उनकी तिथि उसी काल में निर्धारित होनी चाहिए। धनिक ने पद्मगुप्त (अथवा परिमल)[1] के उद्धरण दिए हैं। वे लगभग 995 ई० में हुए हैं। धनिक ने मुंज का भी उल्लेख किया है। भोज ने 11वीं शती के पूर्वार्द्ध में अपने सरस्वती-कंठाभरण में धनिक का उल्लेख किया है। एक पांडुलिपि[2] में उन्हें राजा उत्पलराज का 'महासाध्यपाल' कहा गया है। यह उत्पलराज, धनंजय के संरक्षक हमारे मुंज-वाक्पति ही थे। मुख्यत: नाम-साम्य तथा समान गोत्रनाम (पैतृक नाम) के आधार पर साहित्यदर्पण (अध्याय vi. 64a = 'दशरूपक' iii. 29) के समान किसी परवर्ती ग्रंथ में धनंजय-रचित पद्य को गलती से धनिक-रचित मानकर दिया गया। यह सुझाव कि 'दशरूपक' का लेखक तथा उसका टीकाकार एक ही व्यक्ति है, अधिक विचारणीय नहीं है।[3] जैकोबी ने इस सुझाव[4] को यह कहकर पुष्ट किया है कि टीका में कोई पृथक् 'मंगलाचरण' नहीं है। कुछ परवर्ती लेखकों ने वास्तव में धनंजय तथा धनिक में भेद किया है, इसलिए इस परिकल्पना की उपपत्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ, विद्यानाथ ने 'दशरूपक' को अनेक बार

---

1. ii. 37b पर = नवसाहसांक vi. 42.

2. देखिए विलसन का 'सिलेक्ट स्पेसिमेन्स' (Select Specimens) तृतीय सं० I. xx, xxi हॉल (Hall) ने पृ० 3 की टिप्पणी से समर्थन किया है। एक विचित्र बात ध्यान देने योग्य है कि धनिक (iv. 23 पर, परब सं०) ने 'निद्रार्ध०' पद्य का उल्लेख किया है। यह बिल्हण की 'चौरपंचाशिका' में भी मिलता है (सं० सोल्फ (Solf) सं० 36)। किंतु इस अनामलेखक के उद्धरण मात्र से (जो कुंतक के ग्रंथ में भी है) धनिक को बिल्हण के समय, अर्थात् 11वीं शती के मध्य-भाग के पश्चात् नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इस पद्य की प्रामाणिकता विवादास्पद है।—'सुभाष'० 1280 तथा जल्हण पृ० 152 पर इसे कलशक का माना गया है। बिल्हण ने इसे रचा है, यह बात विवादास्पद है। अतएव इस उद्धरण के आधार पर कोई तथ्यिक निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है। हास (Haas) ने इस पद्य को नहीं देखा।

3. हास (Haas) ('दशरूपक' सं० की भूमिका xxxiv) का यह कथन कि टीका में "ग्रंथलेखक की भिन्नता के कई संकेत मिलते हैं" ठीक नहीं है। उन्होंने इस बात की पुष्टि के निमित्त ii, 20b-21a, iii. 32b, vi 43c उद्धृत किए हैं। जैकोबी ने विस्तार से यह प्रमाणित किया है (GgA, 1913, पृ० 304 इत्यादि) कि हास (Haas) ने इन अंशों को बिलकुल गलत समझा है।

4. उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 303. देखिए लेवी (Levi)—जर्नल एशियाटिक, 1886, पृ० 221.

निर्दिष्ट करते हुए, कारिका-पद्यों को ही उद्धृत किया है, टीका को[1] कभी उद्धृत नहीं किया, यद्यपि उनके टीकाकार कुमारस्वामी ने एक स्थान पर (पृ० 29)[2] धनिक को धनंजय-रचित एक पद्य (ii. 23b) का लेखक मानने की गलती की है। एक पांडुलिपि में 'अवलोक' के एक 'मंगल'-पद्य को हॉल (Hall) ने कल्पित कहा है और इसका मुख्य कारण यह बताया है कि इसकी रचना धनिक की आलंकारिक रचना की तुलना में बहुत घटिया है (पृ० 4 टिप्पणी)। यह 'घटिया' पद्य वही है, जो औफ्रेक्ट (Aufrecht) की बोडलीन (Bodlein) पांडुलिपि के आरंभ में ही मिलता है। जिसे उन्होंने बोडलीन केटलाग 203 a में ढूंढा था, इसके विपरीत, मंगल-पद्य का अभाव-मात्र निर्णायक नहीं माना जा सकता; क्योंकि मम्मट की अपनी वृत्ति में कोई पृथक् मंगल-पद्य नहीं है, किंतु वामन तथा रुय्यक ने दिया है। शार्ङ्गधर ने अपने संग्रह में अनेक पद्य धनिक-रचित माने हैं (3417, तथा 3973)। धनिक ने इन्हें अपनी टीका (iv. 3a तथा ii. 10a) में स्वरचित बताया है। इसलिए, यदि यह मान लिया जाय (क्योंकि यह अधिक संभव है) कि लेखक तथा टीकाकार भिन्न थे, तो धनिक को धनंजय का भाई माना जा सकता है। इस अनुमान से नाम-साम्य तथा एक पैतृकनाम (गोत्रनाम) का समाधान हो जाता है। संभवतः धनिक ने टीका लिखकर ग्रंथ-रचना में सहायता की थी।[3]

'अवलोक' से यह विदित होता है कि इसके लेखक ने संस्कृत तथा प्राकृत में पद्य-रचना की तथा 'काव्य-निर्णय' (iv. 35 पर सात पद्य उद्धृत किए गए हैं) नामक एक ग्रंथ भी लिखा। इस ग्रंथ में 'ध्वन्यालोक' निर्दिष्ट किया गया है और इसमें काव्यशास्त्र में सामान्य विषयों का विवेचन किया गया है।

'दश-रूपक' पर अन्य कम प्रसिद्ध टीकाओं के संबंध में निम्नलिखित ग्रंथसूची देखिए।[4]

---

1. पृ० 46, 101, 102, 104, 105, 114, 124, 131, 219, 221, 228.
2. अन्य अंशों में उद्धरण ठीक प्रतीत होते हैं, पृ० 47, 128, 130, 221, 233, 335, 259. 'विक्रमोर्वशीय' (लगभग 1656 ई०; सं० निर्णयसागर प्रेस 1914, पृ० 31) पर अपनी टीका में रंगनाथ ने ऐसी ही गलती की है। मल्लिनाथ ने कुमारसंभव i.4 तथा 'शिशुपालबध' vii. 11 की टीका में 'दशरूपक' (ii. 36b तथा ii. 24a) का ठीक उद्धरण दिया है।
3. यह अनुमान जैकोबी द्वारा निर्दिष्ट अंश (iv. 33 पर) के विरुद्ध नहीं है। इसमें टीकाकार ने लेखक को अपने से अभिन्न मानकर कहा है—अस्माभिः................ निषिध्यते, अर्थात् मूल लेखक तथा टीकाकार ने भी निषेध किया है।
4. परवर्ती नाट्य-ग्रंथों, यथा कुमारगिरि का वसंतराजीय, के संबंध में अध्याय x के नीचे, लघु-लेखक शीर्षक के अंतर्गत देखिए।

ग्रंथसूची

धनंजय

संस्करण :—(1) फिट्ज़-एडवर्ड हॉल (Fitz-Edward Hall) अवलोक-सहित, बिब्लियोथिका इंडिका 1861-65. (2) जीवानंद (उपर्युक्त का पुनर्मुद्रण मात्र) कलकत्ता, 1897. (3) के॰पी॰ परब, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1897, 1917 (अवलोक सहित), चतुर्थ संस्करण 1928—अंग्रेजी अनुवाद, लिप्यंतरित (transliterated) पाठ, भूमिका तथा टिप्पणी सहित—जी॰ सी॰ ओ॰ हास (G.C.O. Haas) कोलंबिया विश्वविद्यालय, इंडो-ईरानियन सीरीज़, न्यूयार्क 1912 (अधिक विश्वसनीय नहीं है, किंतु भूमिका तथा इंडेक्स बहुत विस्तृत है)। ये संदर्भ हॉल के संस्करण से दिए गए हैं। हास (Haas) के संस्करण पर आलोचनार्थ जैकोबी का GgA, 1913, पृ॰ 302 इत्यादि में तथा बार्नेट का जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1913, पृ॰ 190 इत्यादि में लेख देखिए।

धनिक

संस्करण :—पाठ सहित हॉल तथा परब के संस्करणों में मुद्रित। धनिक का 'काव्य-निर्णय' संभवत: लुप्त हो चुका है।

धनंजय तथा धनिक पर अन्य टीकाएँ

(1) टीका-नृसिंहभट्ट, गवर्नमेंट ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, में पांडुलिपि (देखिए BSOS, iv. 1926, पृ॰ 280) यह वास्तव में धनिक की टीका पर एक लघु-टीका है (दशरूपस्य या व्याख्या धनिकेन समाहिता, तस्य भट्ट-नृसिंहेन लघु टीका'विधीयते)। इस पद्य में धनिक को दशरूपक का टीकाकार कहा गया है और इस प्रकार इस परंपरा को मान लिया गया है कि टीकाकार धनिक दशरूपक के लेखक धनंजय से भिन्न व्यक्ति थे। भट्ट नृसिंह ने भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' पर भी टीका लिखी।

(2) देवपाणि-रचित टीका 'विक्रमोर्वशीय' सं॰ निर्णय सागर प्रेस, 1904, पृ॰ 6, 31 पर रंगनाथ ने इसका उल्लेख किया है; तुलना कीजिए, (AFl 444 तथा ABod 135 b)। कोई भी पांडुलिपि प्राप्त नहीं हुई है। विल्सन (Wilson) सिलेक्ट स्पेसिमेन्स (Select Specimens) तथा औफ़ेक्ट (Aufrecht) ने इस लेखक को गलती से पाणि कहा है, क्योंकि वे रंगनाथ से

पहले हुए हैं, अतएव उनकी तिथि 1656 ई० से पूर्व होनी चाहिए। रंगनाथ ने इसी संदर्भ में (पृ० 31) एक 'साहसांकीय-टीका' को भी निर्दिष्ट किया है।

(3) कुरविराम रचित 'पद्धति' (हुलट्श 554 के अंतर्गत पांडुलिपि. तीन पृष्ठ मात्र) जैसा कि हुलट्श के इंदराज (entry) से प्रतीत होता है, यह 'दशरूपक' पर टीका नहीं है। यह नाट्य पर 110 पद्यों का एक स्वतंत्र ग्रंथ है। देखिए Madras Trm II, A, 820 (C) कुरविराम आधुनिक एवं बहुलेखी दक्षिण भारतीय टीकाकार हैं। वे उत्तर अर्काट जिले के अंतर्गत कार्वेतिनगरम् के जमींदारों के दरबार में रहे। उन्होंने दो प्रसिद्ध काव्यों, अर्थात्; अनंतभट्ट के 'चंपूभारत' तथा वेंकट के 'विश्वगुणादर्श' पर भी टीकाएँ लिखी हैं। पश्चोक्त काव्य पर अपनी टीका में अप्पय्य के 'कुवलयानंद' तथा धनंजय पर अपनी टीका का उल्लेख किया है। देखिए, हुलट्श i, पृ० xi।

(4) बहुरूप मिश्र की टीका। इसके विवरण के लिए देखिए वी० राघवन, जर्नल ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास viii, पृ० 321-34. क्योंकि बहुरूप ने भोज के 'शृंगार-प्रकाश' तथा शारदातनय के 'भाव-प्रकाशन' में से उद्धरण दिए हैं, इसलिए वे 1250 ई० के पश्चात् ही रहे होंगे।

कुंतक

1

अलंकार-साहित्य में कुंतक वक्रोक्ति-जीवितकार[1] की उपाधि से अधिक प्रसिद्ध हैं, क्योंकि वे 'वक्रोक्ति-जीवितम्' नामक विशिष्ट ग्रंथ के लेखक थे। उनके ग्रंथ का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें 'वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है' यह सिद्धांत मुख्य रूप से प्रतिपादित किया गया है। पहले इस ग्रंथ के कुछ उद्धरण ही मिलते थे, किंतु बाद में वर्तमान लेखक ने दो अपूर्ण पांडुलिपियों के आधार पर इसका संस्करण मुद्रित करवाया है।

एक ओर कुंतक की तिथि[2] उनके द्वारा नाटककार राजशेखर के उद्धरणों से

---

1. रुय्यक, सं० काव्यमाला, पृ० 8, जयरथ के साथ (पृ० 12, 150 इत्यादि पर भी) और समुद्रबंध (पृ० 4); विश्वनाथ, सं० दुर्गाप्रसाद, पृ० 14, वामन I. 1. 1 सं० बनारस, पृ० 6, इत्यादि पर 'कामधेनु'।

2. एस० के० डे के 'वक्रोक्ति-जीवितम्' के मौलिक संस्करण (editio princeps) की भूमिका में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है। यहां केवल संक्षिप्त उल्लेख है।

तथा दूसरी ओर महिमभट्ट द्वारा कुंतल तथा उनके ग्रंथ के उल्लेख से, निर्धारित की जा सकती है। महिमभट्ट, जैसा कि आगे बताया जायगा, 11वीं शती के अंतिम भाग में हुए थे, अतएव, हम कुंतक का समय 10वीं शती के मध्य-भाग से लेकर 11वीं शती के मध्य-भाग तक के समय में निर्धारित कर सकते हैं। क्योंकि यह तिथि अभिनवगुप्त की तिथि से मेल खाती है (उनकी तिथि अधिकाधिक 1015 ई० है), इसलिए कुंतक को आनंदवर्धन के इस टीकाकार का समकालीन माना जा सकता है। यद्यपि अभिनव ने वक्रोक्ति पर विविध पूर्ववर्ती विचारों का उल्लेख किया है, किंतु विशिष्ट बात यह है कि उन्होंने वक्रोक्ति-जीवितकार का कहीं भी उल्लेख नहीं किया! उनकी उपाधि, राजानक, से प्रतीत होता है कि वे संभवतः काश्मीरी थे। यदि उनका यह महत्वपूर्ण ग्रंथ अभिनव के समय से पहले लिखा गया था तो विपक्षी सैद्धांतिकों द्वारा उसकी इस प्रकार उपेक्षा नहीं होनी चाहिए थी।

2

ग्रंथ के पहले दो तथा तीसरे अध्याय का एक अंश ही मुद्रित हुआ है और उनसे कुंतक के मुख्य सिद्धांत की सामान्य रूपरेखा का ज्ञान होता है। उनके मूल ग्रंथ में कितने अध्याय थे, यह मालूम नहीं है। मद्रास पांडुलिपि के अंतर्गत अपूर्ण चतुर्थ अध्याय के साथ ही ग्रंथ की परिसमाप्ति हो जाती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः चतुर्थ अध्याय ही ग्रंथ का अंतिम अध्याय था, क्योंकि उसमें लेखक द्वारा परिगणित 'वक्रता' के अंतिम भेद का विवेचन किया गया है। संभवतः गद्यमयी वृत्ति तथा कारिका-श्लोक, जो ग्रंथ का अभिन्न अंग है, स्वयं कुंतक ने रचे थे, क्योंकि टीकाकार ने स्पष्टतया अपने आप को लेखक से अभिन्न कहा है। इसके अतिरिक्त परवर्ती लेखकों[1] ने भी कारिकाओं को पूर्ण रूप से वृत्ति के साथ ही माना है। कालिदास, भवभूति, अनंगहर्ष ('तापस-वत्सराज' के लेखक), हाल, बाण, माघ, भारवि, भल्लट, अमरु, मयूर, श्रीहर्ष, भट्ट नारायण, राजशेखर के उद्धरण देने के अतिरिक्त कुंतक ने सर्वसेन, मंजीर मायुराज तथा 'उदात्त-राघव' का नामोल्लेख किया है और भामह, रुद्रट तथा ध्वनिकार (= आनंदवर्धन) के उद्धरण दिए हैं। वक्रोक्ति-सिद्धांत पर यह एक अद्वितीय ग्रंथ है। इस सिद्धांत के विकास में तथा इसके आधार पर अलंकार का

---

1. 'व्यक्ति-विवेक' पर टीका, पृ० 16, वामन पर 'कामधेनु' टीका, पृ० 6, इत्यादि।

विश्लेषण करने में भामह[1] का अनुसरण किया गया है। रुय्यक से लेकर जगन्नाथ[2] प्रभृति विद्वानों ने इसे मान्यता दी है।

ग्रंथसूची

संस्करण :—एस० के० डे रचित, कलकत्ता ओरिएंटल सीरीज के अंतर्गत प्रथम संस्करण केवल एक पांडुलिपि के आधार पर मुद्रित हुआ, 1923, दूसरा संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण दो पांडुलिपियों पर आधारित है (क्रमश: मद्रास तथा जैसलमेर की पांडुलिपियाँ)। इसमें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उन्मेष का कुछ अंश है। इसके साथ तृतीय और चतुर्थ उन्मेषों के असंपादित अंश का सार तथा भूमिका भी है। कलकत्ता ओरिएंटल सीरीज़, 1928.

क्षेमेंद्र

1

क्षेमेंद्र, जिनका कुलनाम व्यासदास है, बड़े उद्यमी काश्मीरी विद्वान् थे। उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। संस्कृत काव्यालंकार में वे अपने दो रोचक ग्रंथों, 'औचित्यविचारचर्चा' तथा 'कविकंठाभरण' के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अलंकारों पर 'कविकर्णिका' नामक अपने एक अन्य ग्रंथ[3] का भी उल्लेख किया है।

क्षेमेंद्र ने स्वयं अपनी तिथि सूचित की है। उनके दोनों ग्रंथों तथा उनके 'सुवृत्त-तिलक' (सं० काव्यमाला गुच्छक 2, 1886) के अंतिम पद्यों में ऐसा कथन है कि उन्होंने काश्मीर नरेश अनंत के राज्यकाल में अपने ग्रंथ लिखे। उनके ग्रंथ 'समय मातृका' के पृष्ठांत-विवरण से यह प्रकट होता है कि यह ग्रंथ उसी राजा के राज्यकाल में 1050 ई० में समाप्त हुआ था। उन्होंने अपने अन्य ग्रंथ 'दशावतार-चरित' को स्वयं 1066 ई० में अनंत के पुत्र तथा उत्तराधिकारी कलस के राज्यकाल में रचित कहा है। अनंत ने 1028 से 1063 ई० तक राज्य किया और 1063 में अपने पुत्र कलस का राज्याभिषेक किया। अतएव, क्षेमेंद्र के साहित्य-

---

1. विस्तार के लिए देखिए, कुंतक के ग्रंथ के द्वितीय संस्करण में एस० के० डे की भूमिका। सामान्यत: कुंतक की वक्रोक्ति सामान्य भाषा व्यवहार से भिन्न अभिव्यक्ति को, निर्दिष्ट करती है, जिससे एक विशिष्ट वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति उत्पन्न होती है, जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर (कवि प्रतिभा-निर्वर्तितत्व) होती है।
2. देखिए जैकोबी, Ueber Begriff and caesen der poetischen, G. N. 1908.
3. औचित्यविचार, श्लोक 2 में।

रचना-काल को बूहलर[1] ने 11वीं शती[2] के दूसरे तथा तीसरे चरण में उचित ही निर्धारित किया है।

2

ऐसा प्रतीत होता है कि बूहलर ने इस समस्या पर अपना अंतिम मत प्रकट नहीं किया, इसीलिए पीटर्सन (Peterson) ने यह सुझाव[3] प्रस्तुत किया कि क्षेमेंद्र वास्तव में काश्मीरी शैव क्षेमराज थे। वे अभिनवगुप्त के शिष्य थे। उन्होंने अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त 'शिवसूत्र' पर तथा अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' पर टीकाएँ लिखीं। स्टीन (Stein) ने उस अभिन्नता का समर्थन किया, किंतु पीटर्सन ने कालांतर[4] में अपने उक्त मत को संदेहास्पद माना। अपने 'औचित्य-विचार' में क्षेमेंद्र ने अच्युत अथवा विष्णु के प्रति सम्मान प्रकट किया है, किंतु ज्ञात है कि युवावस्था में, अपने पिता के समान, वे शैव थे। कालांतर में, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, सोमाचार्य ने उन्हें वैष्णव बना लिया। इस तथ्य से तथा तैथिकी (Chronology) से प्रस्तावित अभिन्नता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती, किंतु इस बात की पुष्टि के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। क्षेमेंद्र ने स्वयं को प्रकाशेंद्र का पुत्र तथा सिंधु का पौत्र कहा है।[5] उनके गुरु का नाम गंगक बताया गया है।[6] वे सोमेंद्र के पिता तथा उदयसिंह और राजपुत्र लक्षणा-

---

1. काश्मीर रिपोर्ट (Kashmir Rep.) पृ० 46.
2. धनिक 10वीं शती के अंतिम भाग तथा 11वीं शती के आरंभ में हुए हैं। उन्होंने (i. 61 पर टीका में) दो पद्य उद्धृत किए हैं, जो क्षेमेंद्र-रचित 'बृहत्कथामंजरी' (ii. 216, 217) की कुछ पांडुलिपियों में मिलते हैं। इसलिए इस काल को क्षेमेंद्र की अंतिम तिथि मानना अनुचित प्रतीत होता है। किंतु 'बृहत्कथामंजरी' 1037 ई० में लिखी गई थी और क्योंकि दोनों विचाराधीन पद्य केवल एक ही पांडुलिपि में मिलते हैं, इसलिए कई कारणों से यह मान लिया गया है कि वे प्रक्षिप्त पद्य हैं। क्षेमेंद्र ने ('औचित्य-विचार' श्लोक 11,16,20) परिमल (अन्य नाम पद्मगुप्त) का उल्लेख किया है। वे धनंजय तथा धनिक के समकालीन थे।
3. i. (विस्तृत रिपोर्ट), 1883, पृ० 11, 85 तथा बूहलर इंडिया एंटिक्वेरी xiii, 1884, पृ० 29। वास्तव में बूहलर ने 'सांबपंचाशिका' के रचयिता क्षेमराज तथा 'स्पंदसंदोह' के रचयिता क्षेमेंद्र की अभिन्नता प्रस्तावित की थी, किंतु उन्होंने इन दोनों को कवि क्षेमेंद्र व्यासदास से भिन्न माना है (देखिए काश्मीर रिपोर्ट पृ० 81)।
4. iv. पृ० xxiii.
5. 'दशावतार' का अंतिम पद्य।
6. 'औचित्यविचार'—श्लोक 39 के नीचे। उन्होंने भट्टतौत का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त भट्ट भल्लट्, गौड कुंभकार तथा कालिदास के 'कुंतेश्वर-दौत्य' का भी उल्लेख मिलता है।

दित्य के गुरु थे ।[1] इसके विपरीत, क्षेमराज की वंशावली अथवा उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। किंतु 'बृहत्कथामंजरी' के अंत में ऐसा विवरण मिलता है कि क्षेमेंद्र ने साहित्य की शिक्षा अभिनवगुप्त से प्राप्त की। अपने 'स्वच्छंदोद्योत'[2] के अंत में (तथा अपने 'स्तवचिंतामणि' के पृष्ठांत-विवरण में) क्षेमराज को इसी महान् दार्शनिक का शिष्य कहा गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है क्षेमेंद्र के 'कलाविलास' को छोड़कर उनके सभी ग्रंथों में उनका कुलनाम अथवा उपनाम, व्यासदास[3] दिया गया है, किंतु क्षेमराज के किसी भी दर्शन-ग्रंथ में यह नाम नहीं मिलता। क्षेमेंद्र ने अपने संबंध में बहुत कुछ जानकारी प्रदान की है, किंतु क्षेमराज ने अपने आपको गुप्त रखकर स्वयं को स्वाभाविक गर्व से मुक्त सिद्ध किया है। अतएव इस समस्या को अंतिम रूप से निश्चित नहीं माना जा सकता। समस्या का, जैसा कि बूहलर ने बहुत पहले कहा है,[4] क्षेमराज के पिता का नाम ज्ञात होने पर ही समाधान हो सकता है।[5]

क्षेमेंद्र-रचित अनेक ग्रंथों की सूची नीचे दी गई है।

ग्रंथसूची

क. औचित्यविचारचर्चा

संस्करण :—(1) काव्यमाला गुच्छक i, 1886 (2) श्वेतारण्य-नारायण की सहृदयतोषिणी टीका सहित, मद्रास 1906. इस ग्रंथ में पूर्वोक्त संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं। इसका अतिरिक्त संस्करण चौखंबा संस्कृत सीरीज़, बनारस 1933 का है। ग्रंथ के विवरण के लिए देखिए, जर्नल ऑफ़ दि बंबई ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी xvi. पृ० 167-180। इसमें ग्रंथ के समस्त उद्धरणों का संग्रह तथा उनकी विवेचना है।

ख. कविकंठाभरण

संस्करण :—(1) काव्यमाला गुच्छक iv, 1887, 1899, (2) चौखंबा संस्कृत

---

1. 'कविकंठाभरण' v.i (पृ० 138, 139) के नीचे। क्षेमेंद्र ने अपने शिष्य उदयसिंह के 'ललिताभिधान-महाकाव्य' का उल्लेख किया है।
2. बूहलर, उपर्युक्त ग्रंथ, परिशिष्ट, ii. पृ० Clxix (उद्धरण)।
3. 'सुभाष०' (460, 1658, 3039) में तीन पद्य व्यासदास के माने गए हैं।
4. इंडियन एंटिक्वेरी xiii, उल्लिखित स्थल (loc cit)।
5. क्षेमेंद्र के दोनों ग्रंथों के विषय-सार के लिए देखिए खंड ii, अध्याय ix (i) उनके उपदेशात्मक तथा व्यंग्यात्मक ग्रंथों के लिए देखिए, एस० के० डे रचित संस्कृत साहित्य का इतिहास, कलकत्ता 1947, पृ० 404-10.

सीरीज, बनारस, 1933। इस ग्रंथ पर विश्लेषणात्मक तथा जर्मन अनुवाद सहित निबंध—जे० शोनवर्ग (J. Schonberg), विएन (Wien) 1884 (Sb. der Wiener Akad.) के अंतर्गत।

क्षेमेंद्र की 'कवि-कर्णिका' का पता नहीं चला है।

क्षेमेंद्र के ग्रंथ—यहाँ क्षेमेंद्र के मुद्रित एवं अमुद्रित ग्रंथों की सूची', दी जा रही है जिनका 'औचित्यविचारचर्चा', 'कविकंठाभरण' तथा 'सुवृत्ततिलक' में उल्लेख मिलता है, वे क्रमशः (औ), (क) तथा (सु) से चिह्नित किए गए हैं।

(1) अमृत-तरंग (अथवा-तुरंग) (क)। (2) औचित्य-विचार। (3) अवसर-सार (औ)। (4) कनकजानकी (क)। (5) कलाविलास (सं० काव्यमाला गुच्छक)। (6) कवि-कंठाभरण। (7) कविकर्णिका (औ)। (8) क्षेमेंद्र प्रकाश (A Bod 38 b में इसका उल्लेख है)। (9) चतुर्वर्गसंग्रह (औ, क तथा सं० काव्यमाला गुच्छक 5)। (10) चारुचर्या (सं० काव्यमाला गुच्छक 2)। (11) चित्रभारत नाटक (औ तथा क) (12) दर्पदलन (सं० काव्यमाला गुच्छक 6, 1891)। (13) दशावतारचरित-काव्य (सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, 1891)। (14) देशोपदेश (क, सं० एम० कौल, श्रीनगर 1923)। (15) दान-पारिजात। (16) नर्ममाला (सं० एम० कौल, श्रीनगर, 1923)। (17) नीति-कल्पतरु (संभवतया 'क' में उल्लिखित 'नीति-लता')। (18) पद्य-कादंबरी (क)। (19) पवन पंचाशिका (सु)। (20) बृहत्-कथा-मंजरी (सं० शिवदत्त और परब, निर्णय सागर प्रेस 1901)। (21) बौद्धावदान कल्पलता। (क) इसके तिब्बती संस्करण सहित, सं० शरत् चंद्र दास, दो खंड, बिब्लियोथ्राफिका इंडिका, (1888-1918)। (22) भारत-मंजरी (सं० शिवदत्त और परब, नि० सा० प्रे० 1898। (23) मुक्तावली काव्य (औ, क)। (24) मुनि-मत-मीमांसा (औ)। (25) राजावली (कल्हण i.13 में उल्लिखित)। (26) रामायण-मंजरी (सं० भवदत्त और परब, नि० सा० प्रे०, 1903)। (27) ललितरत्न-माला। (28) लोक-प्रकाश (Ind. Stud xviii. 1898 पृ० 298-412; अनुवाद और टिप्पणियों सहित जे० ब्लॉच, पी० गथ्नर, पेरिस 1914)। (औ) (29) लावण्यवती काव्य (औ और क) (30) वात्स्यायन-सूत्र-सार (औ और पंचसायक में उल्लिखित)। (31) विनय-वल्ली (औ) (32) वेताल-पंचविंशति बृहत्कथामंजरी से, सं० एच० उह्ले मंचेन, 1924)। (33) व्यासाष्टक, जिसका बूहलर की काश्मीर रिपोर्ट (1877) में उल्लेख है, सं० 154; देखिए पृ० 45-46। (34) शशिवंश महाकाव्य (क)। (35) समयमातृका (सं० दुर्गाप्रसाद और परब, नि० सा० प्रे०, 1888) (36) सुवृत्त तिलक (सं० काव्यमाला गुच्छक 2;

चौखंबा संस्कृत सीरीज 1933 में भी)। (37) सेव्यसेवकोपदेश (सं० काव्यमाला गुच्छक 2)। शोनबर्ग और पीटर्सन के द्वारा उल्लिखित हस्तिजन प्रकाश के लेखक यदु शर्मा के पुत्र क्षेमेंद्र हैं। (देखिए काव्यमाला पृ० 115 आदि और ऑफ्रेक्ट i.765) शोनबर्ग द्वारा उल्लिखित नवौचित्य' विचार सम्भवतः औचित्य विचार ही है। कला-विकास का जर्मन अनुवाद आर. श्मिट (R. Schmidt) ने WZKM xviii, 1914, पृ० 406-35 में किया है; इन्होंने ही 'दर्पदलन' का अनुवाद ZDMG lxix, 1915, पृ० 1-51 के अन्तर्गत किया हैं। (तथा सं० एवं अनुवाद बी० ए० हिर्सबैंट (B. A. Hirsbant) द्वारा, सेंट पीटर्सबर्ग 1892); समयमातृका का अनुवाद जे० जे० मेयर (J. J. Meyer), लाइपजिग 1903 ने किया है। बृहत्कथामंजरी के अंशों का अनुवाद सिल्वाँ लेवी (Sylvain Levi) ने (प्रथम लंभक, पाठ रोमन लिपि में) जर्नल एशियाटिक vi. 1885, पृ० 397-479, किया है; तथा लिओ वी० मंकोवस्की ने (Leo V. Mankowski) (पंचतंत्र, पाठ रोमन लिपि में), लाइपज़िग, 1892.

भोज

1

हेमचंद्र[1] काव्यशास्त्र के प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने भोज का उल्लेख किया है। वे, जैसा कि आगे बताया जायगा, 12वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। वर्धमान ने, जिन्होंने अपना-लेखन-कार्य 1140 ई० के पश्चात् आरम्भ किया, अपने 'गणरत्न' के दूसरे पद्य में भोज का उल्लेख किया है। पद्य पर वृत्ति में भोज की 'सरस्वती'-कंठाभरण' का रचयिता कहा गया है। राजशेखर[2] अर्वाचीनतम लेखक हैं: जिनका भोज ने उल्लेख किया है। राजशेखर की अधिकतम तिथि 10वीं शती का आरम्भ है, यद्यपि बिह्लण की "चौरपंचाशिका" (संख्या 12 सं० बोह्लन-Bohlen) के कुछ पद्य 'सरस्वती-कंठाभरण' में मिलते हैं (क, घ i. 152)[3]। भोज ने एक पद्य (क घ i. 71, पृ० 22) में मुंज, अर्थात् मालव के मुंज वाक्पति-राज का भी उल्लेख किया है। जैकब ने नमिसाधु (इन्होंने 1069 ई० के पश्चात्

1. अनाम उद्धरणों के अतिरिक्त, टीका, पृ० 295.
2. कर्पूरमंजरी, बालभारत, तथा विद्धशालभंजिका से। उद्धरणों के लिए देखिए कोनो (Konow) का कर्पूरमंजरी का संस्करण, पृ० 198 इत्यादि; तथा जैकब, जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1897, पृ० 304 इत्यादि।
3. इसे किसी तैथिक निगमन का आधार नहीं माना गया है, क्योंकि इस ग्रन्थ का विह्लण का लेखकत्व निर्विवाद नहीं है। सोल्फ (Solf) ने चोर अथवा चौर कवि, जिनकी तिथि अज्ञात है, का अस्तित्व प्रमाणित करने का यत्न किया है।

ही रुद्रट पर अपनी टीका लिखी थी) को भोज द्वारा उल्लिखित लेखकों की सूची में सम्मिलित करके गलती[1] की है; क्योंकि विचाराधीन पद्य नमि के अपने नहीं हैं, अपितु उन्होंने वास्तव में पूर्ववर्ती लेखकों के पद्यों को उद्धृत किया है।[2] इसके अतिरिक्त भोज ने 'दशरूपक' तथा इसकी टीका[3] के, जो मुंजकालीन, अर्थात् 10वीं शती के अन्त तथा 11वीं शती के आरम्भिक काल की है, कई पद्यों का लगभग सोलह बार उद्धरण दिया है। अतएव, पाठ के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर 'सरस्वती-कंठाभरण' के लेखक को 11वीं शती के दूसरे तथा चौथे चरण के मध्यवर्ती काल में निर्धारित करना उचित है। यह तिथि परमार वंश के धारा-नरेश की ज्ञात तिथि से ठीक मेल खाती है। वे 11वीं शती के एक राजा थे और विद्याप्रेमी होने के नाते बहुत प्रसिद्ध थे। इन दोनों को एक ही मानना युक्तियुक्त है। परवर्ती अलंकार-साहित्य में हमारे भोज का भोजराज के नाम से उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार भरत को मुनि नाम से संबोधित किया गया है, उसी प्रकार उन्हें कभी-कभी केवल राजन्[4] नाम से भी संबोधित किया गया है; जिससे प्रतीत होता है, वे साहित्य के इस क्षेत्र में श्रेष्ठ माने जाते थे।

2

कह्लण का कथन है (vii. 259)[5] कि धारानरेश भोज कवियों के सच्चे

---

1. उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 304.
2. उदाहरण के लिए, 'अयं पद्मासनासीन' पद्य (भोज i. 51, पृ० 15) नमि xi. 24 में मिलता है, किन्तु वास्तव में यह पद्य इसी संदर्भ में अनेक पद्यों के साथ भामह ii. 55 से उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार 'स मरुता' तथा 'स पीतवासा' दो पद्य, जिन्हें भामह ने स्वयं (ii. 41, 58) पूर्ववर्ती लेखकों से उद्धृत किया है, (जिनमें से एक का नाम रामशर्मा दिया गया है), भोज के ग्रंथ में अनाम मिलते हैं (i. 121, पृ० 43-44) नमि ने भी इन्हें इसी संदर्भ में उद्धृत किया है। यह मानना निराधार है कि भोज ने इन पद्यों को सीधे भामह से न लेकर नमि की टीका से उद्धृत किया है। (यथा आक्रोशन्नाह्वयन्, भोज iii. 8 पृ० 144 = भामह ii. 94; भामह ii. 92 = भोज iv. 51, पृ० 226-7 = सुभाष० 1645 भामहस्य)। जैकब के अन्य अनुमानित उद्धरणों के विषय में भी यही बात लागू होती है। उनसे यह गलती शायद इसलिए हुई, क्योंकि उन्हें भामह का ग्रंथ-पाठ याद नहीं था।
3. 'दशरूपक' iv. 66 के नीचे एक पद्य को (लक्ष्मी-पयोधरोत्संग, जिसे धनिक ने अपना (यथा ममैव) कहा है, उसे भोज ने अन्योक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है (एस० के० iv)।
4. यथा, विद्याधर पृ० 98, 150, 192, 287, 304 तथा मल्लिनाथ पृ० 287, 304 इत्यादि।
5. स च भोजनरेंद्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुती।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्ता कवि-बांधवौ ॥

मित्र थे। साहित्य में संभवतः स्वयं उनकी भी रुचि थी। वे सिंधुराज के पुत्र तथा उत्तराधिकारी एवं विद्याप्रिय मुंज-वाक्पतिराज के भतीजे थे। भोज के अपने तथा अन्य शिलालेखों के आधार पर उनकी तिथि ठीक-ठीक मालूम[1] है। अलबेरूनी (Alberuni) ने उन्हें 1030 ई० में राज्यारूढ़ बताया है। 'राज-मृगांक' में, जो भोज-रचित माना गया है, शक 964-1042 तिथि दी गई है। यह भी ज्ञात है कि उन्होंने चालुक्य जयसिंह III से 1011 तथा 1019 ई० के मध्य, तथा उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर (1042-1066 ई०) से युद्ध किया था। विल्हण के अनुसार सोमेश्वर के आक्रमण के कारण भोज को धारा नगर छोड़ना पड़ा था। बिल्हण ने स्वयं भोज को अपना समकालीन कहकर यह कहा है—'मेरी उनसे भेंट नहीं हुई, यद्यपि मैं उनसे मिल सकता था।[3] भोज तथा क्षितिराज के संबंध में कल्हण के कथन को, जिसका उल्लेख पहले किया गया है, बूहलर ने 'तस्मिन् क्षणे' को उस समय के अर्थ में लिया है; जब 1062 ई० में कलस के नाममात्र राज्याभिषेक के पश्चात् क्षितिराज ने संन्यास धारण कर लिया तथा कुछ समय के पश्चात् सांत्वना देने के लिए उन्होंने राजा अनंत से भेंट की। यदि यह व्याख्या ठीक मान ली जाय तो भोज की तिथि की अधिकतम सीमा 1062 ई० हो जाती है। उनके उत्तराधिकारी जयसिंह[4] के एक ताम्र-लेख पर 1055 ई० अंकित है और उससे बूहलर का अनुमान संदेहास्पद हो जाता है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भोज की तिथि को संभवतः 1010 और 1055 ई० के मध्य निर्धारित करना युक्तिसंगत होगा; अर्थात् इसमें मोटे तौर से 11वीं शती के प्रथम चरण का एक अंश तथा संपूर्ण द्वितीय चरण सम्मिलित करना होगा। वे संभवतः उसी शती के तृतीय चरण में ही जीवित रहे होंगे। उनके सिंहासनारोहण एवं मृत्यु की निश्चित तिथियाँ अज्ञात हैं; किंतु ऐसा प्रतीत

1. इंडियन एंटिक्वेरी, vi पृ० 53 इत्यादि (उज्जैन प्लेट, 1021-22 ई०); एपिग्राफिका इंडिका i. पृ० 230-33; एपिग्राफिका इंडिका ix, पृ० 182 (बांसवाड़ा प्लेट, 1020 ई०); ब्रिटिश संग्रहालय (British Museum) में सरस्वती की मूर्ति-शिलालेख (रूपम् 1924, पं० 18; 1033 ई०); तिलकवाड़ा ताम्रलेख (Proc. of the 1st Orient Comf. पं० 319, 1047 ई०) इत्यादि।
2. सं० सकाऊ (Sachau) i.191. मेरुतुंग के अनुसार भोज संवत् 1078 = 1022 में मुंज के उत्तराधिकारी हुए। देखिए भंडारकर 1882-83, पृ० 44-45.
3. बूहलर का सं० 'विक्रमांक', पृ० 23 की पा० टि०; तथा पाठ xviii. 96.
4. एपिग्राफिका इंडिका iii. पृ० 46-50 (मांधाता प्लेट)

होता है कि गुजरात के राजा भीम तथा त्रिपुरी[1] के राजा कलचुरि कर्ण के साथ युद्धों में तथा दीर्घकालीन रुग्णावस्था में उनका देहांत हुआ।

3

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ, 'सरस्वती-कंठाभरण' के अतिरिक्त भोज ने 'शृंगार-प्रकाश'[2] नामक ग्रंथ भी लिखा था। उनकी एक पांडुलिपि गवर्नमेंट ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में विद्यमान है।[3] यह 36 प्रकाशों[4] में रचा गया है तथा संस्कृत काव्यशास्त्र में सबसे दीर्घकाय ग्रंथ माना गया है। इसमें काव्यशास्त्र तथा नाट्य, दोनों ही, विषयों का विवेचन है। पहले आठ अध्यायों में अभिव्यक्ति के साधन शब्द तथा अर्थ से संबंधित व्याकरण की समस्या पर तथा वृत्ति के सिद्धांत पर चर्चा की गई है। नवें तथा दसवें अध्याय में गुण-दोष का विवेचन तथा ग्यारहवें अध्याय में क्रमशः महाकाव्य तथा नाटक पर चर्चा की गई है। अगले चौबीस अध्यायों में केवल रस-सिद्धांत की चर्चा है। उसमें भी शृंगार भेद तथा उसके चार पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के परस्पर संबंध का निरूपण किया गया है। अहंकार-अभिमान-शृंगार नामक एकमात्र विशिष्ट रस-सिद्धांत को मुख्य तथा अनिवार्य माना गया है। इस ग्रंथ का नाम भोज के सिद्धांत पर आधारित है, जिसके अनुसार शृंगार ही एकमात्र मान्य रस है।[5] 'सरस्वती-कंठाभरण' के सदृश ही इस ग्रंथ (शृंगार-प्रकाश) में भी ज्ञान-कोश की पद्धति पर नियमों और सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए अनेक उद्धरण दिए गए हैं। वास्तव में शारदा

1. मेरुतुंग की 'प्रबंधचिंतामणि', टाउनी (Tawney) का अनुवाद पृ० 4 पर।
2. विद्याधर ने पृ० 98 पर इस ग्रंथ का उल्लेख किया है; कुमारस्वामी ने पृ० 114, 221 पर; अमर पर रायमुकुट तथा सर्वानंद ने, तथा 'रघु' पर हेमाद्रि ने इसका उल्लेख किया है :
3. इसका उल्लेख लाइब्रेरी की 1916-19 की Rep. of the working of the peripatetic party में किया गया है। ग्रंथ अभी पूरा मुद्रित नहीं हुआ है। यदुगिरि यतिराज मेलकोट (मैसूर 1926) ने तीन प्रकाश (22-24) प्रकाशित किए हैं, तथा वी० राघवन् ने ग्रंथ का विस्तार से विवेचन किया है, (खंड i, भाग I तथा खंड ii, बंबई 1940, पृ० 1-542)
4. अध्याय xxvi पूरा लुप्त है, इसके अतिरिक्त अध्याय xxv का अंत, अध्याय xxvii का आरंभ तथा यत्र-तत्र कई अंश छूट गए हैं।
5. तुलना कीजिए विद्याधर-राजा तु शृंगारमेकमेव शृंगार-प्रकाशे रसमुररीचकार पृ० 98, कुमार स्वामी पृ० 221, शृंगार एक एव रस, इति शृंगार प्रकाशकार इस ग्रंथ के संक्षिप्त विषय-विवरण के लिए खंड ii अध्याय 6—भोज ने चार अध्यायों (xviii-xxi) के अंतर्गत धर्मशृंगार, अर्थ-शृंगार काम-शृंगार तथा मोक्ष शृंगार की चर्चा की है। लौकिक शृंगार के संभोग तथा विप्रलंभ भेदों मात्र का 16 अध्यायों में विवेचन किया गया है।

तनय कृत 'भाव-प्रकाश', जिसमें इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है, भोज कृत 'शृंगार-प्रकाश' के प्रमुख अध्यायों का एक प्रकार से सारांश प्रस्तुत करता है।

4

'सरस्वती-कंठाभरण' में पाँच परिच्छेद हैं। यह कोई बहुत मौलिक ग्रंथ नहीं है। इसमें विश्वकोश की भाँति पूर्ववर्ती ग्रंथों से, विशेषतया दंडी से, उद्धरण संग्रहीत किए गए हैं। जैकब (Jacob) के अनुसार, इसमें दंडी के 164 उदाहरण उद्धृत किए गए हैं। जैकब द्वारा तैयार की गई उद्धरण-सूची के अनुसार इस ग्रंथ में वामन का 22 बार, रुद्रट का 19 बार, तथा 'ध्वन्यालोक' का 10 बार से अधिक (छह कारिकाओं का भी) उल्लेख किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भोज ने यमक तथा उसके अनेक उपभेदों के संबंध में भट्टि के उदाहरणों का प्रभूत उपयोग किया है। काव्यशास्त्र के सामान्य विषय-विवेचन के पश्चात् क्रमशः पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के 16 दोषों की तथा क्रमशः शब्द तथा वाक्यार्थ के 24 गुणों की चर्चा की गई है। दूसरे तथा तीसरे अध्याय में क्रमशः 24 शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की परिभाषा तथा उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रकार चौथे अध्याय में 24 शब्दालंकारों एवं अर्थालकारों की चर्चा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि छह रीतियों को शब्दार्थालंकार माना गया है। पाँचवें अध्याय में रस, भाव, नायक-नायिका, पंच-सधि तथा चतुर्वृत्ति इत्यादि का विवेचन है। भोज के ग्रंथ का मुख्य गुण यह है कि इसमें प्रत्येक नियम के लिए उदाहरण दिए गए हैं। कुल संख्या 1500 से अधिक है। यह ग्रंथ इसलिए भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें अग्निपुराण की भाँति एक मत-परंपरा निहित है, किंतु यह परंपरा रूढ़ काश्मीरी सिद्धांत से भिन्न है।

भोज को ८0 से अधिक ग्रंथों का रचयिता माना गया है। इनमें अधिकतर ग्रंथ विशालकाय हैं। व्याकरण-संबंधी उनके ग्रंथ का नाम भी 'सरस्वती-कंठाभरण' है (सं० मद्रास विश्वविद्यालय 1937, तथा, सं० त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज, नारायण दंडनाथ की हृदयहारिणी टीका सहित, 1935-48)।

5

भोज पर निम्नलिखित अनेक विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं, किंतु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रत्नेश्वर की टीका पाठ-सहित कई बार मुद्रित हुई है, किंतु अभी तक इसके केवल तीन ही अध्याय मुद्रित हुए हैं।

ग्रंथसूची

क. सरस्वतीकंठाभरण

संस्करण (1) ए० बरुआ रचित, कलकत्ता 1884. (2) वीरेश्वर शास्त्री रचित, बनारस 1888 (अध्याय iv तथा v)। (3) जीवानंद विद्यासागर रचित अध्याय i-iii पर रत्नेश्वर की टीका-सहित, कलकत्ता 1894. (4) केदारनाथ दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव एल० पनशीकर रचित, निर्णयसागर प्रेस, अध्याय i.iii पर रत्नेश्वर की अध्याय iv पर जगद्धर की टीका सहित, बंबई 1925, 1934. यहाँ पर बरुआ के 1884 के सं० से संदर्भ दिए गए हैं।

टीकाएँ : मिश्र रत्नेश्वर का 'रत्नदर्पण' सं० जीवानंद के पाठ सहित, कलकत्ता 1194, सं० बनारस तथा निर्णयसागर प्रेस, तथा उपर्युक्त। आरंभ के दूसरे पद्य में उल्लिखित नाममात्र लेखक रामसिंहदेव वास्तविक लेखक के संरक्षक थे । पृष्ठांत विवरण में लेखक का नाम मिश्र रत्नेश्वर दिया गया है; पाठ के बनारस सं० में (तिरहुत के ?) रामसिंहदेव के आदेश से टीका लिखी जाने की बात कही गई है। कैटलॉगों में इस ग्रंथ को कहीं-कहीं गलती से रामसिंहदेव के नाम से दिया गया है। लेखक ने 'काव्यप्रकाश' पर अपनी टीका का उल्लेख किया है। उपर्युत संस्करणों में इस 'रत्नदर्पण' के केवल प्रथम तीन अध्याय मुद्रित हुए हैं, और मद्रास तथा बोडलियन (Bodleian) दोनों पांडुलिपियों में केवल यही अध्याय हैं। रत्नेश्वर 14वीं शती में हुए हैं। (2) मार्जना, हरिनाथ रचित दंडी पर अपनी टीका (A Bod 206b) में स्वयं उन्होंने इसका उल्लेख किया है। देखिए पृ० 70. (3) 'दुष्करचित्र-प्रकाशिका', लक्ष्मीनाथ भट्ट रचित। वे कीलहॉर्न की रिपोर्ट 1888-81, पृ० 71 के अनुसार 1601 ई० में 'पिंगलप्रदीप' के लेखक लक्ष्मीनाथ हो सकते हैं। पश्चोक्त ग्रंथ की कीलहॉर्न की पांडुलिपि 1660 में तैयार की गई थी तथा बर्नल (Burnell) की ('पिंगलार्थ-दीपिका' पृ० 53b, 175b) 1632 ई० में तैयार की गई थी। (4) टीका, रत्नधर तथा दमयंती के पुत्र जगद्धर रचित। इसका उद्धरण 'अलवर कैटलाग' 1086 तथा स्टीन (Stein), पृ० 275 पर मिलता है। निर्णयसागर प्रेस के सं० में टीका-अंश चौथे अध्याय में है। यह ग्रंथ संभवतः 17वीं शती से पहले का है, किंतु 14वीं शती से पीछे का है, देखिए भंडारकर, 'मालतीमाधव' की भूमिका, पृ० xviii-xxi)। जगद्धर की वंशावली इस प्रकार है—चंडेश्वर—वेदेश्वर (अथवा वेदधर)—रामधर (रामेश्वर)—गदाधर—विद्याधर—रत्नधर—जगद्धर। उन्होंने (औफ्रेक्ट—i. 195) 'मेघदूत', 'वासवदत्ता', 'वेणीसंहार', 'मालतीमाधव' इत्यादि पर कई

टीकाएँ लिखीं। स्टीन (Stein) की पांडुलिपि (पृ० 276) की तिथि शक 1521 = 1460 ई० है। (5) हरिकृष्ण व्यास रचित टीका। SCB 34.

ख. शृंगार-प्रकाश

गवर्नमेंट ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास में उपर्युक्त रिपोर्ट में लिखित इस ग्रंथ की केवल एक पांडुलिपि विद्यमान है। अभी तक इस ग्रंथ के केवल कुछ अंश ही प्रकाशित हुए हैं; देखिए पृ० 136.

भोज के नाम से अन्य प्रकाशित ग्रंथ इस प्रकार हैं—'समरांगण-सूत्रधार' (सं० टी० गणपति शास्त्री, दो खंड, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा, (1924-1925)। इस ग्रंथ में मुख्य रूप से वास्तुकला (architecture) तथा प्रतिमा-विज्ञान (Iconography) का निरूपण है; 'युक्ति-कल्पतरु' (सं० ईश्वरचंद्र शास्त्री, कलकत्ता, 1917) नीतिशास्त्र सहित; 'तत्वप्रकाश', सं० टी० गणपति शास्त्री, श्रीकुमार की तात्पर्य-दीपिका नामक टीका सहित, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज 1920; अनुवाद, ई० पी० जानविअर (E. P. Janvier) इंडियन एंटिक्वेरी liv, 1925, पृ० 151-56 के अंतर्गत, आध्यात्मिक-दार्शनिक विषयों सहित; 'योग-सूत्र' पर 'राजमार्तंड' नामक टीका (सं० बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता, 1883; सं० चौखंबा संस्कृत सीरीज, पाठ तथा अन्य पांच टीकाओं सहित, बनारस 1930; सं० जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता 1903; अनुवाद-गंगानाथ झा, बंबई 1907) में योग-दर्शन का विवेचन किया गया है।

महिमभट्ट

1

अपने ग्रंथ के नाम पर राजानक महिमन, महिमक अथवा महिमभट्ट को आम तौर से व्यक्तिविवेककार[1] कहा जाता है। उनकी उपाधि से यह सूचित होता है कि वे संभवतः काश्मीरी लेखक थे। उन्होंने स्वयं को श्रीधैर्य का पुत्र तथा महाकवि श्यामल का शिष्य कहा है। अपने ग्रंथ के आरंभ में ही (i. 3) उन्होंने सूचित किया है कि मेरा मुख्य उद्देश्य ध्वनिकार के मत का विवेचन करना है। अपने इस प्रयास में उन्होंने ध्वनिकार के पाठ की परीक्षा की है, कारिका तथा वृत्ति में से ऐसे सूक्ष्म उद्धरण दिए हैं, जिनसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे आनंद-

1. विश्वनाथ, सं० दुर्गाप्रसाद, निर्णयसागर प्रेस 1915, पृ० 18, 249, मल्लिनाथ, टीका 'किरात' iii. 21, रुय्यक सं० निर्णयसागर प्रेस, पृ० 12, केशवमिश्र, पृ० 80-81, जगन्नाथ, पृ० 13 इत्यादि। केशव ने उनका नाम महिमन् बताया है।

वर्धन के पश्चात् हुए हैं।[1] यह भी संभव है कि महिमभट्ट, आनंदवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त के पश्चात् हुए हों, क्योंकि कहीं-कहीं वे पश्चोक्त के ग्रंथ से परिचित प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, पृ० 19 पर महिमभट्ट ने 'लोचन' (पृ० 33) से एक दीर्घांश उद्धृत किया है और अभिनव के विवेचन के अंतर्गत तत्संबंधी विषय को समझते हुए उसकी आलोचना की है। यह अंश 'ध्वन्यालोक' i.13 को लक्षित करता है। इसमें, अभिनव के व्याख्यानुसार, ध्वनिकार द्वारा 'व्यंक्तः' क्रिया का द्विवचन प्रयोग द्वयर्थकत्व को निर्दिष्ट करता है। भट्टनायक ने द्विवचन प्रयोग पर आपत्ति की हैं; इस पर अभिनव ने इस प्रकार टिप्पणी की है—'तेन यद् भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गज-निमीलिकयैव।' महिमभट्ट ने इस विवेचन का संदर्भ देते हुए अभिनव का उपर्युक्त वाक्य ही नहीं, अपितु सारे अंश को अनामतः उद्धृत किया है तथा यह कहा है—केचिद् विमानिनः यदाहुस्तद् भ्रांतिमूलम् (पृ० 19)। नरसिंह अय्यंगर ने ठीक कहा है[2] कि विचारार्थ विषय से यही सूचित होता है कि महिमभट्ट ने स्पष्टतया विपक्षी सैद्धांतिक के रूप में यहाँ अभिनव को निर्दिष्ट किया है। वे यदि समकालीन नहीं थे तो उनसे अधिक-पहले भी नहीं हुए थे। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि महिमभट्ट ने कुंतक के ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम् (i. 7.8) में उनके कुछ विचारों का उल्लेख तथा आलोचना की है (पृ० 28) तथा यह प्रमाणित करने का यत्न किया है कि ध्वनि के समान वक्रोक्ति को भी अनुमान के अंतर्गत आना चाहिए। उन्होंने राजशेखर के 'बालरामायण' (पृ० 40-50) तथा 'विद्धशालभंजिका' (पृ० 85) में से भी उद्धरण दिए हैं। इससे हमें महिमभट्ट की तिथि की सीमा प्राप्त हो जाती है। उधर रुय्यक, जैसा कि आगे बताया जायगा, 12वीं शती में हुए हैं और संभवतः उन्होंने महिमभट्ट पर एक अनाम टीका लिखी है (पाठ के त्रिवेंद्रम् संस्करण में मुद्रित)। वे ऐसे प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने महिमभट्ट का उल्लेख किया है तथा उनके विचारों की आलोचना की है।[3] अतएव, हम महिमभट्ट की तिथि को अभिनव तथा रुय्यक की मध्यवर्ती अवधि में अर्थात् 11वीं शती के प्रथम चरण के पश्चात्, किंतु

1. तुलना कीजिए—जयरथ पृ० 12, ध्वनिकारांतरभावी व्यक्तिविवेककार इति, जयरथ के मत से ध्वनिकार स्वयं आनंदवर्धन ही थे।

2. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1908, पृ० 65 इत्यादि।

3. अय्यंगर (उपर्युक्त ग्रंथ) तथा हरिचंद (उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 105) का यह मत है कि मम्मट ने महिमभट्ट का 'उल्लेख अथवा आलोचना की है'; किंतु, जैसा कि 'काव्यप्रकाश' v. पृ० 252 (बंबई संस्कृत सीरीज 1917) से सूचित होता है, मम्मट ने महिमभट्ट अथवा उनके ग्रंथ का बिलकुल उल्लेख नहीं

12वीं शती के प्रथम चरण से पूर्व निर्धारित कर सकते हैं। उनकी तिथि लगभग 11वीं शती के उत्तरार्द्ध अथवा अंतिम अंश में निर्धारित की जा सकती है। यह तिथि श्यामल की संभव तिथि से मेल खाती हैं, क्योंकि महिमभट्ट ने अपने गुरु के रूप में उनका उल्लेख किया है; किंतु ऐसा तभी हो सकता है जब यह श्यामल क्षेमेंद्र द्वारा निर्दिष्ट कवि श्यामल हों।[1]

2

महिमभट्ट का शंकुक से क्या संबंध था, यह निश्चित करना कठिन है। शंकुक भी, महिमभट्ट की तरह, अपने रससिद्धांत में 'अनुमितिवादी' थे।[2] किंतु अभी तक उनका ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है। हमारे लेखक ने यह दावा किया है कि मेरा विवेचन मौलिक, तथा पर-अनुकरण से मुक्त है[3], अतएव पूर्ववर्ती लेखकों के उल्लेखाभाव में कोई विचित्र बात नहीं है।

विश्वनाथ पर[4] बंगाल में 18वीं शती के टीकाकार रामचरण का प्रमाण अधिक विचार-योग्य नहीं है, किंतु यह संभव है कि महिम का सिद्धांत, जिसका

किया है, बल्कि केवल एक अनुमान-सिद्धांत की आलोचना की है, जिनमें आगम द्वारा ध्वनि-सिद्धांत की व्याख्या की गई है। इस बात को किसी तथ्यिक निष्कर्ष का आधार नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि महिमभट्ट से बहुत पहले ही आनंदवर्धन ने इसी प्रकार के सिद्धांत का उल्लेख किया है।

1. 'औचित्य विचार' श्लोक 16. 'सुवृत्ततिलक' ii. 31, तथा 'सुभाष' 2292. क्षेमेंद्र के श्यामल, श्यामिलक से अभिन्न प्रतीत होते हैं; इन्होंने 'पाद-ताडितक' नामक भाण लिखा (सं० रामकृष्ण कवि तथा रामनाथ शास्त्री, मद्रास 1922); क्षेमेंद्र के उपर्युक्त दो ग्रंथों में वे पद, जो श्यामल-रचित कहे गए हैं, भाण के मुद्रित पाठ में क्रमशः श्लोक 33 तथा 125 के रूप में मिलते हैं। पृष्ठांत-विवरण के अनुसार भाण-लेखक विश्वेश्वरदत्त के पुत्र तथा 'उदीच्य' थे। इससे यह संभव प्रतीत होता है कि वे काश्मीरी श्यामल, श्यामलक अथवा श्यामिलक थे, जिनका अभिनवगुप्त ने भी उललेख किया है। अभिनव तथा कुंतक दोनों ने इस भाग में से अनाम पद्य उद्धृत किए हैं। 'सुभाष' में यह पद्य श्यामलक का माना गया है—(प्रायश्चित्तं मृगयते यः प्रियापादताडितः। क्षलनीयं शिरस्तस्य कांतागंडूषशीधुभिः॥) जो निश्चित रूप में इस भाण को निर्दिष्ट करता है। इसका दूसरा अंश कुछ विकृत रूप में स्वयं भाण में मिलता है श्लोक 132)। राजशेखर ने एक श्मामदेव का उललेख किया है (पृ० 11, 13, 17)।
2. मल्लिनाथ ('तरला' पृ० 85) तथा कुमारस्वामी (पृ० 219) ने उन्हें इसी प्रकार संबोधित किया है।
3. उदाहरणार्थ उनका कथन है कि मैंने 'चन्द्रिका' तथा 'दर्पण' देखे बिना ही अपना ग्रंथ लिखा है। इसका उद्देश्य भी ध्वनि-सिद्धांत का निराकरण करना था (i. 4, 5).
4. सं० दुर्गाप्रसाद पृ० 248 सं० रोअर (Roer), पृ० 121 Note 'शंकुक-मतानुयायिनां, व्यक्ति-विवेककारादीनां मतं दुष्यति'।

उन्होंने विकास किया, मूल रूप में उनका अपना नहीं था। आनंदवर्धन ने किंचित् विस्तार से 'अनुमान' के किसी सिद्धांत का निराकरण किया (पृ० 201 इत्यादि) है। इस सिद्धांत के अनुसार ध्वनिसिद्धांत से लक्षितार्थ तर्कसंगत-आगम-प्रक्रिया-गम्य होता है। महिमभट्ट ने स्वयं विवेचन के सार-रूप में संग्रह-श्लोकों के अतिरिक्त अंतरश्लोक अथवा अंतराय भी दिए हैं, जिनसे विवेचनका परिवर्धन होता है। वे संभवतः अन्य ग्रंथों से लिए गए हैं, जिससे यह सूचित होता है कि अन्य लेखकों ने भी इन विषयों पर पहले चर्चा की थी। संभवतः महिमभट्ट ने आनंदवर्धन की विशिष्ट व्याख्या के प्रत्युत्तर के रूप में इस प्रबंध की रचना की थी (हो सकता है, आनंदवर्धन को इस प्रत्युत्तर की प्रत्याशा थी;) किंतु अभिनव-गुप्त तथा अन्य लेखकों ने ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसके आधार पर उन्हें शंकुक के सिद्धांत से संबद्ध किया जा सके।

'व्यक्ति-विवेक' में तीन 'विमर्श' हैं। यह मुख्यतः एक वादानुवादात्मक ग्रंथ है। इनमें कोई नवीन सिद्धांत अथवा पद्धति प्रस्तुत नहीं की गई है। इसका एकमात्र उद्देश्य आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धांत का निराकरण करना है। इसमें यह कहा गया है कि तथाकथित व्यंजना का कार्य केवल अनुमान-प्रक्रिया अथवा तर्क-संगत-आगम ही है और इसे पहले से ही मान्यता दी जा चुकी है। प्रथम विमर्श में उन्होंने ध्वनि की परिभाषा की आलोचना करते हुए अपने पक्ष का प्रतिपादन तथा परिवर्धन किया है। द्वितीय विमर्श में उन्होंने शब्द तथा अर्थ से संबंधित औचित्य-प्रश्न का विवेचन किया है। तृतीय विमर्श में 'ध्वन्यालोक' के लगभग चालीस उदाहरण उद्धृत किए गए हैं और यह बताया गया है कि उदाहरण वास्तव में व्यंजना के न होकर अनुमान के हैं।[1]

3

'व्यक्ति-विवेक' से यह भी विदित होता है कि महिमभट्ट ने 'तत्वोक्ति-कोश' नामक ग्रंथ की भी रचना की थी। इसमें उन्होंने काव्य से सम्बन्धित 'प्रतिभातत्व'[2] का विवेचन किया है।

महिमभट्ट के ग्रंथ में ध्वनि के नवीन सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है, किंतु उन्होंने इसकी व्याख्या, आनंदवर्द्धन के मतानुसार व्यंजना के पृथक्कार्य को आधार न मानकर, अनुमान के प्रतिष्ठित आधार पर की है। परवर्ती सैद्धांतिक उनकी अपेक्षा आनंदवर्द्धन के मत के पक्ष में रहे हैं। उनके टीकाकार ने भी

---

1. खंड ii में महिमभट्ट के विचारों पर विस्तार से चर्चा की जायगी।
2. तुलना कीजिए, जैकोबी Sb. der Preuss. Akad, xxiv, 225 पा० टि०।

उनके इस एकांतिक मत के प्रति अधिक सहानुभूति प्रकट नहीं की है।[1] महिमभट्ट ही ऐसे लेखक हैं, जिनका परवर्ती साहित्य में कोई मतानुयायी नहीं था।

किन्हीं कारणों[2] से रुय्यक को महिमभट्ट का टीकाकार मान लिया गया है। अलंकार पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखने के अतिरिक्त रुय्यक ने मम्मट पर भी टीका लिखी है। अगले अध्याय में अलंकार पर स्वतंत्र लेखक के रूप में मम्मट की चर्चा की जायगी।

ग्रंथ सूची

संस्करण—टी० गणपति शास्त्री रचित, भूमिका, टिप्पणी तथा एक अनाम-लेखक टीका (रुय्यक-लिखित), त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, 1909 द्वितीय विमर्श के मध्य भाग में टीका समाप्त हो जाती है।

1. रुय्यक 'अलंकारसर्वस्व' (पृ० 12 इत्यादि), तथा विश्वनाथ ('साहित्य-दर्पण' पृ० 248 इत्यादि) ने महिमभट्ट के मत की कड़ी आलोचना की है।
2. संक्षिप्त तर्कों के लिए देखिए—काणे HSP, पृ० 245.

अध्याय 6

मम्मट तथा अल्लट

1

मम्मट की तिथि के विषय में बड़ी अनिश्चितता है। उनके नाम[1] तथा उनकी उपाधि 'राजानक' से प्रतीत होता है कि संभवतः वे काश्मीरी थे। हॉल[2] (Hall) तथा वेबर[3] (Weber) ने उस किंवदंती को स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार मम्मट 'नैषध'-लेखक के मामा थे। प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में प्रायः ऐसी कहानियाँ गढ़ ली जाती हैं।

मम्मट की तिथि की निचली सीमा एक तिथि-अंकित पांडुलिपि[4] तथा 'काव्यप्रकाश' पर दो टीकाओं के आधार पर निश्चित की जा सकती है। माणिक्य-चंद्र की टीका पर स्पष्टता संवत् 1216-1159-60 ई० अंकित है। रुय्यक-

---

1. औफ़्रेक्ट (Aufrecht) (i. 432) का कथन है कि मम्मट का मूल नाम महिमभट्ट था। उन्होंने यह बात केशव मिश्र के अशुद्ध उद्धरण (पृ० 80-81) के आधार पर कही है। केशव ने जिस प्रसंग में महिमभट्ट का उल्लेख किया है, वह स्पष्ट रूप में मम्मट की बजाय महिमभट्ट को निर्दिष्ट करता है। उसी संदर्भ में महिमभट्ट को व्यक्तिविवेक का रचयिता कहा गया है। केशव ने 'अनौचित्या-दृते' पद्य का उद्धरण देते हुए उसे महिमन्‌रचित माना है। यह पद्य मूलतः 'ध्वन्यालोक' (पृ० 145) की वृत्ति में मिलता है। 'व्यक्तिविवेक' (पृ० 31-114) में यह पद्य 'स एवाह' के साथ उसी पाठ में से उद्धृत अनेक अन्य पद्यों के साथ वहीं से लिया गया है। संभवतः केशव ने मूल-स्रोत को जाने बिना यह पद्य सीधे 'व्यक्तिविवेक' से उद्धृत किया और महिमन्-रचित मान लिया। 'काव्यप्रकाश' में यह पद्य नहीं मिलता। औफ़्रेक्ट का यह सुझाव कि मम्मट, महिमभट्ट नाम का विकृत रूप है, उसी प्रकार निराधार है, जिस प्रकार रुद्रट, रुद्रभट्ट का। तुलना कीजिए, पीटर्सन (Peterson) ii, पृ० 19.
2. 'वासवदत्ता' की भूमिका, पृ० 55.
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी अनुवाद, द्वितीय संस्करण), पृ० 232, पा० टि०।
4. 'काव्यप्रकाश' की एक जैसलमेर जैन भंडार पांडुलिपि से प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ संवत् 1215 आश्विन 14 (1158 ई० अक्तूबर 8) को अनहिलपातक स्थान पर तैयार की गई थी। उस समय कुमारपाल राज्य करते थे। पृष्ठांत विवरण से इस महत्त्वपूर्ण बात का पता चलता है कि यह ग्रंथ मम्मट तथा अलक ने मिलकर लिखा था (कृती मम्मटालकयोः) देखिए पी० के० गोडे, जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, xii 46-53 (=उनका ग्रंथ, (studies in Ind. Lit. Hist. i, 235 इत्यादि)।

रचित टीका शुद्ध तिथि ज्ञात नहीं है, किंतु अन्य ग्रंथों के प्रमाण से सूचित होता है कि रुय्यक 12वीं शती के दूसरे तथा तीसरे चरण में हुए थे।

जैसलमेर की प्राचीनतम पांडुलिपि 1158 ई० में तैयार की गई थी। अतएव मम्मट को 12वीं शती के आरंभ के पश्चात् निर्धारित किया जा सकता।[1]

उनकी तिथि की दूसरी सीमा इतनी अच्छी तरह निर्धारित नहीं की जा सकती। ऐसा कहा गया है कि मम्मट ने एक पद्य (भोज नृपतेस्तत्-त्यागलीलायितम्—x. 26b के नीचे, बंबई संस्कृत सीरीज़ सं० 1917, पृ० 684) में भोज की स्तुति की है। अनुमानतः वे भोज के समकालीन थे। एक परवर्ती टीकाकार, भीमसेन,[2] ने एक कथा में इस बात को पुष्ट करने का यत्न किया है। इस कथा के अनुसार मम्मट के पिता का नाम जय्यट था। उनके कय्यट तथा उव्वट नामक दो भाई थे। उव्वट (अथवा उवट) वैदिक ग्रंथों के प्रसिद्ध टीकाकार थे। उनके अपने ही कथन के अनुसार कुछ ग्रंथ अवंति में भोज के राज्यकाल में रचे गए थे (भोजे राज्य प्रशासति)।

1. मम्मट पर परमानंद चक्रवर्ती तथा नागोजी की प्रामाणिकता के आधार पर झलकीकर ने कहा है कि मम्मट ने अनेक स्थलों पर रुय्यक की आलोचना की है, इसलिए उन्हें मम्मट से पूर्व ही निर्धारित करना चाहिए। किंतु उनके उद्धरण उनकी बात को पुष्ट नहीं करते। यथा, 'राजति तातीय' (काव्यप्रकाश, पृ० 758) पद्य रुय्यक (पृ० 199) के विरुद्ध माना गया है। वहाँ यह पद्य इसी संदर्भ में उद्धृत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट ने बिना किसी टिप्पणी के इस पद्य को 'शब्दालंकार-संकर' के उदाहरण के रूप में दिया है उन्होंने केवल इतना कहा है कि यहाँ 'यमक' तथा 'अनुलोमप्रतिलोम-चित्र' का अन्योन्य सम्मिश्रण है। इसके विपरीत; रुय्यक ने इसी पद्य को उद्धृत करते हुए अन्य लेखकों के मत को निर्दिष्ट किया है तथा कुछ विस्तार से उस पर टिप्पणी की है। उनका कथन है कि यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस पद्य को 'शब्दालंकार-संकर' का उदाहरण बताया है, मेरे विचार में 'शब्दालंकारों' का इस प्रकार सम्मिश्रण संभव नहीं है और यह उदाहरण गलत है। यह पद्य रत्नाकर के 'हरविजय' (v. 137) में मिलता है। इस संबंध में जयरथ तथा समुद्रबंध ने यह कहा है कि रुय्यक ने जिन अनाम लेखकों को अपनी आलोचना में निर्दिष्ट किया है, उन्होंने भी 'मम्मट' तथा अन्य विद्वानों को लक्षित किया है। इसके अतिरिक्त स्वयं रुय्यक ने मम्मट की कारिका iv. 15-16 को उद्धृत किया है (पृ० 102)। जयरथ ने यह स्पष्ट कहा है कि रुय्यक ने मम्मट पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी थी (पृ० 102)। कई अन्य स्थलों पर जयरथ तथा समुद्रबंध के कथनानुसार रुय्यक ने मम्मट की आलोचना की है (यथा, जयरथ, पृ० 77, 102, 107, 150, 163, 199, 204; समुद्रबंध, पृ० 23, 25, 119, 156, 243, 249 इत्यादि)।

2. 'काव्यप्रकाश' की भूमिका, सं० बंबई संस्कृत सीरीज (तीसरा सं० 1971) पृ० 6-7. पीटर्सन i. पृ० 94 पर उद्धरण भी देखिए।

इस आधार पर यह कहा गया है कि उपर्युक्त उद्धरण में संभवतः उव्वट अपने संरक्षक के माध्यम थे, अथवा मम्मट ने ही भोज की उदार सभा में प्रवेश पाने के लिए ऐसा किया था।[1] किंतु यह परिकल्पना बहुत लचर है, क्योंकि उव्वट ने स्वयं कहा है कि मेरे पिता का नाम वज्रट था, जय्यट नहीं, तथा यह भी स्पष्ट नहीं है कि विचाराधीन पद्य, जिसे 'उदात्त' अलंकार (श्रेष्ठ व्यक्तियों के ऐश्वर्य का वर्णन) के अनाम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, स्वयं मम्मट ने ही लिखा था। उन्होंने विविध ग्रंथों से उदाहरण-पद्य उद्धृत किए हैं। इस अनाम लेखक के पद्य में भोज को लक्षित करने से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि संभवतः मम्मट भोज से पूर्व नहीं हुए हैं।

यदि टीकाकारों की प्रामाणिकता के आधार पर भोज को 'सरस्वती-कंठाभरण' का रचयिता धारा-नरेश परमार भोज मान लिया जाय तो मम्मट की तिथि रुय्यक तथा भोज के मध्य निर्धारित की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, मम्मट संभवतः 11वीं शती के मध्य तथा 12वीं शती के प्रथम चरण के अंतर्वर्ती काल में हुए हैं। यदि मम्मट तथा रुय्यक के मध्य दो पीढ़ियों का अंतर मान लिया जाय तो मम्मट का साहित्य-रचना काल मोटे तौर से 11वीं शती के अंतिम चरण में निश्चित किया जा सकता है। मम्मट ने 1015 ई० में जीवित (ऊपर देखिए) अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है तथा 'नवसाहसांक-चरित' (अध्याय i) के पद्य उद्धृत किए हैं (x. 131 के अंतर्गत, पुराणि यस्याम्)। यह ग्रंथ लगभग 1005 ई० में लिखा गया था।

2

'काव्य-प्रकाश' के लेखक होने के नाते मम्मट प्रसिद्ध हैं। इस ग्रंथ के कारण आनंदवर्धन का काश्मीरी सिद्धांत चूड़ांत तथा अंतिम रूप में स्थापित हो गया था। इसके अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य किंतु अपेक्षाकृत कम परिचित ग्रंथ, 'शब्द-व्यापारपरिचय' भी लिखा है। जैसा कि इसके नाम से परिलक्षित होता है, इसमें शब्द का वृत्ति पर संक्षिप्त रूप में चर्चा की गई है। 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में भी इस विषय पर विवेचना की गई है। काव्यविद्या के अधिकतर लेखकों की तरह मम्मट व्याकरण-शास्त्र में पारंगत थे। अपने वृहद् ग्रंथ में उन्होंने अपनी इस विशिष्ट योग्यता का प्रदर्शन किया है।[2]

---

1. गंगानाथ झा कृत 'काव्यप्रकाश' के अनुवाद की भूमिका, पृ० 6-7.
2. गजपति नारायणदेव ने अपने 'संगीत नारायण' में संगीत पर 'संगीत रत्नावली' को मम्मट-रचित माना है (देखिए, वी० राघवन, ABORI, xvi. (1934-35) पृ० 131 तथा उसके संदर्भ)।

'काव्यप्रकाश'[1] के विहगावलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ की रचना योजनाबद्ध तथा सुव्यवस्थित है। राजानक आनंद की निदर्शन[2] नामक टीका के आधार पर पीटर्सन ने ग्रंथ के एक-लेखकत्व पर पहले संदेह प्रकट किया था, यद्यपि उनकी पहली गलत धारणा[3], जिसे बाद में उन्होंने स्वयं ही[4] ठीक कर लिया, यह थी कि कारिका-पाठ स्वयं मम्मट ने लिखा था, किंतु उस पर गद्य-वृत्ति का रचयिता कोई और था। इस तथ्य के अब पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, किंतु मम्मट ने लगभग संपूर्ण ग्रंथ (कारिका तथा वृत्ति) स्वयं लिखा, ग्रंथ के अंतिम अध्याय का एक लघु-अंश उनसे छूट गया था। उसे एक अन्य लेखक ने लिखा था। आनंद ने उस लेखक का नाम अलट अथवा अलक दिया है। सह-लेखकत्व (Joint authorship) की बात बड़ी चतुराई से गुप्त रखी गई है। कुछ पांडुलिपियों[5] के अंतर्गत अंतिम पद्य में यही तथ्य इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—'विद्वानों का यह मार्ग भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीत होता है, किंतु यह विचित्र बात नहीं है, क्योंकि यहाँ सम्यक् विनिर्मित संघटना के हेतु से ही ऐसा किया गया है। इसका स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि लेखक ने अपने इस सुव्यवस्थित ग्रंथ में काव्यविद्या के विभिन्न लेखकों के पारस्परिक मतों का बड़ी कुशलता से खंडन करने का श्रेय ग्रहण करने का यत्न किया है। किंतु अधिकतर टीकाकार इस बात में एकमत हैं कि मम्मट से ग्रंथ का जो अंश अधूरा रह गया था, उसे किसी अन्य व्यक्ति ने पूरा किया और सहलेखकत्व के सभी चिह्न बड़ी

---

1. 'काव्यप्रकाश' में दस उल्लास हैं, जिनमें कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण दिए गए हैं। संक्षिप्त विषय-विवरण इस प्रकार है—(i) काव्य का उद्देश्य, उत्पत्ति और परिभाषा तथा उत्तम, मध्यम और अधम भेद। (ii) अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की व्याख्या और लक्षणा तथा व्यंजना के उपभेद। (iii) अर्थ-व्यंजकत्व-निरूपण। (iv) ध्वनि के अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपर-वाच्यभेद। रस-निरूपण। (v) गुणीभूत-व्यंग्य तथा उसके आठ उपभेद। (vi) चित्रकाव्य (vii) पद, वाक्य, अर्थ तथा रस के दोष—दोष को सुन्दर कैसे बनाया जा सकता है। (viii) गुण तथा अलंकार में भेद। केवल तीन गुणों (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) को मान्यता दी गई है। गुणव्यंजक वर्ण-विन्यास। (ix) शब्दालंकार निरूपण। वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु) अनुप्रास (छेक, वृत्ति तथा लाट), यमक तथा उसके भेद, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास। 61 अर्थालंकारों की परिभाषा दी गई है।
2. इस टीका का नाम 'शितिकंठ-विबोधन' तथा 'काव्यप्रकाश-निदर्शन' दोनों हैं।
3. Rep. i. 21 इत्यादि।
4. Rep. ii. 13 इत्यादि। तुलना कीजिए, बूहलर, इंडियन एंटिक्वेटरी xiii, पृ० 30.
5. इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्, न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः।

चतुरता से मिटा दिए। एक प्राचीनतम टीकाकार, माणिक्यचंद्र सूरि ने इस पद्य पर इस प्रकार टीका की है—'अथ चायं ग्रंथोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखंडोऽपि संघटनावशादखंडायते'। रुय्यक ने अपनी 'संकेत' टीका में इस प्रकार कहा है—'एष ग्रंथो ग्रंथकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वाद् द्विखंडोऽप्यखंडतया यदवभासते तत्र संघटनैव हेतुः।' जयंत भट्ट, सोमेश्वर, नरहरि सरस्वती-तीर्थ, कमलाकर, आनन्द, ज्ञानेश्वर प्रभृति मम्मट के प्राचीन तथा नवीन टीकाकारों ने रुय्यक के उपर्युक्त मत का अनुसरण किया है। राजानक आनंद और भी स्पष्ट हैं। उन्होंने अपनी 'निदर्शन' नामक टीका में परम्परागत पद्य उद्धृत किया है।[1] जिसका तात्पर्य यह है कि ग्रथ में परिकर-अलंकार के विवेचन तक (x. 32) का अंश मम्मट ने लिखा था तथा अंतिम अध्याय का अवशिष्ट अंश अलक, अलट अथवा अल्लट[2] ने पूरा किया था।

'काव्यप्रकाश' के सहलेखकत्व का कथन एक स्वतंत्र ग्रन्थसे भी पुष्ट होता है। अर्जुनवर्मा ने, जो 13वीं शती के प्रथम चरण में हुए हैं, अमरुशतक (सं० काव्यमाला 18, 1916, श्लोक 30) पर अपनी टीका में 'काव्यप्रकाश' vii. 14 के नीचे 'प्रसादे वर्तस्व'[3] का उद्धरण करते हुए इस प्रकार कहा है—"यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्"। 'काव्य प्रकाश' के अंतर्गत दोषनिरूपण के उसी अध्याय में अमरु० 72 को 'जुगुप्साश्लील' नामक दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है, क्योंकि उस पद्य में 'वायु' शब्द अश्लीलार्थक समझा गया है। इस तीखी आलोचना से अर्जुनवर्मा ने अमरु की रक्षा इस प्रकार की है—"किंतु ह्लादैकमयी-वर-लब्ध प्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी। येनैवंविधेष्वपि परमार्थसहृदयानंदपदेषु

1. कृतः श्रीमम्माटाचार्यवरैः परिकरावधिः।
प्रबंधः पूरितः शेषो विधायालट—(-लक अथवा ल्लट) सूरिणा॥

2. संभवतः इसी कारण से ग्रंथ की कुछ पांडुलिपियों के पृष्ठांत विवरण में मम्मट तथा अल्लट (अथवा अलक) लेखकों के नामों का उल्लेख है, यथा बोडलियन पांडुलिपि (हुलट्श संग्रह 172)। यह शारदा लिपि में काश्मीरी पांडुलिपि है। इसमें इस प्रकार कहा गया है—'इति काव्यप्रकाशाभिधानं काव्यलक्षणं समाप्तं, कृतिः श्री राजानक मम्मटाकालकयोः।' अथवा, स्टीन (Stein) जम्मू, कैटलॉग पांडुलिपि संख्या 1145 (तुलना कीजिए—भूमिका, पृ० xiii इत्यादि), 1173. तदा देखिए, उपर्युक्त, पृ० 145-146, पा० टि० 4 पर निर्दिष्ट की गई एक प्राचीन पांडुलिपि का पृष्ठांत विवरण ZDMG xvi, पृ० 477-90 में वी० एस० सुकथंकर ने 'काव्यप्रकाश' के दो लेखकों की बात स्वीकार की है।

3. शार्ङ्गधर 3565 में यह पद्य चंद्रक-रचित माना गया है। इस प्रश्न पर देखिए, काणे इंडियन एंटिक्वेरी, 1911, पृ० 208.

सरसकविसंदर्भेषु दोषमेव साक्षात्कुरुताम् ।" ये दोनों अंश, जिनमें 'काव्यप्रकाश' के द्वि-लेखकत्व का उल्लेख है, विशेष रूप से अध्याय vii को परिलक्षित करते हैं। उसमें काव्यदोषों का निरूपण किया गया है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि इन टिप्पणियों से किसी विशेष अध्याय की रचना में सहयोग परिलक्षित नहीं होता, अपितु सह-लेखकत्व ही निर्दिष्ट होता है, तो इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अल्लट (अथवा अलक) ने परंपरा के अनुसार न केवल 10वें वरन् 7वें अध्याय[1] की रचना में भी सहयोग दिया था।

3

नाम के तीन रूपों, अलक, अलट तथा अल्लट में से अंतिम नाम, जो स्टीन (Stein) की जम्मू की पांडुलिपि में दिया गया है, अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है।

काश्मीरी नामों में 'ट' प्रत्यय बहुत प्रसिद्ध है। स्टीन (Stein) ने कहा है कि 'काश्मीरी पंडितों में नाम के इसी रूप की परंपरा प्रचलित है', यद्यपि 'काव्यप्रकाश' के द्वि-लेखकत्व से खूब परिचित हैं।[2] किंतु 'अलक' भी एक काश्मीरी नाम का रूप है। यह अल्लट अथवा अलक वही राजानक अलक माने जाते हैं, जिन्होंने रत्नकंठ के उल्लेखानुसार रुय्यक पर एक टीका लिखी है।[3] पीटर्सन ने इन दोनों लेखकों की अभिन्नता का सुझाव प्रस्तुत किया था, किंतु स्टीन (Stein) ने उसका विरोध किया। परंतु यदि इस अभिन्नता को स्वीकार कर लिया जाय तो अलक को रत्नाकर के 'हरविजय' पर 'विषमपदोद्योत' नामक टीका[4] का रचयिता मानना पड़ेगा। इस टीका में अलक को राजानक जयानक का पुत्र बताया गया है। यह विचित्र प्रतीत होता है कि 'काव्यप्रकाश' के पूरक, अल्लट ने रुय्यक पर टीका लिखी, जबकि उन्होंने स्वयं उसी ग्रंथ पर टीका लिखी थी। इस प्रकार, दोनों लेखकों ने एक दूसरे के पाठ पर टीका लिखी थी,

---

1. जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1927 में, एच० आर० दिवेकर ने कहा है कि मम्मट ने परिकर अलंकार तक केवल कारिकाओं की रचना की थी तथा शेष कारिकाएं तथा संपूर्ण वृत्ति के रचयिता अलक हैं। इनके तर्क विश्वसनीय नहीं हैं।
2. देखिए जम्मू कैटलॉग पृ० 23 इत्यादि। स्टीन ने कहा है कि नाम का अल्ल रूप पंडित राजानक रत्नकंठ द्वारा शक संवत् 1570 (1648 ई०) में रचित काव्यप्रकाश संकेत की बढ़िया भोजपत्र-पांडुलिपि में भी मिलता है।
3. पीटर्सन ii, पृ० 17 इत्यादि।
4. i, पृ० 13-17, तुलना कीजिए, बूहलर-काश्मीर रिपोर्ट, पृ० 45। 50 अध्याय पर्यंत यह ग्रंथ काव्यमाला 22 में मुद्रित हुआ है।

और यदि वास्तव में ऐसा ही हो तो रुय्यक के ग्रंथ में इस तथ्य का उल्लेख होना चाहिए था। उन्होंने वैसे तो 'काव्यप्रकाश' के द्वि-लेखकत्व का उल्लेख किया हैं, किंतु पूरक के नाते अल्लट के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया।[1]

4

बंगाल में मुख्य रूप से यह परंपरा है, और 'काव्यप्रकाश' के दो बहुत अर्वाचीन टीकाकारों[2] बलदेव विद्याभूषण तथा महेश्वर न्यायालंकार ने इसका समर्थन भी किया है कि कारिकाओं (यहाँ उन्हें सूत्र कहा गया है)[3] के रचयिता भरत थे एवं गद्य-वृत्ति के रचयिता मम्मट थे तथा स्वयं भरत ने अग्नि-पुराण की सामग्री का प्रयोग किया है।

'अग्नि-पुराण' के विषय में अंतिम कथन बिल्कुल निराधार है और ऐतिहासिक कल्पना से शून्य अर्वाचीन लेखकों की कपोलकल्पना मात्र है। वे पुराणों की प्राचीनता को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। भरत द्वारा कारिकाओं की रचना की बात एकदम अप्रामाणिक है। इस काल्पनिक बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हेमचंद्र (टीका पृ० 109 = काव्यप्रकाश v. 1-2b) ने पहली शती के प्रथम चरण में मम्मट को कारिकाओं का रचयिता माना है तथा जयरथ विद्याधर, मल्लिनाथ, कुमारस्वामी तथा अप्पय्य जैसे परवर्ती लेखकों तथा टीकाकारों

1. 'काव्यप्रकाश' की एक पांडुलिपि के पृष्ठांत विवरण में कई नाम मिला दिए गए हैं। इस पांडुलिपि के अंतर्गत ग्रंथ पाठ तथा रुय्यक की 'संकेत' नामक टीका भी सम्मिलित है। नाम इस प्रकार मिले हुए हैं—इति श्रीमद्राजानकाल्लट-मम्मट-रुचक-विरचिते-निजग्रंथ-काव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः। पीटर्सन तथा स्टीन ने इसके आधार पर 'काव्य प्रकाश' को अल्लट, मम्मट तथा रुचक (अथवा रुय्यक) का संयुक्त संग्रह मान लिया। किंतु ऐसा मान लेना ठीक नहीं है, क्योंकि ये नाम केवल मूल ग्रंथ के लेखकों (अर्थात् मम्मट तथा अल्लट) तथा खंड के अंतर्गत—'संकेत' नामक टीका के लेखक को ही निर्दिष्ट करते हैं।

2. विद्याभूषण रचित मम्मट पर 'साहित्यकौमुदी' नामक टीका, सं० काव्यमाला 63, 1897, पृ० 2, तथा टीका; तथा टीका पृ० 1, तथा पाठ पृ० 189 (तुलना कीजिए, पीटर्सन ii. पृ० 10 इत्यादि); महेश्वर की टीका (सं० जीवानंद 1876) पृ० 1. मम्मट के एक अन्य बंगाली टीकाकार, जयराम पंचानन ने भी इस बात का समर्थन किया है (देखिए, पीटर्सन ii पृ० 21-22, 107).

3. 'सूत्र' शब्द से यह मान लेना कि मूल ग्रंथ संभवतः सूत्र रूप में लिखा गया था, तथा बाद में उसे पद्यमय कारिका का रूप दिया गया था, ठीक नहीं है; क्योंकि टीकाकारों ने सामान्यतः मम्मट की कारिकाओं को ही सूत्र नाम से निर्दिष्ट किया है; यथा, 'प्रदीप' सं० काव्यमाला 1912; पृ० 378 'सूत्रे विभाग उपलक्षणपरः' पृ० 384; 'सूत्रे चोपलक्षणतया योज्यम्', '—प्रभा' पृ० 381 'सूत्राक्षरानुसारतः'; '—उद्योत' सं चंदोरकर, x पृ० 123.

ने इसका समर्थन किया है। 'प्रदीप' (i. 1.) पर टीका करते हुए वैद्यनाथ ने इस परंपरा का उल्लेख किया है और प्रत्यक्ष रूप में इसे अस्वीकार किया है।[1] मम्मट के अधिकतर टीकाकार इस तथ्य से उनसे सहमत हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ-पाठ से भी इस परिकल्पना का निराकरण होता है।

भरत की एक उक्ति (vi. 87, सं० ग्रोसे) कारिका iv. 4-5 को पुष्ट करती है और इससे कारिका के लेखक तथा 'नाट्यशास्त्र' के लेखक में भेद निर्दिष्ट होता है।[2] कारिका x.8b में 'माला तु पूर्ववत्' कहा गया है। संदर्भ के अनुसार इसका अर्थ यह है कि 'मालारूपक' पर 'मालोपमा' का नियम लागू होता है। पहली किसी भी कारिका में वह नियम बताया गया है, परन्तु वृत्ति में उसकी व्याख्या की गई है। इससे स्पष्ट रूप से यह सूचित होता है कि कारिका तथा वृत्ति अविच्छिन्न हैं और उन्हें एक ही लेखक की कृति मानना चाहिए।[3]

इस परम्परा के मूल में भरत ऋषि के प्रति असीम आदर का भाव काम करता है, किन्तु इसका एक कारण यह भी है कि स्वयं मम्मट ने भरत की कारिकाओं का अत्यधिक उपयोग किया है। यथा, भरत vi. 15, 17-21 = मम्मट iv. 6-11. भरत के अतिरिक्त, मम्मट ने कई पूर्ववर्ती लेखकों की कारिकाओं तथा उदाहरण-पद्यों का समान रूप में उपयोग किया है। यथा, मम्मट vii. 10 में कारिका 'कर्णावतंसादि-पदे, ii. 2. 19 पर वामन की वृत्ति में 'संग्रह श्लोक' के रूप में मिलती है, मम्मट x. 20 में 'आक्षेप' अलंकार की परिभाषा में 'लोचन पृ० 36 पर अभिनव के उद्धरण के अनुसार भामह ii. 67a, तथा 68a, अथवा उद्भट ii. 2a तथा 3a से ली गई है। मम्मट, iv. i. तथा 3 स्पष्ट रूप में 'ध्वन्यालोक' ii. 1

---

1. '—प्रभा' सं० काव्यमाला, पृ० 2.

2. तुलना कीजिए, वैद्यनाथ द्वारा i. 1 पर टीका : ग्रंथ-कृदिति मम्मटभट्टाख्यस्य कारिकाकर्तु-निर्देशः—भरत-संहितायां कासांचित् कारिकानां दर्शनात् स एव ग्रन्थकृदिति न युक्तम्, चतुर्थे—'कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि' (iv. 4) इत्यादि कारिकार्थे 'यदुक्तं भरतेन' इति भरत-सम्मति-प्रदर्शनस्यासंगतिस्त्वापत्तेः।

3. वैद्यनाथ ने इस अंश पर अपनी टीका (सं० काव्यमाला 1912, पृ० 329) में इसी मत का समर्थन किया है—'एतदेव सूत्रं सूत्रवृत्तिकृतोरेकत्वे ज्ञापकं, मालोपमायाः सूत्रावनुक्ताया वृत्तावेव कथनात्। झलकीकर की टीका, सं० बम्बई संस्कृत सीरीज़, 1917, पृ० 599 के अन्तर्गत समान मत से इसकी तुलना कीजिए। तथा देखिए, एस० के० डे, ABORI, vi 1925 (Some Problems of Skt. Poetics, कलकत्ता 1959, पृ० 131 इत्यादि) में 'माला तु पूर्ववत्'।

तथा 3 की व्यवस्था मात्र है। मम्मट ने रुद्रट के उदाहरणों का भी अत्यधिक प्रयोग किया है।[1]

'काव्य-प्रकाश' के दस उल्लासों के अन्तर्गत नाट्य को छोड़कर संस्कृत काव्य-विद्या के समस्त विषयों का विवेचन है। इसमें केवल 143 कारिकाएँ तथा विविध सूत्रों से उद्धृत 620 उदाहरण संकलित किए गए हैं। विषय की व्यापकता तथा विवेचन-संक्षेप गुणों के कारण संस्कृत-काव्य तथा अलंकार के क्षेत्र में 'काव्य-प्रकाश' को देशभर में एक प्रामाणिक तथा लोकप्रिय गौरव-ग्रंथ का स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय पर समस्त पूर्ववर्ती चिंतन का सार-संग्रह तथा एक उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तक के रूप में उसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ तथा पाठ्य-पुस्तकें लिखी गयी हैं।[2]

ग्रंथ-सूची

(क) काव्यप्रकाश

संस्करण : यह ग्रन्थ सम्पूर्ण अथवा खंडशः, सटीक अथवा टीका-रहित, अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। यहाँ केवल महत्त्वपूर्ण संस्करणों का उल्लेख किया गया है।

पाठमात्र अथवा अर्वाचीन टीका सहित पाठ—(क) सं० नाथूराम, एजूकेशन प्रेस, कलकता, (संभवतः सर्वप्रथम संस्करण)। (ख) सं० महेशचंद्र न्यायरत्न, तात्पर्य विवरण नामक स्वलिखित टीका सहित कलकत्ता 1866 (ग) सं० वामनाचार्य झलकीकर, स्वलिखित बालबोधिनी टीका सहित, बंबई संस्कृत सीरीज 1889, 1901, 1917 (घ) हरिशंकर शर्मा मैथिल रचित टीका सहित, सं० डी० आर० शास्त्री, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1926 (ङ) मल्लारि लक्ष्मण शास्त्री को बुधमनोरंजनी टीका सहित, मद्रास, 1891।

प्राचीन टीका सहित पाठ—(क) महेश्वर न्यायालंकार की 'आदर्श' टीका सहित, सं० जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता 1876 (तथैव सं० कलकत्ता संस्कृत सीरीज 1936)। (ख) कमलाकर भट्ट की टीका सहित, सं० पप शास्त्री, बनारस 1866 : (ग) गोविंद ठक्कुर की 'प्रदीप' टीका तथा वैद्यनाथ तत्सत् की 'प्रभा' टीका

---

1. सुक्थंकर ने ZDMG, lxvi पृ० 477 इत्यादि में उपर्युक्त कथन को प्रमाणित किया है।
2. इस ग्रंथ के अन्तर्गत विविध विषयों की विवेचना के लिए एस० के० डे का, Some Problems पृ० 108-130 देखिए।

सहित, सं० निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1891, 1912। (घ) 'प्रदीप' तथा नागोजी भट्ट की 'उद्योत' टीका (अध्या० i, ii, vii तथा x) सहित, सं० डी० टी० चंदोरकर, पूना 1896, 1898, 1915। (ङ) 'पंडित' x-xiii, 1888-91 में 'प्रदीप' सहित। (च) 'प्रदीप' तथा 'उद्योत' (संपूर्ण) सहित, सं० बी० एस० अभ्यंकर, आनंदाश्रम प्रेस 1911. (छ) 'प्रदीप', 'उद्योत', 'प्रभा', 'संकेत' (रुचकरचित) तथा नरहरि सरस्वती तीर्थ की 'बालचित्तानुरंजनी' (अध्या० i. ii. iii तथा x) सहित, सं० एस० एस० सुक्थंकर, बंबई, 1933, 1941 (ज) बलदेव विद्याभूषण की 'साहित्यकौमुदी टीका सहित, सं० निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1897. (झ) माणिक्यचंद्र की 'संकेत' टीका सहित, सं० बी० एस० अभ्यंकर, आनंदाश्रम प्रेस, पूना 1921, सं० आर० शम शास्त्री, मैसूर, 1922 (ञ) चंडीदास की 'दीपिका' टीका सहित, सं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, बनारस 1933। (ट), श्रीविद्या-चक्रवर्ती की 'संप्रदायप्रकाशिनी' तथा लौहित्य भट्ट गोपाल की 'साहित्य चूड़ामणि' टीका सहित, सं० एच० हरिहर शास्त्री, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, दो खंड, 1926, 1930। (ठ) भीमसेन दीक्षित की 'सुधासागर' टीका सहित, सं० नारायण शास्त्री खिस्ते, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1927। (ड) रुचक की 'संकेत' टीका सहित सं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल ii, 1935 के अंतर्गत। (ढ) श्रीधर की 'विवेक' टीका सहित, सं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1959 भाग i (अध्याय i-iv)।

अनुवाद :—(क) अंग्रेजी-'पंडित' xviii-xxi, 1896-99 के अंतर्गत गंगानाथ झा द्वारा, पुनर्मुद्रित तथा पृथक् रूप में प्रकाशित, बनारस, 1899, 1918, द्वितीय संस्करण, इंडिया प्रेस, इलाहाबाद, 1925। (ख) अंग्रेजी-पांडुरंग पी० जोशी द्वारा (अध्याय i, ii तथा x) बंबई 1913।

यहाँ पर झलकीकर के 1917, बंबई संस्कृत सीरीज के संस्करण से पृष्ठों अथवा कारिकाओं के संदर्भ दिए गए हैं।

टीकाओं की सविस्तर विवेचना तथा उनकी सूची नीचे दी गई है।

(ख) शब्द-व्यापार-परिचय

संस्करण-एम० आर० तेलंग द्वारा, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1916. Cat xii पृ० 343-44 के अंतर्गत BORI पांडुलिपि में ग्रंथ का दूसरा नाम 'शब्द-व्यापार-विचार' दिया गया है।

मम्मट के टीकाकार

1

संस्कृत में शायद ही कोई ऐसा शास्त्रीय ग्रंथ है, जिस पर 'काव्यप्रकाश' से अधिक टीकाएँ लिखी गई हैं। संस्कृत-पांडुलिपियों से संबंधित विविध सूचनाओं, ग्रंथ-सूचियों तथा पत्रिकाओं में इस ग्रंथ पर सत्तर से अधिक विभिन्न टीकाओं तथा भाष्यों का विवरण मिलता है। काव्यविधा के स्वतंत्र तथा प्रसिद्ध आचार्यों, रुय्यक तथा विश्व-नाथ के अतिरिक्त, नैयायिक जगदीश तथा नरसिंह ठक्कुर, वैयाकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट वैष्णव बलदेव विद्याभूषण तथा तांत्रिक गोकुलनाथ जैसे काव्यसाहित्येतर विद्वानों ने भी इस ग्रंथ पर टीकाएँ लिखी हैं। अभी तक इनमें से कुछ टीकाएँ ही मुद्रित हुई हैं। यहाँ केवल महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख किया गया है। ज्ञात होने पर उसकी तिथियाँ तथा अन्य उपलब्ध जानकारी भी दी गई है।

राजानक रुय्यक अथवा रुचक

इनकी टीका का नाम 'संकेत' है। ये अलंकार-सर्वस्व' के लेखक रुय्यक ही हैं (देखिए), 12वीं शती का मध्यभाग।

सं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल ii. 1935 के अंतर्गत, तथा खंडशः (i, ii, iii तथा x पर) सं० एस० एस० सुक्थंकर, बंबई 1933, 1941।

माणिक्यचंद्र

इनकी टीका का नाम भी 'संकेत' है। इनकी तिथि संवत् 1216=1159-60 ई० है।[1] माणिक्यचंद्र गुजरात के जैन लेखक तथा कोटिकगण, वज्रशाख, राजगच्छ के मतावलंबी थे। इनकी टीका के अंतिम पद्यों में इनकी गुरु-वंशावली इस प्रकार दी गई है: आदि में शीलभद्र तथा उनके पश्चात् क्रमशः भरतेश्वर, वैरस्वामी (वीरस्वामी), नेमिचंद्र तथा सागरेंदु। हमारे लेखक ने स्वयं को नेमिचन्द्र तथा उनके उत्तराधिकारी सागरेंदु का शिष्य कहा है। पीटर्सन[2] के इस सागरेंदु को पट्टन में संवत् 1252 (=1196 ई०) में अममस्वामी-चरित[3] की प्रथम प्रतिलिपि के लेखक सागरेंदु से अभिन्न माना है। हमारे माणिक्य चंद्र पार्श्वनाथ

1. पीटर्सन iii, उद्धरण पृ० 322, जहाँ तिथिवाला पद्य अपूर्ण है, किन्तु 'काव्य-प्रकाश' पर झलकीकर की भूमिका, पृ० 22, पर पूरा पद्य दिया गया है।
2. iv, पृ० cxxviii.
3. iii. App. p. 98.

चरित के लेखक माणिक्यचंद्र ही प्रतीत होते हैं। उन्होंने इस ग्रंथ की रचना समुद्र तट पर (v. 36) देवकूप (दिवबंदर) नामक स्थान पर संवत् 1276=1220 ई०) में दीवाली के दिन समाप्त की थी। लेखक ने इस ग्रंथ में गुरुवंशावली प्रद्युम्न सूरि से आरंभ की है। यह वंशावली 'संकेत' में दी वंशावली से ठीक मिलती है।[1] माणिक्य ने एक 'नलायन' अथवा 'कुबेरपुराण' भी लिखा है।[2] मेरुतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि' नामक ग्रंथ में गुजरात-नरेश जयसिंह द्वारा संरक्षित माणिक्यचंद्र संभवतः एक अन्य व्यक्ति थे।[3]

पाठ-सहित संस्करण : (i) वसुदेव अभ्यंकर द्वारा, आनंदाश्रम प्रेस, पूना, 1921; (ii) आर० शर्मा शास्त्री, मैसूर 1922।

नरहरि अथवा सरस्वतीतीर्थ

इनकी टीका का नाम 'बाल-चित्तानुरंजनी' है। इन्होंने अपने 'स्मृतिदर्पण' तथा 'तर्क-रत्न' (इसकी 'दीपिका' टीका सहित) नामक दो ग्रंथों का भी उल्लेख किया है। औफ्रेक्ट के कथनानुसार नरहरि ने 'मेघदूत' पर भी एक टीका लिखी है। कैंब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में उसकी एक प्रति विद्यमान है। स्टीन ने (पृ० 67) सरस्वतीतीर्थ की 'कुमारसंभव टीका' का उल्लेख किया है। मम्मट पर उनकी टीका में कहा गया है कि उनका जन्म 1298=1241-42 ई० आंध्र प्रदेश में त्रिभुवन नामक स्थान पर हुआ। उन्होंने अपनी वंशावली वत्स-गोत्रोत्पन्न रामेश्वर से आरंभ की है तथा स्वयं को मल्लिनाथ तथा नागम्मा का पुत्र, तथा रामेश्वर के पुत्र नरसिंह का पौत्र कहा है। नारायण नामक उनके एक भाई थे। संन्यास लेने के पश्चात् उन्होंने सरस्वतीतीर्थ नाम ग्रहण किया और बनारस में अपनी टीका की रचना की।[4]

संस्करण : केवल एक अंश, (i, ii, iii तथा x पर) 'काव्यप्रकाश' के एस० एस० सुक्थंकर संपादित उपर्युक्त संस्करण के अंतर्गत, बंबई 1933, 1941, पांडुलिपि के उद्धरण : पीटर्सन i.74 तथा, IOC. iii, पृ० 225 इत्यादि के अंतर्गत।

---

1. देखिए उद्धरण, पीटर्सन iii, परिशिष्ट पृ० 157-63; तथा vi. xci. 'षट्तर्कीललना-विलास' पद्य, जिसमें उनके गुरु नेमिचंद्र का उल्लेख है, 'पार्श्वनाथचरित' तथा '—संकेत' में भी मिलता है। देखिए उद्धरण, पीटर्सन iii, पृ० 160 तथा 321।
2. पीटर्सन iii, परिशिष्ट, पृ० 357.
3. माणिक्यचंद्र की तिथि पर विवेचना के लिए, सोमेश्वर की टीका, पृ० 12-13, आर० सी० पारिख का संस्करण देखिए।
4. पीटर्सन i, पृ० 25 इत्यादि, 74।

जयंत भट्ट

इनकी टीका का नाम 'दीपक' अथवा 'जयंती' है। इन्होंने इसकी तिथि संवत् 1350 = 1294 ई० दी है। इन्होंने स्वयं को भरद्वाज का पुत्र कहा है। भरद्वाज गुजरात-नरेश शार्ङ्गदेव के मुख्यमंत्री के पुरोहित थे। शार्ङ्गदेव तृतीय बघेला सम्राट थे, जिन्होंने पट्टन में 1277-1297 तक राज्य किया।[1] परमानंद चक्रवर्ती तथा रत्नकंठ (अन्यत्र देखिए) ने जयंत का उल्लेख किया है। रत्नकंठ का कथन है कि मैंने अपनी टीका 'जयंती' के आधार पर लिखी है। हमारे जयंत भट्ट 'कादंबरी-कथासार' (सं० काव्यमाला 11, 1888) के लेखक, अभिनंद के पिता, भट्ट जयंत अथवा जयंतक से भिन्न थे। आनंद एक प्राचीन लेखक थे, अभिनव (पृ० 142) ने उनका उल्लेख किया है। संभवत: वे 9वीं शती में हुए हैं।

भंडारकर की रिपोर्ट 1883-84 परिशिष्ट 326 में उनके ग्रंथ का संक्षिप्त सार उपलब्ध है।

सोमेश्वर

इनकी टीका का नाम काव्यादर्श[2] (अथवा 'संकेत') है। अपने ही कथनानुसार ये भरद्वाज-गोत्रोत्पन्न भट्ट देवक के पुत्र थे। क्योंकि वे कन्नौज के पक्षपाती हैं, इसलिए संभवत: वे वहीं के निवासी थे। किंतु उन्होंने काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा सिद्धांत को भी निर्दिष्ट किया है, इसलिए शायद वे काश्मीरी हों। पीटर्सन[3] तथा उनके अनुसार औफ्रेक्ट[4] ने उन्हें 'कीर्ति-कौमुदी' तथा 'सुरथोत्सव' का लेखक सोमेश्वर ही माना है और उनकी तिथि को 13वीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया है। किंतु यह बात संदेहजनक है, क्योंकि इन सोमेश्वर के पिता का नाम कुमार बताया गया है। आर० सी० पारिख ने टीका की तिथि 1150 तथा 1160 ई० के मध्य निश्चित की है। हमारे सोमेश्वर ने भामह, रुद्रट, मुकुल, भट्ट नायक, भट्ट तौत, कुंतक (उल्लेख पृ० 135, 152, 302), वक्रोक्तिजीवितकार (पृ० 36), आचार्य भर्तृमित्र (पृ० 16), चंद्रिकाकार (पृ० 55) तथा यायावरीय (पृ० 224) का उल्लेख किया है। एक बड़े अर्वाचीन टीकाकार, कमलाकर ने भी सोमेश्वर का उल्लेख किया है।[5]

---

1. भंडारकर रिपोर्ट, 1883-84, पृ० 17-18. पीटर्सन ii, पृ० 17, 20।
2. औफ्रेक्ट i. 737 b में 'काव्यप्रकाशटीका' तथा 'काव्यादर्श' का उल्लेख है। केवल एक ही इंदराज होना चाहिए था, क्योंकि दोनों इंदराज इसी टीका को लक्षित करते हैं।
3. v. पृ० lxxxiv.
4. i. 102a, 737b.
5. भाऊ दाजी संग्रह (देखिए Cat. BRAS, पृ० 45) में सोमेश्वर की एक टीका की पांडुलिपि में यह कहा गया है कि यह टीका संवत् 1283 की एक अन्य टीका से तैयार की गई है। अतएव यह टीका 1227 ई० से पहले की ही प्रतीत होती है।

संस्करण :—आर० सी० पारिख, 2 खंड (पाठ सहित), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1959 ।

वाचस्पति मिश्र

इनके विषय में अथवा इनकी टीका के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु चंडीदास ('प्राचीन' पृ० 131) ने, मम्मट पर विश्वनाथ ने तथा भीमसेन ने उनका उल्लेख किया है। उन्हें 'भामती' के लेखक, वाचस्पति मिश्र से भिन्न मानना चाहिए। वे संभवतः मम्मट से भी प्राचीन थे, क्योंकि 'भामती' के अंत में अपनी ग्रंथसूची में उन्होंने मम्मट पर किसी भी टीका को निर्दिष्ट नहीं किया है। शिवप्रसाद भट्टाचार्य (जर्नल ऑफ औरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, iii, पृ० 259-63) का कथन है कि वाचस्पति मिश्र मिथिला-निवासी थे और लगभग 1200 ई० में हुए थे। किंतु हमारे वाचस्पति, 'आचार-चिंतामणि', 'विवाद-चिंतामणि' तथा अन्य ग्रंथों के रचयिता (देखिए, औफ्रेक्ट, i. 559-60) मैथिली विधि विशेषज्ञ से भिन्न व्यक्ति थे।

श्रीधर

चंडीदास (पृ० 29, 59, 62, 117) ने तथा मम्मट पर विश्वनाथ ने संधि-विग्रहिक उपाधि के साथ श्रीधर का उल्लेख किया है। उनकी टीका का नाम 'विवेक' है। 'विवेक' की एक पांडुलिपि 1405 ई० में मिथिला में तैयार की गई थी (शास्त्री, Cat. ASB. MSS vi. cclxxi)। श्रीधर की तिथि 13 वीं शती ई० के प्रथम चरण के आसपास हो सकती है। इस पांडुलिपि के पृष्ठांत विवरण के अनुसार लेखक को तर्काचार्य ठक्कुर कहा गया है। संभवतः वे मिथिला निवासी थे।

संस्करण : शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा भाग 1, अध्याय i-iv संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1959 ।

चंडीदास

इनकी टीका का नाम —'दीपिका' है। अपने मित्र लक्ष्मण भट्ट के अनुरोध पर इन्होंने इसकी रचना की थी। इस ग्रंथ की इंडिया आफिस पांडुलिपि बंगला लिपि में है। मुख्यतः उड़िया, मैथिली तथा बनारस के लेखकों ने (यथा, गोविंद ने अपने 'प्रदीप' पृ० 21, 36, 202, 274 में, नरसिंह ठक्कुर, कमलाकर, वैद्यनाथ ने अपनी 'उदाहरणचंद्रिका' में, नागोजी भट्ट ने अपनी 'प्रभा', तथा विश्वेश्वर ने अपने 'अलंकारकौस्तुभ' (पृ० 125, 166) में उनके उद्धरण दिए हैं। वे 'साहित्य-

दर्पण' के लेखक विश्वनाथ के पितामह के कनिष्ठ भ्राता चंडीदास से भिन्न व्यक्ति हैं।[1] वे 1300 ई० के लगभग अथवा कुछ पहले हुए हैं। त्रिमलदेव (अन्यत्र देखिए) के पुत्र विश्वनाथ ने 1602 ई० की एक पांडुलिपि में उनका उल्लेख किया है। चंडीदास ने स्वरचित 'ध्वनि-सिद्धांत-ग्रंथ' का उल्लेख किया है उन्होंने 'साहित्य-हृदय-दर्पण' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया हैं। संभवत: यह भट्ट नायक का 'हृदय-दर्पण' नामक लुप्त ग्रंथ है।

संस्करण : शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा, सरस्वती भवन टैक्सट्स, बनारस 1933, उद्धरण IOC iii, 1141/491 (पृ० 320) के अंतर्गत।

विश्वनाथ

इन्होंने 'दर्पण' नामक टीका लिखी है। यह विश्वनाथ 'साहित्य-दर्पण' के लेखक विश्वनाथ (अन्यत्र देखिए) ही हैं। इस टीका में उन्होंने अपने साहित्य-दर्पण का उल्लेख किया है। तिथि—14वीं शती का पूर्वार्द्ध। झलकीकर की भूमिका में इनका उद्धरण विद्यमान है।

भट्ट गोपाल

ये लौहित्य भट्ट गोपाल सूरि के नाम से विख्यात हैं। इनकी टीका का नाम 'साहित्य-चूड़ामणि' है। वामन पर 'कामधेनु' (सं० बनारस, पृ० 4, 8, 33) में कई बार इनका उल्लेख किया गया है। यदि ये भट्ट गोपाल, कुमारस्वामी द्वारा उल्लिखित (पृ० 93) गोपाल भट्ट ही हैं तो ये 15वीं शती से पहले हुए हैं। के० पी० त्रिवेदी के विचार से कुमारस्वामी के ये गोपाल भट्ट वही हैं, जिन्होंने "रस मंजरी' की टीका की है। अतएव, ये हरिवंश भट्ट द्राविड़ के पुत्र गोपाल भट्ट ही हैं, जिन्होंने रुद्र के शृंगारतिलक (पृ० 95 उपर्युक्त) तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' (अन्यत्र देखिए) पर टीकाएँ की हैं।

संस्करण :—आर० हरिहर शास्त्री तथा के० सांबशिव शास्त्री द्वारा, 2 खंड, त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज 1926, 1930।

भास्कर

इन्होंने 'साहित्य दीपिका' नामक टीका लिखी है। श्रीवत्सलांछन, गोविंद

1. देखिए, एच० पी० शास्त्री, Cat. ASB. MSS, vi.cclxvi ने 'दीपिका' के लेखक चंडीदास के विषय में विचित्र जानकारी दी है। वे बंगाल निवासी थे (मुख-कुल में उत्पन्न हुए)। उनका परिवार गंगातट पर उद्धारणपुर से चार मील पश्चिम में केतुग्राम नामक स्थान पर रहता था। शास्त्री के मतानुसार चंडीदास का साहित्य-रचना काल 15वीं शती का मध्य भाग अथवा कुछ पहले था।........दूसरे चंडीदास उड़ीसा निवासी थे।

ठक्कुर (पृ० 21), रवि (पीटर्सन, iii, पृ० 20), नरसिंह ठक्कुर, भीमसेन तथा रत्नकंठ (पीटर्सन, ii, पृ० 17) ने इनका उल्लेख किया है। नरसिंह ने इन्हें लाट भास्कर मिश्र कहा है। क्योंकि गोविंद ने (काव्यप्रदीप, पृ० 25, 204, 308, 329) इनका उल्लेख किया है, इसलिए ये 15वीं शती की समाप्ति से पूर्व हुए हैं। इनकी टीका का दूसरा नाम 'काव्यालंकार-रहस्य निबंध' है। इसका उद्धरण मित्रा 1681 में मिलता है।

परमानन्द चक्रवर्ती

इनकी टीका का नाम 'विस्तारिका' है। इन्होंने मिश्र, दीपिकाकृत (जयंत भट्ट ?) तथा विश्वनाथ का उल्लेख किया है। क्योंकि इन्होंने विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रीय' का उल्लेख किया है, अतएव ये विद्यानाथ के पश्चात् ही हुए हैं। स्वयं कमलाकर नरसिंह ठक्कुर, वैद्यनाथ (उदाहरण-चंद्रिका), नागोजी भट्ट, आनंद तथा रत्नकंठ ने इनका उल्लेख किया है। इनका प्राचीनतम उल्लेख संभवतः प्रभाकर भट्ट ने अपने 'रस प्रदीप' (पृ० 20) में 1583 ई० में किया है। ये संभवतः बंगाली नैयायिक थे। इन्होंने अपने गुरु ईसान न्यायाचार्य का नामोल्लेख किया है तथा गंगेशोपाध्याय के 'तत्वचिंतामणि' को एक श्लेषार्थक पद्य[1] में लक्षित किया है। झलकीकर का विचार है कि इन्होंने गोदावरी लक्षणों के अंतर्गत 'चक्रवर्त्ती लक्षण' का निरूपण किया था। जैसा कि उनके उद्धरणों से प्रतीत होता है, परमानंद 14वीं शती के उत्तरार्द्ध से पूर्व नहीं हो सकते; वे संभवतः 16वीं शती[2] से पहले ही हुए हैं, जबकि गदाधर उस शती के अंत में हुए हैं। वे श्रीविद्या चक्रवर्ती से भिन्न व्यक्ति थे। श्रीविद्या चकवर्ती दक्षिण-भारतीय लेखक थे। उन्होंने रुय्यक (अन्यत्र देखिए) तथा मम्मट पर टीकाएँ लिखी हैं। वे चक्रवर्ती के सामान्य नाम से भी विख्यात थे। परमानन्द ने 'नैषध' (IOC. vii पृ० 1438) पर भी एक टीका लिखी है।

पीटर्सन के ii पृ० 108-9. तथा एच० पी० शास्त्री के Cat. ASB. MSS. vi. संख्या 4831/2492 में इनके उद्धरण दिए गए हैं।

श्रीविद्या चक्रवर्ती

इनकी संप्रदाय-प्रकाशिनी नामक टीका में रुय्यक पर एक स्वलिखित टीका का

---

1. अंधादोषांधकारेषु को वा न स्युर्विपश्चितः। नाहंतु वृष्टिविकलो धृतश्चिंतामणिः सदा ॥
2. एच० पी० शास्त्री (Cat. ASB vi. पृ० cclxix) का कथन है कि परमानंद कमलाकर भट्ट (17वीं शती का आरंभ) से पहले हुए हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, उन्होंने उनके ग्रंथ से उद्धरण दिए हैं।

उल्लेख मिलता है : इनके विषय में अतिरिक्त जानकारी के लिए रुय्यक के अंतर्गत विवरण देखिए।

संस्करण : त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, 1926, 1930, भट्ट गोपाल की उपर्युक्त टीका सहित।

गोविंद ठक्कुर

इनकी प्रसिद्ध टीका का नाम 'प्रदीप' है।[1] गोविंद ने एक 'उदाहरणदीपिका' भी लिखी है। यह स्टीन (पृ० xxviii, 60, 269) द्वारा उल्लिखित 'श्लोक-दीपिका'[2] ही है, जिसे नागोजी भट्ट ने निर्दिष्ट किया है। यह ग्रंथ पाठ के अंतर्गत उदाहरणार्थ पद्यों की टीका के रूप में बृहद् व्याख्या का पूरक है। 'प्रदीप' पर वैद्यनाथ तत्सत् ('प्रभा तथा उदाहरणचंद्रिका') तथा नागोजी भट्ट ('उद्योत') ने टीकाएँ लिखी हैं। गोविंद मिथिलानिवासी थे। रविकर परिवार में केशव तथा सोनीदेवी के ज्येष्ठ पुत्र तथा कवि श्रीहर्ष के बड़े भाई थे। यह श्रीहर्ष, जैसाकि पीटर्सन ने अनुमान किया है, 'नैषध'[3] के लेखक नहीं थे। इस सूचना कें अतिरिक्त, गोविंद ने कहा है कि उन्होंने ज्येष्ठ सौतेले भाई रुचिकर से काव्य तथा साहित्य की शिक्षा प्राप्त की। उनकी ठीक तिथि तो ज्ञात नहीं है, किन्तु गोविंद ने विश्वनाथ को अर्वाचीन कहा है तथा विश्वनाथ द्वारा मम्मट-कृत काव्य-परिभाषा की आलोचना तथा उनके द्वारा दी गई परिभाषा का उल्लेख किया है, किंतु उनका अथवा उनके 'साहित्यदर्पण' का कहीं नाम नहीं लिया है। संभवत: गोविंद 14वीं शती के मध्य के पश्चात् ही हुए हैं। क्योंकि 1583 ई० में रचित प्रभाकर के 'रसप्रदीप' में उनका उल्लेख है, अतएव वे 16वीं शती के अंतिम चरण से पूर्व ही हुए हैं। नरसिंह ठक्कुर, जो 1612 ई० के अधिक पश्चात् नहीं हुए हैं (उन्होंने स्वयं कमलाकर का उल्लेख किया है), वंशावली के आधार पर गोविंद से पाँचवीं पीढ़ी में हुए हैं। इस प्रकार गोविंद की तिथि मोटे तौर से 15वीं शती के अंत में निर्धारित की जा सकती है।[4]

---

1. टीका का पूरा नाम 'काव्यप्रकाश-प्रदीप' है, साधारणतया इसे 'काव्यप्रदीप' ही कहते हैं, पीटर्सन (i.27) ने नाम पर बेकार ही तर्क-वितर्क किया है।
2. इस ग्रंथ के दूसरे पद्य में 'काव्यप्रदीप' का निर्देश किया गया है।
3. उनके भाई का पद्य अध्याय x (पृ० 355) 'मद्भ्रातुः श्रीहर्षस्य' कथन के साथ उद्धृत किया गया है, किंतु उसी अध्याय (पृ० 351) में 'इति नैषध-दर्शनात् 'नैषध' का नामोल्लेख किया गया है। इस अंतिम पद्य में उन्होंने अपने भाई श्रीहर्ष की मृत्यु पर शोक प्रकट किया है। यदि वे चाहते तो उसमें नैषध के कवि के रूप में उनका उल्लेख कर सकते थे, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया।
4. देखिए, 'प्रदीप' के निर्णयसागर प्रेस के संस्करण की भूमिका तथा 'पंडित' xiii. पृ० 74 इत्यादि।

संस्करण—(1) पंडित के अन्तर्गत, खंड x-xiii, 1888-89, रामशास्त्री भागवताचार्य द्वारा। (2) वैद्यनाथ की 'प्रभा' टीका सहित, काव्यमाला 24, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1891, 1912 (यहाँ 1912 के संस्करण के सन्दर्भ दिए गए हैं।) (3) उद्योत टीका सहित, आनन्दाश्रम सीरीज, 1911 (4) उद्योत टीका (अध्या० i, ii, vii, x) सहित, चंदोरकर द्वारा, पूना 1889।

जयराम न्यायपंचानन

इनकी टीका का नाम 'तिलक' अथवा 'जयरामी' है। कुछ ग्रन्थ-सूचियों में जयराम की 'रहस्यदीपिका' नामक टीका का भी उल्लेख है। यह इनकी टीका का अन्य नाम है। 'न्यायसिद्धान्तमाला', 'न्यायकुसुमांजलि' तथा 'तत्वचिंतामणि-दीधिति' नामक ग्रन्थों के टीकाकार से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इन ग्रन्थों से सूचित होता है कि ये नैयायिक थे। ये रामचंद्र (अथवा रामभद्र) भट्टाचार्य सार्वभौम के शिष्य तथा जनार्दन व्यास के गुरु कहे जाते हैं। श्री वत्सलांछन तथा भीमसेन ने इनका उल्लेख किया है। विश्वेश्वर ही ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने (न्यायपंचानन की उपाधि के साथ) अपने 'अलंकारकौस्तुभ' में पृ० 11, 23, 106, 127, 161, 162, 172, 263, तथा 327 पर इसके विस्तृत उद्धरण दिए हैं। जयराम निश्चित रूप से रघुनाथ शिरोमणि (16वीं शती का आरम्भ) के पश्चात् हुए हैं। उन्होंने इनकी 'तत्वचिंतामणि-दीधिति' पर टीका लिखी है। किंतु वे भीमसेन से पूर्व, अर्थात् 18वीं शती के आरम्भ से पहले हुए हैं। इनकी अधिक शुद्ध तिथि दी जा सकती है, क्योंकि इनकी 'न्यायसिद्धान्तमाला' की तिथि संवत् 1750 (=1694 ई०) दी गई है। इन्हें कृष्णनगर (बंगाल) के राजा राम-कृष्ण का संरक्षण प्राप्त था। देखिए, एस० सी० विद्याभूषण, 'इंडियन लॉजिक', कलकत्ता 1921, पृ० 477 इत्यादि।

उद्धरण : पीटर्सन ii, पृ० 107, तथा मित्रा 1447.

श्रीवत्सलांछन[1] भट्टाचार्य तथा सुबुद्धि मिश्र

श्रीवत्स की टीका का नाम 'सारबोधिनी' है। हाल[2] (Hall) ने इसका उल्लेख किया है तथा 'महेश्वर अथवा श्रीवत्सलांछन'—रचित माना है।

1. इनके नाम हैं—श्रीवत्स शर्मा, श्रीवत्स वर्मा अथवा केवल वत्स-वर्मा।
2. 'वासवदत्ता' की भूमिका, पृ० 54.

सुबुद्धि मिश्र का अन्य नाम महेश्वर अथवा माहेश्वर था। औफ्रेक्ट[1] के कथनानुसार सुबुद्धि मिश्र ने वामन पर 'साहित्य-सर्वस्व' नामक टीका लिखी है। नरसिंह ठक्कुर, वैद्यनाथ (उदाहरणचंद्रिका), भीमसेन तथा रत्नकंठ ने सुबुद्धि को मम्मट के टीकाकार के रूप में भी निर्दिष्ट किया है। ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं, क्योंकि भीमसेन तथा रत्नकंठ ने श्रीवत्स तथा सुबुद्धि मिश्र का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। श्रीवत्स ने 'काव्यपरीक्षा'[2] नामक एक मौलिक ग्रंथ भी लिखा है। इसमें काव्य के सामान्य लक्षणों के साथ-साथ पाँचों उल्लासों का निरूपण है और मुख्यतः मम्मट का अनुसरण किया है। संभवतः यह ग्रंथ सुबुद्धि मिश्र को 'तत्व-परीक्षा' (या 'शब्दार्थतत्वपरीक्षा') से भिन्न है। सम्भवतः यह मम्मट पर उसकी उस टीका का नाम है, जिसका रत्नकंठ ने उल्लेख किया है तथा कीलहॉर्न ने Central Prov. Cat पृ० 100 पर जिसका इंदराज किया है।[3] एच० पी० शास्त्री के Cat. ASB, MSS, vi, संख्या 4839/3515, पृ० 417-18 पर 'काव्यप्रकाश' की टीका के रूप में इसका उल्लेख है। 'काव्यामृत'[4] तथा रामोदय-नाटक नामक दो अन्य ग्रन्थ भी श्रीवत्स-रचित माने गए हैं। मद्रास Cat. Tran. I, B, 362 में 'सिद्धान्तरत्नमाला' (इसमें वेदान्त के द्वैतवाद का खंडन किया गया है) नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। विष्णुध्वजाचार्य के पुत्र श्रीवत्सलांछन शर्मा को इसका रचयिता कहा गया है। क्योंकि श्रीवत्स ने विद्यानाथ का उल्लेख किया है, इसलिए वे 14वीं शती से पूर्व नहीं हो सकते, किन्तु 17वीं शती से पहले ही

1. औफ्रेक्ट (ABod 208a; IOC, iii, 1130/566, पृ० 321) ने सुबुद्धि मिश्र को सुबुद्धिमिश्र-महेश्वर कहा है। उनके इस प्रकार के वर्णन से तथा हॉल के कथन से ऐसा मालूम होता है कि शब्द 'महेश्वर' नहीं बल्कि 'माहेश्वर' है और अभिनवगुप्त तथा विद्याधर की तरह शैव लेखक को परिलक्षित करता है। अतएव, यह संज्ञा दोनों लेखकों का गोत्रनाम है और इसी कारण उन दोनों को एक ही व्यक्ति समझ लिया गया है।
2. औफ्रेक्ट i. 778b, ii. 19b; 10C, iii, पृ० 342 (पांडुलिपि पर 1550 ई० अंकित है)। इस ग्रन्थ के पाँच अध्यायों तथा मम्मट में परस्पर साम्य इस प्रकार है—(i) शब्दार्थनिर्णय = मम्मट 1-3 (ii) काव्यभेद = मम्मट 4-5 (iii) दोषनिर्णय = मम्मट 7 (iv) गुण-निरूपण = मम्मट 8-9 (v) अलंकार = मम्मट 10। कुछ अपवादों को छोड़कर लेखक ने अपनी टिप्पणी सहित मम्मट की कारिकाएँ तथा उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में यह टीका मम्मट के ग्रन्थ के कुछ अंशों पर ही लिखी गई है। मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा ने 1956 में इसको मुद्रित किया है।
3. देखिए पीटर्सन, ii. पृ० 17 जहाँ सुबुद्धि की टीका तथा 'तत्वपरीक्षा', दोनों का उल्लेख है।
4. औफ्रेक्ट, i, 103a, ii, 20a.

हुए हैं, क्योंकि कमलाकर (1612 ई०) तथा जगन्नाथ (पृ० 39) ने उनका उल्लेख किया है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि कई स्थलों पर 'सारबोधिनी' ने परमानंद-लिखित 'विस्तारिका' का विस्तार अथवा संक्षेपण किया है। 'सारबोधिनी' (संख्या 107, Cat, xii, पृ० 115) की BORI पांडुलिपि के पृष्ठांत विवरण में श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य के पिता का नाम श्रीविष्णु भट्टाचार्य चक्रवर्ती था। मद्रास कैटलॉग xxii, 12827, तथा BORI पांडुलिपि कैटलॉग xii संख्या 54, पृ० 56-57 में 'काव्य-परीक्षा' की पांडुलिपि के उद्धरण दिए गए हैं।

पंडितराज

रत्नकंठ ने इनका उल्लेख किया है। संभवतः ये धर्मशास्त्रज्ञ महेश ठक्कुर (देखिए, झा का 'काव्यप्रकाश' का अनुवाद, भूमिका पृ० ix) के शिष्य रघुनंदन राय ही थे। इन्हें जगन्नाथ पंडितराज मानना भ्रममूलक है।

स्टीन ने पांडुलिपि 1164, पृ० 60, 269 पर इनका उल्लेख किया है (औफ्रेक्ट i. 19a)। स्टीन की पांडुलिपि केवल उल्लास ii तक ही है और मिश्र तथा प्रत्यभिज्ञाकार के अतिरिक्त उसमें किसी भी अधिकारी आचार्य का वर्णन नहीं है। झा की पांडुलिपि 1637 ई० में तैयार की गई थी।

रवि तथा रत्नपाणि

रवि ने 'मधुमति' नामक टीका की रचना की है। उसके अंतिम पद्य के कथनानुसार इन्होंने अपनी प्रिय पुत्री मधुमती के नाम पर अपनी टीका का नामकरण किया था। इन्होंने स्वयं को गौरी तथा मनोधर अथवा रत्नपाणि का पुत्र तथा अच्युत का पौत्र कहा है। अच्युत मिथिला के राजा शिवसिंह अथवा शिवसिद्ध के मंत्री थे (लगभग 15वीं शती का मध्यभाग, IOC, iv पृ० 875 इत्यादि)। रत्नपाणि अथवा मनोधर ने मम्मट पर 'काव्यदर्पण'[1] नामक टीका भी लिखी है। उनके पुत्र ने इस टीका का उल्लेख किया है तथा स्वयं अपनी टीका की रचना उसी के आधार पर की है। भीमसेन ने पिता तथा पुत्र दोनों का उल्लेख किया है। कमलाकर तथा नरसिंह ने मधुमतिकार का उल्लेख किया है।

महेश्वर

इनकी उपाधि न्यायालंकार है। इनकी टीका का नाम—'आदर्श' अथवा 'भावार्थ-

1. देखिए-पीटर्सन iii. परिशिष्ट पृ० 332. 'वहाँ इसका उद्धरण दिया गया है (विशेषतः श्लोक 5)। 'काव्यदर्पण' अथवा 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक इस ग्रंथ की एक पांडुलिपि मित्रा 3169 में निर्दिष्ट की गई है। लेखक का नाम मनोधर दिया गया है।

चिंतामणि' है। ये एक बंगाली लेखक थे। इन्होंने 'दायभाग' पर एक टीका लिखी थी। क्योंकि वैद्यनाथ ने इनका उल्लेख किया है, इसलिए इन्हें 17वीं शती के मध्य में रखना चाहिए। संभवत: ये 17वीं शती के आरंभ में हुए हैं।

संस्करण : जीवानंद विद्यासागर द्वारा कलकत्ता, 1876, तथा सं० कलकत्ता संस्कृत सीरीज 1936।

कमलाकर भट्ट

ये शर्मशास्त्री (Legist) होने के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। स्मृति तथा मीमांसा पर इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की है। ये बनारस के मराठा ब्राह्मण थे। रामकृष्ण भट्ट तथा उमा के पुत्र, दिनकर भट्ट के कनिष्ठ भ्राता, नारायण भट्ट के पौत्र तथा रामेश्वर भट्ट[1] के प्रपौत्र थे। राजा राजसिंह के मंत्री, गरीबदास के अनुरोध पर 'रामकल्पद्रुम' नामक ग्रंथ के रचयिता अनंत भट्ट, कमलाकर भट्ट के पुत्र थे। क्योंकि उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ निर्णयसिंधु पर संवत् 1668 = 1612 ई० अंकित किया है, इसलिए उनकी तिथि ज्ञात है। उन्होंने चार अध्यायपर्यंत 'रामकौतुक' नामक ग्रंथ भी लिखा है।

संस्करण : पप शास्त्री द्वारा, बनारस 1866. IOB. iii संख्या 1143/361, पृ० 327 में उद्धरण-सहित इस टीका का उल्लेख किया गया है।

राजानक आनंद

इनकी टीका का नाम 'निदर्शना' अथवा 'शितिकंठविबोधन'[2] है। हॉल ने ('वासवदत्ता' पृ० 16) यह मानकर कि यह ग्रंथ शितिकंठ रचित

---

1. बनारस के भट्ट परिवार में कमलाकर के स्थान के लिए बी० ए० मांडलिक के 'व्यवहार-मयूख' सं० पृ० lxxvi में दी गई वंशावली देखिए। भंडारकर रिपोर्ट 1883-84 पृ० 50-1 भी देखिए। मीमांसा तथा स्मृति पर उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। कुछ एक का उन्होंने अपनी टीका के अंत में उल्लेख किया है (देखिए औफ्रेक्ट i.80)। कहा जाता है कि उनके वंशज अब भी बनारस में विद्यमान हैं।

2. बूहलर (काश्मीर रिपोर्ट, पृ० 69 पादटिप्पणी) उल्लेखानुसार पृष्ठांत विवरण में ऐसा कहा गया है—इति श्रीमद राजानकान्वयतिलकेन राजानकानंदकेन विरचितं काव्यप्रकाशनिदर्शनम्। किंतु स्टीन की जम्मू पांडुलिपि में विवरण इस प्रकार है—इति श्रीकाव्यदर्शन शितिकंठविबोधने काव्योद्देशदर्शनं प्रथमम्—अध्याय 1 के अंत का विवरण। पीटर्सन के विचार से संभवत: टीका का वास्तविक नाम 'निदर्शन' है। 'शितिकंठ-विबोधन' वैकल्पिक अथवा विवरणात्मक नाम है, जो शितिकंठ अथवा शिव से संबंधित है, जिसे टीका ने पाठ में सिद्ध किया है।

है तथा आनंद को समर्पित किया गया है, गलती की है। इस टीका के प्रथम पद्य[1] तथा अंतिम पृष्ठ के विवरण के कारण हॉल से ऐसी गलती हुई है,; किंतु ग्रंथ-लेखक ने स्वयं स्पष्टतया कहा है कि इस टीका का यह नाम इसलिए रखा गया है कि इसमें मम्मट के ग्रंथ के आलंकारिक अर्थ के अतिरिक्त शितिकंठ अथवा शिव-रहस्य की भी व्याख्या की गई है। संभवतः मम्मट स्वयं काश्मीरी शैव थे, किंतु इसमें संदेह नहीं कि आनंद अवश्य काश्मीरी थे। किंतु यह कहना कि ग्रंथ-पाठ इस प्रकार की व्याख्या लक्षित करता है, संदेहमूलक है। पृष्ठांत विवरण में 1665 ई० तिथि दी गई है। हॉल के विचार से यह ग्रंथ की पांडुलिपि के तैयार होने की तिथि है। स्टीन ने इस संबंध में इस प्रकार कहा है—'आनंद' ने यह टीका 1665 ई० में लिखी थी। काश्मीरी पंडितों की परंपरा में वे अब भी राजानक रत्नकंठ के समकालीन तथा मित्र के नाते प्रसिद्ध हैं[2]। राजानक रत्नकंठ की एक ज्ञात तिथि 1648 ई० है। इस प्रकार आनंद की तिथि 17वीं शती के दूसरे तथा तीसरे चरण में निर्धारित की जा सकती है। आनंद ने संभवतः 'नैषध' पर भी टीका लिखी थी।

उद्धरण : पीटर्सन (i. 74); तथा स्टीन के जम्मू कैटलॉग पृ० xxvii।

राजानक रत्नकंठ

इनकी टीका का नाम 'सारसमुच्चय' है। टीका के नाम तथा लेखक के अपने कथन से ही प्रकट होता है कि इसमें 'जयंत प्रभृति लेखकों की मुख्य टीकाओं का सार-संग्रह किया गया है।' इस प्रकार इन्होंने कुछ पूर्ववर्ती प्रसिद्ध टीकाओं का उल्लेख किया है।[3] इसमें (भास्कर-रचित) 'साहित्य-दीपिका', (श्रीवत्स-रचित) 'सार-बोधिनी', सुबुद्धि मिश्र तथा पंडितराज की टीकाएँ, (परमानंद रचित) 'विस्तारिता', (गोविंद-रचित) 'प्रदीप', और 'तत्वपरीक्षा' तथा 'रसरत्नदीपिका' नामक दो अन्य टीकाओं का उल्लेख है। स्टीन (भूमिका पृ० vii इत्यादि) के कथना-

---

1. प्रणम्य शारदां काव्यप्रकाशो बोधसिद्धये।
पदार्थविवृतिद्वारा शितिकंठस्य दर्श्यते॥
झलकीकर का पाठ है—स्वशिष्येभ्यः प्रदर्श्यते, तथा उनकी टिप्पणी है—अत्र शितिकंठस्य दर्श्यते इति पाठो विवरणकारैरंगीकृतः।
2. जम्मू कैटलॉग पृ० xxvii पा० टि० तिथि कलि संवत् (युग ?) 4766 दी गई है।
3. पीटर्सन, रिपोर्ट ii, पृ० 17 इत्यादि पर इनके द्वारा उल्लिखित लेखकों की सूची दी गई है।

नुसार इन्हीं रत्नकंठ ने 'राजतरंगिणी' की मूल-पांडुलिपि (Codex archetypus) तैयार की थी। इन्होंने 1648 में रुय्यक के 'संकेत' की पांडुलिपि, 1655 में अमर पर रायमुकुट की टीका तथा 1673 ई० में त्रिलोचनदास की 'कातंत्रपंजिका' की अनुलिपि तैयार की थी। यह रत्नकंठ, धौम्यायन गोत्रोत्पन्न शंकरकंठ के पुत्र तथा अनंतकवि के पौत्र रत्नकंठ ही हैं। इन्होंने 1681 ई० में 'स्तुतिकुसुमांजलि-टीका' ('शिष्य-हिता' नामक) की रचना की तथा 1672 ई० में 'युधिष्ठिर-विजय-काव्यटीका' (औफ्रेक्ट i, 489 b; स्टीन, उपर्युक्त ग्रंथ) लिखी। 1648 से 1681 ई० की अवधि ही इनका साहित्य-रचना का काल रहा है।

इनके उद्धरण, पीटर्सन, रिपोर्ट ii, पृ० 129 (तथा ii, 16 इत्यादि) में दिए गए हैं। वहाँ इनके द्वारा निर्दिष्ट लेखकों की सूची भी दी गई है; BORI पांडुलिपि संख्या 113 (कैटलाग xii, पृ० 121)।

नरसिंह ठक्कुर

इनकी टीका का नाम है 'नरसिंह मनीषा'। ये गोविंद ठक्कुर के वंश में हुए हैं तथा उनके पश्चात् पाँचवीं पीढ़ी में हुए हैं। अर्वाचीनतम लेखक, जिनका इन्होंने उल्लेख किया है, मधुमतिकार (रवि) तथा कमलाकर हैं। भीमसेन के 'न्यायविद्यावागीश' की उपाधि के साथ इनका उल्लेख किया है। तिथि 1620-1700 ई० के बीच।

पांडुलिपि : औफ्रेक्ट i. 101b, ii. 19 b.

वैद्यनाथ तत्सत्

इन्होंने दो टीकाओं की रचना की है—(1) गोविंद के 'प्रदीप' पर 'प्रभा' तथा (2) 'काव्यप्रकाश' के उदाहरण-पद्यों पर 'उदाहरणचंद्रिका'। दूसरी टीका की तिथि अंतिम पद्य के अनुसार, 1740 = 1684 ई०[1] है। उन्होंने अप्पय्य के 'कुवलयानंद' (अन्यत्र देखिए) पर 'अलंकारचंद्रिका' नामक टीका भी लिखी है। ये महादेव तथा वेणी के पुत्र तथा नागोजी भट्ट के शिष्य मैथिल वैयाकरण वैद्यनाथ से भिन्न हैं। हमारे वैद्यनाथ, तत्सत् वंश के रामचंद्र (अथवा रामबुध) भट्ट के पुत्र तथा विट्ठल भट्ट के पौत्र कहे जाते हैं। नागोजी ने स्वयं उनका उल्लेख किया है। हमारे वैद्यनाथ ने चंडीदास, सुबुद्धि मिश्र, दीपिकाकृत (गोविंद-रचित 'उदाहरणदीपिका') चक्रवर्ती तथा महेश का उल्लेख किया है तथा स्वयं भीमसेन

1. यह तिथि IOC पांडुलिपि कैटलॉग iii, पृ० 322, संख्या 1151 में दी गई है।

ने इनका उल्लेख किया है। संभवतः ये जयदेव के 'चंद्रालोक' तथा नागोजी के 'परिभाषेंदुशेखर' (सं० आनंदाश्रम, पूना, 1913) पर टीका करनेवाले वैद्यनाथ पांडुगुंड नहीं हैं।

संस्करण : 'प्रभा' सं० 'प्रदीप' सहित, दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब द्वारा, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1891, 1912 (यहाँ संदर्भ 1912 के सं० से दिए गए हैं)।

'उदाहरण-चंद्रिका', उद्धरण : पीटर्सन रिपोर्ट ii, पृ० 108 में SCC. vii, 45 में IOC iii, 1151/943 b में।

भीमसेन-दीक्षित

इनकी टीका का नाम 'सुधासागर' अथवा 'सुधोदधि' है।[1] इस पर संवत् 1779 = 1723 ई० अंकित है।[2] भीमसेन कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। स्वयं को इन्होंने शिवानंद का पुत्र तथा मुरलीधर का पौत्र कहा है। इनकी वंशावली इस प्रकार है—गंगादास-वीरेश्वर-मुरलीधर-शिवानंद-भीमसेन। इन्होंने दो मूल-ग्रंथ, 'अलंकार सारोद्धार' तथा 'कुवलयानंदखंडन'[3] भी लिखे हैं। दूसरा ग्रंथ अप्पय्य के उसी नाम के ग्रंथ के विरुद्ध है। मम्मट पर इसकी टीका में दोनों ग्रंथों का उल्लेख है। दूसरा ग्रंथ अजितसिंह (1680-1725 ई०) के राज्य में जोधपुर में लिखा गया था। भीमसेन ने 'रत्नावली'[4] पर भी एक टीका लिखी है। इन्होंने अनेक टीकाकारों के नाम लिए हैं, यथा—चंडीदास, भास्कर, अच्युत, रत्नमणि, रवि, जयराज पंचानन, वाचस्पति मिश्र, चक्रवर्ती, रुचि मिश्र, पक्षधर उपाध्याय, देवनाथ तर्कपंचानन, श्रीवत्सलांछन, गोविंद तथा नरसिंह ठक्कुर, महेश अथवा महेश्वर तथा वैद्यनाथ।

संस्करण : नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा, चौखंबा संस्कृत सीरीज बनारस, 1927। उद्धरण : पीटर्सन i, पृ० 94, तथा 'काव्यप्रकाश' का झलकीकर का संस्करण।

---

1. पीटर्सन के उद्धरण (i. पृ० 94) में 'सुखोदधि' का रूप 'सुधोदधि' होना चाहिए।
2. पीटर्सन रिपोर्ट i, पृ० 94।
3. ग्रंथ का दूसरा नाम 'अलंकार सार स्थिति' है। इसकी एक पांडुलिपि का उल्लेख मित्रा 4084 (औफ्रेक्ट ii. 23a) में किया गया है। BORI (कैटलॉग xii, संख्या 156, पृ० 179-80—इसमें इसकी उल्लेख-सूची दी गई है) में इस ग्रंथ की एक अशुद्ध तथा अपाठ्य पांडुलिपि का उल्लेख है। तथा देखिए एच० पी० शास्त्री, Cat. ASB MSS.vi, संख्या 4895/3147, पृ० 456।
4. औफ्रेक्ट i. 492.

बलदेव विद्याभूषण

ये केवल विद्याभूषण के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी टीका, जिसे इन्होंने 'भरतसूत्र-वृत्ति' कहा है, का नाम 'साहित्यकौमुदी' है। इन्होंने मम्मट की कारिकाओं को भी 'सूत्र' कहा है। इन्होंने अपनी टीका पर स्वयं 'कृष्णानंदिनी' नामक 'टिप्पणी' लिखी है। इस ग्रंथ की योजना तथा विषय-सामग्री 'काव्यप्रकाश' के अनुरूप है, किंतु शब्द तथा अर्थ-अलंकारों पर ग्यारहवाँ अध्याय अतिरिक्त है। स्टीन ने (पृ० 59, 268) प्रभा-पर्यंत 'काव्यकौस्तुभ' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है और उसे एक वैष्णव विद्याभूषण-रचित माना है। संभवतः ये हमारे ही लेखक हैं (देखिए भूमिका, 'साहित्य-कौमुदी', काव्यमाला संस्करण, तथा औफ्रेक्ट (i. 10la, ii. 19b, iii. 22b); इस ग्रंथ के विषय में अल्प-प्रसिद्ध लेखकों के विवरण के अंतर्गत देखिए। बलदेव, राधादामोदरदास ('साहित्यकौमुदी' का अंतिम पद्य तथा उसकी टीका) तथा गोपालदास (उपनाम, रसिकानंद, श्लोक 1 की टीका) के शिष्य तथा उद्धवदास के गुरु थे। वैष्णव तथा चैतन्य के अनुयायी थे। इन्होंने कई वैष्णव ग्रंथ लिखे हैं। उड़ीसा-निवासी होने पर भी ये बंगाल के परवर्ती वैष्णव संप्रदाय के समर्थक थे। इन्होंने मध्व तथा चैतन्य के मतानुयायियों में मेलमिलाप का प्रयत्न किया। इस संबंध में एस० के० डे रचित Vaishnawa Faith and Movement in Bengal कलकत्ता 1942, पृ० 11-12 देखिए। इनकी उपर्युक्त टीका के अतिरिक्त इनके मुख्य ग्रंथ, वेदांतसूत्र पर 'गोविंदभाष्य' तथा 'प्रमेय-रत्नावली' हैं। ये 18वीं शती के आरंभ में हुए जयपुर-नरेश जयसिंह के समकालीन माने जाते हैं। औफ्रेक्ट के कथनानुसार 'उत्कलिका-वल्लरी' पर इनकी टीका 1765 ई० में लिखी गई थी। इन्होंने अपनी 'साहित्यकौमुदी' के प्रथम पद्य के अंतर्गत एक श्लेष में उत्कल अथवा उड़ीसा के गजपति प्रतापरुद्र का उल्लेख किया है। अपनी 'टिप्पणी' में उन्होंने इसकी व्याख्या भी की है।

संस्करण : 'कृष्णानंदिनी' सहित, सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1897; पीटर्सन ii, 10 में इसी ग्रंथ का उल्लेख 'भरतसूत्रवृत्ति' के नाम से किया गया है।

नागोजी अथवा नागेश भट्ट

इन्होंने 'प्रदीप' पर 'लघु-उद्योत' तथा 'बृहत् उद्योत' नामक टीकाएँ

लिखी हैं। पाठ-गत उदाहरणों पर इन्होंने 'उदाहरण-दीपिका' अथवा—'प्रदीप' नामक टीका भी लिखी है (स्टीन, पृ० xxvii, 268)। ये 18वीं शती के प्रथम चरण में हुए हैं। इन्होंने जगन्नाथ (अन्यत्र देखिए) पर एक टीका के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं। ये जगन्नाथ से दो पीढ़ी बाद में हुए हैं। आगे देखिए, जगन्नाथ के विवरण के अंतर्गत।

संस्करण : 'उद्योत' 'प्रदीप' सहित, आनंदाश्रम सीरीज, 1911, सं० पाठ तथा 'प्रदीप' सहित (अध्या० i, ii, vii तथा x) चंदोरकर द्वारा, पूना 1889, 1915।

'उदाहरण दीपिका' औफ्रेक्ट ii, 19b (उद्धरण : स्टीन पृ० 268-69 नाम-'प्रदीप'।)

2

मम्मट के कुछ अल्प-प्रसिद्ध टीकाकारों के नाम इस प्रकार हैं :

1. कलाधर : 'कारिकावली' कारिकाओं का सारांश है KBod 501.
2. कल्याण उपाध्याय : टीका का नाम अज्ञात है, झा ने 'काव्यप्रकाश' के अपने अनुवाद, पृ० ix पर इसका उल्लेख किया है।
3. कृष्ण द्विवेदी : टीका 'मधुररसा'; औफ्रेक्ट i, 101b।
4. कृष्ण शर्मा : 'रस प्रकाश' HSP iii संख्या 58 (उद्धरण, केवल 5वें अध्याय तक है); कैटलॉग ASB.MSS, vi, संख्या 4842/6581, पृ० 419-20 (केवल 20 पृष्ठों तक; पहला तथा दूसरा अध्याय मात्र है)।
5. कृष्णमित्राचार्य : रामनाथ के पुत्र तथा देवीदत्त के पौत्र। ये नैयायिक थे। इनकी रचनाओं के लिए देखिए औफ्रेक्ट i. 121b—'टीका' औफ्रेक्ट i. 101b।
6. गदाधर चक्रवर्ती भट्टाचार्य : 'टीका', मित्रा 1527 SCC. vii 13) रघुनाथ शिरोमणि के 'तत्वचिंतामणि-दीधिति' पर अपनी टीका के लिए गदाधर बहुत प्रसिद्ध हैं। यह ग्रंथ बंगाल के नव्य न्याय का मानक ग्रंथ है। ये हरिराम तर्कालंकार के शिष्य थे तथा 16वीं शती के अंत और 17वीं शती के आरंभ में हुए थे।
7. गुणरत्न गणि : टीका—'सारदीपिका' (BORI कैटलॉग पांडुलिपि xii, पृ० 112) पांडुलिपि पर संवत् 1890 अंकित है।
8. गोकुलनाथ उपाध्याय (मैथिल स्मार्त)—इनकी 'टीका' झा के उपर्युक्त ग्रंथ पृ० ix पर निर्दिष्ट की गई है। अल्प-प्रसिद्ध लेखकोंवाले अध्याय के अंतर्गत आगे देखिए।

9. गोपीनाथ : टीका 'सुमनोमनोहरा'। औफ्रेक्ट i. 101b. इन्होंने विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' (अन्यत्र देखिए) पर भी टीका लिखी है। 17वीं शती का अंतिम-भाग।

10. जगदीश तर्कपंचानन भट्टाचार्य : टीका—'रहस्य-प्रकाश'। औफ्रेक्ट i. 101b (मित्रा 1651)। पांडुलिपि इनके शिष्य ने शक 1579 = 1657 ई० में तैयार की थी। ये जगदीश तर्कालंकार नामक नवद्वीप (बंगाल) निवासी भावानंद तथा (रामभद्र) सार्वभौम के शिष्य प्रसिद्ध नैयायिक से भिन्न हैं।

11. जनार्दन विबुध : अनंत के शिष्य। टीका—'श्लोक-दीपिका'। औफ्रेक्ट i. 101b, ii. 19b (स्टीन 61, अपूर्ण)। इन्होंने 'रघु' तथा 'वृत्तरत्नाकर' पर भी टीकाएँ लिखी हैं। ये जयराम न्यायपंचानन के शिष्य, विट्ठल व्यास के पौत्र, बाबूजी व्यास के पुत्र, प्रसिद्ध लेखक जनार्दन व्यास से भिन्न हैं।

12. तिरुवेंकट : चिन्नतिम्म के पुत्र तथा तिरुमल गुरु के पौत्र दक्षिण-भारतीय लेखक। इन्होंने भट्ट-गोपाल की टीका का उल्लेख किया है। Madras Trm Cat. A 318.

13. देवनाथ तर्कपंचानन : टीका—'काव्यकौमुदी'। रचना-तिथि-संवत् 1717 (=1661) bori mss Cat, xii पृ० 81. पिता का नाम गोविंद था। कमलाकर तथा भीमसेन ने इनका उल्लेख किया है। भट्टि x, 73 पर भरत मल्लिक ने एक देवनाथ का उल्लेख किया है। हमारे देवनाथ बंगाल के तर्कशास्त्री थे। इन्होंने विश्वनाथ की विरोधी-आलोचना के सम्मुख मम्मट-मत का समर्थन किया। उद्धरणों के लिए देखिए—Madras Trm ii, C, 1570; तथा A, 819. देखिए, मित्रा 1447। इसमें एक 'एकषष्ट्यलंकार-प्रकाश' का उद्धरण है तथा देवनाथ और जयराम के ग्रंथों का सूत्र-ग्रंथों के रूप में उल्लेख किया गया है।

14. नरसिंह सूरि : तिम्मजी मंत्री के पुत्र तथा रंगप्रभु के पौत्र। टीका—'ऋजुवृत्ति' (केवल कारिकाओं पर) औफ्रेक्ट ii, 19b, Madras Trm B. 381.

15. नागराज केशव : टीका 'पदवृत्ति'। औफ्रेक्ट i, 101b।

16. नारायण दीक्षित : रंगनाथ दीक्षित के पुत्र तथा बालकृष्ण के भ्राता।

रंगनाथ ने 'विक्रमोर्वशी पर अपनी टीका 1656 ई० में समाप्त की थी, इसलिए उनकी तिथि 17वीं शती के अंत में निर्धारित कर सकते हैं।—'टीका', औफ्रेक्ट i. 101b (देखिए, 292a । AFI पृ० 155 ।)

17. भानुचंद्र : 'टीका' औफ्रेक्ट i. 101b. इन्होंने 'दशकुमार' पर भी टीका की रचना की है।

18. भवदेव : मिथिला-निवासी कृष्णदेव के पुत्र तथा भवदेव ठक्कुर के शिष्य। टीका—'लीला', औफ्रेक्ट ii. 20a; मद्रास कैटलॉग 12824-25 (उद्धरण)। इन्होंने 'वेदांतसूत्र' पर भी टीका लिखी है। (10C. 1428)। इस टीका के अंतिम पद्य के अनुसार ये शाहजहाँ के राज्यकाल में हुए तथा इन्होंने टीका की रचना शक 1571 = 1649 ई० में पटना में की।

19. मधुगणेश : टीका—'काव्यदर्पण', औफ्रेक्ट i. 102a ।

20. यज्ञेश्वर यज्वन् : टीका—'व्याख्या', मद्रास कैटलॉग 12821 (उद्धरण)।

21. रघुदेव : टीका—'कारिकार्थ प्रकाशिका औफ्रेक्ट' ii. 20a (उल्लास ii के लगभग अंत तक)।

22. रत्नेश्वर : टीका का नाम ज्ञात नहीं है, किंतु स्वयं इन्होंने भोज पर अपनी टीका में उसे निर्दिष्ट किया है। (तुलना कीजिए ABod 209a)।

23. राघव : इन्होंने एक 'अवचूरि-टिप्पणी' लिखी है। झलकीकर पृ० 36 पर उसका उल्लेख मिलता है।

24. राज्ञानंद : शीर्षक-विहीन टीका, मद्रास कैटलॉग 12820 (उद्धरण) तुलना कीजिए, औफ्रेक्ट ii, 20a ।

25. रामचंद्र : इन्होंने 'काव्यप्रकाशसार' लिखा है। इसमें स्पष्टतया सार रूप में मूल ग्रंथ की व्याख्या की गई है। औफ्रेक्ट i. 102b ।

26. रामनाथ विद्यावाचस्पति : बंगाली टीकाकार हैं। इन्होंने—'रहस्य-प्रकाश' लिखा है। औफ्रेक्ट i. 102a. भवदेव की 'संस्कारपद्धति' पर इनकी टीका की रचना 1623 ई० में हुई थी। (देखिए औफ्रेक्ट i. 516a)।

27. रामकृष्ण : टीका 'भावार्थ' अथवा 'कवि-नंदिनी (अथवा-'नंदिका')। औफ्रेक्ट i. 102a, ii. 10a, तथा ii. 16b।

28. विजयानंद : एक 'टीका' लिखी है। Deccan Coll, Cat पृ० 44. पांडुलिपि की तिथि 1683 ई० दी गई है।

29. विद्यासागर : प्रत्यक्ष रूप में किसी टीकाकार की उपाधि है। श्रीवत्सलांछन ने इनका उल्लेख किया है। विद्यासागर नामक एक लेखक ने भट्ट पर 'कलादीपिका' नामक टीका लिखी है। मल्लिक (x. 73 पर) तथा 'अमरकोश' पर अपनी टीका में रामनाथ ने इनका उल्लेख किया है। एस० पी० भट्टाचार्य (श्रीधर की टीका की भूमिका, पृ० xxx) के मत से यह मम्मट के टीकाकार पुंडरीक विद्यासागर हैं, जो 15वीं शती के प्रथम चरण में हुए थे। इन्होंने दंडी तथा वामन पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

30. वेंकटाचल सूरि : टीका, 'सुबोधिनी' औफ्रेक्ट i. 102a एच० पी० शास्त्री, Cat ASB MSS. v. संख्या 4837/8736, पृ० 415। शिवनारायणदास सरस्वतीकंठाभरण, दुर्गादास के पुत्र : टीका—'दीपिका' बेबर i. संख्या 819, औफ्रेक्ट i. 102a। इनका रचना-काल 17वीं शती का आरंभ था ? इनके अन्य ग्रंथों के लिए देखिए, औफ्रेक्ट i. 649b।

31. शिवराम त्रिपाठी : टीका 'विषमपदी', कीलहार्न Central Prov. Cat. पृ० 107, इनके विषय में अल्पप्रसिद्ध लेखकों के अंतर्गत आगे देखिए।

32. सिद्धिचंद्र गणि : 'काव्यप्रकाश खंडन' (10 उल्लास), संपादक—रसिकलाल सी० पारिख, भारतीय विद्या भवन, बंबई 1953। लेखक एक प्रसिद्ध, जैन भिक्षु थे (जन्म, 1587-88 ई०) तथा अकबर और जहाँगीर के समय में हुए थे। ये जगन्नाथ के समकालीन थे। इनके अपने कथनानुसार इनकी पद्धति 'अनुवाद-पूर्वक खंडन' है अर्थात् पहले व्याख्या तत्पश्चात् खंडन। इनकी सारी आलोचना युक्तियुक्त नहीं है। सिद्धिचंद्र ने काव्यप्रकाश पर भी एक बृहत टीका की रचना की थी। हेमचंद्र ने मम्मट के ग्रंथ को मानक ग्रंथ माना है, किंतु सिद्धिचंद्र जगन्नाथ की भाँति 'नव्य' थे। ये एक नवीन काव्य सिद्धांत की स्थापना में यत्नशील थे। लेखक तथा उनके ग्रंथों के विषय में

सूचनार्थ उपर्युक्त संस्करण की भूमिका देखिए। पांडुलिपि का शीर्षक है 'काव्यप्रकाश' अथवा 'काव्यामृत-तरंगिणी'। यह एक भिन्न ग्रंथ प्रतीत होता है।

इनके अतिरिक्त और टीकाएँ हैं। वे या तो अनाम हैं या उनके लेखकों के नाम लुप्त हैं। कुछ एक का उल्लेख औफ्रेक्ट i. 101 b, 778b, ii. 20a, 193b में किया गया है। अतएव, महेश्वर नामक एक टीकाकार की यह उक्ति सत्य प्रतीत होती है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे।
टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः॥

———

अध्याय 7

रुय्यक से विद्यानाथ तक

रुय्यक

1

रुय्यक का दूसरा नाम[1] रुचक था। उनके नाम के साथ काश्मीरी उपाधि 'राजानक' है। वे राजानक तिलक[2] के पुत्र थे। जयरथ के कथनानुसार (पृ० 115, 124, 205) राजानक तिलक ने उद्भट पर 'उद्भट विवेक' अथवा 'उद्भट-विचार' नामक एक टीका अथवा आलोचना लिखी थी।

रुय्यक का प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकार सर्वस्व' है। इसके दो भाग हैं, सूत्र तथा वृत्ति। इन दोनों भागों का लेखक एक ही व्यक्ति माना जाय अथवा नहीं, यह प्रश्न उठाया गया। मूल पाठ का संस्करण उपर्युक्त शीर्षक के अंतर्गत निर्णय-सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण में रुय्यक को सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना गया है। रुय्यक के प्राचीनतम टीकाकार, जयरथ ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। उन्होंने लेखक को सूत्र तथा वृत्ति, दोनों अंशों के

1. पिशेल-कृत 'सहृदयलीला' के संस्करण के पृष्ठांत विवरण में इस प्रकार कहा गया है—राजानक रुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः (कृतिः)। तुलना कीजिए—इसी ग्रंथ का काव्यमाला गुच्छक v (1908) का संस्करण—पांडुलिपि 'ख' का पाठ। उनके अन्य बड़े ग्रंथ की पांडुलिपियों में यही नाम दिया गया है (यथा, मूल पाठ के निर्णय-सागर प्रेस तथा त्रिवेंदम् संस्करण, मित्रा ix, पृ० 117)। इसके अतिरिक्त कुमारस्वामी (पृ० 393, 396, 425, 448), अप्पय्य दीक्षित (चित्र-मीमांसा, पृ० 72), 'शकुंतला' पर राघाभट्ट (पृ० 161, 179, 193) तथा रुय्यक के एक टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती (मद्रास कैटलॉग xii, पृ० 8609) ने भी यही नाम दिया है। मम्मट पर रुय्यक रचित 'संकेत' नामक टीका के संबंध में बूहलर (काश्मीर रिपोर्ट, संख्या 247, पृ० xvi) तथा पीटर्सन (ii, पृ० 13 इत्यादि) को भी नाम का यही रूप प्राप्त हुआ। रुय्यक के शिष्य मंखक (श्रीकंठ, अ० xxv, 30; आगे देखिए) ने इसके नाम का रुय्यक रूप अधिक प्रामाणिक माना है।

2. पिशेल-कृत 'सहृदयलीला' के पृष्ठांत विवरण में यह कथन है—'राजानकतिलकात्मज'। रुय्यक के समान उनके पिता भी काव्य-शास्त्र के लेखक तथा उद्भट के अनुयायी थे। मम्मट पर अपनी टीका में (सं० पारिख, पृ० 295, उल्लास x, 106 पर) सोमेश्वर ने तिलक का नाम लिया है तथा उनका एक पद्य उद्धृत किया है।

'ग्रंथकृत' के रूप में निर्दिष्ट किया है।[1] इस संस्करण में वृत्ति के मंगलाचरण-पद्य के दूसरे अंश में इस प्रकार कहा गया है—

'निजालंकार-सूत्राणां वृत्या तात्पर्यमुच्यते।

अर्थात् वृत्तिकार ने स्वयं को सूत्रों का लेखक निर्दिष्ट किया है।[2] कुछ दक्षिण भारतीय पांडुलिपियों में उपर्युक्त पद्य के पाठांतर के कारण यह मत संदेहमूलक हो गया है, क्योंकि उनमें 'निजालंकारसूत्राणां' के स्थान पर 'गुर्वलंकारसूत्राणां' महत्वपूर्ण पाठांतर है। इन पांडुलिपियों में वृत्ति के अंत में एक अतिरिक्त पद्य है।[3] इस पद्य में मूल पाठ, 'अलंकार सूत्र' के स्थान पर वृत्ति का नाम 'अलंकार सर्वस्व' तथा वृत्ति के रचयिता का नाम मंखुक अथवा मंखक बताया गया है, जो काश्मीर-नरेश के 'संधिविग्रहिक' थे। तीन पांडुलिपियों पर आधारित त्रिवेंद्रम् सीरीज के अंतर्गत प्रकाशित ग्रंथ में ऐसा ही पाठ है। इसके अतिरिक्त, बर्नल[4] तथा विंटरनिट्ज़[5] ने पांडुलिपियों में ऐसा ही पाठ देखा है। मद्रास कैटलॉग[6] के अंतर्गत पांडुलिपियों से भी इसी पाठ का समर्थन हुआ है। समुद्रबंध नामक एक दक्षिणभारतीय टीकाकार ने इसी मत का समर्थन किया है। वे 13वीं शती के अंत में हुए हैं। उनका पाठ त्रिवेंद्रम् संस्करण में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने अपनी टीका के विषय अर्थात् वृत्ति को 'अलंकार सर्वस्व', उसके लेखक को मंखक तथा रुय्यक की मूल रचना को 'अलंकार सूत्र' माना है।

वृत्ति के लेखक के संबंध में मतभेद के कारण उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में दो भिन्न परंपराएँ हैं। जहाँ तक वृत्ति के लेखक का प्रश्न है, रुय्यक सूत्रपाठ के निर्विवाद रचयिता हैं। हमारी दृष्टि में रुय्यक तथा मंखक की जन्मभूमि काश्मीर की उत्तर भारतीय परंपरा अधिक प्रामाणिक है। किंतु दक्षिण भारतीय

1. पृ० 19, 20, 55, 57, 67, 72, 83, 87, इत्यादि।
2. ABod, 210a में भी ऐसा ही पाठ है। रुप्पक रुय्यक का अशुद्ध रूप अथवा पाठांतर है (बूहलर, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 68); मित्रा ix, 117. जम्मू की सभी पांडुलिपियों में 'निजालंकार—' पाठ है।
3. इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसंधिविग्रहिकः।
सुकवि-मुखालंकार तदिदमलंकार-सर्वस्वम्॥
4. तंजोर कैटलॉग, पृ० 54a.
5. कैटलॉग ऑफ साउथ इंडियन मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृ० 208, तुलना कीजिए, जेकब, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी 1897, पृ० 283 इत्यादि।
6. xii, पृ० 8606-7 हरिचंद शास्त्री के उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 105 इत्यादि पर इस प्रश्न पर विस्तार से चर्चा की गई है।

परंपरा में सूत्रों के लेखक तथा वृत्ति के लेखक में परस्पर भेद परिलक्षित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय लेखक, अप्पय्य दीक्षित ने रुय्यक अथवा रुचक को 'अलंकारसर्वस्व' का लेखक बताया[1] है तथा सूत्र एवं वृत्ति दोनों का ही रचयिता स्वीकार किया है। इस संबंध में अप्पय्य के अतिरिक्त मल्लिनाथ,[2] कुमारस्वामी[3] तथा जगन्नाथ[4] का भी यही मत है। इसके विपरीत जयरथ स्वयं काश्मीरी थे। इसलिए अनेक मत-परंपराओं पर आधारित समुद्रबंध-जैसे परवर्ती टीकाकार का कथन जयरथ के साक्ष्य की तुलना में अधिक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि काव्यालंकार के परवर्ती लेखकों ने रुय्यक (तथा जयरथ) की सविस्तर चर्चा की है, किंतु 'चित्रमीमांसा' (पृ० 10) में अप्पय्य के अतिरिक्त किसी भी लेखक ने मंखक का उल्लेख तक नहीं किया है।

2

रुय्यक के साथ मंखक के सहयोग की परंपरा का आधार यह है कि वास्तव में मंखक रुय्यक के शिष्य थे।[5] विश्वावर्त के पुत्र तथा मन्मथ के पौत्र, राजानक मंखक अथवा मंखुक प्रसिद्ध काश्मीरी विद्वान् हैं, जिन्होने 'श्रीकंठचरित' (सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1887) नामक ग्रंथ की रचना की है। बूहलर[6] के मतानुसार यह ग्रंथ 1135 और 1145 ई० के मध्य लिखा गया था। मंखक के भ्राता अलंकार (अथवा लंकक, xxv. 15, 37 इत्यादि)

1. 'चित्र मीमांसा' पृ० 14, 15, 54, 72, 84, 90, 94, 98. 'कुवलय' पृ० 41, 89, 92, 96, 184.
2. 'तरला', पृ० 21, 186, 187, 232, 237, 249, 261, 262, 266, 331, 332.
3. 'रत्नापण' पृ० 393 (= अलंकारसर्वस्ववृत्ति पृ० 58), 425 (तथैव, पृ० 133) 448 (= तथैव, पृ० 144), पृ० 341 (= तथैव 'सूत्र' पृ० 20) पृ० 452 (= तथैव, पृ० 156).
4. 'रसगंगाधर' में कई उल्लेख हैं, किंतु पृ० 163 तथा 200 देखिए। यहाँ सूत्र तथा वृत्ति दोनों का अलंकारसर्वस्व के अंतर्गत उल्लेख किया गया है। पृ० 251, 342-43, 352, 482 भी देखिए तथा 'शकुंतला' पर राघवभट्ट पृ० 161 (= अलंकारसर्वस्ववृत्ति पृ० 64), पृ० 179 (= तथैव पृ० 75), पृ० 193 (= तथैव, पृ० 127)।
5. इस तथ्य से तथा 'अलंकारसर्वस्व के पाठ में प्रदीप इत्यादि विकृतियों से संबंधित जयरथ के कथन से मंखक के सहयोग की परंपरा का कारण स्पष्ट हो जाता है।
6. उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 50 इत्यादि; परिशिष्ट पृ० cix इत्यादि। तथा देखिए 'राजतरंगिणी' viii. 3354।

काश्मीर-नरेश सुस्सल तथा जयसिंह (1120-1150 ई०) के मंत्री (v. 62, xxv. 43, 61) थे। उनके शृंगार नामक एक अन्य भ्राता, सुस्सल के 'बृहत्-तंत्रपति' थे और उन्होंने हर्षदेव के विरुद्ध युद्ध में उनकी सहायता की थी। मंखक के अपने कथन के अनुसार, उन्होंने अपने भाई, अलंकार के घर में आयोजित विद्वानों तथा अधिकारियों की एक सभा में अपना काव्य प्रस्तुत किया था। उस सभा में उनके गुरु रुय्यक भी विद्यमान थे (xxv. 30, 135)। इस प्रकार रुय्यक के अपने ग्रंथ में मंखक के काव्य से उद्धृत पाँच उदाहरण-पद्यों का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता[1] है, क्योंकि गुरु के द्वारा अपने योग्य शिष्य का उल्लेख किया जाना स्वाभाविक ही है। मंखक के काव्य की अधिकतम तिथि 1145 ई० बताई गई है। क्योंकि रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' में उसका उल्लेख है, इसलिए यह ग्रंथ मंखक के ग्रंथ के पश्चात ही लिखा गया होगा। इसके अतिरिक्त, मम्मट पर माणिक्यचंद्र की 'संकेत' नामक टीका 1159-60 ई०, में लिखी गई थी। उसमें 'अलंकारसर्वस्व' का उल्लेख किया गया है। अतएव, रुय्यक का साहित्य-रचना-काल 12वीं शती के दूसरे एवं तीसरे चरण में निर्धारित किया जा सकता है।[2]

यह ग्रंथ सूत्र-वृत्ति पद्धति पर लिखा गया है। इसमें रुय्यक ने केवल काव्यालंकारों का ही विवेचन किया है। पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास (छेक, वृत्ति, तथा लाट), यमक तथा चित्र के पश्चात् उन्होंने उपमा आदि 75 अर्थालंकारों की चर्चा की है। उन्होंने विकल्प (पृ० 159) तथा विचित्र (133-34) नामक दो सर्वथा नवीन अलंकार प्रस्तुत किए हैं। विश्वनाथ, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित इत्यादि मुख्यतः परवर्ती लेखकों ने उनके ग्रंथ का उपयोग किया है। रुय्यक ने अनेक स्थलों पर 'काव्यप्रकाश' को उद्धृत किया है (पृ० 107, पर्यायोक्त पर; पृ० 102=काव्यप्रकाश iv, पृ० 128; पृ० 183, भाविक की परिभाषा)

---

1. इन पद्यों (ii 49, iv. 79, v. 23, vi. 16, x. 10) के लिए देखिए, जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1897, पृ० 283।

2. जेकब (उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 283) ने कहा है कि रुय्यक (पृ० 93) ने 'राजतरंगिणी' iv. 441 ('असमाप्त-जिगीषस्य') को उद्धृत किया है। इस ग्रंथ की रचना जयसिंह के शासनकाल में लगभग 1150 ई० से पहले समाप्त नहीं हुई थी : भरत पर (अध्याय iv, खंड i, पृ० 305) अभिनव की टीका में यह पद्य अज्ञात लेखक के उद्धरण के रूप में मिलता है। यह बात ध्यान देने की है कि जयरथ ने पाठ में अनधिकृत प्रक्षेपों तथा विकृतियों की अनेक बार शिकायत की है (पृ० 50, 67, 107, 124, 126 इत्यादि) तथा पाठांतरों पर चर्चा की है (पृ० 21, 37, 49, 172 इत्यादि), स्वयं जयरथ ने 'राजतरंगिणी' के बारह पद्य उद्धृत किए हैं (पृ० 194), जिनमें काश्मीर के ललितादित्य का वर्णन है।

तथा चित्र, काव्यलिंग, व्याजोक्ति, उत्तर, मीलित तथा समाधि की परिभाषाएँ 'काव्यप्रकाश' में दी गई परिभाषाओं के समान हैं।

3

रुय्यक ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उनमें से केवल तीन मुद्रित हुए हैं :

1. 'काव्यप्रकाश-संकेत' : यह मम्मट के ग्रंथ पर टीका है। जयरथ (पृ० 102) तथा रत्नकंठ ने (पीटर्सन ii, पृ० 17, 19, 'बृहत्-संकेत' के रूप में) इसे रुय्यक-रचित माना है। संस्करण के लिए ऊपर देखिए पृ० 144।

2. 'अलंकार-मंजरी' : उन्होंने स्वयं पृ० 15 पर इसे अपनी रचना बताया है। जयरथ ने रुय्यक की रचना के रूप में इसका उल्लेख नहीं किया। पी० वी० काणे ने इसे रुय्यक की रचना मानने में संदेह प्रकट किया है।

3. 'साहित्य-मीमांसा' : लेखक ने स्वयं पृ० 61 पर तथा जयरथ ने पृ० 126 पर इसका उल्लेख किया है। विद्यानाथ ने पृ० 11 पर लेखक का नाम दिए बिना इसका उल्लेख किया है। (तुलना कीजिए ABod. 21a)। बर्नेल ने एक अज्ञात-लेखक की पद्यमयी 'साहित्य मीमांसा' (पृ० 58a) का उल्लेख किया है। उसमें आठ प्रकरण हैं और वृत्ति गद्यमयी है। यह स्पष्ट रूप से त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज के अंतर्गत 1934 में प्रकाशित 'साहित्यमीमांसा' है।[1] पांडु-लिपि कई स्थलों में अपूर्ण है। लेखक का नाम न आदि में है, न अंत में। पी० वी० काणे ने इस ग्रंथ का विषयसार दिया है (HSP पृ० 269-72)। उनके मतानुसार रुय्यक ही इसके लेखक हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें व्यंजना के स्थान पर तात्पर्यवृत्ति को रसानुभूति का हेतु बताया गया है। रुय्यक का मत इससे सर्वथा भिन्न है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है (पृ० 13)—'अस्ति तावद् व्यंग्यनिष्ठो व्यापारः।' इस प्रकार यह भोज के 'शृंगारप्रकाश' से प्रभावित प्रतीत होता है। वी० राघवन (पृ० 99-100) ने इसे रुय्यक का ग्रंथ मानने में संदेह प्रकट किया है।

---

1. देखिए पृ० 133।

4. 'अलंकारानुसारिणी' : जयरथ ने इसे रुय्यक-रचित कहा है (पृ० 36, 57, 58 तथा 60)। पीटर्सन[1] का मतानुसरण करते हुए औफ्रेक्ट[2] तथा जकोबी[3] ने इसे जल्हण के 'सोमपालविलास' की टीका माना है। जयरथ के उल्लेखानुसार इसमें उस ग्रंथ के अंतर्गत कुछ अलंकारों पर विवेचन किया गया है, किंतु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि यह वास्तव में जल्हण के 'सोमपालविलास' की टीका है। मंखक के 'श्रीकंठचरित' (xxv. 75) में कवि जल्हण का वर्णन किया गया है। जल्हण ने राजपुरी (काश्मीर के निकट) के राजा सोमपाल का जीवनचरित लिखा है। 'राजतरंगिणी' (viii. 621 इत्यादि) से पता चलता है कि उन्होंने काश्मीर के राजा सुस्सल से युद्ध किया था। यह कवि 12 वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं और स्पष्ट रूप से 13वीं शती के उत्तरार्द्ध में, 'सूक्तिमुक्तावली' के संग्रहकर्ता भगदत्त, जल्हणदेव से भिन्न हैं। औफ्रेक्ट (i.203 a) ने गलती से उन्हें 'सोमपालविलास' का लेखक मान लिया है।

5. महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' की एक टीका, जिसे जयरथ ने 'व्यक्ति-विवेक-विचार' के नाम से लक्षित किया है (पृ० 13)। यह टीका वही है, जो त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज के अंतर्गत महिमभट्ट के ग्रंथ के साथ अनाम टीका के रूप में प्रकाशित हुई है। यद्यपि टीका के प्रकाशित पाठ में लेखक का नाम नहीं है, किंतु टीका को केवल 'व्याख्यान' नाम से लक्षित किया गया है। अज्ञात टीकाकार ने इस टीका में अपने अन्य ग्रंथों, तथा, 'साहित्यमीमांसा' (पृ० 32) तथा 'हर्षचरितवार्तिक' (पृ० 44, 50) का उल्लेख किया है। रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' में स्वयं को इन दोनों ग्रंथों का लेखक कहा है और जयरथ ने भी ऐसा ही कहा है। ग्रंथ में उन्होंने 'चंद्रिका' ('ध्वन्यालोक' पर), 'काव्यकौतुक' (पृ० 13), 'हृदय-दर्पण' (पृ० 1, 13) तथा कुंतक के 'वक्रोक्तिजीवित' (पृ० 16, 32, 36, 44) का उल्लेख किया है।

---

1. रिपोर्ट, ii पृ० 17, 'सुभाष—' की भूमिका पृ० 106, Actes du 6me Congres पृ० 364 'स्तुति-कुसुमांजलि' पर अपनी टीका में रत्नकंठ ने इसका ऐसा ही उल्लेख किया है।
2. Cat. Cat. i. 32b.
3. ZDMG lxii, 291; तुलना कीजिए हरिचंद शास्त्री, उपर्युक्त ग्रंथ, 105-106।

6. महिमभट्ट पर उपर्युक्त टीका (पृ० 32) में उन्होंने 'नाटकमीमांसा' को अपनी रचना के रूप में परिलक्षित किया है।
7. 'अलंकारसर्वस्व' (पृ० 61) तथा 'व्यक्तिविवेक व्याख्या' (पृ० 44, 50) पर उन्होंने 'हर्षचरितवार्त्तिक' को अपनी रचना निर्दिष्ट किया है।
8. 'सहृदयलीला' : यह काव्यमाला गुच्छक 5 तथा पिशेल (कील 1886, रुद्र के 'शृंगारतिलक' के साथ) द्वारा संपादित की गई है। इस ग्रंथ में चार उल्लेख हैं—(i) गुण : इसमें स्त्री (नायिका) के दस गुणों—रूप, वर्ण, प्रभा इत्यादि का वर्णन है, (ii) अलंकार : इसमें स्वर्ण, मोती इत्यादि के आभूषण, उबटन, स्त्रियों के द्वारा धारण किए जानेवाले पुष्पादि का वर्णन है; (iii) जीवित : इसमें स्त्री के सौंदर्य-सार अर्थात् यौवन का वर्णन है; तथा (iv) परिकर : इसमें सौंदर्य-प्रसाधन की चर्चा है।
9. 'अलंकार-वार्त्तिक' : जयरथ से पृ० 71 पर रुय्यक को इस ग्रंथ का लेखक कहा है।
10. 'श्रीकंठ-स्तव' : 'अलंकारसर्वस्व' पृ० 19 में रुय्यक ने इसे 'मदीय' कहा है।

4

रुय्यक के टीकाकार

अलक (अथवा अलट ?)

मम्मट पर अपनी टीका में रत्नकंठ ने राजानक अलक के नाम से इस टीकाकार का उल्लेख किया है।[1] मम्मट के ग्रंथ पूरक, अलक, अलट अथवा अल्लट तथा इस टीकाकार की अभिन्नता संदेहजनक है।[2] यह पहले ही बताया जा चुका है और इसलिए उनकी टीका की प्राप्ति से पूर्व इस विषय पर कुछ और कहना अनावश्यक है।

जयरथ

इनकी टीका का नाम 'अलंकार-विमर्शिणी' है। इन्होंने अपने पिता का नाम शृंगार तथा अपने संरक्षक का नाम राजराज बताया है। अभिनवगुप्त के

1. पीटर्सन, रिपोर्ट ii. पृ० 17 इत्यादि। देखिए पृ० 155.
2. देखिए पृ० 137 इत्यादि।

'तंत्रालोक' नामक ग्रंथ पर अपनी 'विवेक' नामक टीका में अपने पिता का पूरा नाम शृंगाररथ बताया है और कहा है कि उनके जयरथ तथा जयद्रथ नामक दो पुत्र थे।[1] वे स्वयं शंखधर तथा शिव के शिष्य थे। जयरथ ने अपने 'विवेक' में विस्तार से अपनी वंशावली का वर्णन किया है। उनके परदादा के भाई का नाम शिवरथ[2] था। वे काश्मीर के राजा उच्छल (1101-1111 ई०) के मंत्री थे। क्योंकि उच्छल के मंत्री तथा जयरथ में चार पीढ़ियों का अंतर है, इसलिए बूहलर के विचार से जयरथ 13वीं शती के आरंभ में हुए हैं। जैकोबी ने इस निष्कर्ष का समर्थन करते हुए जयरथ तथा उनके पिता के संरक्षक राजा राजराज को राजदेव ही माना है। 'राजतरंगिणी' v. 79-91 में जोनराज ने राजदेव का उल्लेख किया है। वे 1203-1226 ई० में हुए हैं।[3] इस प्रकार जैकोबी ने जयरथ की अधिक शुद्ध तिथि निश्चित करने का यत्न किया है।

जयरथ ने अनेक नामों का उल्लेख किया है। उनमें भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार (=आनंदवर्धन), वक्रोक्तिजीवितकार, अभिनवगुप्त, व्यक्तिविवेककार, भोज तथा मम्मट का नामोल्लेख भी है। अपने लेखक के अन्य ग्रन्थों तथा उद्भट पर राजानक तिलक के ग्रन्थ का उल्लेख करने के पश्चात् जयरथ ने अलंकार पर कुछ ऐसी रचनाओं का उल्लेख भी किया है, जो हमें ज्ञात नहीं हैं; यथा, 'अलंकारसूत्र' (पृ० 150), 'अलंकारभाष्य' (पृ० 35, 46, 83, 138, 173), 'अलंकारसार' (पृ० 88, 97, 171, 172, 184) तथा रुय्यक-रचित 'अलंकारवार्त्तिक' (पृ० 71)। जगन्नाथ ने भी 'अलंकार भाष्य' का उल्लेख

---

1. बूहलर द्वारा परीक्षित 'अलंकार-विमर्शिनी' की काश्मीरी पांडुलिपियों में इस लेखक को इन दोनों नामों से लक्षित किया गया है। कहीं एक नाम दिया गया है, कहीं दूसरा। रत्नकंठ के 'सारसमुच्चय' की पीटर्सन की पांडुलिपि में जयद्रथ पाठ है (ii पृ० 17), जिसे औफ्रेक्ट ने स्वीकार किया है, यद्यपि 'विमर्शिनी' तथा विवेक के प्रकाशित पाठ में जयरथ दिया गया है। बूहलर के मतानुसार दोनों टीकाओं के लेखक का शुद्ध नाम यही है। उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० (68)। दूसरा नाम उनके भाई का है। जयद्रथ ने 'हरचरितचिंतामणि' नामक 32 अध्याय पर्यंत एक काव्य लिखा है (सं० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1897)।

2. v. 22, बूहलर के उपर्युक्त ग्रन्थ में परिशिष्ट पृ० Cli इत्यादि पर उद्धरण देखिए। 'राज-तरंगिणी' viii. 111 में इस शिवरथ का उल्लेख है।

3. जेकब (जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1897, पृ० 283) के अनुसार जयरथ को 12वीं शती के पश्चात् निर्धारित करना ही ठीक है। उन्होंने 'पृथ्वीराज-विजय' काव्य के उद्धरण दिए हैं (पृ० 64)। यह काव्य दिल्ली के राजा पृथ्वीराज पर लिखा गया था। उनका 1193 ई० में देहांत हुआ (तुलना कीजिए, बूहलर का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० 62)।

किया है (पृ० 239, 365) । कीलहार्न की सूची[1] तथा पीटर्सन iii, परिशिष्ट पृ० 393 में 'अलंकारसार' का उल्लेख है। संभवतः यह एक परवर्ती ग्रंथ है। बालकृष्ण पायगुंड को इसका लेखक माना गया है। उन्होंने अप्पय्य की 'चित्र-मीमांसा' (अन्यत्र देखिए) पर भी टीका लिखी है। वे 16वीं शती के पश्चात् ही हुए हैं।[2] जगन्नाथ ने 'विमर्शिनी' को बहुत विस्तार से उद्धृत किया है (पृ० 325, 327, 352, 380, 387, 414, 418 ।) इसका मुख्य कारण यह है कि अप्पय्य ने रुय्यक तथा जयरथ का अंधानुकरण किया है, इसलिए जगन्नाथ ने उनकी कड़ी आलोचना की है।

अलंकार पर जयरथ ने 'अलंकारोदाहरण'[3] नामक एक अन्य ग्रंथ भी लिखा है। उसके अंतिम पद्य में उन्होंने अपनी 'विमर्शिनी' का उल्लेख किया है। मित्रा 2442 में दिए गए विषयवस्तुसार से प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का उद्देश्य रुय्यक के पाठ के समर्थन में उदाहरण देना मात्र था।—'विमर्शिनी' के सीमित क्षेत्र के कारण वे ऐसा ठीक तरह नहीं कर पाए।

समुद्रबंध

अपने ही कथन के अनुसार समुद्रबंध केरल प्रदेश (मालावार) के अन्तर्गत कोलंब (क्विलोन) के राजा रविवर्मा (अथवा संग्रामधीर) के राज्यकाल में हुए हैं। उनकी टीका में इस राजा के स्तुत्यर्थक अनेक पद्य हैं।[4] इस राजा का जन्म 1266-67 ई० में हुआ। इन्होंने 1312-13 ई० में वेगवती के तट पर स्वयं को मालावार-नरेश घोषित किया। समुद्रबन्ध की तिथि 13वीं शती के अन्तिम भाग तथा 14 वीं शती के आरंभ में निर्धारित की जा सकती है।

समुद्रबन्ध ने पूर्ववर्ती लेखकों का अधिक उल्लेख नहीं किया है, किंतु वे भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन, भट्टनायक, वक्रोक्ति-जीवितकार, महिमभट्ट, भोज तथा मम्मट से परिचित थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने भामह के 'काव्यालंकार' पर उद्भट की 'वृत्ति' का भी उल्लेख किया है। उन्होंने 'अलंकारसर्वस्व' के अन्य टीकाकारों की व्याख्या निर्दिष्ट की है (पृ० 55, 96, 145, 239) तथा पाठांतरों की चर्चा की है (पृ० 57)।

1. कीलहॉर्न की सूची 18; ऑफ्रेक्ट i. 32b भी देखिए।
2. देखिए CgA, 1885, पृ० 765 पर पिशेल का लेख, विपक्ष में देखिए ZDMG, xlii 293, जैकोबी का लेख।
3. देखिए जम्मू कैटलॉग संख्या 806. पृ० 59।
4. यथा पृ० 48, 58, 76, 133, 149 (कोलंबाधिपति) इत्यादि, रविवर्मा तथा समुद्रबन्ध के विषय में के० कुंजुन्नी राजा का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० 211-13 देखिए।

श्री विद्या-चक्रवर्ती

मल्लिनाथ[1], कुमारस्वामी[2], अप्पय्य[3] तथा विश्वेश्वर[4] ने रुय्यक पर 'संजीवनी' अथवा 'अलंकारसंजीवनी' नामक टीका का उल्लेख किया है। उन्होंने चक्रवर्ती को इस टीका के रचयिता के रूप में निर्दिष्ट किया है। कुमारस्वामी ने इस टीकाकार को उनके द्वारा उद्धृत दो पद्यों[5] का लेखक माना है। कुमार-स्वामी के अन्य उद्धरणों से यही प्रकट होता है कि चक्रवर्ती ने 'अलंकारसर्वस्व' पर 'संजीवनी' नामक टीका लिखी थी। यह चक्रवर्ती परमानंद चक्रवर्ती से भिन्न थे, किंतु श्रीविद्या चक्रवर्ती से अभिन्न थे। मद्रास कैटलॉग[6] में रुय्यक पर 'संजीवनी' नामक उनकी टीका की दो पांडुलिपियों का उल्लेख है। मम्मट पर इसी लेखक की 'संप्रदायप्रकाशिनी-बृहती टीका'[7] तथा संजीवनी में एक दूसरे का उल्लेख है तथा 'संजीवनी' के अंत में इन दोनों टीकाओं का एक साथ इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च विपश्चिताम् ।
अत्यादरो जगत्यस्मिन् व्याख्यातमुभयं ततः ॥

इससे परवर्ती काल में मम्मट तथा रुय्यक की रचनाओं की लोकप्रियता का आभास मिलता है। श्रीविद्या-चक्रवर्ती ने अपने लेखक का नाम रुचक दिया है। विश्वनाथ को उन्होंने 'संधिविग्रहिक' कहा है। प्रत्यक्ष रूप से शैव संप्रदाय अथवा शैव मतावलंबी[8] दक्षिण भारतीय लेखक हैं। मल्लिनाथ के निर्देश के आधार पर

1. पृ० 31, 57, 221, 237, 324.
2. पृ० 54 (चक्रवर्ती, अलंकारसर्वस्व के टीकाकार के रूप में) 319, 377, 383 (—संजीवनी, अलंकारसर्वस्व पर टीका) 387, 393, 398, 435, 449-50, 465.
3. चित्र मीमांसा, पृ० 7, 74.
4. अलंकारकौस्तुभ, पृ० 11.
5. पूर्व कथन के अनुसार='रत्नापण' पृ० 378।
6. xit, संख्या 12799-12800, पृ० 8609-10 जैकोबी का अलक को इस '—संजीवनी' का लेखक अनुमान करना गलत है (ZDMG. lxii पृ० 292)।
7. तथैव : संख्या 12826-28, पृ० 8627, बर्नल 55a. संस्करण-त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज 1926. देखिए पृ० 162। बृहती टीका की रचना से पूर्व उन्होंने एक 'लघुटीका' भी लिखी है, उसमें इस टीका का उल्लेख है। त्रिवेंद्रम्-संस्करण में इनमें से केवल एक टीका प्रकाशित हुई है।
8. प्रभाकर भट्ट ने अपने 'रसप्रदीप' (1583 ई० से पूर्व) में पृ० 11, 13, 32 पर संप्रदाय-मत अथवा साम्प्रदायिकों का उल्लेख किया है।

उनकी तिथि 14वीं शती के अंत से पूर्व निर्धारित की जा सकती है। वे 14वीं शती के आरंभ में श्रीवल्लाल III (होयसल) के सभारत्न थे। (वी० राघवन ABORI. xiv 1933, पृ० 256)। विद्या-चक्रवर्ती को 'रसमीमांसा'[1] तथा नाट्य तथा रस-विषय पर 'भरतसंग्रह' नामक ग्रंथों का लेखक माना गया है (ABORI, xiv (1933, पृ० 256)।

ग्रंथ सूची

अलंकारसर्वस्व

संस्करण—(1) सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1893, (जयरथ की—'विमर्शिनी' सहित)। (2) सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज 1915 (समुद्रवंध टीका सहित), द्वितीय संस्करण 1926। जर्मन अनुवाद, एच० जैकोबी द्वारा, ZDMG lxii, पृ० 289-336, 411-58, 587-628, के अंतर्गत। अन्यथा निर्देश के अभाव में यहाँ संदर्भ निर्णय-सागर प्रेस के संस्करण से दिए गए हैं।

टीकाएँ : (1) जयरथ-रचित अलंकार-विमर्शिनी, सं० मूल-पाठ सहित, निर्णय सागर प्रेस, यथापूर्व, 1893। 'अलंकारोदाहरण' की पांडुलिपियों के संबंध में देखिए—औफ्रेक्ट i, 32a, 773a, ii. 6b, WBod 1157। (2) 'वृत्ति'—समुद्रवंध रचित, सं० मूल-पाठ सहित, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज 1915, यथापूर्व। (3)—'संजीवनी' श्रीविद्या-चक्रवर्ती रचित। मद्रास कैटलॉग xxii, 12799-12800; औफ्रेक्ट i. 32b अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

सहृदयलीला

संस्करण—(1) सं० पिशेल रुद्र के 'शृंगारतिलक' सहित, कील (Kiel) 1886। (2) सं० काव्यमाला गुच्छक v. 1908।

व्यक्तिविवेक पर टीका

संस्करण—मूलपाठ सहित, सं० टी० गणपति शास्त्री (मूल लेखक अज्ञात है, किंतु इसे रुय्यक-रचित माना गया है), त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, 1909।

---

1. देखिए वी० राघवन ABORI, xvi, 1934-35, पृ० 140 रुय्यक पर अपनी टीका में विद्या-चक्रवर्ती ने स्वयं (रसमीमांसायां विस्तरः) इसका उल्लेख किया है, किंतु यह एक पृथक् ग्रंथ है, ऐसा स्पष्ट नहीं होता।

हेमचंद्र तथा वाग्भट

1

हेमचंद्र बहुमुखी-प्रतिभा-संपन्न जैन विद्वान् थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। साहित्य के विविध क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत काव्यालंकार पर भी लिखा है। मम्मट के ग्रंथ के आधार पर उन्होंने 'काव्यानुशासन' तथा उसी पर 'अलंकारचूड़ामणि' नामक वृत्ति लिखी है। इस ग्रंथ में उन्होंने विविध ग्रंथों से सामग्री लेकर समाविष्ट की है।[1]

पाठ्यपुस्तक के रूप में यह ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, किंतु हेमचंद्र के अधिकतर ग्रंथों की भाँति यह भी एक परिश्रमसिद्ध संग्रह-संकलन-ग्रंथ है। इससे लेखक की सर्वतोमुखी प्रतिभा तो अवश्य परिलक्षित होती है, किंतु अपने विषय पर यह एक मौलिक ग्रंथ है, ऐसा नहीं माना जा सकता।

काव्यशास्त्र के अन्य लेखकों की अपेक्षा हेमचंद्र के व्यक्तिगत जीवन तथा उनकी समकालीन परिस्थितियों के संबंध में हमें अधिक जानकारी प्राप्त है। बूहलर ने एक लघु-पुस्तक में उनके जीवन से संबंधित विवरणों का संग्रह किया है।[2] हेमचंद्र का जन्म संवत् 1145=1088 ई० के कार्तिक मास में पूर्णिमा की रात को धुंदुक अथवा धंधुका (अहमदाबाद) नामक स्थान पर दरिद्र वणिक परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम चच्चिग तथा माता का नाम पाहिनी था। आरंभ में उनका नाम चंगदेव था। संवत् 1150=1093 ई० में वे जैन भिक्षु हो गए तथा

---

1. उदाहरणतया, उन्होंने आभार प्रकट किए बिना राजशेखर, अभिनवगुप्त वक्रोक्तिजीवितकार, मम्मट इत्यादि विद्वानों के लंबे-लंबे उद्धरणों का उपयोग किया है। भरत के अध्याय iv पर 'अभिनवभारती' के अंतर्गत एक अंश का अक्षरशः उद्धरण दिया गया है (हेमचंद्र पृ० 57, 66) अंत में सामान्य आभारोक्ति के रूप में ऐसा कथन है—इति श्रीमान् अभिनवगुप्ताचार्यः, एतन्मतमेवास्माभिरुपजीवितं वेदितव्यम् (पृ० 66)। वृत्ति में पृ० 83 पर 'स्थायिभाव' पर उनकी टिप्पणी (पृ० 83-84) पूर्वोक्त सूत्र से ही उद्धृत की गई है। राजशेखर के विस्तृत उद्धरणों की बात पहले ही कही जा चुकी है, उन्होंने पृ० 316 पर स्वयं को 'भरतमतानुसारी' कहा है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने पूर्ववर्ती ग्रंथों की नकल की है अथवा उनकी सामग्री चुराई है।

2. Ueber dos Leben des Jaina Monches Hemacandra, Wien 1889; अंग्रेजी अनुवाद, मणिलाल पटेल, सिंधी जैन सीरीज 1936, Ency. of Religion and Ethics, vi. 591 में जैकोबी का लेख भी देखिए।

उन्होंने सोमानंद नाम ग्रहण कर लिया। वे 'स्थानकवृत्ति' तथा 'शांतिनाथ चरित' के रचयिता तथा वज्रशाखा के अनुयायी देवचंद्र के शिष्य थे। संवत् 1166 = 1109 में वे 'सूरि' अथवा 'आचार्य' हो गए तथा उन्होंने हेमचंद्र नाम ग्रहण कर लिया। जयसिंह सिद्धराज (1094 = 1143 ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी गुजरात नरेश कुमारपाल (1143-1172 ई०) के संरक्षण में उन्हें अणहिल्ल-पट्टन के जैन संप्रदाय का प्रमुख आचार्य होने का सम्मान प्राप्त था। अपने जीवन का अधिकतर भाग उन्होंने वहीं व्यतीत किया। जयसिंह सिद्धराज से कुछ ही समय पूर्व संवत् 1229 = 1172 ई० में 84 वर्ष की वृद्धावस्था में उनका देहांत हुआ। अपने अधिकतर ग्रंथ उन्होंने संरक्षकों के अनुरोध पर लिखे थे। उन्होंने कुमारपाल का संवत् 1216-1160 ई० में जैन धर्म में प्रवेश कराया।

हेमचंद्र ने जैन शास्त्रों के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय के कई अंगों पर बृहत् ग्रंथ लिखे हैं; यथा व्याकरण (सिद्ध-हेमचंद्र, शब्दानुशासन, लिंगानुशासन, धातु-पारायण तथा (उणादिसूत्र), छन्दःशास्त्र (छंदोनुशासन), कोश (अभिधान-चिंतामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघंटु-शेष तथा देशीनाममाला), उनका ज्ञानगांभीर्य उनके 'कलिकाल-सर्वज्ञ' उपनाम को सिद्ध करता है। उनके आठ अध्यायपर्यंत 'काव्यानुशासन' में अलंकार संबंधी सभी विषयों का विवेचन किया गया है। उसमें नाट्यविद्या का भी संक्षिप्त रूप से विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं मतभेद होने पर भी हेमचंद्र ने भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट तथा राजशेखर के ग्रंथों से प्रचुर सामग्री का उद्धरण दिया है। विशेष रूप से मौलिक न होने के कारण यह ग्रंथ शास्त्रीय पद प्राप्त न कर सका। परवर्ती लेखक भी इससे अधिक प्रभावित नहीं हुए। इसका शायद ही कहीं उल्लेख किया गया है।[1] यह सूत्र तथा वृत्तिरूप में लिखा गया है।[2]

2

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में दो भिन्न वाग्भट हैं अर्थात् 'वाग्भटालंकार' के रचयिता वाग्भट (यहाँ उन्हें वाग्भट प्रथम कहा गया है) तथा 'काव्यानुशासन' और उसकी वृत्ति 'अलंकार तिलक' के रचयिता वाग्भट (यहाँ उन्हें वाग्भट द्वितीय कहा गया है।) एगलिंग (Eggeling) ने भ्रांतिवश इन दोनों लेखकों को एक

1. पी० वी० काणे ने इसके अपवाद-स्वरूप लिखा है (HSP, पृ० 278) कि 'रत्नापण' पृ० 46, 75, 224, 233, 259, 299 में इसका उल्लेख है।

2. हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' के संक्षिप्त विषय-विवरण के लिए आगे देखिए : खंड ii, अध्या० vii (6).

ही व्यक्ति समझकर उसे दोनों ग्रंथों का रचयिता मान लिया है[1]। 'वाग्भटालंकार' iv. 148 से यह सूचित होता है कि लेखक का प्राकृत रूप में जैन नाम बाहड और उनके पिता का नाम सोम था[2]। इसके विपरीत, 'काव्यानुशासन' तथा उसकी टीका यह सूचित करती है कि लेखक के पिता का नाम नेमिकुमार तथा माता का नाम महा-(मही—) देवी अथवा वसुंधरा था। उनका जन्म-स्थान राहडपुर था[4]। नगर में राहड देवता का मंदिर होने के कारण नगर का भी यही नाम पड़ गया था। लेखक ने स्वयं अपने एक पद्य में ऐसा कहा है।[5] वाग्भट द्वितीय ने अधिकारी विद्वान् के नाते वाग्भट प्रथम का उल्लेख किया है[6]। दोनों ही वाग्भटों ने नेमिनिर्वाण के लेखक वाग्भट के ग्रंथ के उद्धरण दिए हैं। वाग्भट द्वितीय ने उत्तर काव्य के लक्षणों के उदाहरणस्वरूप इस काव्य का अनेक बार नाम लिया है (यथा, पृ० 16)[7]। यह कहना कठिन है कि वाग्भट प्रथम 'नेमिनिर्वाण' के रचयिता थे या नहीं, किन्तु वाग्भट द्वितीय इन दोनों से भिन्न व्यक्ति थे[8]। आयुर्वेद-शास्त्र के लेखक, सिंहगुप्त के पुत्र, वाग्भट को इन दोनों से भिन्न व्यक्ति समझना चाहिए।

---

1. IOC iii, पृ० 330-1.
2. इस पद्य पर जिनवर्धन, सिंहदेव तथा क्षेमहंसगणि की टीकाओं में भी ऐसा ही उल्लेख है।
3. पृ० 1 वृत्ति तथा अंतिम पद्य।
4. पृ० 1 वृत्ति।
5. IOC iii, पृ० 332. इस ग्रंथ के निर्णयसागर प्रेस संस्करण में यह पद्य पृ० 10 पर भी दिया गया है, किंतु इंडिया आफिस पांडुलिपि में इससे पूर्व 'आस्माभिरुक्त' शब्द का अभाव है।
6. ii, पृ० 31 : इति दंडि-वामन-वाग्भटादि-प्रणीता दश काव्यगुणाः वयं तु माधुर्यौजः-प्रसादलक्षणांस्त्रीणेव गुणान्मन्यामहे।
7. जैकब ने अपने उपर्युक्त ग्रंथ में पृ० 309 पर 'नेमिनिर्वाण' से 'वाग्भटालंकार' में उद्धृत किए गए पद्यों का उल्लेख किया है।
8. विंटरनिट्ज का मत है (Geschichte der Ind. Lit. ii, पृ० 338 पा० टि० 1; iii, पृ० 22 पा० टि० 1, तथा iii, पृ० 642) कि वाग्भट प्रथम ही 'नेमिनिर्वाण' के रचयिता हैं। जल्हण के 'अनालोच्य प्रेम्णः' पद्य (एक) वाग्भट, रचित माना है, किंतु यह पद्य इनमें से किसी भी वाग्भट के ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। परन्तु अमरु 80 में यह पद्य मिलता है। वल्लभादेव 1170 में इस पद्य को अज्ञातलेखक का कहा गया है, 'सदुक्तिकर्णामृत' में इसे राजशेखर-रचित तथा 'कवींद्रवचन' 372 में विकट-नितंबा कवयित्री रचित माना गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भट प्रथम हेमचंद्र के समकालीन थे तथा अणहिल्ल-पट्टन[1] के चालुक्य-नरेश जयसिंह सिद्धराज के संरक्षण में रहे। जयसिंह 1094 से 1143 ई० के बीच हुए हैं। ग्रंथ के iv. 45, 76, 81, 85, तथा 132 में राजा तथा उनकी राजधानी का वर्णन किया है। जिनवर्धन सूरि तथा सिंहदेव गणि, दोनों ने अपनी टीकाओं में कहा है कि निर्दिष्ट राजा, अणहिल्लपट्टन-नरेश कर्णदेव के पुत्र, जयसिंह थे। अध्याय iv. 148 पर सिंहदेव गणि की टीका के अनुसार वाग्भट संभवतः उपर्युक्त राजा के महामात्य थे। प्रभाचंद्र सूरी के प्रभावक-चरित[2] (पृ० 205), के अंतर्गत हमारे लेखक से संबंधित विवरण से इस कथन की पुष्टि होती है तथा यह भी सूचित होता है कि वाग्भट 1123 ई० तथा 1157 ई० में जीवित थे। इस प्रकार वाग्भट का साहित्यरचना-काल मोटे तौर से 12 वीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया जा सकता है।

'वाग्भटालंकार' में पांच परिच्छेद हैं। इसमें कुल मिलाकर 260 पद्यों के अंतर्गत नाट्य को छोड़कर अलंकार के सभी विषयों का निरूपण किया गया है। यद्यपि इस ग्रंथ पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, लेकिन यह एक लघु ग्रंथ मात्र है और इसमें कोई विशेष बात नहीं है। मम्मट तथा हेमचंद्र-प्रतिपादित तीन गुणों की जगह इसमें दस गुणों का विवेचन किया गया है तथा केवल दो रीतियाँ, वैदर्भी तथा गौड़ी दी गई हैं। वेबर की बर्लिन पांडुलिपि संख्या 1718 में एक छठा अध्याय भी है। इसके अतिरिक्त बर्णल का कैटलॉग तंजोर मैन्युस्क्रिप्ट्स, पृ० 576 भी देखिए।

वाग्भट द्वितीय परवर्ती लेखक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने वाग्भट प्रथम का उल्लेख किया है तथा हेमचंद्र से प्रचुर सामग्री का उदाहरण दिया है; इसलिए उनकी तिथि की एक सीमा अनायास ही प्राप्त हो जाती है। उनकी अन्य तिथि-सीमा[3] अज्ञात है, क्योंकि इस विषय पर हेमचंद्र को छोड़कर परवर्ती लेखकों ने जैन आचार्यों का शायद ही कहीं उल्लेख किया है। संभवतः वे देवेश्वर से पूर्व हुए हैं, किंतु उनके उद्धरणों के आधार पर कोई तैथिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वाग्भट द्वितीय ने स्वयं अपने दो ग्रंथों, अर्थात्, 'ऋषभदेवचरित' (पृ० 15, इसे

---

1. कश्मीर के जयसिंह नहीं, हरिचंद्र (पृ० 49) ने यह नाम गलती से दिया है।
2. 13 वीं शती का उत्तरार्द्ध-देखिए बूहलर का 'हेमचंद्र', टिप्पणी 1; तथा 'वाग्भटालंकार' (सं० काव्यमाला 1916), पृ० 1-2 तलटीप।
3. हरिचंद्र शास्त्री (उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 49) ने उन्हें 13 वीं सती में निर्धारित किया है, किंतु कारण नहीं बताया है।

'महाकाव्य' कहा गया है) तथा 'छंदोनुशासन' (पृ० 20) का उल्लेख किया है, किंतु इन दोनों का कुछ भी पता नहीं है। दो उदाहरण-पद्यों में मूलराज (पृ० 45) तथा विभाकर (पृ० 44) नामक दो राजाओं का उल्लेख है। विभाकर के विषय में तो कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु मूलराज संभवतः गुजरात में अणहिल्लपट्टन (अन्हिल्-वाड़) के चालुक्यवंश के संस्थापक थे।

'काव्यानुशासन' की एक पांडुलिपि (एगलिंग, इंडिया आफिस कैटलॉग संख्या 1157) पर संवत् 1515 (=1458—59 ई०) अंकित है। वाग्भट द्वितीय संभवतः 14 वीं शती में हुए हैं।

हेमचंद्र के इसी नाम के ग्रंथ की भाँति वाग्भट द्वितीय का 'काव्यानुशासन' भी टीका सहित सूत्र-रूप में लिखा गया है। किंतु यह बहुत छोटा ग्रंथ है। इसमें केवल पाँच अध्याय हैं। इसमें नाट्य को छोड़कर काव्यालंकार के लगभग सभी विषयों का निरूपण है। मम्मट के अनुसार इसमें तीन गुणों तथा तीन रीतियों का विवेचन है। उपर्युक्त जैन लेखकों द्वारा निरूपित अलंकारों के नाम तथा उनकी परिभाषा प्राचीन लेखकों से कहीं-कहीं भिन्न है। उन्होंने अलंकारों की संख्या कहीं भी 40 से अधिक नहीं दी है, किंतु वाग्भट द्वितीय ने लगभग 70 अलंकार दिए हैं।

3

हेमचन्द्र तथा वाग्भट द्वितीय पर कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है, किंतु वाग्भट प्रथम के 'वाग्भटालंकार'[2] पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं। निम्नलिखित टीकाकारों में से जिनवर्धन सूरि तथा सिंहदेव गणि अधिक प्रसिद्ध हैं और उनकी टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनवर्धन, जिनराज सूरि के शिष्य तथा लगभग 1405 से 1419 ई०[3] तक खरतरगच्छ के पुरोहित थे। कुछ ग्रंथसूचियाँ (यथा मित्रा, 2814) में उनका नाम आदिनाथ दिया गया है।

---

1. पीटर्सन, ने iii, (परिशिष्ट, पृ० 124) हेमचंद्र के 'त्रिषष्टि-शलाक पुरुष' की एक पांडुलिपि की 'पुष्पिका' में एक नेमिकुमार के उल्लेख का कथन किया है; वे संवत् 1295 में हुए हैं। उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि यह नेमिकुमार हमारे वाग्भट के पिता थे अथवा नहीं (iv. lxxi)।
2. इस ग्रन्थ के प्रकाशित पाठ में पाँच अध्याय हैं, बोडलियन, स्टीन, मद्रास तथा इण्डिया आफिस पांडुलिपियों में भी इतने ही अध्याय हैं, किंतु वेबर की पांडुलिपि (संख्या 1718) में एक अतिरिक्त छठा अध्याय भी है। उसमें यमक अलंकार का विवेचन है।
3. इण्डियन एंटिक्वेरी xi, पृ० 249 में क्लाट (Klatt) का लेख, भंडारकर, रिपोर्ट 1882-83, पृ० 25, IOC iii, संख्या 1156 तथा 2656a.

ग्रंथ-सूची

हेमचंद्र

संस्करण : (i) सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1901, मूलपाठ, अलंकार चूड़ामणि तथा विवेक सहित। (ii) 'अलंकार-चूड़ामणि', 'विवेक' तथा एक अज्ञात-लेखक के टिप्पण सहित, सं० आर० सी० पारिख तथा आर० वी० अथावले, दो खंडों में, महावीर जैन विद्यालय, बंबई 1938।

वाग्भट प्रथम

संस्करण : 'वाग्भटालंकार' (i) सं० ए० बरुआ, कलकत्ता 1883 (2) सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब (सिंहदेव गणि की टीका सहित), निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1895, 1915 (यहाँ संदर्भ 1915 के संस्करण से दिए गए हैं)। (3) जीवानंद विद्यासागर द्वारा, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, 1903। (4) मूर्तिधर द्वारा, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई। (5) एक प्राचीन शब्द टीका सहित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा बबई 1894। (6) ग्रंथमाला iii, 1889-90 (जिनवर्धन की टीका सहित)।

टीकाएं : (1) जिनवर्धन सूरि-कृत, जो 1405 से 1419 तक खरतरगच्छ के पुरोहित थे। यह मूलपाठ सहित ग्रंथमाला iii में उपर्युक्त कथनानुसार संपादित हुई है। मित्रा 2814 (औफ्रेक्ट i. 559a) के आदिनाथ वास्तव में जिनवर्धन ही हैं। संवत् 1610 = 1553-54 ई० में पांडुलिपि तैयार की गई थी (कैटलॉग मैन्युस्क्रिप्ट BORI. xii, पृ० 323)।

(2) सिंहदेव गणि-कृत, सं० निर्णय सागर प्रेस, बंबई पूर्वोक्त अनुसार। ALeip पांडुलिपि संख्या 824 पृ० 269 में इस टीका को 'चूर्णि' कहा गया है, किंतु जम्मू पांडुलिपि संख्या 1231, पृ० 274 में यह नाम नहीं मिलता।

(3) समयसुन्दर-कृत। ये सकलचंद्र के शिष्य थे, जो स्वयं जिनचद्र के शिष्य थे। उन्होंने 1636 ई० में अहमदाबाद में हरिराम के लिए यह टीका लिखी थी। देखिए पीटर्सन iv, पृ० cxxxvi इन्होंने रघुवंश पर भी एक टीका लिखी है।

(4) राजहस उपाध्याय-कृत। ये जिनतिलक सूरि के शिष्य थे, जो स्वयं खरतरगच्छ के जिनप्रभा सूरि के शिष्य थे। इस पांडुलिपि को भंडारकर ने खोजा था (रिपोर्ट 1883-84, पृ० 156, 279)। इसकी प्रति संवत् 1486 =

1430 ई० में तैयार की गई थी। कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल ii, पृ० 312-14 में पी० के० गोडे की टिप्पणी देखिए। उसमें उन्होंने इस टीका की तिथि 14 वीं शती के द्वितीयार्द्ध 1350 तथा 1400 ई० के मध्य में स्थिर की है।

(5) 'समासान्वय टिप्पण'—क्षेमहंस गणि-कृत। स्टीन पृ० 274 पर इसका सारांश दिया गया है।

(6) गणेश-कृत 'विवरण'। इनके पिता का नाम अनंतभट्ट तथा गुरु का नाम भास्कर था। देखिए, औफ्रेक्ट i. 559a, 794a, IOC iii, संख्या 1155/702b, पृ० 330. 1713 ई० में इसकी एक पांडुलिपि तैयार की गई थी।

(7) 'अवचूरि'—लेखक अज्ञात। औफ्रेक्ट ii. 132a, iii. 118b.

(8) वाचनाचार्य ज्ञानप्रमोद गणि-कृत 'ज्ञान-प्रमोदिका'। यह टीका संवत् 1681 (=1624-25) में लिखी गई थी। देखिए, पी० के० गोडे, स्टडीज इन इंडियन लिटररी हिस्टरी, i. पृ० 76।

वाग्भट द्वितीय

संस्करण: 'काव्यानुशासन' शिवदत्त तथा के० पी० परब द्वारा, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1894, 1915, 'अलंकारतिलक' सहित।

जयदेव

1

जयदेव ने 'चंद्रालोक' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा है। उनका दूसरा नाम पीयूषवर्ष (1.2)[1] है। उनके अपने कथनानुसार उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम सुमित्रा था (1.16)। संस्कृत साहित्य में इनके अतिरिक्त जयदेव नाम के कई लेखक हुए हैं। औफ्रेक्ट ने इस नाम के पंद्रह से अधिक विभिन्न व्यक्तियों का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जयदेव प्रसिद्ध नाटक 'प्रसन्नराघव' के रचयिता कवि जयदेव ही हैं, क्योंकि इस नाटक की प्रस्तावना के

1. कुछ पांडुलिपियों के अंतिम पद्य में भी ऐसा नाम है, यथा, पीटर्सन ii पृ० 109, मद्रास कैटलॉग xxii, पृ० 8656 : 'पीयूषवर्ष प्रभवं चंद्रालोकं मनोहरं' इत्यादि। 'जयंति याज्ञिक-श्रीमान्-महादेवांग-जन्मनः। सूक्ति पीयूषवर्षस्य जयदेवकवेर्गिरः' पद्य में भी ऐसा उल्लेख है। इस पर 'शरदागम' टीका की गई है। कलकत्ता संस्करण में ये पद्य नहीं मिलते। गागाभट्ट की 'राकागम' टीका में स्पष्ट कथन है—जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष, ईति नामांतरम्।

अंतर्गत दो पद्यों (i.14-15) में नाटककार को कौंडिन्य गोत्रोत्पन्न महादेव तथा सुमित्रा का पुत्र कहा गया है। नामों की समानता आकस्मिक नहीं है। औफ्रेक्ट ने इस जयदेव को 'गीतगोविंद' का रचयिता प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ही माना है।[1] इन दोनों लेखकों की काव्यप्रतिभा तथा रीति के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तर्क-वितर्क किया गया है, किंतु इन दोनों में विशेष गुण-साम्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, गीतकार ने अपने एक अंतिम पद्य[2] में स्वयं को भोजदेव तथा रामादेवी (अथवा वामादेवी, अथवा राधादेवी, पाठांतर) का पुत्र सूचित किया है। इस कथन से प्रस्तावित अभिन्नता का निराकरण होता है। पक्षधर नामक तार्किक से, जिनका दूसरा नाम जयदेव भी है, अनन्यता की बात भी इसी प्रकार संदेहास्पद है। औफ्रेक्ट ने इन दोनों नामों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसमें संदेह नहीं कि पक्षधर केवल एक उपाधि है और उपर्युक्त तार्किक को यह उपाधि इसलिए दी गई थी, क्योंकि वे किसी भी पक्ष को तर्कद्वारा सिद्ध करने में समर्थ थे। हाल[3] का यह तर्क कि जयदेव ने अपने नाटक में (i·18) तार्किकोचित 'प्रमाण' के ज्ञान का उल्लेख किया है, विचाराधीन जयदेव से उसकी अनन्यता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है।[4]

2

जयदेव की तिथि अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है। निस्संदेह उन्हें केशव-मिश्र से निर्धारित करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने 'प्रसन्नराघव' (i.37) के पद्य 'कदली-कदली' का उद्धरण दिया है (पृ० 47)। क्योंकि केशव 16वीं शती के मध्यभाग में हुए हैं, इसलिए जयदेव को उनसे पूर्व निर्धारित किया जा सकता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस प्रकार होती है—प्रद्योतन भट्ट से 1583 ई०[5]

1. ZDMG xxvii, पृ० 30.
2. xii, पृ० 171, सं० निर्णयसागर प्रेस, 1917. कुंभ ने अपनी 'रसिकप्रिया' में इस पर टीका नहीं की है, किंतु शंकर ने अपनी 'रसमंजरी' में इस प्रकार कहा है—'अधुना पितृ-मातृ-नाम निबध्नन् प्रार्थयते सज्जनान्' (स० निर्णयसागर प्रेस, उद्धृत स्थल)। बूहलर की पांडुलिपि (काश्मीर रिपोर्ट पृ० 46) के पृष्ठांत विवरण में भी ऐसा ही उल्लेख है, वहाँ रामदेव के स्थान पर रामादेवी पढ़िए।
3. 'सांख्यप्रवचनभाष्य' की भूमिका में (बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता, 1956) पृ० 62 63. में कीथ (इंडियन लॉजिक, पृ० 33 इत्यादि) ने इस अनन्यता को स्वीकार किया है।
4. 60 श्लोकोंवाली रतिमंजरी (Giornale della Soc. Asiat Italiana, 1904, पृ० 371 इत्यादि में तथा पावोलिनी द्वारा संपादित हेबरलिन सं०) नामक कामशास्त्र-विषयक ग्रंथ के रचयिता जयदेव संभवतः एक अन्य परवर्ती लेखक हैं।
5. AFl संख्या 476 (51) पृ० 158; ALeip संख्या 820, पृ० 268।

में 'चन्द्रालोक' पर 'शरदागम' टीका लिखी थी। वे वघेल वंश के बुंदेला नरेश वीरचन्द्र के कृपापात्र थे। वीरभद्र ने स्वयं संवत् 1633 = 1577 ई० में वात्स्यायन पर 'कन्दर्पचूड़ामणि' नामक टीका लिखी थी।[1] जयदेव के ग्रन्थ के रचनाकाल की यह सीमा 14 वीं शती के आरम्भ तक और पीछे की जा सकती है, क्योंकि 'प्रसन्न-राघव' (i. 19 तथा 33)[2] के कुछ पद्य 1363 ई० में संकलित 'शार्ङ्गधरपद्धति' (164 तथा 3520) में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शिंगभूपाल ने अपने 'रसार्णव-सुधाकर (164, 3520) में इस नाटक का उल्लेख किया है। शिंगभूपाल की तिथि 1330 ई० निर्धारित की गई है। इस प्रकार 14 वीं शती का प्रथम चरण जयदेव की तिथि की एक सीमा माना जा सकता है।

अनुमानतः जयदेव, रुय्यक के पश्चात् हुए हैं और इसी आधार पर उनकी तिथि की दूसरी सीमा भी निश्चित की जा सकती है। जयदेव ने अपने 'चंद्रालोक' में अलंकारों की परिभाषाओं का उपयोग किया है, जिन्हें मूल रूप में सर्वप्रथम रुय्यक ने प्रस्तुत किया था। उदाहरणार्थ, जैसा कि रुय्यक के अपने कथन तथा

---

1. पीटर्सन ii, पृ० 66, 132; iv पृ० cxvi सं० रामचंद्र शास्त्री, लाहोर, 1926।

2. अन्य उद्धृत पद्य ये हैं—ii. 22 (= 3557), vii. 59 (= 3626), vii. 60 (= 3631).

3. 'प्रसन्नराघव' के संस्करण (पूना 1894) में (पृ० xiii इत्यादि) परांजपे तथा पनसे ने जयदेव को पक्षधर जयदेव नामक तार्किक से अनन्य सिद्ध करने तथा उसे 1500 और 1577 ई० के मध्यवर्ती काल में निर्धारित करने का यत्न किया है। पीटर्सन ने 'सुभाष' की भूमिका, पृ० 37 इत्यादि में यही प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त, IOC, iii, पृ० 332 इत्यादि पर एगलिंग, के लेख से भी तुलना कीजिए। विंटरनिट्ज (Geschichte der Ind. Lit iii, पृ० 26, पा० टि० 3) के मतानुसार जयदेव, अप्पय्य से बहुत पहले नहीं हो सकते। किन्तु इन सब विद्वानों ने शार्ङ्गधर के इस उद्धरण पर ध्यान नहीं दिया। जयदेव द्वारा कवि चोर के उल्लेख से कोई तथ्यिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; बूहलर ने इस कवि को बिह्लण से अनन्य माना है। यह बात भी संदेहास्पद है (देखिए सोल्फ [(Solf) Die Kashmir Recens on der Panchashika कील 1886. पृ० xx इत्यादि] इसके अतिरिक्त इस प्रश्न पर, एस० के० डे की, 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर', कलकत्ता 1947, पृ० 368-69 भी देखिए। 'प्रसन्नराघव' के पद्य महानाटक' में मिलते हैं इस बात पर बल देना आवश्यक नहीं है। क्योंकि 'महानाटक' की तिथि तथा उसके शुद्ध मूलपाठ का प्रश्न अभी तक निश्चित नहीं हो सका है (देखिए, लेवी ii, पृ० 8, स्टेन कोनो Ind. Drama पृ० 88-9). अलंकार शास्त्री के नाते अप्पय्य, केशव तथा भीमसेन जैसे अति अर्वाचीन लेखकों ने जयदेव का उल्लेख किया है।

जयरथ के उल्लेख से सूचित होता है [1], रुय्यक ने ही सबसे पहले विकल्प अलंकार का आविष्कार किया था तथा उसकी परिभाषा की थी। जयदेव ने रुय्यक के इस विकल्प-अलंकार को अक्षरशः उद्धृत किया है (v. 112)। क्योंकि जयदेव ने रुय्यक तथा मम्मट के विशिष्ट मत का समर्थन किया है, इसलिए उनकी तिथि 12वीं शती के द्वितीयार्ध से पहले निर्धारित नहीं की जा सकती।

3

'चन्द्रालोक' काव्यशास्त्र का एक सामान्य ग्रन्थ है। इसमें दस मयूख अथवा अध्याय तथा अनुष्टुप में लगभग 350 पद्य हैं। इस ग्रन्थ का कलकत्ता संस्करण 1874 में प्रकाशित हुआ था[2], उसमें विषय-सूची इस प्रकार है—(1) वाग्विचार (श्लोक 16) (2) दोष निरूपण (श्लोक 44½)। (3) लक्षण-निरूपण (श्लोक 11)। (4) गुण-निरूपण, गुणों की संख्या 10 दी गई है (श्लोक 12) (5) अलंकार निरूपण, इसमें शब्दालंकारों का निरूपण है (श्लोक 10), अलंकारानुक्रमणिका (श्लोक 16) और अर्थालंकार (श्लोक 174), (6) रसादि-निरूपण (श्लोक 24), इसमें आनुषंगिक रूप से तीन रीतियों तथा पांच वृत्तियों का विवेचन भी है। (7) ध्वनिनिरूपण (श्लोक 18). (8) गुणभूत-व्यंग्य (श्लोक 10). (6) लक्षण-निरूपण (श्लोक 15). (10) अभिधा निरूपण (श्लोक 4)। लाइपजिग पांडुलिपि 891 (इसमें केवल पांच 'मयूख' हैं) में मुख्यतः ऐसी ही व्यवस्था है और अप्पय्य के 'कुवलयानन्द' पर अपनी टीका (पृ० 9) में गंगाधर द्वारा दी गई व्यवस्था के अनुरूप है। उसमें अध्यायों की व्यवस्था इस प्रकार है—(1) शब्दमयूख। (2) दोषमयूख। (3) लक्षणमयूख। (4) गुणमयूख। (5) अलंकार-मयूख। (6) रस-मयूख। (7) ध्वनि-मयूख। (8) गुणीभूत व्यंग्य-मयूख। (9) लक्षण-मयूख, तथा (10) तत्शक्ति (=अभिधा) मयूख।[3]

---

1. तुलना कीजिए, ZDMC, 1xii पृ० 600. नोट 1. इस अलंकार के संबंध में रुय्यक ने स्पष्ट रूप में कहा है—पूर्वैरकृतविवेकोऽत्रदर्शित इत्यवगंतव्यम्'। इस पर जयरथ ने इस प्रकार कहा है—'अनेनास्य ग्रन्थकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्' (पृ० 159). इसके अतिरिक्त, विचित्र अलंकार (रुय्यक पृ० 133=जयदेव v. 82)।
2. जीवानन्द के 1906 के कलकत्ता संस्करण में अधिकांशतः ऐसा ही अध्याय-विभाजन है तथा विभिन्न अध्यायों में श्लोक-संख्या भी इसी प्रकार है। ग्रन्थ में लगभग 300 श्लोक हैं, किन्तु कुछ संस्करण में श्लोक-संख्या कुछ भिन्न है। लेखक ने स्वरचित उदाहरण दिए हैं।
3. प्रद्योतन भट्ट गागाभट्ट तथा वैद्यनाथ की टीकाओं (मद्रास कैटलॉग xii, 12876-78) के अनुसार मूलपाठ में दस मयूख हैं। मित्रा ii, पृ० 177, v पृ० 103, ix पृ० 184; पीटर्सन ii. 109 में लक्षित पांडुलिपियों में भी पूर्ण मूलपाठ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाँचवें अध्याय का अर्थालंकार-संबंधी अंश, ग्रंथ का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है, जो कालांतर में काव्यालंकार की नियम-पुस्तक (manual) के रूप में लोकप्रिय हो गया। अप्पय्य दीक्षित ने इसी प्रयोजन से अपने 'कुवलयानंद' में इसका उपयोग किया। उन्होंने यत्रतत्र सामान्य परिवर्तन करके उपर्युक्त अंश से कारिकाओं का अक्षरशः उद्धरण किया है, स्वयं केवल गद्य-टीका तथा कुछ पूरक अलंकार ही दिए हैं। एक प्रकार से अप्पय्य के ग्रंथ को 'चंद्रालोक' के अर्थालंकार-अध्याय पर एक टीका ही मान सकते हैं। अपने ग्रंथ के प्रारम्भिक पद्यों में अप्पय्य ने 'चंद्रालोक' के प्रति आभारोक्ति के रूप में कहा है[1] कि मैंने 'चंद्रालोक' के लक्ष्य-लक्षण-श्लोक उद्धृत किए हैं, किंतु उन्होंने कहीं कुछ परिवर्तन कर दिए हैं तथा स्वरचित श्लोक भी दिए हैं।[2] अंतिम श्लोक में उन्होंने 'चंद्रालोक' (अर्थात् चंद्र का आलोक अथवा चंद्र का आलोकन) के नाम पर ग्रंथ, 'कुवलयानंद' (अर्थात्, कुवलय का आनंद) के नामकरण की इस प्रकार व्याख्या की है—

चंद्रालोको विजयतां, शरदागमसंभवः।
हृद्यः कुवलयानंदो यत्प्रसादादभूदयम्॥

इस श्लोक में श्लेष के अतिरिक्त 'चंद्रालोक' की प्रशंसा, तथा उसी से संपन्न, अर्थात् उसी पर लिखी गई 'शरदागम' टीका तथा उन दोनों के प्रसाद से उत्तम 'कुवलयानंद' की उत्पत्ति की बात कही गई है। यह 'शरदागम' टीका 'चंद्रालोक' पर 1583 ई० में प्रद्योतन भट्ट रचित इसी नाम की टीका को परिलक्षित करती है।[3]

1. येषां चंद्रालोके दृश्यंते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
   प्रायस्त एवं तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यंते।
2. हालास्यनाथ शास्त्री-संपादित 'कुवलयानंद' (गंगाधर की 'रसिकरंजनी' सहित), कुंभकोणम् 1892 के संस्करण में कारिकाओं के पाठांतर दिए गए हैं।
3. वैद्यनाथ को 'शरदागम' टीका का अस्तित्व ज्ञात नहीं था। उनके अनुसार 'शरदागम-संभव' शब्द 'चन्द्रालोक' के ही किसी पूर्ववर्ती मूल पाठ को लक्षित करते हैं (सं० निर्णयसागर प्रेस, 1917, पृ० 188)। टीकाकार के अज्ञान का ऐसा ही एक उदाहरण 'कुवलयानंद' (पृ० 86) पर आशाधर ने अपनी टीका में दिया है कि अप्पय्य ने वेंकटगिरि के राजा के अनुरोध पर 'चंद्रालोक' की रचना की तथा उसके पश्चात् 'चंद्रालोक' के ही आधार पर अपने 'कुवलयानंद' की रचना की। अप्पय्य के टीकाकारों में गंगाधर अधिक विश्वसनीय टीकाकार हैं। उनके कथनानुसार अप्पय्य उनके दादा के एक भाई के गुरु थे। उन्होंने उपर्युक्त शब्दों की शुद्ध व्याख्या इस प्रकार की है— अत्र चंद्रालोकनामा ग्रंथः शरदागमनाम्ना टीका-ग्रंथेन संभव उत्पत्तिः (पृ० 283)। यह अनुमान (SgS. ii, पृ० 68–9) कि जयदेव ने अप्पय्य द्वारा अपने ग्रंथ के उपयोग को अनुचित माना था और 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना में (जहाँ सूत्रधार ने अपने नाम की चोरी की बात कही है) अप्रत्यक्ष रूप में इसे लक्षित भी किया है, ठीक नहीं, क्योंकि अप्पय्य, जयदेव के बहुत बाद हुए हैं।

जयदेव रचित 'चंद्रालोक' उपर्युक्त अंश का मुख्यरूप में उपयोग होने के कारण ग्रंथ के अर्थालंकार-अध्याय मात्र[1] तथा स्वयं अप्पय्य-रचित 'कुवलयानंद' को भी 'चंद्रालोक' नाम से सूचित किया जाने लगा है ।[2] इंडिया आफिस पांडुलिपि 2656, वेबर 1721 तथा मद्रास पांडुलिपि 12871-74 वास्तव में 'कुवलयानंद' के अंतर्गत 'चंद्रालोक' का अर्थालंकार अध्याय ही है । उसमें ग्रंथ का संपूर्ण पाठ नहीं है, फिर भी उसे 'चंद्रालोक' कहा गया है । अप्पय्य के ग्रंथ में जयदेव द्वारा निरूपित केवल सौ अथवा 103 अलंकारों[3] के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का एक पूरक अध्याय भी है । 'चंद्रालोक' के कुछ पाठों में इस अध्याय का गलती से समावेश कर लिया गया है । जयदेव तथा अप्पय्य के ग्रंथों की विभिन्न पांडुलिपियों में आरम्भिक तीन श्लोकों के पूर्वापर क्रम तथा अलंकार अध्याय के अंतर्गत श्लोकों की संख्या में बड़ी अव्यवस्था है । 'चंद्रालोक' के इस अध्याय के अंतर्गत श्लोकों की संख्या में बड़ी अव्यवस्था है । 'चंद्रालोक' के इस अध्याय में 'परस्परतपः संपत्' श्लोक इस ग्रंथ के सभी मान्यताप्राप्त पाठों में उपलब्ध है, किंतु यह समझ में नहीं आता कि जयदेव ने इस मंगलात्मक श्लोक को ग्रंथ के मध्य में क्यों लिख दिया । गंगाधर का कथन है कि यह श्लोक जयदेव का नहीं है, अपितु अप्पय्य ने अपने ग्रंथ के नांदी-श्लोक के रूप में इसे लिखा था ।[4]

4

जयदेव के टीकाकार

चंद्रालोक के टीकाकारों में प्रद्योतन भट्ट (उपनाम, पद्मनाभ मिश्र) तथा उनकी चंद्रालोक-प्रकाश शरदागम नामक टीका का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है ।

---

1. तुलना कीजिए—कुवलयानंद पृ० 9 पर गंगाधर का कथन—चंद्रालोकोऽर्थालंकारात्मक एव, न त्वन्य इति केषांचिद् भ्रमः ।
2. इसी प्रकार Regnaud (Rhetorique Sanskrite, पृ० 375) का कथन है कि 'चंद्रालोक' में 151 श्लोक हैं तथा इसमें अलंकारों का सोदाहरण लक्षण-विवेचन है । यही तथ्य 'कुवलयानंद' पर लागू होता है ।
3. अलंकारों के लक्षण तथा उनकी सूची की यह संख्या सर्वाधिक नहीं है । मम्मट ने 61, रुय्यक ने 75 अर्थालंकारों के लक्षण दिए हैं, किंतु शोभाकर मित्र ने 109, तथा अप्पय्य दीक्षित ने 115 अलंकार दिए हैं । अलंकारों की संख्या बढ़ती ही गई है ।
4. देखिए गंगाधर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 9 तथा 'परस्परतपः संपत् इति चंद्रालोक-नांदी-श्लोक इत्यपि भ्रम एव, पंचममयूखे शब्दालंकारान्निरूप्य 'उपमा यत्र सादृश्य' इत्यादिना अर्थालंकारप्रस्तावे नांद्या एवाभावात् ।'' 'अलंकारेषु बालानाम्' एक अन्य श्लोक तथा पाँचवें अध्याय के श्लोक 174, जिसमें 'वेंकटप्रभु' का उल्लेख है, के संबंध में भी यही बात लागू होती है, क्योंकि वे भी अप्पय्य-रचित प्रतीत होते हैं । तुलना कीजिए—IOC, iii, पृ० 333-34, वहाँ इस विषय पर चर्चा की गई है ।

उनके पिता का नाम मिश्र बलभद्र तथा संरक्षक का नाम वीरभद्र (अथवा वीररुद्र) बताया गया है। वीरभद्र, बघेल (अथवा बंदेलल) वंशीय अयोध्या के राजा वीरभानु के पौत्र तथा रामचंद्र के पुत्र थे।[1] इनकी टीका की तिथि 1583 ई० है। वात्स्यायन पर वीरभद्र की 'कंदर्पचूड़ामणि' नामक टीका की तिथि 1577 ई० है, जिससे उनके संरक्षक का काल 16 वीं शती का उत्तरार्द्ध सूचित होता है। कहा जाता है कि वीरभद्र ने राजकुमार सलीम के अनुरोध पर अबुल फ़ज़ल का वध किया था। उनके राजपंडित, मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्होंने अपने संरक्षक का उल्लेख किया है।

वैद्यनाथ पायगुंड ने 'रमा'[2] नामक एक अन्य टीका लिखी है। संभवतः यह वैद्यनाथ पायगुंड, गोविंद के 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पय्य के 'कुवलयानंद' टीकाकार, वैद्यनाथ तत्सत् नहीं हैं, यद्यपि अधिकतर ग्रंथ-सूचियों में इन्हें एक ही मान लिया गया है। इनकी टीकाओं के पृष्ठांत विवरण में इनके पायगुंड तथा तत्सत् गोत्रनाम स्पष्ट रूप में दिए गए हैं। हमारे वैद्यनाथ ने 'रमा' के एक आरंभिक श्लोक में स्वयं को स्पष्ट रूप में पायगुंड कहा है। पायगुंड एक प्रसिद्ध महाराष्ट्र गोत्र है। किंतु उन्होंने स्वयं अपनी वंशावली का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नागोजी के 'परिभाषेंदुशेखर' पर 'गदा' नामक टीका लिखी थी। इस प्रकार वे 18वीं शती के आरंभ के पश्चात् ही हुए होंगे।

इसके अतिरिक्त एक अल्पप्रसिद्ध टीका, 'राकागम' अथवा 'सुधागम' भी है। इसके लेखक हैं मीमांसक दिनकर (अथवा, दिवाकर) भट्ट के पुत्र, गागाभट्ट। विश्वेश्वर उनका उपनाम है। विश्वेश्वर ने मीमांसा तथा स्मृति-विषयक कई ग्रंथ लिखे हैं (औफ्रेक्ट i, 587b)। वे 17वीं शती के प्रथम चरण में

1. मद्रास पांडुलिपि में 'बंदेलल' पाठ है, किंतु फ्लोरेंटाइन पांडुलिपि (AF, पृ० 158) में 'बाघेल' पाठ है।

2. भ्रमवश इस टीका का नाम प्रायः 'हरिलोचनचंद्रिका' बताया गया है (औफ्रेक्ट i. 182a)। 'कुवलयानंद' पर वैद्यनाथ तत्सत् की 'अलंकारचंद्रिका' नामक टीका भी भ्रमवश इसी नाम से लक्षित की गई है। इस भूल का कारण यह है कि 'हरिलोचन-चंद्रिका' शब्द 'अलंकारचंद्रिका' टीका के मंगल-श्लोक से मिलता है तथा क्रमशः जयदेव तथा अप्पय्य के टीकाकार इसी कारण भ्रमग्रस्त हो गए हैं। मंगलश्लोक इस प्रकार है—

अनुचिंत्य महालक्ष्मी हरिलोचनचंद्रिकाम्।
कुर्वे कुवलयानंदसदलंकारचंद्रिकाम्॥

टीका के लिए अप्पय्य दीक्षित के अंतर्गत देखिए। वैद्यनाथ पायगुंड, को एक 'लघु कुवलयानंद' का रचयिता कहा गया है (BORI, पांडुलिपि कैटलॉग xii, संख्या 287, पृ० 342-43)।

वर्तमान, प्रसिद्ध मीमांसक कमलाकर भट्ट के भतीजे तथा रामेश्वर के प्रपौत्र थे।[1] अतएव, विश्वेश्वर अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक हैं संभवत: 18वीं शती के आरंभ में हुए हैं। इन्हें 'अलंकार-कौस्तुभ' (अन्यत्र देखिए) के रचयिता, वीरेश्वर से भिन्न मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दो अल्पज्ञात टीकाओं के नाम नीचे ग्रंथसूची में दिये गए हैं।

ग्रंथसूची

संस्करण : कई बार प्रकाशित हो चुके हैं। (1) तेलुगु लिपि में व्यापार दर्पण प्रेस द्वारा, मद्रास 1857 (2) जीवानंद विद्यासागर द्वारा, कलकत्ता 1874, 1896, 1906, 1917. (3) सुब्रह्मण्य द्वारा, विशाखापत्तनम् 1898. (4) वेंकटाचार्य शास्त्री द्वारा, ग्रंथ-लिपि में, पालघाट 1912. (5) बी० एल० पंसीकर द्वारा, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, द्वितीय संस्करण 1907 (इसमें वैद्यनाथ की 'चंद्रिका' टीका के 'कुवलयानंद' भी समाविष्ट है), 1912, 1917. (6) प्रद्योतन भट्ट उपनाम पद्मनाभ मिश्र की 'चंद्रालोकप्रकाश शरदागम' टीका सहित; सं० नारायण शास्त्री खिस्ते, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1929. (7) वैद्यनाथ पायगुंड की 'रमा' टीका सहित, सं० गोविंद शास्त्री, बनारस, 1883 तथा, सं० महादेव गंगाधर बत्ते, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई, 1923 (8) 'कुवलयानंद' तथा वैद्यनाथ की टीका सहित, सं० गोविंद शास्त्री, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई 1911. (9) गागाभट्ट की 'राकागम' टीका सहित, सं० चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1938। (10) सूर्यबलिराम चौबे द्वारा, बनारस 1895 (चंद्राशोक-निगूढ़ार्थ-दीपिका सहित)। 'बुधरंजना टीका सहित, मद्रास (1863) से प्रकाशित संस्करण वास्तव में 'कुवलयानद' में समाविष्ट अर्थालंकार अध्याय पर टीका-मात्र है, संपूर्ण ग्रंथ की टीका नहीं है। यहाँ कलकत्ता संस्करण 1917 से संदर्भ उद्धृत किए गए हैं; उसमें सम्पूर्ण पाठ दिया गया है। 'कुवलयानंद' पर टीकाओं के लिए अप्पय्य दीक्षित के अंतर्गत देखिए।

हस्तलिपियाँ : मद्रास कैटलॉग xii, 12860 (इसमें 'कुवलयानंद' के साथ 'चंद्रालोक' के श्लोक भी हैं) 12871-73। अधिकतर अन्य ग्रंथ-सूचियां (देखिए औफ्रेक्ट) में उल्लिखित हस्तलिपियों में अर्थालंकार अध्याय ही है, संपूर्ण पाठ नहीं है, देखिए पृ० 201-2। ओपर्ट ii. 2763 के अंतर्गत जयदेव का 'अलंकार-शतक' संभवत: चंद्रालोक के इसी अध्याय का विवरणात्मक नाम है। मित्रा 1612 में निर्दिष्ट 'अलंकार-संग्रह' वस्तुत: अर्थालंकार अध्याय ही है।

---

1. वंशावली इस प्रकार है—रामेश्वर-नारायण-रामकृष्ण-दिनकर-विश्वेश्वर।

टीकाएँ : (१) प्रद्योतन भट्ट की 'चन्द्रालोक-प्रकाश-शरदागम', सं० यथोक्त। विवरणार्थ देखिए मद्रास कैटलॉग xxii, 12878. (2) विश्वेश्वर, उपनाम गागा भट्ट रचित 'राकागम' अथवा 'सुधा' सं० यथोक्त। गागाभट्ट ने 1674 ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक किया था। उन्होंने 1680-81 ई० में राजा संभाजी को स्वरचित 'समय-नय' समर्पित किया था (पी० के० गोडे-प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि इंडियन हिस्टारिकल कांग्रेस, 1939, पृ० 1166-71). उनका जन्म बनारस के प्रसिद्ध मराठा भट्ट परिवार में हुआ था। उनके पिता दिनकर ने 'दिनकरोद्योत' लिखा। (3) वैद्यनाथ पायगुन्ड की 'रमा'। सं० यथोक्त। मद्रास कैटलॉग xii, 12876। (4) वाजचंद्र की टीका। औफ्रेक्ट, i, 182a (5) 'चंद्रालोक-दीपिका', लेखक का नाम अज्ञात है। औफ्रेक्ट i. 182a। (6) शारदशर्वरी, विरूपाक्ष-रचित, हुल्ट्श 1617, तंजौर कैटलॉग ix. 5221।

विद्याधर

(1)

के० पी० त्रिवेदी तथा आर० जी० भंडारकर ने 'एकावली'[1] के लेखक विद्याधर की लगभग शुद्ध तिथि निर्धारित कर दी है[2]। विद्याधर ने जिन लेखकों का उल्लेख किया है तथा उद्धरण दिए हैं, उनमें रुय्यक सबसे अर्वाचीन हैं (पृ० 150) ; इस प्रकार 12वीं शती के मध्यभाग में उनके काल की एक सीमा प्राप्त हो जाती है। विद्याधर ने (पृ० 19 नैषध के लेखक श्रीहर्ष का उल्लेख

---

1. औफ्रेक्ट (i. 75) ने 'एकावली' नाम के तीन भिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो वास्तव में एक ही हैं। उनमें से पहला तथा तीसरा ग्रन्थ निस्सन्देह एक ही है और चर्चाधीन 'एकावली' को ही परिलक्षित करता; किंतु बर्नल 54a (तुलना कीजिए, ओपर्ट ii. 3605) के अनुसार दूसरा ग्रन्थ महामाहेश्वर कवि ने लिखा था। वास्तव में यह स्वयं विद्याधर की ही उपाधि है और चर्चाधीन विद्याधर तथा समान-उपाधि-धारी अभिनवगुप्त में भ्रम का कारण है (देखिए, वेबर ii, संख्या 1723)। मद्रास हस्तलिपि (मद्रास कैटलॉग xii. पृ० 8611) के पृष्ठांत-विवरण में इस प्रकार कहा गया है—इति श्रीमती महा-माहेश्वरस्य कवेर्विद्याधरस्यकृतावेकावलीनाम्न्यलंकारशास्त्रे, इत्यादि। बर्नल की प्रति में उल्लिखित प्रथम श्लोक हमारी 'एकावली' की सभी प्रतियों में मिलता है। वेबर (उपर्युक्त ग्रंथ) निर्दिष्ट 'तरला' टीका में वास्तव में मल्लिनाथ की 'तरला' ही है। औफ्रेक्ट ने विद्याधर को कामशास्त्र-विषयक 'केलिरहस्य' का लेखक माना है, किंतु ग्रन्थ के पृष्ठांत-विवरण में लेखक, का नाम वैद्य विद्याधर दिया गया है।

2. देखिए, भूमिका,—बंबई संस्कृत सीरीज संस्करण तथा भंडारकर रिपोर्ट 1887-91 पृ० lxvi, इत्यादि।

किया है। वे संभवत: 12वीं शती में हुए हैं[1]। इससे विद्याधर के पूर्वोक्त काल-संबंधी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। किंतु विद्याधर ने उसी संदर्भ में कवि हरिहर का भी उल्लेख किया है[2] और कहा है कि उन्होंने राजा अर्जुन (संभवतः, मालवा के तत्कालीन राजा) से विशाल धनराशि प्राप्त की थी। इस उल्लेख के कारण उनकी तिथि की काल-सीमा कुछ समय पश्चात् अर्थात् 13वीं शती के प्रथम चरण में निर्धारित की जा सकती है। शिंगभूपाल ने 'एकावली' का उल्लेख किया है।[3] उनकी तिथि 1330 ई० है। मल्लिनाथ ने 'एकावली' पर टीका की है। वे 14वीं शती के अंतिम भाग में हुए थे। मूल पाठ के आंतरिक प्रमाण के आधार पर इनकी तिथि 13वीं शती के प्रथम चरण तथा 14वीं शती के प्रथम चरण की मध्यावधि में सिद्ध होती है।

'एकावली' के उदाहरण-श्लोकों में[4] कलिंग-नरेश नरसिंह की प्रशंसा की गई है। 1282 तथा 1327 की अवधि में कलिंग में नरसिंह नाम के दो राजा हुए हैं। विद्याधर के नरसिंह इनमें से एक थे। इस प्रकार विद्याधर की अधिक शुद्ध तिथि, 13वीं शती के अत तथा 14वीं शती के आरभ के मध्यवर्ती काल में प्राप्त होती है। उक्त ग्रन्थ में हमारे लेखक ने अपने संरक्षक के विषय में कहा है कि उसने हम्मीर का मानमर्दन किया था (पृ० 176, 177, 257, 260)। हम्मीर संभवतः नयचंद्र सूरि के काव्य का नायक प्रसिद्ध चौहान राजा था।[5] उसने लगभग 1283 में राज्य-भार ग्रहण किया तथा

1. देखिए बूहलर, जर्नल ऑफ दि बंबई ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, x, पृ० 31 इत्यादि, xi पृ० 279 इत्यादि। के० टी० तेलंग, इण्डियन एंटिक्वेरी, ii, पृ० 71, iii, 81 इत्यादि; बूहलर रिपोर्ट 1874-75, पृ० 8.
2. पृ० 348 पर त्रिवेदी की टिप्पणी देखिए।
3. 'रसार्णव-सुधाकर' पृ० 107 = 'एकावली' 1, 2. तुलना कीजिए SgS i पृ० 7 इत्यादि। यह श्लोक बिह्लण की 'कर्णसुन्दरी' (सं० काव्यमाला 7, 1895, पृ० 56) के प्रकाशित पाठ में तीसरे प्रशस्तिश्लोक के रूप में मिलता है। शिंगभूपाल ने स्पष्ट रूप से विद्याधर तथा उनकी 'एकावली' के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—उत्कलाधिपतेः शृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाढमभ्यंतरीकृतोऽसि, एवं खलु समर्थित-मेकावल्यामनेन (सं० त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, पृ० 206)। के० पी० त्रिवेदी (भूमिका पृ० xxiii) का निष्कर्ष है कि केशरी नरसिंह (1282-1307 ई०) अथवा प्रतापनारायण सिंह (1307-1327) विद्याधर के संरक्षक थे।
4. लेखक ने स्वयं कहा है—(श्लोक 7) करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरत्। इस विषय में यह ग्रंथ विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', कृष्ण यज्वन् के 'रघुनाथभूपालीय' तथा देवशंकर के 'अलंकारमंजूषा' के समान है।
5. देखिए सं० कीर्तने v. 56, तथा पृ० 27; भंडारकर का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० lxvii इत्यादि।

दक्षिण प्रदेश की विजय का प्रयत्न किया। इन सब बातों से यह संभव प्रतीत होता है कि एकावली की रचना 13वीं शती के अंतिम तथा 14वीं शती के आरंभिक भाग में हुई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि विद्याधर ने कामशास्त्र विषयक 'केलिरहस्य' भी लिखा था।[1]

2
मल्लिनाथ

भंडारकर तथा त्रिवेदी ने 'एकावली' पर 'तरला' नामक टीका के लेखक मल्लिनाथ की तिथि 14वीं शती के अंत में निश्चित की है। ग्रंथ की रचना के कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने अपनी टीका लिखी होगी, क्योंकि श्लोक 6 से यह प्रकट होता है कि टीका के अभाव के कारण 'एकावली' का पठन-पाठन न हो सका। यह मल्लिनाथ वास्तव में प्रसिद्ध टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ सूरि (पेद्द भट्ट) हैं। उन्होंने कालिदास, भारवि, भट्टि, श्रीहर्ष तथा माघ के पाँच श्रेष्ठ महाकाव्यों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनमें से कुछ टीकाओं में उन्होंने 'एकावली' के उद्धरण दिए हैं।

कारिका तथा वृत्ति सहित, 'एकावली' में आठ उन्मेष हैं। इसके अंतिम दो अध्यायों (7-8) में अलंकार-विवेचन में मम्मट तथा रुय्यक के ग्रंथों का उपयोग किया गया है। इसके पहले अध्याय में काव्य के लक्षण तथा दूसरे अध्याय में तीन वृत्तियों, अर्थात्, अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का विवेचन है। तीसरे तथा चौथे अध्याय में ध्वनि, पाँचवें तथा छठे में तीन काव्य-गुणों, तीन रीतियों तथा दोषों का विवेचन है। उदाहरणार्थ सभी श्लोक विद्याधर के स्वरचित हैं। उनमें उन्होंने अपने संरक्षक उत्कल-नरेश नरसिंह का प्रशंसा की है।

ग्रंथ-सूची

संस्करण—सं० के० पी० त्रिवेदी, बंबई संस्कृत सीरीज 63, 1903. इस संस्करण में मल्लिनाथ की 'तरला,' भूमिका तथा टिप्पणी भी दी गई है। इसके

1. औफ्रेक्ट i, 537b
2. भंडारकर रिपोर्ट, 1887-91, पृ० lxix; त्रिवेदी, भट्ट-काव्य की भूमिका, पृ० xxiv-xxviii; एकावली की भूमिका पृ० xxvii इत्यादि; पाठक, मेघदूत की भूमिका, पृ० 11-12; नंदर्गीकर, रघुवंश की भूमिका, पृ० 1-6, विशेषतः पृ० 5-6।

अतिरिक्त प्रभाकर (जन्म् 1564 ई०) रचित एक अन्य टीका है। प्रभाकर के पिता का नाम माधवभट्ट तथा दादा का नाम रामेश्वर भट्ट था।

विद्यानाथ

1

विद्यानाथ ने जिन लेखकों का उल्लेख किया है, उनमें रुय्यक (पृ० 291, 334) अर्वाचीनतम लेखक हैं। रुय्यक के 'साहित्य-मीमांसा' नामक लुप्त ग्रंथ का पृ० 11 पर उल्लेख किया गया है। मल्लिनाथ ने अपनी विभिन्न काव्य-टीकाओं में अलंकारों के लक्षण बताते हुए विद्यानाथ के अनाग उद्धरण दिए हैं।[1]

विद्यानाथ की तिथि की सीमाएँ विद्याधर की तिथि के समान ही हैं तथा अन्य सामग्री के आधार पर उन्हें विद्याधर का समकालीन माना जा सकता है। 'एकावली' की तरह विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' भी राजा प्रतापरुद्र की प्रशस्ति के रूप में लिखा गया था। ग्रंथ के उद्धरणार्थ सभी श्लोकों में इसी राजा (अन्य नाम वीरभद्र अथवा रुद्र) का गुणगान किया गया है। उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम मुन्मुडी अथवा मुम्मडंबा था (पृ० 12, 13, 16, 17, 133)। नाटक के लक्षणों के उदाहरणार्थ ग्रंथ के तीसरे अध्याय में इसी राजा के नाम पर रचित 'प्रतापरुद्रकल्याण'[2] नामक नाटक का प्रवेश कराया गया है। प्रतापरुद्र काकतीय वंश का राजा था।[3] त्रिलिंग अथवा आंध्र प्रदेश के अंतर्गत एकशिला उसकी राजधानी थी। उसने अन्य राजाओं के अतिरिक्त यादव-वंशीय राजाओं को भी पराजित किया था। इन तथ्यों तथा अन्य सामग्री के आधार पर के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ के संरक्षण प्रतापरुद्र को एकशिला अथवा वारंगल के काकतीय वंश के सातवें राजा से अनन्य माना है। इस राजा के शिलालेखों की तिथि 1298 तथा 1317 ई० के मध्य है।[4]। सेवेल ने इसे 1295 तथा 1323 ई० के मध्य तथा शेषगिरि शास्त्री ने 1268 तथा 1319 ई० के मध्य स्थिर किया है।[5] उपर्युक्त यादव राजा संभवतः देवगिरि का छठा यादववंशीय

---

1. उद्धरणों के लिए ग्रंथ पर त्रिवेदी की भूमिका, पृ० ix देखिए।
2. औफ्रेक्ट i, 549a. में इसका अलग से उल्लेख है; यह ग्रंथमाला खंड 1 के अंतर्गत प्रकाशित हुआ है।
3. 'रत्नापण' के अनुसार (पृ० 10; तथा 'रत्नशाण' पृ० 485) काकति देवी का भक्त होने के कारण उसे काकतीय कहते थे।
4. एगलिंग ((IOC iii; पृ० 338) ने 1268 तथा 1319 तिथियां दी हैं।
5. देखिए त्रिवेदी, भूमिका पृ० xvi-xxii. शुद्ध तिथियां 1298 तथा 1323 ई० हैं।

राजा रामचंद्र था। वह 1271 से 1309 ई० के बीच हुआ था[1]। अतएव, विद्याधर को लगभग 13वीं शती के अंत तक तथा 14वीं शती के आरंभ की मध्यावधि का निर्धारित किया जा सकता है। ऐसा भी कहा गया है कि लेखक का वास्तविक नाम अगस्त्य पंडित था, विद्यानाथ उपाधि थी।

'एकावली' के समान विद्यानाथ की रचना में कारिका, वृत्ति तथा अपने संरक्षक के प्रशंसा-वाचक उदाहरण-श्लोक हैं। इसके नौ प्रकरणों के अंतर्गत क्रमशः नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार का विवेचन है। जैसा कि पहले बताया गया है, नाटक के गुण-लक्षण-उदाहरणस्वरूप तीसरे प्रकरण में एक नाटक दिया गया है। मुख्यरूप में विवेचन का आधार मम्मट, रुय्यक, भरत तथा धनंजय हैं, किंतु यह ग्रंथ 'एकावली' से अधिक विशद है, क्योंकि इसमें नाट्य विषय पर भी चर्चा की गई है।

2

कुमारस्वामी

विद्यानाथ के टीकाकार कुमारस्वामी ने स्वयं को प्रसिद्ध टीकाकार तथा 'एकावली' पर 'तरला' के लेखक, कोलाचल मल्लिनाथ का पुत्र बताया है[2]। अतएव, कुमारस्वामी को 15 वीं शती के आरंभ में निर्धारित किया जा सकता है। उनकी टीका के नाम 'रत्नापण' (एगलिंग ने अपने ग्रंथ पृ० 338b पर 36b का अनुसरण करते हुए गलती से इसे 'रत्नार्पण' कहा है) की उन्होंने स्वयं ही व्याख्या की है। रत्नापण का अर्थ है एक बाजार, जहाँ नायक के गुणरूपी सान पर परिष्कृत तथा विद्यानाथ द्वारा एकत्रित काव्यरत्नों का पणन है।

'रत्नापण' में अनेक उद्धरण दिए गए हैं। इसमें अन्य प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त, भोज के 'श्रृंगारतिलक', 'एकावली', 'साहित्यदर्पण' (पृ० 245), चक्रवर्ती तथा रुय्यक पर उनकी 'संजीवनी' नामक टीका, शिंगभूपाल तथा उनका 'रसार्णव', लेखक के पिता मल्लिनाथ, भाई पेद्दयार्य, भट्ट गोपाल तथा नरहरि सूरि का उल्लेख है। रस विषयक 'भाव-प्रकाश' का कई बार उल्लेख किया गया है।

---

1. भंडारकर, अर्ली हिस्ट्री, पृ० 92।
2. नारायण ने स्वयं को कुमारस्वामी का वंशज कहा है और 'चंपूरामायण' (मद्रास कैटलॉग xxi, 8212) पर अपनी टीका में अपने पूर्वजों की वंशावली का विवरण इस प्रकार दिया है—मल्लिनाथ-कपर्दी-मल्लिनाथ पेद्दुभट्ट-कुमारस्वामी। उनका कथन है कि पेद्दुभट्ट एक महामहोपाध्याय थे, उन्होंने 'नैषध' पर टीका लिखी थी तथा सर्वज्ञ (शिंगभूपाल ?) ने उन्हें स्वर्णस्नान करवाया था।

यह ग्रंथ अब शारदातनय (अन्यत्र देखिए) रचित माना गया है। वसंतराजीय नाट्यशास्त्र का भी उल्लेख है। इस ग्रंथ के लेखक, वसंतराज, प्रत्यक्ष रूप से राजा कुमारगिरि (अन्यत्र देखिए) थे। कुमारगिरि का अन्य नाम वसंतराज था। वे काट्यवेम के संरक्षक थे। पृष्ठ 170 पर एक कविकल्पद्रुमकार का उल्लेख है, किंतु यह वोपदेव रचित धातु-पाठ-विषयक ग्रंथ है। पृ० 113 पर उल्लिखित 'नाटकप्रकाश' के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पृ० 44 पर लक्षित 'अलंकार-सुधानिधि' के संबंध में अप्पय दीक्षित-संबंधित अंश में देखिए। उन्होंने भी इस ग्रंथ का उद्धरण दिया है। संभवतः नरहरि सूरि 'रसनिरूपण' के तथा वीरनारायण (अन्यत्र देखिए) 'साहित्य-चिंतामणि' के लेखक थे[1]।

ग्रंथ के बंबई संस्करण के अंतर्गत 'रत्नशाण' नामक एक अन्य अपूर्ण टीका है। इस ग्रंथ की एक हस्तलिपि (मद्रास Trm, ii, C 1923) के पुष्पिका-लेख से ऐसा सूचित होता है कि इसे शुकवट कुलोत्पन्न रामानुजाचार्य के पुत्र तथा वात्स्य रामानुजाचार्य के शिष्य तिरुमलाचार्य ने लिखा था। उनका निवास-स्थान गोदावरी जिले के अंतर्गत कोरिपल्ली के समीप रामतीर्थ था।

ग्रंथ-सूची

संस्करण (1) के० पी० त्रिवेदी द्वारा, बंबई संस्कृत सीरीज 65, 1909। इसमें कुमारस्वामी की 'रत्नापण', 'रत्नशाण' टीकाएँ, टिप्पणी तथा भूमिका भी समाविष्ट हैं। यहाँ इसी संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं। (2) पोथी आकार का लिथो संस्करण, पूना 1849। (3) सरस्वती-तिरुवेंकडाचार्य तथा वेंगीपुरम् राम-कृष्णमाचार्य द्वारा, तेलुगु लिपि में 'रत्नापण' टीका सहित, मद्रास 1868, 1869, 1871, 1888। (4) एस० चंद्रशेखर शास्त्रीगल द्वारा, 'रत्नापण' टीका सहित, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास 1914.।

1. इन लेखकों के संबंध में 'अल्प प्रसिद्ध लेखक' शीर्षक अध्याय में आगे देखिए।

अध्याय 8

विश्वनाथ से जगन्नाथ तक

विश्वनाथ

1

विश्वनाथ ने कहीं भी रुय्यक तथा मम्मट का नामोल्लेख नहीं किया है; किंतु विद्याधर तथा विद्यानाथ की तरह उन्होंने इन दोनों लेखकों के ग्रंथों की सामग्री का प्रचुर उपयोग किया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने 'उपमेयोपमा' तथा 'भ्रांतिमत्' अलंकारों के लक्षण प्रत्यक्ष रूप में रुय्यक से लिए हैं तथा 'विकल्प' और 'विचित्र' नामक दो अलंकारों को भी मान्यता दी है। रुय्यक तथा जयरथ के कथनानुसार इन दोनों अलंकारों का आविष्कार रुय्यक ने ही किया था[1]। जैसा कि पी० वी० काणे का मत है, संभवतः विश्वनाथ (अध्याय ii. 14, पृ० 57) ने मम्मट के ग्रंथ की आलोचना का विरोध किया है, विशेषतः जहाँ रुय्यक ने अपनी 'संकेत' टीका में विचाराधीन विषय पर मम्मट की आलोचना की है। विश्वनाथ निश्चित रूप से रुय्यक के ग्रंथ से परिचित थे। उन्होंने पृ० 445 (अध्याय x. 2) पर रुय्यक के 'भुजंग-कुंडलीव्यक्त' इत्यादि श्लोक का उद्धरण दिया है। रुय्यक ने पृष्ठ 19 पर उसी श्लोक को स्वरचित बताकर 'श्रीकंठस्तव' से उद्धृत किया है। इनके अतिरिक्त विश्वनाथ ने इसी शती के दो अन्य लेखकों, 'गीतगोविंद' के रचयिता जयदेव[2]

---

1. ऐसे उदाहरण, जहाँ विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण अथवा आलोचना की है, ग्रंथ के पी० वी० काणे के संस्करण की भूमिका तथा टिप्पणी में दिए गए हैं।
2. विश्वनाथ द्वारा पृ० 506 (अध्याय x, 39) पर उद्धृत 'हृदि विषलता' श्लोक 'गीतगोविंद' (सं० निर्णयसागर प्रेस, iii, 11. पृ० 58) में मिलता है। शार्ङ्गधर (संख्या 3460) तथा वल्लभदेव (संख्या 1314) ने भी इसे जयदेव-रचित कहा है। श्रीधर के 'सदुक्तिकर्णामृत' में भी जयदेव का उल्लेख है; अतएव जयदेव को 1206 ई० से पहले ही निर्धारित करना चाहिए। बूहलर तथा पीटर्सन (काश्मीर रिपोर्ट पृ० 64 तथा 'सुभाष' पृ० 38) ने जयदेव की 1116 ई० निश्चित की है, किंतु हरप्रसाद शास्त्री ने जयदेव की तिथि 1175 ई० दी है, ('नोटिसेज', सेकेंड सीरीज़ i, पृ० xxxviii)। ऐसा कहा गया है कि चंद, कवि ने भी जयदेव का उल्लेख किया है। चंद कवि ने 12वीं शती के अन्तिम भाग में दिल्ली के राजा पृथ्वीराज पर एक महाकाव्य लिखा था (किंतु देखिए WZKM vii पृ० 189 जर्नल ऑफ़ दि बंबई ब्रांच ऑफ़ रॉयल एशियाटिक सोसायटी xi, पृ० 283)। विश्वनाथ ने शंखधर के 'लटकमेलक' का भी उल्लेख किया है (पृ० 176 अध्याय iii. 212)। यह भी इसी शती का है।

तथा 'नैषध' के रचयिता श्रीहर्ष[1] का भी उल्लेख किया है। विश्वनाथ ने जयदेव के 'प्रसन्नराघव' (i.37) से 'कदली-कदली' श्लोक को भी उद्धृत किया है (अध्याय iv.3)। इसके अतिरिक्त 'राजतरंगिणी' के अध्याय iv के श्लोक 441 को इस ग्रंथ के पृ० 529 पर अध्याय x, 57a के अंतर्गत दिया गया है (संभवतः यह श्लोक रुय्यक के पृ० 93 से परोक्ष रूप में उद्धृत किया गया है)। किन्तु कल्हण का उक्त ग्रंथ 12 वीं शती के मध्यभाग तक पूरा नहीं हुआ था। इस सामग्री के आधार पर मोटे तौर से विश्वनाथ की तिथि की एक सीमा प्राप्त होती है, उसे 12 वीं शती के अंतिम भाग अथवा 13वीं शती के आरंभ से अधिक पहले नहीं स्थिर किया जा सकता।

विश्वनाथ की दूसरी तिथि-सीमा 'साहित्य दर्पण' की एक हस्तलिपि से प्राप्त होती है। यह हस्तलिपि संवत् 1440 = 1384 ई० में तैयार की गई थी। स्टीन ने इसे जम्मू में खोजा था।[2] इस आधार पर वेबर,[3] एगलिंग[4] तथा हरिचंद्र शास्त्री[5] द्वारा 15वीं शती के मध्यभाग में निर्धारित की गई विश्वनाथ की तिथि असंगत ठहरती है। विश्वनाथ ने चंडीदास को अपना एक संबंधी कहा है, किंतु हरिचंद शास्त्री ने उन्हें 15वीं शती का बंगाली कवि चंडीदास मानकर गलती की है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि 15वीं शती के आरंभ में कुमारस्वामी ने उद्धरण सहित साहित्यदर्पण (iii. 146a, 147 तथा 150) का नामोल्लेख किया है। (पृ० 245, 248)।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि मोटे तौर पर विश्वनाथ 1200 से 1350 ई० तक की मध्यावधि में ही हुए हैं। 'साहित्य-दर्पण' (अध्याय iv 14, पृ० 232) के अंतर्गत एक श्लोक में मुसलमान बादशाह अल्लावदीन[6] संबंधी उल्लेख से यदि कोई तैथिक निष्कर्ष निकाला जा सके

---

1. पृ० 526 अध्याय x, 54 (हनूमदाद्यं) = नैषध ix. 122b, पृ० 520; अध्याय x. 50 (धन्यासि वैदर्भि) = वही 3.116. श्रीहर्ष की तिथि के संबंध में सुशीलकुमार दे का 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' पृ० 325-26, देखिए।
2. जम्मू कैटलॉग, पृ० 64, संख्या 349।
3. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 231 (अंग्रेजी अनुवाद, 1904)।
4. IOCiii, पृ० 337.
5. उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 115.
6. संधौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
   अला (ल्ला) वदीन-नृपतौ न संधिर्न च विग्रहः॥

तो विश्वनाथ की अधिक शुद्ध तिथि प्राप्त हो सकती है। संभवतः यह अल्लावदीन अथवा अलावदीन[1] सुल्तान[2] अलाउद्दीन खिलजी था, जिसकी सेना ने दक्षिण पर चढ़ाई करके वारंगल पर विजय प्राप्त की थी। उक्त सुल्तान की मृत्यु 1316 ई० हुई थी। यदि यह मान लिया जाए कि चर्चाधीन श्लोक सुल्तान के जीवनकाल में ही लिखा गया था, तो भी 'साहित्यदर्पण' की रचना-तिथि 1300 ई० से अधिक पहले नहीं मानी जा सकती। यदि यह ऐतिहासिक निष्कर्ष मान्य हो तो विश्वनाथ को 1300 तथा 1350 ई० की मध्यावधि में अथवा मोटे तौर से 14वीं शती के पूर्वार्ध में निर्धारित किया जा सकता है[3]।

2

विश्वनाथ ने स्वयं को महाकवि चंद्रशेखर (पृ० 543 अंतिम श्लोक) का पुत्र बताया है। चंद्रशेखर भी अपने पुत्र के समान कवि, आचार्य[4] और संभवतः राजा कलिंग के एक उच्चाधिकारी[5] थे। नारायण, विश्वनाथ के पितामह अथवा प्रपितामह थे। उन्होंने अलंकार-संबंधी कुछ विषयों पर लिखा है। 'काव्यप्रकाश' पर अपनी टीका में विश्वनाथ ने नारायण को 'अस्मत् पितामह' कहा है तथा अपने 'साहित्यदर्पण' (पृ० 73 अध्याय : ii 4a) में उन्हें 'अस्मत् वृद्धपितामह' कहा है। मम्मट पर 'दीपिका' नामक टीका के बंगाली लेखक से भिन्न चंडीदास का भी

---

1. इस नाम के दोनों रूप दो शिलालेखों में मिलते हैं; देखिए—जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, xliii, पृ० 108 तथा भावनगर शिलालेख 114—'प्राचीन-लेखमाला' ii. 28. हर्षकीति के 'धातुपाठ' में इस बादशाह को अल्लावदी कहा गया है (भंडारकर रिपोर्ट 1882-83, पृ० 43)।
2. इस शब्द का संस्कृत रूप 'सुरत्राण' पृ० 509 (अध्याय x. 42) पर मिलता है।
3. तुलना कीजिए, काणे के उपर्युक्त ग्रंथ की भूमिका; एम० चक्रवर्ती, जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल lxxii (1903), पृ० 146. एन० एल० ii 1906, पृ० 157 इत्यादि; कीथ, जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1911, पृ० 848 इत्यादि; स्टेन कोणो, इंडियन ड्रामा. पृ० 3. प्रभाकर ने अपने 'रसप्रदीप' 1583 ई०) में पृ० 18, 20,35 पर 'साहित्य दर्पण' के उद्धरण दिए हैं।
4. उनके श्लोक पृ० 58, 116, 170, 174 पर उद्धृत किए गए हैं तथा 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' नामक उनके ग्रंथ पृ० 263 तथा 316 पर निर्दिष्ट किए गए हैं।
5. दोनों को 'संधिविग्रहिक-महापात्र' कहा गया है।

उद्धरण है।[1] उन्हें विश्वनाथ का संबंधी मानना गलत है।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' के अतिरिक्त विश्वनाथ ने कई अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं। 'साहित्यदर्पण' में ही उन्होंने अपनी इन रचनाओं को निर्दिष्ट किया है—

1. राघवविलास काव्य (अध्याय vi, 325a पृ० 355)।
2. कुवलयाश्वचरित प्राकृत में (अध्याय vi, 326, पृ० 356)।
3. प्रभावतीपरिणय (अध्याय vi, 182b, पृ० 320); मम्मट पर उनकी टीका के अध्याय vii में भी इसका उल्लेख है।
4. प्रशस्ति-रत्नावली, 16 भाषाओं में, यह एक करभक है (अध्याय vi, 337b, पृ० 358)।
5. चंद्रकला अध्याय (vi, 183a तथा 184, पृ० 320-1), नाटिका।

विश्वनाथ ने मम्मट के ग्रंथ पर 'काव्यप्रकाश-दर्पण' नामक एक टीका भी लिखी थी, किंतु संभवत: इसे उन्होंने अपने मौलिक ग्रंथ 'साहित्यदर्पण' की रचना के पश्चात् ही लिखा था, क्योंकि उन्होंने स्वयं इस टीका में लक्षण (अध्याय ii) की चर्चा करते हुए 'साहित्यदर्पण का उल्लेख किया है।[2] अपने 'साहित्यदर्पण में उन्होंने मम्मट की सामग्री का प्रचुर उपयोग किया है। यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथ के आरंभ में मम्मट द्वारा दिए गए काव्यलक्षण की सोद्धरण आलोचना की है, तथापि उन्होंने स्पष्ट रूप से आदरणीय लेखक की अनुचित आलोचना का विरोध किया है और उन्हें अपना 'उपजीव्य' कहा है (अध्याय ii, 14 पृ० 57)। इस टीका में विश्वनाथ ने अपने 'नरसिंह काव्य' नामक एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है।[3]

---

1. विश्वनाथ ने एक पुरुषोत्तम का उद्धरण दिया है (पृ० 440 अध्याय ix, 4a)। बर्नेल 54a में 'कवितावतार' नामक ग्रंथ पुरुषोत्तम-रचित कहा गया है। विश्वनाथ की नारायण, चंडीदास तथा चंद्रशेखर से संबंधित वंशावली के विषय में शिवप्रसाद भट्टाचार्य का जर्नल ऑफ ओरिएंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, iii (1954) पृ० 35 इत्यादि में 'विश्वनाथ कविराज एंड हिज रेफरेंसेज' लेख देखिए।

2. एषां च षोडषाणां लक्षणाभेदानामिह दर्शितान्युदाहरणानि मम साहित्यदर्पणेऽवगंतव्यानि। 'अनुमान' अलंकार के विषय में (अध्याय x.)— तदुक्तं' मत्कृते साहित्यदर्पणे)।

3. अनंतदास ने साहित्यदर्पण पर अपनी टीका के पृ० 9 पर इन शब्दों के साथ एक श्लोक उद्धृत किया है—'यथा मम तात-पादानां विजय-नरसिंहे।'

वेबर तथा एर्गलिंग[1] ने कहा है कि 'साहित्यदर्पण' की रचना 'ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर' अर्थात् पूर्वी बंगाल में हुई थी। उनके उक्त कथन का आधार स्पष्ट नहीं है। इसके विपरीत, विश्वनाथ संभवतः कलिंग देश के निवासी थे, जो इस समय मोटे तौर से उड़ीसा तथा गंजम का पर्याय माना जा सकता है। विश्वनाथ ने मम्मट पर अपनी टीका में कुछ शब्दों के उड़िया पर्याय दिए हैं[2] तथा अपने पूर्वज नारायण के प्रसंग में कलिंग-नरेश नरसिंह देव (संभवतः नरसिंह द्वितीय, लगभग 1279-1306) का उल्लेख किया है। नारायण ने उनकी राजसभा में धर्मदत्त[3] को परास्त किया था। 'साहित्यदर्पण'[4] के पृष्ठ 73-79 पर धर्मदत्त का भी उल्लेख है। संभवतः विश्वनाथ ने कलिंग के नरसिंह नामक एक राजा की प्रशस्ति के रूप में 'नरसिंहविजय' नामक ग्रंथ लिखा था, जो अब लुप्त हो चुका है।

3

साहित्यदर्पण' यद्यपि बहुत मौलिक ग्रंथ नहीं है, तथापि इसके दस अध्यायों में 'नाट्य-सहित काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का विशद विवेचन है। विषयसूची इस प्रकार है—(1) काव्यशास्त्र, (2) शब्द तथा अर्थ की तीन वृत्तियाँ, (3) रस, (4) ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य, (5) व्यंजना-निरूपण, (6) नाट्य, (7) दोष, (8) गुण (त्रिविध), (9) रीतियाँ (चतुर्विध), वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटी (10) अलंकार। नाट्य का निरूपण मुख्यतः 'दशरूपक' के आधार पर है।

विश्वनाथ पर टीकाओं की संख्या अधिक नहीं है और न ऐसी कोई विशेष उल्लेखनीय टीका ही है। निम्नलिखित पाँच टीकाओं में शक 1622 = 1700 ई० की रामचरण तर्कवागीश की टीका मूल-सहित अनेक बार प्रकाशित हुई है।

---

1. तुलना कीजिए—मैक्डोनेल, संस्कृत लिटरेचर, पृ० 434 संस्कृत कालेज, कलकत्ता कैटलॉग, vii, संख्या 53, पृ० 33.
2. "वैपरीत्यं रुचिं कुरु" इति पाठः, अत्र चिकुपदं काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थं बोधकं उत्कलादि-भाषायां धृतवांडकद्रव इति,— मम्मट अध्याय 5 पर टीका, पृ० 238 (सं० झलकीकर)।
3. भट्ट माधव (वेबर i. 823) के पुत्र प्रभाकर-'रसप्रदीप' में भी इसका उल्लेख है। 'रसप्रदीप' में 'साहित्यदर्पण' के भी उद्धरण हैं। यह ग्रंथ 1583 ई० में लिखा गया था। धर्मदत्त के विषय में शिवप्रसाद भट्टाचार्य के उक्त लेख के पृ० 360-62 देखिए।
4. यदाहुः श्रीकलिंग भूमंडलाखंडल-महाराजाधिराज-श्रीनरसिंह-सभायां धर्मदत्तं स्थगयंतः सकल सहृदयगोष्ठी-गरिष्ठकविपंडितास्मत्-पितामह-श्रीमान् नारायण-दासपादाः, इत्यादि।

ग्रंथ-सूची

संस्करण : अनेक बार प्रकाशित, इनमें (1) नाथूराम, ऐजूकेश प्रेस, कलकत्ता 1828 तथा (2) बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता 1851 के अंतर्गत ई० रोअर द्वारा संपादित संस्करण उल्लेखनीय हैं। इन संस्करणों में रामचरण की टीका नहीं दी गई है। इनके अतिरिक्त रामचरण की 'विवृति' नामक टीका-सहित ये संस्करण हैं—(I) चंडीचरण स्मृतिभूषण द्वारा संपादित, कलकत्ता B. S. 1318। (II) दुर्गाप्रसाद द्विवेद द्वारा संपादित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1902, 1915, 1922। (III) पी० वी० काणे द्वारा संपादित (अध्याय i, ii, x) भूमिका तथा टिप्पणी सहित, बंबई, पहला संस्करण 1910, दूसरा संस्करण 1923 (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स के साथ), तीसरा संस्करण, 1951 (संशोधित तथा परिवर्धित, किंतु टीका नहीं दी गई है)।—(IV) करुणाकर काव्यतीर्थ द्वारा, महेश्वर की 'विज्ञ-प्रिया' तथा अनंतदास की 'लोचन' नामक टीकाओं सहित, लाहौर 1938 अंग्रेजी अनुवाद जे० आर० बेलैंटाइन तथा पी० डी० मित्रा द्वारा बिब्लिओथिका इंडिका 1875 के अंतर्गत। अन्यथा निर्दिष्ट न होने पर यहाँ संदर्भ दुर्गाप्रसाद द्विवेद के 1915 के निर्णयसागर प्रेस के संस्करण से दिए गए हैं।

टीकाएँ : (1) 'लोचन' अनंतदास-रचित। अनंतदास विश्वनाथ के पुत्र थे। इस टीका की 1636 ई० की एक हस्तलिपि का उल्लेख औफ्रेक्ट ii. 171a में है। जम्मू कैटलॉग में एक अपूर्ण हस्तलिपि (संख्या 262, पृ० 65) का उल्लेख है। संस्करण यथोक्त। टीकाकार को स्वयं विश्वनाथ का पुत्र कहा गया है।

(2) 'टिप्पण' मथुरानाथ शुक्ल-कृत। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। औफ्रेक्ट ने इनके नाम के साथ 64 ग्रंथों का उल्लेख किया है। यह स्पष्ट रूप से मालव प्रदेश के अंतर्गत पाटलीपुत्र के निवासी मथुरानाथ शुक्ल ही हैं। इन्होंने राजा दलचंद्र की आज्ञा से 1783 ई० में बनारस में 'ज्योतिःसिद्धांत-सार' की रचना की थी (किंतु देखिए औफ्रेक्ट i. 422-23) मथुरानाथ नामक एक लेखक ने 'कुवलयानंद' पर टीका की थी। संभवतः यह उक्त व्यक्ति ही हैं। औफ्रेक्ट i. 715b.

(3) '—वृत्ति'—लेखक रामचरण तर्कवागीश। यह पश्चिम बंगाल के

निवासी चट्टोपाध्याय ब्राह्मण थे तथा ज़िला वर्धमान के अंतर्गत रायवाटी के निवासी थे। इन्होंने अपनी टीका की तिथि 1700 ई० दी है। इस टीका के कई बंगला संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, इसका एक संस्करण 1915 में निर्णयसागर प्रेस द्वारा भी प्रकाशित हुआ है।

(4) '—प्रभा', गोपीनाथ रचित। मद्रास Trm C 712। गोपीनाथ ने मम्मट पर 'सुमनोमनोहरा' नामक टीका भी लिखी है। ऊपर देखिए पृ० 160। संभवतः यह गोपीनाथ कविराज ही हैं, जिन्होंने अन्य ग्रंथों के अतिरिक्त 1677 ई० में 'रघुवंश' पर टीका लिखी थी। देखिए (ऑफ़्रेक्ट i. 163b)।

(5) 'विज्ञप्रिया'—महेश्वर भट्ट-रचित। संस्करण यथोक्त। यह महेश्वर संभवतः महेश्वर न्यायालंकार ही हैं, जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी थी। तिथि 17वीं शती का मध्यभाग। ऊपर देखिए पृ० 153.

केशव मिश्र तथा शौद्धोदनि

1

केशव का कथन है कि उन्होंने रामचंद्र के पौत्र तथा धर्मचंद्र के पुत्र राजा माणिक्य-चंद्र के अनुरोध पर 'अलंकारशेखर' की रचना की थी। कहा जाता है कि माणिक्यचंद्र डिल्ही (ढिल्ली) के समीप राज्य करता था और उसने काबिल (काबुल ?) के बादशाह को परास्त किया था। एगलिंग[1] ने उसे तीरभुक्ति अथवा तिरहुत का राजा माणिक्यचंद्र मानने में गलती की है; बूहलर[2] ने केवल यही कहा है कि उक्त राजा काश्मीरी नहीं था, अपितु मुसलमानों के आधिपत्य से पूर्व दिल्ली में निवास अथवा राज्य करता था। संभवतः हमारे लेखक का संरक्षक कोटकांगड़ा का माणिक्यचंद्र था। उसकी वंशावली केशव द्वारा दी गई वंशावली के अनुरूप ही है। कनिंघम[3] के कथनानुसार उसकी राज्यारोहण-तिथि 1563 ई० है।

---

1. इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग, संख्या 1197.
2. काश्मीर रिपोर्ट, पृ० 69.
3. आर्क्योलॉजिकल सर्वे, v.152 इत्यादि, पृ० 160 पर (तुलना कीजिए—जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल, 1907, पृ० 212).

इस प्रकार केशव का साहित्य-रचना काल 16 वीं शती के तीसरे चरण में निर्धारित किया जा सकता है।

2

'अलंकारशेखर' के कारिका-खंड का नाम 'सूत्र' है। यह सूत्र किसी आचार्य के लुप्त ग्रंथ से वास्तव में उद्धृत नहीं तो कम-से-कम उस पर आधृत अवश्य है। इस आचार्य को भगवान् (अथवा 'महर्षि', पृ० 50) शौद्धोदनि कहा गया है[1]। केशव ने स्वयं को गद्य-वृत्ति के अन्तर्गत केवल एक टीकाकार अथवा व्याख्याता कहा है। शौद्धोदनि स्पष्टतः बौद्ध नाम है और अलंकार-साहित्य में अज्ञात-सा ही है।[2] केशव के ग्रंथ का मूलस्रोत कुछ भी रहा हो, किन्तु इतना अवश्य है कि वे लगभग सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों से भली-भाँति परिचित थे। अर्वाचीन आचार्यों के अतिरिक्त उन्होंने राजशेखर (पृ० 32, 67), भोज (पृ० 7), महिमभट्ट, मम्मट, 'वाग्भटालंकार', देवेश्वर तथा 'चन्द्रालोक' के लेखक जयदेव के उद्धरण दिए हैं। उन्होंने श्रीपाद के भी उद्धरण दिए हैं (पृ० 4, 5, 6, 23, 27, 32, 72, 81)। श्रीपाद, केशव के गुरु स्वयं शौद्धोदनि हो सकते हैं, यह आदरसूचक उपाधि उन्हीं के लिए प्रयुक्त की गई है। केशव ने 'कविकल्पलता' के लेखक का भी उल्लेख किया है। उन्हें भी श्रीपाद का मतानुसारी कहा गया है।[3] किन्तु यह कल्पलताकार न तो देवेश्वर हैं, न अरिसिंह हैं, और न इसी नाम के ग्रन्थ के लेखक अमरचंद्र हैं। इस सम्बन्ध में केशव ने जिस अंश का उद्धरण दिया है (पृ० 48-9, 'वेण्याः सर्पासि-भृंगाल्यो), उसमें उपमा अथवा अलंकार-वाचक प्रायः रूढ़ शब्दों की सूची है। देवेश्वर के ग्रन्थ के अन्तर्गत (पृ० 157 इत्यादि) प्रत्यक्ष रूप से अरिसिंह तथा अमर चंद्र के ग्रन्थ, (135 इत्यादि) से उद्धृत एक ऐसे ही अंश की तुलना से पर्याप्त शाब्दिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है, जिससे यह सूचित होता है कि केशव का उद्धरण इनमें से किसी भी ग्रन्थ से नहीं लिया गया है। केशव के एक अन्य अंश में भी

---

1. उनके लिए आदरसूचक शब्दावली का प्रयोग किया गया है—अलंकारविद्या-सूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः (पृ० 2)। पृ० 2, 20 पर शौद्धो-दनि के 'अलंकारसूत्र' का उल्लेख है।

2. इन शौद्धोदनि को धर्मदास सूरि-रचित 'विदग्धमुखमंडन' के मंगलश्लोक का शौद्धोदनि नहीं मानना चाहिए। वहाँ यह नाम स्पष्ट रूप में बुद्ध का सूचक है।

3. श्रीपद-मतानुसारी कविकल्पलताकारः पृ० 48, सं० निर्णयसागर प्रेस। इसे अनेक बार उद्धृत किया गया है, पृ० 4, 5, 23, 27, 32, 72, 83 इत्यादि।

इसी प्रकार की शाब्दिक भिन्नता है ('रत्नानि यत्न तत्नाद्रौ', पृ० 55-6)। प्रथम पाठ में ऐसा प्रतीत होता है कि केशव ने इसे देवेश्वर (पृ० 36 इत्यादि) से उद्धृत किया है, किंतु वास्तव में केशव ने इसे शब्दशः अरिसिंह तथा अमरचंद्र (पृ० 30 इत्यादि) से उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त, केशव देवेश्वर के ग्रंथ से परिचित प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने उसमें से एक दीर्घांश को अनामतः उद्धृत किया है ('नृपे कीर्ति-प्रतापाज्ञा, पृ० 57 इत्यादि = देवेश्वर पृ० 26 इत्यादि)। संभवतः देवेश्वर ने स्वयं इस अंश को कुछ परिवर्तन के साथ अरिसिंह तथा अमरचंद्र (पृ० 27 इत्यादि) से उद्धृत किया था। विचित्र बात यह है कि इस विषय में केशव ने अरिसिंह तथा अमर की मौलिक रचना का उपयोग नहीं किया है, अपितु कुछ परिवर्तन के साथ देवेश्वर के पाठ का उद्धरण दिया है।

केशव ने एक श्रीहर्ष (पृ० 71) को भी उद्धृत किया है। यह श्रीहर्ष, प्रभाकर भट्ट (अन्यत्र देखिए) द्वारा उल्लिखित श्रीहर्ष मिश्र अथवा 'नाट्यशास्त्र' पर एक वार्त्तिक के लेखक हर्ष (श्रीहर्ष) हो सकते हैं, अथवा नहीं भी हो सकते। केशव ने गोवर्धन नामक एक लेखक के मत का अनेक बार उल्लेख किया है (पृ० 17, 29, 37, 43, 49)। उत्कल-नरेश के एक सभासद 'पंडितकवि' जयदेव का भी एक बार उल्लेख है (पृ० 17)। यह जयदेव तथा अपने ग्रंथ 'गीतगोविंद' (अध्याय xii पृ० 171)[1] में स्वयं को 'पंडितकवि' जयदेव कहनेवाले बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के कृपापात्र एक ही व्यक्ति हैं तो यह संभव है कि जयदेव के उक्त उद्धरण से पूर्व उद्धृत किए गए गोवर्धन, जयदेव के समकालीन कवि गोवर्धन थे, जिनका उल्लेख जयदेव ने अपने 'गीतगोविंद' के आरंभ में किया है।

ग्रंथ के पुष्पिकालेख में केशव को न्यायाचार्य कहा गया है। उनका कथन है कि मैंने इस विषय पर सात गूढ़ ग्रंथ लिखने के पश्चात् ही अपने 'अलंकारशेखर' की रचना की थी। इनमें से दो ग्रंथों को उन्होंने उक्त ग्रंथ के अंतर्गत 'अलंकार-सर्वस्व' (पृ० 9) तथा 'वाक्यरत्न' (पृ० 12) अथवा 'काव्यरत्न' (पृ० 72) के रूप में निर्दिष्ट किया है। ओफर्ट ii. 6237 के अन्तर्गत एक 'काव्यरत्न' का उल्लेख है।

आठ अध्याय (अध्याय को रत्न कहा गया है) पर्यंत 'अलंकारशेखर' कारिका तथा वृत्ति के रूप में लिखा गया है। इसमें 22 खंड (मरीचि) हैं। विषय

---

1. केशव ने पृ० 6 पर गौडी रीति के उदाहरणार्थ 'गीतगोविंद' (निर्णयसागर प्रेस, पृ० 29) का श्लोक 'उन्मीलन्मधुगंध' इत्यादि उद्धृत किया है।

सूची इस प्रकार है—(1) काव्यलक्षण इत्यादि; (2) त्रिविध रीतियाँ (वैदर्भी, गौडी तथा मागधी), उक्ति, मुद्रा तथा उनके भेद; (3) त्रिविध वृत्तियाँ (अभिधा इत्यादि); (4-6) पद के आठ दोष, वाक्य के बारह दोष तथा अर्थ के आठ दोष; (7-8) पाँच शब्द गुण (संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति तथा समाधि) अर्थ के चार गुण (भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति तथा सुधर्मिता); (९) ऐसे स्थल, जहाँ दोष गुण बन जाते हैं; (10-12) आठ शब्दालंकार तथा चौदह अर्थालंकार। कहीं-कहीं इनके नाम तथा लक्षण में प्राचीन आचार्यों से भिन्नता है। (13-17) इसमें मुख्यतः कविशिक्षा-विषयक निरूपण है—काव्यरूढ़ियाँ, विविध वस्तुवर्णन की रीतियाँ इत्यादि; (18-19) शब्द वैचित्र्य, समस्यापूरण इत्यादि, (20) नव-रस, नायक-नायिका, भाव-निरूपण इत्यादि; (21-22) रस-दोष, तथा प्रत्येक रसोपयुक्त अक्षर। यद्यपि केशव मिश्र ने ध्वनि और रस के सिद्धांतों के साथ-साथ प्राचीन काव्यशास्त्रीय व्यवस्था स्वीकार की है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने गुण, दोष तथा अलंकारों के विवेचन में एक भिन्न परंपरा का अनुसरण किया है। किंतु भिन्नता नहीं है, क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है, उन्होंने अपने प्रसिद्ध पूर्ववर्ती आचार्यों की सामग्री का उपयोग किया है।

ग्रंथ-सूची

संस्करण : (सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1895। (2) सं० अनंतराम शास्त्री वेताल, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1927। (3) सं० गणेश शर्मा, बनारस 1886। यहाँ संदर्भ निर्णयसागर प्रेस के संस्करण से दिए गए है।

अप्पय्य दीक्षित

1

अप्पय्य दीक्षित ने स्वयं अपनी तिथि का संकेत दिया है। अपने ग्रंथ 'कुवलयानंद' के अंत में उन्होंने कहा है कि वेंकट नामक एक दक्षिण भारतीय राजा की प्रेरणा से इस ग्रंथ की रचना की गई थी।[1] औफ्रेक्ट[2] तथा उसी का मतानुसरण करते हुए

---

1. तुलना कीजिए—श्लोक 168 (सं० निर्णयसागर प्रेस 1913)। यह श्लोक जयदेव के 'चंद्रालोक' में भी मिलता है, जो संभवतः स्वयं अप्पय्य ने ही दिया है।
2. बोडलियन कैटलॉग, 213a. किंतु अपने कैटलॉग कैट i. 22a तथा ii. 5a में उसने तिथियाँ निर्धारित की हैं, अर्थात् क्रमशः 15वीं तथा 16वीं शती का अंतिम भाग। रेनो (रेटोरिक संस्कृत, पृ० 375 का यह अनुमान कि अप्पय्य 1520 ई० में विजयनगर के कृष्णराज के राज्यकाल में हुए हैं, ठीक नहीं है।

एगलिंग[1] ने अप्पय्य के उक्त संरक्षक को विजयनगर-नरेश वेंकट (लगभग 1535) ई० माना है; किंतु हुलट्श[2] का कथन है कि वह पेन्नकोंडा का वेंकट प्रथम था, जिसके शिलालेखों की अवधि शक 1508 से 1535 (=1586 से 1613 ई०) तक है।[3] इसके विपरीत, अपनी 'शिवादित्यमणि-दीपिका' (हुलट्श 1056) के पुष्पिकालेख में उन्होंने अपने संरक्षक का नाम चिन्न बोम्म बताया है, जो चिन्नवीर का पुत्र तथा लिंगम नायक का पिता था। वेलूर (उत्तर अर्काट जिला में वेल्लूर) के इस राजा के शिलालेख शक 1471 तथा 1488 (=1549 तथा 1566 ई०) के हैं।[4] 'कुवलयानंद' के अंतिम श्लोक में प्रद्योतन भट्ट की ('चंद्रालोक' पर) 'शरदागम' नामक टीका का उल्लेख है। इस टीका की तिथि 1583 ई० दी गई है। इस प्रकार, अप्पय्य की साहित्य-रचना की अधिकतम तिथि-सीमा 1549 और 1613 ई० है। उसे 16वीं शती के तीसरे तथा चौथे चरणों में निर्धारित किया जा सकता है और क्योंकि वह वेंकट प्रथम के राज्यकाल में जीवित था, इसलिए संभवतः वह 17वीं शती के आरंभ में भी जीवित था।[5] क्योंकि 17वीं शती के प्रथम चरण में कमलाकर भट्ट ने अप्पय्य का उल्लेख किया है तथा लगभग इसी

---

1. इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, पृ० 335.
2. रिपोर्ट ऑफ़ साउथ इंडियन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, xii, पृ० iii तथा एपिग्राफ़िका इंडिका iv. 271 (तुलना कीजिए—जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल 1907, पृ० 211)।
3. साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स i. पृ० 69 इत्यादि तथा पृ० 84. जर्नल ऑफ़ दि बंबई ब्रांच ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी कैटलॉग, में एच० डी० वेलंकर का मत भी देखें, i. संख्या 141.
4. इंडिया एंटिक्वेरी xiii. पृ० 155 तथा इपिग्राफ़िका इंडिया iii, पृ० 238 सारणी।
5. कहा जाता है कि 73 वर्ष की वृद्धावस्था में उनका देहांत हुआ (देखिए—हलस्यनाथ संपादित 'कुवलयानंद' का संस्करण, भूमिका, पृ० 15)। सामान्यतः 1552-1624 अथवा 1554-1626 ई० की तिथि स्वीकार कर ली गई है। किंतु जर्नल ऑफ़ दि ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, 1928, पृ० 225-237 तथा 1929 पृ० 140-160 में 1520-1593 तिथि के पक्ष में तर्क दिये गए हैं। इसके अतिरिक्त मद्रास विश्वविद्यालय के 'शिवाद्वैतनिर्णय' के संस्करण (1929) की भूमिका तथा वाणीविलास प्रेस की 'यादवाभ्युदय' खंड 2 (भूमिका), पृ० iv इत्यादि भी देखिए। इनमें 1552 तथा 1624 की मध्यावधि के पक्ष में तर्क दिए गए हैं। 'विश्वगुणादर्श' के लेखक वेंकट ने स्वयं को कांची (अथवा कांचीपुरम्) का निवासी सूचित किया है। अप्पय्य, वास्तव में 14वीं शती के पश्चात् हुए हैं, क्योंकि उन्होंने 'एकावली', प्रतापरुद्रयशोभूषण' तथा जयरथ की 'संजीवनी' टीका का उल्लेख किया है।

समय जगन्नाथ ने उसकी आलोचना भी की है, इसलिए अप्पय्य की उक्त तिथि ही पुष्ट होती है।

2

इस लेखक ने अपने 'कुवलयानंद' में अपने नाम के अप्प अथवा अप्य रूपों का प्रयोग किया है, किंतु इसके अप्पय तथा अप्पय्य, अन्य रूप भी हैं। ये दक्षिण शैवमत के अग्रणी तथा बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। परंपरानुसार इन्हें शताधिक ग्रंथों का रचयिता माना जाता है।[1] औफ्रेक्ट ने इनके लगभग सत्तर ग्रंथों का उल्लेख किया है। अप्पय्य, भरद्वाज-गोत्रोत्पन्न तमिल ब्राह्मण थे। ये अपने पिता, रंगराज (अथवा रंगराजाध्वरी) की पाँचवीं संतान थे। उनके एक भ्राता का नाम अप्य अथवा आच्छान था।

संस्कृत काव्यालंकार-साहित्य में अप्पय्य तीन ग्रंथों, अर्थात् 'कुवलयानंद', 'चित्रमीमांसा' तथा 'वृत्तिवार्तिक' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें से वृत्तिवार्तिक की रचना सबसे पहले हुई थी, तत्पश्चात् 'चित्रमीमांसा' की, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने 'कुवलयानंद' में किया है। इनमें से किसी भी ग्रंथ में विशेष मौलिकता नहीं है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कुवलयानंद में 'हेतु' अलंकार तक का अंश प्रत्यक्ष रूप से जयदेव के 'चंद्रालोक' पर आधारित है।[2] जयदेव द्वारा दिए गए सौ अलंकारों में अप्पय्य ने अपने पंद्रह[3] अलंकार और जोड़

---

1. नीलकंठ दीक्षित ने अपने ग्रंथ 'नीलकंठविजय' i. 44 में ऐसा उल्लेख किया है। वंश में तीन पीढ़ियों के अंतर्गत अप्पय्य दीक्षित नाम के चार व्यक्ति हुए हैं, इसलिए यह समस्या और भी जटिल हो गई है। देखिए, वी० राघवन का 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ़ इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस, तिरुपति 1·41 पृ० 176-180 में लेख। 'न्यू कैटलोगोरम' (सं० वी० राघवन) मद्रास 1949 पृ० 197-200 में ध्यानपूर्वक चयन के पश्चात् 58 ग्रंथों का उल्लेख है। अप्पय्य द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ के संबंध में भी इस कैटलॉग का अवलोकन किया जा सकता है।

2. ऊपर देखिए, पृ० 185.

3. आशाधर की टीका-सहित 'कुवलयानंदकारिका' के मूल पाठ का अनुवाद शिमट ने किया है तथा निर्णयसागर प्रेस ने 1906 में उसे प्रकाशित किया है। इसके चौथे अध्याय के अंतर्गत शब्दालंकारों के विवेचन में चिरंजीभट्टाचार्य रचित 'काव्यविलास' (इंडिया ऑफिस कैटलॉग, iii पृ० 340-44) के एक अध्याय का गलती से अप्पय्य के पाठ में अंतर्वेशन कर लिया गया है। उस अध्याय के पुष्पिकालेख से यह बात स्पष्ट होती है। सर्वविदित है कि 'कुवलयानंद' में केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन है।

दिए हैं। शायद ही किसी अन्य अलंकार-ग्रंथ में इतनी संख्या में अलंकारों का वर्णन किया गया है। अलंकारों के अनंत सूक्ष्म भेदों की यह चरम सीमा है। 'चित्रमीमांसा' अधिक मौलिक ग्रंथ है; संभवतः यह अपूर्ण रह गया है। अधिकतर हस्तलिपियों[1] तथा मुख्य पाठों[2] में 'अतिशयोक्ति-प्रकरण' के साथ ही इसकी समाप्ति हो जाती है। इसके अंत में यह विचित्र श्लोक है—

अप्यर्ध-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेंदुरिव धूर्जटेः॥

यदि यह श्लोक प्रामाणिक है तो इससे सूचित होता है कि लेखक ने इसे जानबूझकर अधूरा ही छोड़ दिया था। किंतु कुछ हस्तलिपियों में एक अतिरिक्त भी है, जिसमें प्रतिपाद्य अलंकारों की सूची ('प्रतिपाद्यालंकार-सूची')[3] दी गई है। सूची के अंत में 'उत्प्रेक्षा',का उल्लेख है, किंतु 'अतिशयोक्ति' का नहीं, जो 'उत्प्रेक्षा' के पश्चात् होना चाहिए था। वैद्यनाथ की 'चंद्रिका' नामक टीका ने इन शब्दों के साथ उक्त परंपरा की पुष्टि की है—'उत्प्रेक्षा-ग्रंथानंतरं चित्रमीमांसा न क्वापि दृश्यते'; किंतु रामब्रल के पुत्र धरानंद ने अपनी टीका में 'उत्प्रेक्षा' के पश्चात् अतिशयोक्ति-खंड का समावेश किया है तथा उस पर चर्चा भी की है। 'कुवलयानंद' के अंतर्गत (पृ० 78, 86, 133) 'चित्रमीमांसा' के विषय में अप्पय्य के अपने उल्लेख 'श्लेष' 'प्रस्तुतांकुर' तथा 'अर्थांतरन्यास' के विवेचन से ही सम्बन्धित हैं। उक्त अलंकारों का वर्तमान पाठ में अभाव है। जगन्नाथ के 'चित्र-मीमांसा-खंडन' नामक ग्रंथ का मुद्रित पाठ केवल अपह्नुति पर्यंत है। अप्पय्य का तीसरा ग्रंथ 'वृत्तिवार्तिक' 'काव्यसरणी' की भाँति है, इसमें शब्दों की तीन शक्तियों तथा उनके अर्थ का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ भी स्वयं में अपूर्ण है, क्योंकि इसमें केवल दो अध्याय हैं, जिनमें अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों का ही

1. यथा, इण्डिया ऑफिस कैटलॉग पृ० 336 के अंत में पृ० 73 a पर अतिशयोक्ति का उल्लेख है; मद्रास Trm. A. 1104; SgS ii, पृ० 82.
2. सं० बी० एल० पंशीकर, काव्यमाला 38, निर्णयसागर प्रेस 1907. 'पंडित' xiii. का प्रकाशित पाठ 'उत्प्रेक्षा' के साथ समाप्त होता है, अतिशयोक्ति का अभाव है।
3. उपमा सहोपमेयोपमयाथानन्वयः स्मरणम्। रूपक-परिणति-संशय-भ्रांतिमद्-उल्लेख-निह्नवोत्प्रेक्षाः। 'पंडित के मुद्रित पाठ तथा इण्डिया ऑफिस की उक्त हस्तलिपि के अन्त में यह श्लोक मिलता है। काव्यमाला सं० (देखिए पृ० 101 पा०टि० में प्रयुक्त) 'ख' हस्तलिपि में 'उत्प्रेक्षा' है। मद्रास कैटलॉग xxii, 12879 'अतिशयोक्ति' के साथ समाप्त हो जाती है, किंतु संख्या 12880-81 'उत्प्रेक्षा' के साथ समाप्त होती है।

विवेचन है, और तीसरा अध्याय, जिसमें तीसरी शक्ति अर्थात् व्यंजना का विवेचन अपेक्षित था, नहीं है।

संभवतः अप्पय्य ने 'लक्षण-रत्नावली' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की है। इसमें रूपक के लक्षणों का निरूपण है।[1]

हमारे अप्पय्य के भाई आच्छान दीक्षित के द्वितीय पुत्र अप्पय्य दीक्षित ने 'अलंकार तिलक' नामक ग्रन्थ लिखा है।

3

संभवतः अप्पय्य के ग्रन्थों के कारण उनके जीवनकाल में ही कुछ सैद्धांतिक मतभेद पैदा हो गया था। जगन्नाथ, अप्पय्य के तत्काल बाद में हुए हैं। उन्होंने अपने 'रसगंगाधर' में अप्पय्य की आलोचना की है और उन्हें रुय्यक तथा जयरथ का अंधानुकारक कहा है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ ने अप्पय्य के 'चित्रमीमांसा का खंडन करने के लिए 'चित्रमीमांसा-खंडन' नामक ग्रन्थ भी लिखा। भीमसेन ने मम्मट पर अपनी टीका के अंतर्गत अपने 'कुवलयानंद-खंडन' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसमें उन्होंने अप्पय्य के 'कुवलयानंद' का खंडन किया है। नीलकंठ दीक्षित के एक कनिष्ठ भ्राता तथा अप्पय्य के अनुवंशज, अतिरात्रयज्वन ने अपने पूर्वज की कीर्ति-रक्षा के निमित 'चित्रमीमांसा-दोष-धिक्कार' नाम के ग्रन्थ की रचना की।[2]

अप्पय्य ने निम्नलिखित अर्वाचीन आचार्यों तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया है : साहित्यचिंतामणिकार, रत्नाकर, 'अलंकार-सुधानिधि'[3] (वृत्तिवार्तिक,

---

1. देखिए—जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च मद्रास, iv. 1930, पृ० 242-44 में टी० आर० चिंतामणि का लेख (नवीन प्राप्त ग्रन्थ का एक अंश)।

2. इस ग्रन्थ के रचयिता अनिश्चित हैं। ओपर्ट 4802 ने नीलकंठ दीक्षित के कनिष्ठ भ्राता चिन्न अप्पय्य को इसका लेखक कहा है, किंतु हुलट्श (ii, पृ० 126, संख्या 1281 अपह्नुति-प्रकरण पर्यंत) ने अप्पय्य के कनिष्ठतम भ्राता, अतिरात्रयज्वन, को इसका लेखक कहा है। देखिए न्यू कैटलॉग कैटेलेगोरम i, पृ० 200.

3. माधव के कनिष्ठ भ्राता तथा भोगनाथ के ज्येष्ठ भ्राता, सायण को समान नाम के इसी ग्रंथ का रचयिता कहा गया है। किंतु सायण के प्रशंसा-सूचक उदाहरण श्लोक भोग-नाथ-रचित प्रतीत होते हैं। सायण. 4 वीं शती में हरिहर प्रथम (1336-55 ई०) तथा बुक्क (1355-77 ई०) के मंत्री थे। वैदिक ग्रन्थों का टीकाकार होने के नाते सायण अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्हें 'सुभाषित-सुधानिधि' नामक संग्रह का लेखक कहा गया है (प्रोसीडिंग्ज ऑफ ऑल इण्डिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस बड़ोदा, 1935, पृ० 121-24)।

पृ० 19) तथा 'काव्यसरणि'। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वृत्तिवार्तिक' की रचना 'काव्यसरणि' के अनुरूप की है। 'काव्यसरणि' के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। कुमारस्वामी ने भी 'साहित्यचिंतामणि' का उल्लेख किया है। संभवतः वीरनारायण (अन्यत्र देखिए, तिथि लगभग 1400 ई०) ने भी एक 'साहित्यचिंतामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की है। 'अलंकारसुधानिधि' प्रत्यक्ष रूप में वही ग्रन्थ है, जिसका कुमारस्वामी ने पृ० 44 पर उल्लेख किया है। यदि 'वृत्तिवार्तिक' के पृ० 20 पर उद्धृत रत्नाकर, जगन्नाथ के अपने दो ग्रन्थों में अनेकशः उद्धृत किए गए रत्नाकर ही हों तो इससे शोभाकर मित्र के 'अलंकार-रत्नाकर' का ही निर्देश होता है। इसे 'मेघदूत' की मल्लिनाथ-कृत टीका में निर्दिष्ट 'रस-रत्नाकर' से भिन्न मानना चाहिए। अप्पय्य ने अपनी 'चित्रमीमांसा' (पृ० 27, 53) में 'काव्यालोक' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

4

अप्पय्य के टीकाकार

'कुवलयानन्द' पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनसे इस सुगम पाठ्यपुस्तक की सर्वप्रियता परिलक्षित होती है। अधिक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। रामजी के पुत्र तथा धरणीधर के शिष्य, कवि आशाधर-रचित 'दीपिका' का सम्पादन तथा अनुवाद हो चुका है। नागेश अथवा नागोजी भट्ट की 'अलंकार-सुधा' का अभी तक सम्पादन नहीं हो पाया है; किंतु विट्ठल भट्ट के पौत्र तथा रामचन्द्र (अथवा रामभट्ट) के पुत्र, वैद्यनाथ तत्सत् की 'अलंकार-चन्द्रिका' मद्रास में तथा अन्यत्र कई बार मुद्रित हो चुकी है। वाधुल-गोत्रोत्पन्न देवसिंह, सुमति के पुत्र तथा बनारस-निवासी विश्वरूप यति के शिष्य, गंगाधराध्वरी अथवा गंगाधर वाजपेयी की टीका में सम्भवतः अप्पय्य के ग्रन्थ का मूलपाठ तथा उसकी परम्परा अधिक सुरक्षित है। इस टीकाकार का कथन है कि अप्पय्य, मेरे प्रपितामह के एक भाई के गुरु थे। टीकाकार ने शुद्ध मूलपाठ के निर्धारण में बहुत परिश्रम किया है। अन्य अल्पप्रसिद्ध टीकाओं का विवरण नीचे दिया गया है।

वसिष्ठ-गोत्रोत्पन्न रामबल के पुत्र तथा ठाकुर के पौत्र धरानंद ने 'चित्र-मीमांसा' पर टीका की है। रामबल के अतिरिक्त ठाकुर के, पूरणदास तथा देवदास नामक दो अन्य पुत्र थे। उक्त टीकाकार परमानन्द के शिष्य थे तथा भरतपुरा में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने 'मृच्छकटिक' पर भी एक टीका लिखी है। (मद्रास कैटलॉग xii. 12625)।

वृत्ति-वार्तिक' पर कोई भी टीका ज्ञात नहीं है।

ग्रंथ-सूची

कुवलयानन्द

संस्करण : लोकप्रिय होने के कारण यह ग्रन्थ पूना, मद्रास, बम्बई, कलकत्ता तथा बनारस में देवनागरी के अतिरिक्त, तेलुगु तथा बंगला लिपियों में सटीक अथवा टीकारहित, कई बार मुद्रित हो चुका है। सबसे पहला संस्करण, पोथी आकार में, पाठशाला प्रेस, पूना 1842 (दूसरा संस्करण 1845) में मुद्रित हुआ था। यहाँ सभी संस्करणों का विवरण देना अनावश्यक है, किन्तु देवनागरी लिपि के निम्नलिखित प्रकाशन महत्त्वपूर्ण हैं—टीका-रहित (1) पी० आर० सुब्रह्मण्य शर्मा द्वारा, अंगरेजी अनुवाद तथा टिप्पणी सहित, बनर्जी प्रेस, कलकत्ता 1903। वैद्यनाथ तत्सत् की 'चन्द्रिका' टीका सहित—(2) उपर्युक्त पूना संस्करण (3) सं० जीवानन्द विद्यासागर, सत्य प्रेस, कलकत्ता 1847, इत्यादि। (4) सं० सत्यव्रत सामश्रमी, 'प्रत्न-कर्म-नन्दिनी' के अन्तर्गत, सत्यप्रेस, कलकत्ता 1874। (5) सं० काशीनाथ वासुदेव खंडेकर, जगदीश्वर प्रेस, बम्बई 1884। (6) दीर्घ पोथी-आकार में मुद्रित, काशी संस्कृत प्रेस, बनारस 1879। (7) सं० वासुदेव एल० पंशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1907 (दूसरा संस्करण), 1913 इत्यादि। (8) सं० गोविन्द शास्त्री, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई 1911। (9) मद्रास में छपे संस्करण अधिकतर ग्रन्थ लिपि (1870, 1881)। अथवा तेलुगु लिपि (1870, 1895) में हैं। गंगाधर वाजपेयी की रसिकरंजनी टीका सहित। (10) सं० आर० हलस्यनाथ शास्त्री, कुंभकोणम् 1892। आशाधर की अलंकार-दीपिका टीका सहित। (11) सं० वासुदेव एल० पंशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1909। (12) वही, मूल-पाठ, तथा जर्मन अनुवाद, आर० श्मिट द्वारा, बर्लिन 1907, रामदेव चिरंजीव-रचित 'काव्यविलास' टीका सहित। इसके अतिरिक्त 'चन्द्रालोक' के विवरण में ऊपर पृ० 188 इत्यादि पर ग्रन्थसूची का भी अवलोकन कीजिए। इस ग्रन्थ में वी० एल० पंशीकर-कृत निर्णयसागर प्रेस, 1913 के संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं। इस संस्करण में 'चन्द्रिका' टीका भी दी गई है।

टीकाएँ—1. वैद्यनाथ तत्सत्-कृत 'अलंकारचंद्रिका' : संपादक यथोक्त। कई बार मूलपाठ सहित प्रकाशित हुई है। हस्तलिपियाँ— संस्कृत कालेज कलकत्ता कैटलॉग (SCC) vii, 1, 29; मद्रास कैटलॉग, xxii संख्या 12862-67; इंडिया ऑफिस कैटलॉग, iii संख्या 270-72 पृ० 33. संस्करणों की सूची के लिए देखिए BORI MSS कैटलॉग xii, पृ०

182-83। बीकानेर कैटलॉग संख्या 607, पृ० 213 पर मित्रा ने इस ग्रंथ के विषय में गलत विवरण दिया है। वैद्यनाथ ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' (अन्यत्र देखिए) पर एक टीका भी लिखी है। उसकी तिथि 1684 ई० है। ऊपर देखिए पृ० 156।

2. आशाधर-कृत 'अलंकारदीपिका'। निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित हुई है। जैसा ऊपर कहा गया है, इसका अनुवाद हो चुका है। आशाधर ने केवल कारिकाओं पर टीका की है, वह जयदेव-रचित 'चंद्रालोक' से अनभिज्ञ थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधर ने संवंधित टीका-सहित उद्दिष्ट-प्रकरण के रूप में लगभग 21 अतिरिक्त कारिकाओं का समावेश किया है। देखिए भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि कैटलॉग xii, संख्या 153, पृ० 174. आशाधर ने 'कोविदानंद' तथा 'त्रिवेणिका' नामक ग्रंथ भी लिखे हैं (अल्पप्रसिद्ध लेखकों के प्रकरण में देखिए) इस आशाधर को रुद्रट के टीकाकार, आशाधर से भिन्न मानना चाहिए; ऊपर देखिए, पृ० 87।

3. गंगाधराध्वरी अथवा गंगाधर वाजपेयी रचित 'रसिक-रंजनी'। जैसा पहले कहा गया है, टीका कुंभकोणम् में मुद्रित हुई है। हस्त-लिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 113a (जैसा कि बाद में शुद्ध किया गया है, इसे अप्पय्य-रचित मानना गलत है), ii. 22b, मद्रास कैटलॉग xxii, 12868-70; इसके अतिरिक्त देखिए तंजोर कैटलॉग ix, संख्या 5205, पृ० 4024-27। इस टीकाकार ने अप्पय्य के संबंध में इस प्रकार कहा है—'अस्मत् पितामह-सहोदर-देशिकेंद्र' किंतु परंपरा के अनुसार यह टीकाकार तंजोर के राजा शाहजी (1684-1711 ई०) का कृपापात्र था। मूलतः यह चिंगलिपुट जिला के अंतर्गत तिरवा-लंगाडु का निवासी था। इसने दर्शन-शास्त्रों पर भी कुछ टीकाएँ लिखी हैं।

4. नागोजी भट्ट रचित 'अलंकार-सुधा'। तिथि 18 वीं शती का प्रथम चरण। इसके अतिरिक्त नागोजी ने 'कुवलयानंद' पर 'षट्पदानंद' अथवा 'विषमपदव्याख्यान-षट्पदानंद' नामक टीका भी लिखी है; देखिए जम्मू कैटलॉग संख्या 1190 तथा 1191; संस्कृत कालेज

कलकत्ता कैटलॉग viii. 28। जैसा कि इसके नाम से लक्षित होता है, दूसरी टीका में केवल विषय अथवा कठिन शब्दों की ही व्याख्या की गई है। प्रायः इन दोनों टीकाओं से भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। दूसरी टीका में नागोजी ने जगन्नाथ के ग्रथ पर स्वरचित—'मर्मप्रकाशिका' का उल्लेख किया है। स्टीन, पृ० 270-271 में इन दोनों टीकाओं का सारांश है।

5. न्यायवागीश भट्टाचार्य रचित 'काव्यमंजरी'। औफ्रेक्ट i. 113a. क्या यह लेखक विद्यानिधि (अन्यत्र देखिए) के पुत्र तथा 'काव्य-चंद्रिका' के रचयिता रामचंद्र न्यायवागीश ही हैं ?

6. मथुरानाथ रचित टीका। औफ्रेक्ट i. 113a ऊपर देखिए पृ० 200, विश्वनाथ के प्रकरण के अंतर्गत ग्रंथसूची।

7. कुरविराम रचित —'टिप्पण'। 'विश्वगुणादर्श' पर अपनी टीका के प्रारंभिक श्लोक में उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है; हुलट्श i. सारांश पृ० 57, संख्या 21। इसके अतिरिक्त नाट्य-विषयक लेखक के संबंध में ऊपर देखिए पृ० 117 (धनंजय प्रकरण के अंतर्गत)। 'विश्वगुणादर्श' के लेखक वेंकटाध्वरी, अप्पय्य के पौत्र बताए गए हैं; अतएव कुरविराम, जिन्होंने इस काव्य पर टीका लिखी है, 17वीं शती के मध्यभाग से पहले के नहीं हो सकते।

8. देवीदत्त रचित 'लघ्वलंकार-चंद्रिका'। संस्कृत कालेज, बनारस (SCB) 830।

9. वेंगल सूरि रचित 'बुध-रंजनी' टीका। कुछ हस्तलिपियों के पुष्पिका-लेख में इसे 'श्रीरामभूपाल-सभाभूषण' कहा गया है। सं० तेलुगु लिपि, भारती निलय प्रेस, मद्रास 1882। 'चंद्रालोक' के पालघाट संस्करण के अंतर्गत इसे भी शामिल कर लिया गया है, 'चंद्रालोक' के विवरण के अंतर्गत देखिए, पृ० 188। वास्तव में यह 'चंद्रालोक' के अर्थालंकार खंड की टीका है और यह खंड अप्पय्य के 'कुवलयानंद' के मूलपाठ में समाविष्ट है।

10. भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि कैटलॉग xii, संख्या 155, पृ० 177 पर एक अनाम लेखक की टीका।

चित्रमीमांसा

संस्करण :—(1) सं॰ रामशास्त्री तैलंग, 'पंडित' xiii, 1891 । (2) चित्रमीमांसा-खंडन सहित, सं॰ शिवदत्त तथा वी॰ एल॰ पंशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1893, 1907 (यहाँ 1907 के दूसरे संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं)।

टीकाएँ : (1) वसिष्ठगोत्रोत्पन्न, रामबल के पुत्र धरानंद रचित 'सुधा'। इसमें अतिशयोक्ति पर्यंत टीका है। मद्रास कैटलॉग xii, 12884-86 (सारांश)। धरानंद ने 'अनर्घराघव' (मद्रास कैटलॉग xxi. काव्य संख्या 12444, पृ॰ 8355) तथा 'मृच्छकटिक' (वही, संख्या 1265, पृ॰ 8475) पर भी टीकाएँ लिखी हैं। दूसरी टीका 1814 ई॰ में लिखी गई थी। इसमें धरानंद ने अपनी वंशावली तथा अपना विवरण दिया है। उससे विदित होता है कि वे भरतपुर निवासी रामबल के पुत्र, ठाकुर के पौत्र तथा परमानंद के शिष्य थे।

(2) बालकृष्ण पायगुंड 'गूढ़ार्थ-प्रकाशिका'। औफ्रेक्ट ii. 38 b। ये 'अलंकारसार' के लेखक, बालकृष्ण भट्ट से भिन्न हैं। अल्पप्रसिद्ध लेखकों के अध्याय में आगे देखिए।

(3) 'चित्रालोक'। संस्कृत कालेज बनारस (SCB) 106।

वृत्ति वार्तिक

संस्करण : (1) सं॰ राम शास्त्री तैलंग, 'पंडित' xii, 1890 के अंतर्गत। (2) सं॰ शिवदत्त तथा के॰ पी॰ परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1893। यहाँ 1910 में छपे निर्णयसागर प्रेस के दूसरे संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं।

लक्षण-रत्नावली

संपादक—टी॰ आर॰ चिंतामणि, जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च (JOR) मद्रास, iv, 1930, पृ॰ 242-44 (एक अंश)। तंजोर कैटलॉग xi. संख्या 5295, पृ॰

4079 के अंतर्गत 'लक्षण-रत्नावली-व्याख्या' नामक ग्रंथ-लिपि में एक अपूर्ण हस्त-लिपि का उल्लेख है, जिसका लेखक अज्ञात है, संभवतः नाट्य-विषयक यह एक भिन्न रचना है।

जगन्नाथ

जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ 'भामिनी-विलास' में सूचित किया है[1] कि मैंने अपना यौवनकाल दिल्ली के बादशाह की छत्रछाया में व्यतीत किया। उन्होंने अन्यत्र यह भी सूचित किया है कि बादशाह ने उन्हें 'पंडितराज' की उपाधि से विभूषित किया था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त बादशाह शाहजहाँ (1628-1658) था। जगन्नाथ को नूरजहाँ के भाई तथा शाहजहाँ के दरबारी, नवाब आसफ खाँ (मृत्यु 1641) का संरक्षण भी प्राप्त था। जगन्नाथ ने आसफ खाँ की विरुदावली के रूप में 'आसफविलास' की रचना की। आसफ खाँ का उल्लेख 'रस-गंगाधर' में (पृ० 166 'सुधीव वाणी', 457 'युक्तं तु याते' में आसफ की मृत्यु का)। 'रसगंगाधर' (पृ० 521) में नुरदीन का भी उल्लेख है। यह प्रत्यक्ष रूप में शाहजहाँ के पिता जहाँगीर (1605-1627) के एक नाम का संस्कृतकरण-सा है। शाहजहाँ ने 1628 ई० में राज्यारोहण किया तथा 1658 ई० में उसे कारागार में डाल दिया गया। जगन्नाथ ने अपने 'जगदाभरण' में उदयपुर-नरेश जगतसिंह (1628-1654) की

---

1. दिल्लीवल्लभ-पाणिपल्लव-तले नीतं नवीनं वयः' सं० ग्रंथमाला खंड iv, श्लोक 32; निर्णयसागर प्रेस संस्करण 1894 में इस श्लोक का अभाव है। ग्रंथमाला का मूलपाठ महादेव दीक्षित की टीका के सहित प्रकाशित हुआ है। उन्होंने स्वयं को जगन्नाथ का पौत्र कहा है। 'दिल्ली-नरपति' तथा 'दिल्लीश्वर' शब्द 'रस-गंगाधर' तथा अन्य ग्रंथों में भी मिलते हैं (उद्धरणों के लिए देखिए, आर्येंद्र शर्मा का 'पंडितराज काव्यसंग्रह', उस्मानिया विश्वविद्यालय 1958, पृ० vii)।
2. 'रसगंगाधर' के काव्यमाला सं० की भूमिका पृष्ठ 2 पा० टि० में 'आसफविलास' के उद्धरणों का अवलोकन कीजिए; तथा 'रसगंगाधर' पर नागेश की टीका, पृ० 3 भी देखिए। 'आसफ विलास' का पाठ अपूर्ण है तथा सहसा ही उसका अंत हो जाता है। हरिभास्कर के 'पद्यामृततरंगिणी' नामक पद्यसंग्रह में कवि पंडितराज का उल्लेख है। 'वृत्तरत्नाकर' पर हरिभास्कर की टीका 1676 ई० में लिखी गई थी (भंडारकर, रिपोर्ट 1877-91, पृ० lxii तथा रिपोर्ट 1883-84, पृ० 60)। संभवतः उक्त पंडितराज, जगन्नाथ ही हैं। मम्मट के एक टीकाकार का नाम भी पंडितराज है (अन्यत्र देखिए), किंतु वह भिन्न व्यक्ति हैं। औफ्रेक्ट (ii. 40a) को इन दोनों में भ्रम हो गया है। उसने हमारे जगन्नाथ को 'काव्यप्रकाशटीका' का लेखक कहा है।

तथा 'प्राणभरण' में कामरूप-नरेश प्राणनारायण (1633-1666) की विरुदावली गाई है। किंतु ये दोनों ग्रंथ वस्तुतः एक ही हैं। नामपरिवर्तन तथा अतिरिक्त श्लोक जोड़कर एक ही ग्रंथ से दोनों संरक्षकों की विरुदावली का काम लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नाथ को जहाँगीर, शाहजहाँ, जगतसिंह तथा प्राणनारायण, चारों संरक्षकों का अपने जीवन के भिन्न-भिन्न भागों में आश्रय प्राप्त था। इस प्रकार उनका साहित्यरचना काल 17वीं शती के दूसरे तथा तीसरे चरण में अर्थात् मोटे तौर पर 1620 से 1660 ई० तक ठहरता है। नागेश भट्ट ने 18वीं शती के आरंभ में 'रसगंगाधर' पर टीका लिखी है। स्वयं जगन्नाथ ने 16 वीं शती के तीसरे चरण में विद्यमान अप्पय्य दीक्षित की आलोचना की है।[1]

2

जगन्नाथ ने स्वयं को पेरु[2] (अथवा पेरम[3]) भट्ट तथा लक्ष्मी का पुत्र कहा है। अप्पय्य के समान वे दक्षिण भारत में तैलंग[4]-प्रदेश (तेलुगु प्रदेश) के निवासी तथा वेंगिनाडु, वेगिनाटि अथवा वेगिनाड जाति के ब्राह्मण थे।[5] उनके पिता प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके कथनानुसार[6] उनके पिता ने वेदांत की शिक्षा ज्ञानेंद्र भिक्षु से, न्याय-वैशेषिक की महेंद्र पंडित से, पूर्वमीमांसा की खंडदेव से तथा 'महाभाष्य' की शिक्षा शेष वीरेश्वर से प्राप्त की। स्वयं जगन्नाथ ने इन विषयों का ज्ञान अपने पिता से तथा उनके एक गुरु, शेष वीरेश्वर, से प्राप्त किया। जगन्नाथ का व्यक्तिगत जीवन अधिक ज्ञात नहीं है, यद्यपि लवंगी नामक एक मुसलमान स्त्री

---

1. जगन्नाथ के संबंध में, वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का 'जगन्नाथ पंडित' (जर्नल ऑफ अन्नमलै यूनिवर्सिटी iii-iv से पुनर्मुद्रित), तथा उपर्युक्त ग्रंथ में आर्येंद्र शर्मा का लेख देखिए। रामस्वामी शास्त्री ने जगन्नाथ की तिथि 1600-1665 दी है।
2. रसगंगाधर i. 3.
3. स्वरचित 'प्राणभरण' का अंतिम श्लोक।
4. 'प्राणभरण,' श्लोक 52.
5. 'भामिनीविलास' का पुष्पिकालेख :
6. 'रसगंगाधर' i. 2.

पर उनकी आसक्ति तथा पावन गंगा में कूदकर आत्महत्या कर लेनेकी विचित्र कथाएँ उनके नाम से जोड़ दी गई हैं ।[1] जगन्नाथ ने काव्यशास्त्र-विषयक अर्वाचीनतम, किंतु महत्वपूर्ण ग्रंथ 'रसगंगाधर' तथा 'चित्रमीमांसाखंडन' के अतिरिक्त कई काव्यग्रंथों की रचना की है ।[2] भट्टोजी दीक्षित की प्रसिद्ध टीका 'मनोरमा' के खंडनार्थ उन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-विषयक ग्रंथ भी लिखा है ।

जगन्नाथ की अलंकार-विषयक दोनों रचनाएँ पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हुई हैं 'रसगंगाधर' के पाठ के मुद्रित संस्करण केवल 'उत्तरालंकार' के विवेचन तक एक

---

1. 'स्टडीज इन इंडियन लिटरेरी हिस्ट्री' ii. 1954, पृ० 452-59 में पी० के० गोडे 1843 ई० की एक हस्तलिपि के अंतर्गत इस परंपरा का सर्वप्रथम उल्लेख किया है अच्युत राय का 'साहित्यसार' 1831 ई० का है । उसने 'भामिनी-विलास' (सं० निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1933) पर अपनी टीका में 'भामिनी-विलास' के अंतर्गत जगन्नाथ की जीवनी से संबंधित, तथा 'यवनी नवनीत-कोमलांगी' इत्यादि श्लोकों पर भी चर्चा की है। इन श्लोकों को प्रायः जगन्नाथ-कृत माना जाता है। इसके अतिरिक्त एल० आर० वैद्य द्वारा संपादित 'भामिनीविलास' की भूमिका भी देखिए। लवंगी विषयक कथा की पूर्ण चर्चा के लिए वी० ए० रामस्वामी शास्त्री का उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 19-21. 'भारतीय विद्या' iv. 1942 तथा 57-62 तथा 'राजस्थान भारती' (बीकानेर) ii, 1948 पृ० 45-49 में पी० के० गोडे का लेख देखिए। आर्येंद्र शर्मा का अनुमान है कि लवंगी-संबंधी-श्लोक (पृ० 190, संख्या 582-88) यथार्थ हैं ।

2. इनमें से कुछ ग्रंथ निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं । ग्रंथसूची के लिए जगन्नाथ-कृत रसगंगाधर' (निर्णयसागर प्रेस संस्करण) की भूमिका; औफ्रेक्ट i. 196b काव्यमाला गुच्छक i. पृ० 79 तथा आर्येंद्र शर्मा का उपर्युक्त ग्रंथ देखिए । ग्रंथ इस प्रकार हैं – (1) अमृतलहरी (काव्यमाला गुच्छक ii) (2) आसफविलास, आसफ खाँ की विरुदावली (आर्येंद्र शर्मा के उपर्युक्त ग्रंथ में) (3) करुणालहरी (काव्यमाला गुच्छक ii) (4) गंगालहरी अथवा पीयूषलहरी (सं० निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1930) (5) जगदाभरण, उदयपुर नरेश प्राण-नारायण की विरुदावली । (6) प्राणभरण, कामरूप के प्राणनारायण की प्रशस्ति (काव्यमाला गुच्छक ii विभिन्न छंदों में 51 श्लोक), (7) भामिनीविलास (अन्योक्ति, शृंगार, करुणा तथा शांति पर चार समुल्लास, सं० निर्णयसागर प्रेस 1894) (8) मनो-रमाकुचमर्दन, भट्टोजी दीक्षित की 'मनोरमा' का खंडन किया गया है, (9) यमुना-वर्णन चंपू ('रसगंगाधर' पृ० 19, 128 पर उद्धृत) (10) लक्ष्मी लहरी (काव्य-माला गुच्छक ii), (11) सुधालहरी (काव्यमाला गुच्छक i) । इनमें से संख्या 3,6 तथा 11 के उद्धरण 'रसगंगाधर' में मिलते हैं; यथा श्लोक 60 = पृ० 36; श्लोक 4 = पृ० 56; श्लोक 1 = पृ० 20; तथा गंगालहरी में पृ० 243. (समृद्धं सौभाग्य), 491 (समुत्पत्तिः) भामिनीविलास, पृ० 402 (दिगंते श्रूयंते), 403 (पुर-सरसि) । पृ० 109 पर पंचलहर्यः (पाँच लहरियों) का उल्लेख है ।

अपूर्ण श्लोक के साथ समाप्त हो जाते हैं, विभिन्न विवरणों तथा ग्रंथसूचियों में समाविष्ट अधिकतर हस्तलिपियों पर भी यही बात लागू होती है। नागेश अथवा नागोजी भट्ट की टीका भी उक्त अध्याय के साथ समाप्त हो जाती है। ग्रंथ के नाम के 'गंगाधर' पद में श्लेष के अनुरूप, इस ग्रंथ में पाँच आननों अथवा अध्यायों की व्यवस्था थी, जिसमें से केवल एक पूर्ण तथा दूसरा अपूर्ण अध्याय ही उपलब्ध है।[1] प्रथम आनन के अंतर्गत इन विषयों का निरूपण किया गया है-- काव्यलक्षण, काव्य के चार भेद : उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम; रस तथा भाव: गुण, तीन अथवा दस। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेद तथा अभिधा और लक्षणा की चर्चा है, तदनंतर उपमादि 70 अलंकारों का निरूपण है, किंतु यह पूरा नहीं है। ग्रंथ के सूत्र तथा वृत्ति दो अंग हैं। 'चित्रमीमांसा-खंडन' में अप्पय्य के 'चित्रमीमांसा' का खंडन किया गया है, किंतु यह अपह्नुति-खंड तक ही है और इसमें 'चित्रमीमांसा' की कुछ हस्तलिपियों में उपलब्ध 'उत्प्रेक्षा' तथा 'अतिशय' अलंकारों का विवेचन नहीं किया गया है। निदर्शना अलंकार-प्रकरण के अंतर्गत निरूपणीय सामग्री निर्दिष्ट की गई है (पृ० 101 : अधिकं तु निदर्शनालंकार-प्रकरणे चितग्रिष्यते) जिस पर जगन्नाथ ने कुछ लिखने की योजना बनाई थी।

3

मम्मट, रुय्यक तथा जयरथ के विस्तृत उद्धरण के अतिरिक्त जगन्नाथ ने अपेक्षाकृत जिन अर्वाचीन लेखकों का उल्लेख किया है तथा उद्धरण दिए हैं, उनके नाम हैं : विद्याधर (पृ० 254), विद्यानाथ (पृ० 162), विश्वनाथ (तथा 'साहित्यदर्पण', पृ० 7) और अप्पय्य। उन्होंने कई बार नव्य (लेखकों) का उल्लेख (पृ० 25, 149, 240, 313, 429, 478) भी किया है। रुय्यक तथा जयरथ का अंधानुसरण करनेवाले अप्पय्य की उन्होंने कड़ी आलोचना की है। इसमें उनका उद्देश्य अलंकार-क्षेत्र में एक अन्य दक्षिण-भारतीय लेखक का मानमर्दन करना था। जगन्नाथ ने मम्मट के टीकाकार श्रीवत्सलांछन (पृ० 39), एक अज्ञात अलंकार-भाष्यकार (पृ० 239, 365, जयरथ ने भी इसका उल्लेख किया है), तथा

1. यह निश्चित करना कि ग्रंथ पूर्ण किया गया था अथवा नहीं, कठिन है; किंतु इसमें संदेह नहीं कि जगन्नाथ ने इस ग्रंथ को अपने 'चित्रमीमांसाखंडन' से पहले लिखा था, क्योंकि उसके द्वितीय श्लोक में 'रसगंगाधर' का उल्लेख है। चित्रमीमांसा-खंडन में 'रसगंगाधर के उदाहरणालंकार है (विशेषस्तु उदाहरणालंकार-प्रकरणे रसगंगाधरादवसेयः, पृ० 12) किंतु 'रसगंगाधर' के प्राप्य पाठ में उक्त प्रकरण का अभाव है।

रत्नाकर (पृ० 202, 207, 209, 211, 221, 225, 281, 313, 480; 492 इत्यादि) का भी उल्लेख किया है। रत्नाकर का उल्लेख अप्पय्य ने भी किया है। जगन्नाथ ने 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है (पृ० 163, 165)। बर्नेल (54a) में एक अज्ञात लेखक के 'अलंकाररत्नाकर' नामक ग्रंथ का उल्लेख है, किंतु बूहलर ने त्रयीश्वर के पुत्र शोभाकरमित्र को इसी नाम के एक ग्रंथ का रचयिता कहा है।[1] पीटर्सन का कथन है[2] कि यशस्कर नामक काश्मीरी कवि ने शोभाकरमित्र-रचित अलंकार-रत्नाकर से अलंकार-विषयक कुछ सूत्रों[3] को उद्धृत किया तथा अपने 'देवी-स्तोत्र' में अपने श्लोकों के उदाहरणार्थ उन्हें प्रस्तुत किया। 'देवीस्तोत्र' के आरंभिक शब्दों से भी यही बात सिद्ध होती है।[4] स्टीन में इसी कारण से यशस्कर के ग्रंथ को 'अलंकारोदाहरण-सन्निबद्ध देवी-स्तोत्र' कहा गया है।[5] निस्संदेह जगन्नाथ के 'रत्नाकर' में शोभाकरमित्र के इस 'अलंकार-रत्नाकर' को ही लक्षित किया गया है; क्योंकि पृ० 202 पर रत्नाकर का उद्धरण सूत्र 11 (जैसा कि पीटर्सन i, पृ० 78 पर दिया गया है)[6] मिलता है। जयरथ ने

1. काश्मीर रिपोर्ट, परिशिष्ट ii, संख्या 228, पृ० cxxviii.
2. रिपोर्ट i, पृ० 12. (बूहलर रिपोर्ट, 1877) ने 'ध्वनि-गाथापंजिका' नामक एक लघु ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसमें स्पष्टतः 'ध्वन्यालोक' के प्राकृत श्लोकों की व्याख्या की गई है; किंतु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है (पुष्पिकालेख में काश्मीरकाचार्य के अतिरिक्त) जिससे वह 'हरविजय' नामक काव्य का रचयिता काश्मीरी रत्नाकर सिद्ध होता हो। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि संख्या 182, कैटलॉग xii, 207.
3. ये पीटर्सन के उपर्युक्त ग्रंथ, परिशिष्ट, पृ० 77-81 पर दिए गए हैं।
4. रत्नाकराभ्यंतरतो गृहीत्वालंकारसूत्राणि यथाक्रमेण।
   बंदीव देव्या गिरिराज-पुत्र्या करोमि शंसन् श्रुतिगोचराणि॥
   इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'श्रीत्रयीश्वर-मित्रात्मज-श्रीशोभाकर मित्र-विरचितेऽलंकार-सूत्राणि'। 'अलंकाररत्नाकर' की बूहलर की हस्तलिपि में शोभाकरमित्र-संबंधी पाठ 'त्रयीश्वर-मंत्रपुत्रस्य' है। इसमें 'मंत्र' शब्द 'मित्र' का अशुद्ध रूप है। स्टीन की जम्मू हस्तलिपि 58 में लेखक का नाम शोभाकरमित्र दिया गया है (तुलना कीजिए WBod 1162)।
5. मूल-ग्रंथ को 'अलंकार रत्नोदाहरण', तथा लेखक को शोभाकरेश्वर भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त, मित्रा 1822; हुलट्श का Eine Sammlung ind. Handscriten 170 भी देखिए।
6. इस ग्रंथ की खोज तथा संपादन सी० आर० देवघर, पूना 1942 द्वारा हुआ है। अल्पप्रसिद्ध लेखकों के प्रकरण में आगे देखिए। जगन्नाथ ने भिन्न-भिन्न ग्यारह स्थलों पर 'अलंकाररत्नाकर' का उल्लेख किया है (प्रोसीडिंग्ज ऑफ ऑल इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस, लखनऊ 1955, पृ० 60-65 में सी० आर० देवघर का लेख देखिए)।

काश्मीरी शोभाकर की आलोचना की है (पृ० 41, 52), क्योंकि उसने रुय्यक से भिन्न मार्ग का अनुसरण किया है। जगन्नाथ के कथनानुसार (पृ० 281) अप्पय्य दीक्षित ने 'अलंकार-रत्नाकर' का अनुसरण किया है।

4

नागोजी भट्ट

नागेश अथवा नागोजी भट्ट ने 'रसगंगाधर' पर टीका लिखी है। मम्मट, गोविंद ठक्कुर, भानुदत्त तथा अप्पय्य के टीकाकार के नाते नागोजी भट्ट का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। ये काल अथवा काले कुलोत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम शिव भट्ट तथा माता का नाम सती था। इनका निवासस्थान बनारस था तथा ये शृंगवेरपुर (इलाहाबाद के समीप) के राजा रामसिंह के कृपापात्र थे। नागोजी भट्ट एक ऐसे अर्वाचीन वैयाकरण थे, जिन्होंने व्याकरण, काव्यशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र-विषयक अनेक ग्रंथ तथा टीकाएँ लिखी हैं। ये 'सिद्धांत-कौमुदी' के प्रख्यात लेखक भट्टोजी दीक्षित के प्रपौत्र वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे। भट्टोजी को शेषकृष्ण[1] का शिष्य कहा जाता है। शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, स्वयं जगन्नाथ के गुरु थे। मोटे तौर पर नागोजी 18वीं शती के आरंभ में हुए थे। भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर उनकी इंडिया ऑफिस पांडुलिपि की तिथि माघ संवत् 1769=

1. शेषकृष्ण ने 'पदचंद्रिका' तथा 'प्रक्रियाप्रकाश' की रचना की है। वे शेष नरसिंह अथवा नृसिंह के पुत्र तथा शिष्य थे। बनारस-निवासी शेषकुल के विवरण के लिए इंडियन एंटीक्वेरी, 1912, पृ० 245 इत्यादि देखिए। नागोजी भट्ट तथा जगन्नाथ का परस्पर संबंध इस प्रकार है :
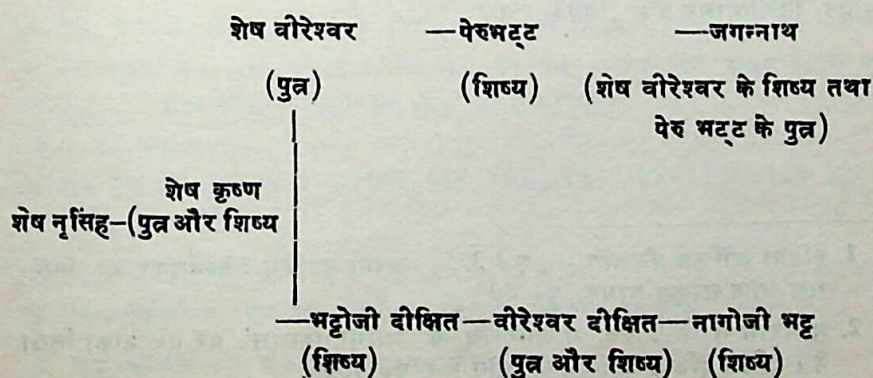
फरवरी 1713 ई० है[1]। नागोजी, मैथिल वैयाकरण वैद्यनाथ के तथा मणिराम (1802 ई०) के प्रपितामह गंगाराम के गुरु थे।[2]

नागोजी ने काव्यशास्त्र-विषयक विभिन्न ग्रंथों पर इन टीकाओं की रचना की है—(1) जगन्नाथ-कृत 'रसगंगाधर' पर 'गुरुमर्मप्रकाशिका', (2) मम्मट पर गोविंद रचित 'प्रदीप' टीका पर बृहत् तथा लघु उद्योत; (3) मम्मट पर 'उदाहरण दीपिका' अथवा 'प्रदीप'; (4) अप्पय्य के 'कुवलयानंद' पर 'अलंकारसुधा' तथा 'विषमपदव्याख्यान-षट्पदानंद; (5) भानुदत्त-रचित 'रसमंजरी' पर 'प्रकाश'; तथा (6) भानुदत्त की 'रसतरंगिणी पर एक टीका।

पी० के० गोडे से नागोजी के कुछ ग्रंथों की तुलनात्मक तिथि (ओरिएंटल थॉट i, संख्या 2, 1955, पृ० 45-52) 1670 से 1750 ई० तक की मध्यावधि में निर्धारित की है।

रसगंगाधर

संस्करण—(1) सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब (नागोजी की टीका सहित), निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1888, 1913 तृतीय सं० 1916, षष्ठ सं० 1947। (2) सं० गंगाधर शास्त्री (नागोजी की टीका सहित, बनारस संस्कृत सीरीज 1885-1903। यहाँ 1916 के निर्णयसागर संस्करण से संदर्भ दिए गए हैं।

टीकाएँ—(1) नागेश अथवा नागोजी भट्ट रचित 'गुरु मर्मप्रकाशिका'। जैसा पहले ही बताया जा चुका है, इस टीका के निर्णयसागर प्रेस तथा बनारस से संस्करण निकल चुके हैं। (2) 'विषमपदी'। लेखक अज्ञात। औफ्रेक्ट i. 494b.

संस्करण—(1) सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, 'चित्रमीमांसा' टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, 1893, 1907.

---

1. इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, पृ० 355; तुलना कीजिए : बेल्वलकर का 'सिस्टम्ज ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृ० 49.
2. मणिराम ने 1802 ई० में जगन्नाथ के 'भामिनीविलास' पर एक टीका लिखी है। देखिए इंडिया आफिस कैटलॉग vii, पृ० 1526.

अध्याय 9

रस तथा कवि-शिक्षा के परवर्ती लेखक

रस-विषयक लेखक

1

शारदातनय

शारदातनय रस तथा भाव के लोकप्रिय लेखक हुए हैं। इन्होंने 'भावप्रकाश' 'भावप्रकाशिका' अथवा 'भावप्रकाशन' नामक ग्रंथ लिखा है। कुमारस्वामी[1] ने तथा वामन पर 'कामधेनु' टीका ने उसके विस्तृत उद्धरण दिए हैं। इसके अतिरिक्त राघवभट्ट, रंगनाथ तथा वासुदेव इत्यादि टीकाकारों ने भी उसे उद्धृत किया है। शारदातनय के संबंध में कहा गया है कि वह भट्ट गोपाल के पुत्र, कृष्ण के पौत्र तथा काश्यपगोत्रोत्पन्न लक्ष्मण के पौत्र थे। लक्ष्मण, आर्यावर्त के मेरूत्तर प्रदेश के अंतर्गत माटरपूज्य ग्राम के निवासी थे। उन्होंने वेदों पर 'वेद-भूषण' नामक टीका लिखी थी। ऐसा कहा जाता है कि वाराणसी-वासिनी शारदा देवी के वरदान से उत्पन्न होने के कारण हमारे लेखक का नाम शारदातनय रखा गया था। उन्होंने अभिनवगुप्ताचार्य का मतानुसरण किया है। उनका अपना ग्रंथ कई अंशों में वस्तुतः मुख्य रूप से भोज-कृत श्रृंगारप्रकाश का संक्षिप्त रूप है, जिसमें 'श्रृंगारप्रकाश' के उद्धरण दिए गए हैं। इस तथ्य के आधार पर शारदातनय की तिथि भोज के पश्चात् ही निर्धारित की जा सकती है और चूंकि शिंगभूपाल ने 'भावप्रकाश' के उद्धरण दिए हैं (पृ० 20, 139, 169, 202 इत्यादि), इसलिए शारदातनय की तिथि की दूसरी सीमा 1330 ई० निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार, मोटे तौर पर इस लेखक का समय 1100 से 1300 ई० की मध्यावधि में निर्धारित किया जा सकता है।

---

1. पृ० 12, 15, 44, 68, 102, 106, 118, 121, 127, 129, 139, 143, 145, 219, 223 इत्यादि।

2. यथा 1. 3. 30 पर।

3. 'विक्रमोर्वशीयम्' पर, सं० निर्णयसागर प्रेस, 1885, पृ० 10।

4. 'कर्पूरमंजरी' पर, सं० निर्णयसागर प्रेस, 1900, पृ० 5, 7 इत्यादि।

शारदातनय ने नाट्यशास्त्र के आचार्यों के रूप में अगस्त्य (पृ० 2), कोहल, मातृगुप्त, सुबंधु तथा आंजनेय (पृ० 251) का उल्लेख किया है। उनके ग्रंथ में दस 'अधिकार' हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—प्रथम तथा द्वितीय में भाव; तृतीय में अवांतर भावभेद-स्वरूप, चतुर्थ में शृंगारालंबननायकादि-स्वरूप; पंचम नायक-भेदावस्थारसभावविकार; षष्ठ में शब्दार्थसंबंध-भेदप्रकार; सप्तम में नाट्येतिवृत्तादिलक्षण; अष्टम में दशरूपक लक्षण; नवम में नृत्यभेदस्वरूपलक्षण; दशम में नाट्यप्रयोग-भेदप्रकार।

इस ग्रंथ में उल्लिखित 'कवि-कल्पलता' (पृ० 131, 175) अरिसिंह तथा देवेश्वर रचित 'कविकल्पलता' से भिन्न है, क्योंकि शारदातनय के कथनानुसार 'काव्यप्रकाश' में उसकी सामग्री का उपयोग किया गया है। शारदातनय के ग्रंथ के उद्धरणों के लिए अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन xix, 1-2, पृ० 47-51 देखिए।

संस्करण—मेलकोट के यदुगिरि यतिराज तथा के० एस० रामस्वामी शास्त्री, गायकवाड़ ओरिऐंटल सीरीज, 1930।

2

शिंग भूपाल

शिंगभूपाल का दूसरा नाम शिंगधरणीश, शिंगराज अथवा शिंगमहीपति भी कहा गया है। शेषगिरि शास्त्री ने इन्हें वेंकटगिरि के राजा शिंगम नायडू ही माना है। वेंकटगिरि के राजाओं की जीवनियों के आधार पर इनका राज्यकाल 1330 ई० के लगभग था। इस तिथि को संभव माना जा सकता है, क्योंकि मल्लिनाथ ('कुमारसंभव' i. 25 पर टीका, 'इति भूपालः' 'रसार्णव' i. 181), तथा

1. विवरण के लिए। SgS i. 7-11; तथा 'रसार्णव' के त्रिवेंद्रम् संस्करण की भूमिका देखिए। एम० टी० नरसिंह अय्यंगर (सं० 'सुभाषितनीवी', वाणी प्रेस श्रीरंगम् 1908) का कथन है कि हमारे लेखक, शिंगम नायडू, विजयनगर के प्रौढ़ देवराज (1422-1477 ई०) के समकालीन थे; किंतु पी० आर० भंडारकर (प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ दि फ़र्स्ट ओरिएंटल कान्फ्रेंस, पूना, ii, 1916, पृ० 425) ने शिंगभूपाल पर अपने लेख में इस तिथि की शुद्धता पर संदेह प्रकट किया है। ए० एन० कृष्ण अय्यंगर, उसकी तिथि 1340 तथा 1360 ई० की मध्यावधि निर्धारित करने के पक्ष में हैं प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस मैसूर, 1937, पृ० 264-73)

कुमारस्वामी ने हमारे लेखक का उल्लेख किया है। इस दक्षिण-भारतीय नरेश को 'रसार्णव-सुधाकर' का रचयिता कहा गया है। इसके प्रारंभिक श्लोकों से यह सूचित होता है कि उक्त राजा रेचर्लवंशीय था तथा विंध्य और श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश पर राज्य करता था। राजाचलम् इस प्रदेश की वंशपरंपरागत राजधानी थी। इसके पिता का नाम अनंत (अथवा अनपोत) तथा माता का नाम अन्नमांबा, पितामह का नाम शिग प्रभु (अथवा शिगम नायक) तथा प्रपितामह का नाम याचम नायक था। धुरंधर विद्वान् होने के कारण, हेमचंद्र की तरह शिगभूपाल को भी 'सर्वज्ञ' कहा जाता था। यह राजा बड़ा साहित्यानुरागी था।[1]

'रसार्णव-सुधाकर' मुख्यतः भोज-कृत 'शृंगारप्रकाश' (पृ० 57, 69, 149, 168, 190 पर भोज का उल्लेख है) तथा शारदातनय-कृत 'भावप्रकाश' पृ० 139, 169, 202 पर इसका उल्लेख है) जैसे पूर्ववर्ती ग्रंथों पर आधारित है, यद्यपि इसमें भरत, रुद्रभट्ट (उल्लेख पृ० 29, 30, 87) दशरूपक तथा रसशास्त्र और नाट्यशास्त्र के अन्य लेखकों तथा ग्रंथों की सामग्री का स्पष्ट उपयोग किया गया है। लेखक शिगभूपाल ने अपने संबंध में अन्य पुरुष का ही प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में उदाहरणों के रूप में नाटकों की एक बड़ी संख्या का उल्लेख अथवा उनके उद्धरण दिए गए हैं, यथा, 'प्रबोध-चंद्रोदय' (पृ० 265, 291), 'अनर्घ-राघव' (पृ० 72, 83, 261, 266, 274), 'प्रसन्न-राघव' (पृ० 258, 277), धनंजय-विजय-व्यायोग[2] (पृ० 287), 'अभिराम-राघव'[3] ('अनपोतनायकीय' पृ० 119, 243, 265, 273, 275), 'माधवी-वीथिका' (पृ० 290), 'मायाकुरंगिका-ईहामृग' (पृ० 298), 'पद्मावती' (पृ० 263, 266), 'काम-दत्त'[4] (पृ० 285), 'रामानंद' (पृ० 248, 255, 269), 'करुणाकंदल-अंक'

---

1. SgS उपर्युक्त संदर्भ 9—विश्वेश्वर कविचंद्र ने 'चमत्कारचंद्रिका' में शिग-भूपाल का यशोगान किया है और उसे 'सर्वज्ञ' कहा है। इस संबंध में 'अल्प-प्रसिद्ध लेखक' अध्याय में आगे देखिए।

2. लेखक कांचन, पिता का नाम नारायण, औफ्रेक्ट i, 266b (सं० काव्यमाला 54, 1895)।

3. इस नाम का एक नाटक 1390 ई० में नेपाल में मणिक ने लिखा था (लेवी 268)।

4. 'पद्मप्राभृतक-भाण' में भी (सं० मद्रास 1922), भी शूद्रक रचित कहा जाता है, इस अल्पज्ञात ग्रंथ का उल्लेख है। इस भाण के संपादकों के अनुसार (भूमिका पृ० iv) 'कामदत्त' नामक 'प्रकरण' की रचना स्वयं शूद्रक ने की थी। हेमचंद्र ने इस भाण का अज्ञातलेखक उद्धरण दिया है (198, 1. 12)।

(पृ० 163, 197, 198, 286), वीरभद्र-विजृंभण डिम (पृ० 272, 274, 276, 278, 298), 'महेश्वरानंद' (पृ० 275), 'आनंदकोश-प्रहसन' (पृ० 40, 41, 278, 291, 227), शृंगारमंजरीभाण'[1] (पृ० 288) 'पयोधि-मंथन-समवकार', (पृ० 290), 'कंदर्प-सर्वस्व' स्वरचित (पृ० 151) तथा वीरानंद (पृ० 159, 190)।

'रसार्णव' के तीन 'विलासों' के अंतर्गत प्रचुर उदाहरण-सहित नाट्यशास्त्र तथा रसशास्त्र के सभी विषयों का विशद निरूपण है। संक्षिप्त रूप में निरूपित विषय इस प्रकार हैं : **प्रथम विलास**—नाट्य-लक्षण तथा रस-लक्षण; नायक के गुण तथा भेद (वर्ग); प्रेम-व्यापार में उसके सहायक; नायिका के गुण तथा भेद (वर्ग); तीन रीतियाँ (गौडी, वैदर्भी तथा पांचाली), चार नाट्य वृत्तियों तथा सात्विक भावों का विस्तृत विवेचन; **द्वितीय विलास**—33 व्यभिचारी तथा 8 स्थायी भावों का विस्तृत विवेचन, रति के भेद; शृंगार तथा अन्य रस; रसों के प्रति-रस तथा संकट; रसाभास; **तृतीय विलास**—रूपक के भेद तथा रूपक-विषय; पाँच अर्थ प्रकृतियाँ पताका-स्थानक; पाँच अवस्थाएँ; अंगों-सहित पाँच संधियों का विशद बर्णन; भूषण; मुख्य रूपक के रूप में नाटक; रूपक के अन्य भेद; प्रायोज्य भाषाएँ; विभिन्न पात्रों के नाम। त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज के अंतर्गत मुद्रित मूल पाठ में 300 से अधिक पृष्ठ हैं।

शिंगभूपाल ने एक 'नाटकपरिभाषा'[2] नामक ग्रंथ भी लिखा है और अपने 'रसार्णव' के अंत में इस विषय पर संक्षिप्त विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त शिंग-भूपाल ने 'संगीत-सुधाकर' (सं० कलिवर वेदांतवागीश तथा एस० पी० घोष, न्यू आर्य प्रेस, कलकत्ता 1879) भी लिखा है, जो शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' की टीका है।

संस्करण—(1) सरस्वतीशेष शास्त्री-कृत, वेंकट गिरि 1895. (2) टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज, 1916.

---

1. हुलट्श i. पृ० 77 (संख्या 385), पृ० x, में जक्कुल वेंकटेंद्र तथा वीरमांबा के पुत्र गोपालराय के एक 'शृंगारमंजरी-भाण' का उल्लेख है।
2. यह 289 श्लोकों का एक लघु ग्रंथ है। देखिए इण्डिया ऑफ़िस कैटलॉग, खंड ii (कीथ तथा टामस), संख्या 5248, पृ० 346।

3

भानुदत्त

भानुदत्त,[1] नायक-नायिका तथा रस-विषयक अपने दो लोकप्रिय ग्रन्थों, 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' के लिए प्रसिद्ध हैं। 'रसतरंगिणी' में लेखक ने एक विषय पर अधिक विवरण न देकर[2] यह कहा है कि मैं अपने 'रसमंजरी' नामक ग्रन्थ में इस विषय का पहले ही विशेष विवेचन कर चुका हूँ। इससे सूचित होता है कि लेखक ने 'रसमंजरी' की रचना पहले की थी। भरत तथा रुद्र के 'शृंगारतिलक' से कुछ श्लोकों तथा 'ध्वन्यालोक[3] के एक श्लोक का उद्धरण देने के अतिरिक्त भानुदत्त ने 'रसरत्नदीपिका'[4] नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह कहना कठिन है कि उक्त ग्रन्थ वही है, जिसका उद्धरण रत्नकंठ ने मम्मट पर अपनी टीका में दिया है।[5] 'रसतरंगिणी' के अन्तर्गत भानुदत्त ने पूर्वाचार्यों, पूर्वग्रन्थकार सम्मति तथा प्राचीन सम्मति का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से उनकी शुद्ध तिथि का कोई भी संकेत प्राप्त नहीं होता।

ग्रन्थमाला 1887-88 के अन्तर्गत प्रकाशित दस सर्गयुक्त 'गीत-गौरीश' अथवा 'गीत-गौरीपति' नामक गीत-काव्य भानुदत्त-रचित कहा जाता है। संभवतः

---

1. शेष चिंतामणि के 'परिमल', गोपाल के 'विकास' तथा रंगशायी की -'आमोद' नामक टीकाओं में इस नाम का अन्य रूप भानु कर दिया गया है। कहीं-कहीं नाम के साथ 'मिश्र' उपाधि भी लगा दी गई है।

2. बहवो भेदाश्च रस-मंजर्या विशेषतो दर्शिताः,
   इह पुनर्विस्तारभिया न प्रदर्शयन्त इति ।। सं० ग्रन्थमाला, पृ० 35; सं० रेनो, पृ० 57, 1.32.

3. 'ध्वन्यालोक' पृ० 145 पर 'अनौचित्याद्‌ऋते' श्लोक इस टिप्पणी सहित उद्धृत किया गया है--'तत्र प्राचीनग्रन्थकृतः' जिससे यह परिलक्षित होता है कि भानुदत्त आनन्दवर्धन के बहुत समय पश्चात् हुए हैं क्योंकि यह श्लोक आनन्दवर्धन की वृत्ति में मिलता है।

4. 'रसतरंगिणी' में, सं० ग्रन्थमाला i. 31; सं० रेनो पृ० 44 1.32।

5. पीटर्सन ii. 17. इसी नाम की एक अपूर्ण टीका का भण्डारकर, रिपोर्ट 1884-87, सं० 533 में उल्लेख है। इसमें लेखक का नाम अल्लराज दिया गया है, जो बूहलर, रिपोर्ट 1874-75, संख्या 19, पृ० 16 पर मल्लराज के रूप में मिलता है। 'अल्प-प्रसिद्ध लेखक' नामक अध्याय में अल्लराज के सन्दर्भ में आगे देखिए।

ये भानुदत्त हमारे भानुदत्त ही हैं।[1] इन दोनों लेखकों के ग्रन्थों से सूचित होता है कि ये दोनों शैव थे। दोनों ने ही काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन किया है। हमारे भानुदत्त ने अपने पिता का नाम गणेश्वर[2], गणपतिनाथ[3] अथवा गणनाथ[4] दिया है, जबकि उक्त काव्य के लेखक ने अपने पिता का नाम गणपति अथवा गणनाथ[5] बताया है। हमारे भानुदत्त के दो ग्रन्थों में कुछ ऐसे श्लोक हैं, जो उक्त काव्य में भी मिलते हैं। यथा 'रसमंजरी' का मंगल-श्लोक (आत्मीयं चरणं) = 'गीत-गौरीश' अध्याय ii, पृ० 90; 'रसमंजरी', पृ० 51 में 'अकरोः किमु नेत्र' = 'गीत-गौरीश' अध्याय ii, पृ० 14; 'रसतरंगिणी' अध्याय iv, पृ० 40, सं० ग्रन्थमाला, का 'प्राणेशस्य प्रभवति' = 'गीत-गौरीश' अध्याय ii, पृ० 77। 'गीत-गौरीश', कोई संकलन-ग्रन्थ नहीं है, जिसमें अन्य लेखकों के श्लोक अपेक्षित हों, इसलिए इसमें भानुदत्त के दो ग्रन्थों के श्लोकों का विद्यमान होना इस अनुमान को स्पष्ट करता है कि इन तीनों ग्रन्थों का लेखक एक ही व्यक्ति रहा होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'गीत-गौरीश', जयदेवकृत 'गीतगोविंद' को आदर्श मानकर लिखा गया था। कालिदास के 'मेघदूत' की तरह 'गीत-गोविन्द' की नकल पर परवर्ती लेखकों ने इस प्रकार अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।[6] सरसरी तौर पर

---

1. ऑफ्रेक्ट ने पहले तो इन दोनों लेखकों को भिन्न-भिन्न मानकर इनका पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है (i.405), किन्तु बाद में (i.793) उसने कहा है कि 'यह अधिक सम्भव है कि गीतकाव्य का लेखक 'रसतरंगिणी' के लेखक से अभिन्न है।' (इण्डिया ऑफ़िस कैटलॉग vii. 1443-45 पर हस्तलिपि का विवरण दिया गया है)।

2. 'रसमंजरी' 168.

3. 'रसतरंगिणी' सं० रेनो, पृ० 66 पुष्पिकालेख; तथा वेबर 824.

4. Aleip 835 में 'रसतरंगिणी' की हस्तलिपि के अन्तर्गत, वेबर, 1726।

5. कवि-गणनाथ-सुतस्य कवेरिति वचनं द्विजगति धत्यम्, अध्याय ii, पृ० 50; कृत-हर-विनयो गणपति-तनयो निगदति हित-कारणम्, अध्याय ii. पृ० 58।

6. यथा —कल्याण-रचित 'गीतगंगाधर'; राम-कृत 'गीतंगिरीश'; वंशमणि रचित 'गीतदिगम्बर' (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, i. 18. सम्वत् 1674 में भूधर के पुत्र प्रभाकर का 'गीतराघव' (भण्डारकर रिपोर्ट 1882-83, पृ० 9)। हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स ii, संख्या 53, में हरिशंकर रचित एक 'गीतराघव' का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त 'रामगीतगोविन्द' इण्डिया ऑफ़िस कैटलॉग vii, पृ० 1480) भी देखिए; एगलिंग ने इसे जयदेव के 'गीतगोविंद की कच्ची नकल कहा, किंतु इसे जयदेव रचित ही कहा गया है। एगलिंग ने Garcin de Tassy के इस कथन का उद्धरण दिया है कि ऐसे ग्रन्थ जयदेव के असली 'गीत-गोविंद' की नकल में प्रचलित हो गए हैं। तुलना कीजिए, पिशेल, Die Hofdichter des Laksman Sen पृ० 23.

अवलोकन करने से ही पता चल जाता है कि इन दोनों ग्रंथों में बड़ी समानता है और विशेष बात यह है कि सामान्य ग्रन्थ-योजना के अतिरिक्त भानुदत्त के काव्य के कुछ अध्यायों में कई ऐसे श्लोक हैं, जिनके छन्द तथा जयदेव के श्लोकों के छंद एक हैं। यथा :—

जयदेव

प्रलय-पयोधि-जले धृतवानसि वेदम्
विहित-वहित्र-चरित्रमखेदम्
केशव धृत-मीन-शरीर, जय जगदीश हरे ॥

भानुदत्त

भ्रमसि जगति सकले प्रतिलवमविशेषम्
शमयितुमिव जनखेदमशेषम्
पुरहर कृत-मारुत-वेश, जय भुवनाधिपते ॥

जयदेव

निभृत-निकुंज-गृहं गतया निशि रहसि निलीय वसंतम्
चकित-विलोकित-सकल-दिशा रति-रभस-रसेन हसंतम्
सखि हे केशी-मथनमुदारम्
रमय मया सह मदन-मनोरथ भावितया सविकारम् ॥

भानुदत्त

अभिनव-यौवन-भूषितया दर-तरलित-लोचन-तारम्
किंचिदुदंचित-विहसितया चलदविरल-पुलकविकारम्
सखि हे शंकरमुदित-विलासम्
सह संगमय मया नतया रति-कौतुक दर्शितहासम् ॥

यदृच्छया लिए गए ये दोनों उद्धरण अनुकरण के आधिक्य को परिलक्षित करते हैं। यह अनुमान करना न्यायसंगत होगा कि साहित्य-क्षेत्र में जयदेव-रचित गीतकाव्य की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो जाने के कुछ समय पश्चात् ही भानुदत्त के अनुकरणात्मक ग्रंथ की रचना हुई होगी। भले ही जयदेव की तिथि 12 वीं शती के पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध में निर्धारित की जाए, किंतु भानुदत्त को 12 वीं शती से पहले निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस निष्कर्ष के आधार पर उनकी तिथि की एक सीमा प्राप्त हो जाती है।

भानुदत्त की तिथि की दूसरी सीमा, 'रसमंजरी' पर 'रसमंजरी-विकास' अथवा '—विलास' नामक टीका की तिथि से प्राप्त होती है। यह टीका नृसिंह के पुत्र गोपाल (उपनाम वोपदेव) ने लिखी थी। इसकी तिथि स्पष्ट रूप से 1572 ई०[1] कही गई है। 'शार्ङ्गधर-पद्धति' लगभग 1363 ई० में संकलित की गई थी। इसके अंतर्गत भानुपंडित तथा वैद्य भानु-पंडित के नामों से कई श्लोक दिए गए हैं (790, 973, 1032, 1271, 3328, 3685)। किंतु इनमें से कोई भी श्लोक हमारे लेखक के ज्ञात ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। जह्लण का काव्यसंग्रह (सं० गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ोदा 1938) लगभग 13वीं शती के मध्य-भाग में संकलित किया गया है। इसमें भी भानु-पंडित तथा वैद्य भानु-पंडित के नाम से 36 श्लोक दिए गए हैं, किंतु वे भी भानुदत्त के ग्रन्थों में नहीं मिलते; किंतु इनमें से तीन श्लोक 'पद्धति' के अंतर्गत इसी नाम से मिलते हैं। (700=पृ०, 68, 973=पृ० 107, तथा 3328=पृ० 183)। यह अनुमान किया जा सकता है कि 'रसमंजरी' का लेखक इस समय अज्ञात नहीं था और काव्यसंग्रहों में 'वैद्य' अथवा 'पंडित' नाम किसी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती भानु के साथ जोड़ दिया गया था, ताकि हमारे लेखक तथा उसमें अन्तर किया जा सके।

यदि 'रसमंजरी' के अंतर्गत निजामधरणीपाल के उल्लेख से कोई निष्कर्ष निकाला जा सके तो भानुदत्त की अधिक शुद्ध तिथि प्राप्त हो सकती है। ऐसा कहा

---

1. देखिए स्टीन, जम्मू कैटलॉग पृ० 63, 421 तथा 273 पर इसमें शुद्धि की गई है। इस टीका की तिथि तथा प्रयुक्त संवत् के विषय में आगे ग्रंथ-सूची में देखिए। 15वीं शती के आरंभ में हुए कुमारस्वामी ने (पृ० 280) 'विरह-विप्रलंभ' के अन्य नाम 'प्रणय-मान' को प्रामाणिक बताने के लिए 'रसमंजरी' नामक ग्रंथ को उद्धृत किया है। यह उद्धरण भानुदत्त को ही लक्षित करता है, क्योंकि उनकी 'रस-मंजरी' में उक्त कथन का अभाव है।

2. गोविंदजी-रचित 'सभ्यालंकरण' (भंडारकर, रिपोर्ट 1887-91 पृ० lxiii) में भानुकर तथा भानुपंडित के काव्यों के उद्धरण दिए गए हैं। इन दोनों कवियों में अन्तर अपेक्षित है। कुछ अर्वाचीन काव्यसंग्रहों में भानुदत्त के अनेक श्लोकों को कवि भानुकर-रचित ही मान लिया गया है। हरदत्त शर्मा (एनाल्ज ऑफ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xvii 1936, पृ० 243-58) ने मुख्यत: इसी आधार पर इन दोनों की अनन्यता का सुझाव दिया है। इस प्रश्न पर, NIA vii, 1944, पृ० 111-17 के अन्तर्गत जी० वी० देवस्थली, 'इण्डियन कल्चर' iii, पृ० 751-56 में पी० के० गोडे तथ 'सम प्राब्लम्ज', पृ० 147 में सुशीलकुमार डे के लेख देखिए।

गया है[1] कि अनंत पंडित की टीका में देवगिरि के शासक निजाम के उल्लेख से अहमद निजाम शाह ही लक्षित होता है। उसने 1499 तथा 1507 ई० की मध्यावधि में दौलताबाद (देवगिरि) पर अधिकार प्राप्त किया था और दक्षिण के निजामशाही वंश की स्थापना की थी। इस विषय पर पी० वी० काणे ने नई सामग्री प्रस्तुत की है। उनका कथन है (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 296-97) कि भानुदत्त ने 'विवादचंद्र' के लेखक तथा स्मृतिकार, मिसरू मिश्र की बहन से विवाह किया था। ये मिश्र 15 वीं शती के मध्यभाग में हुए हैं। अतएव, भानुदत्त को 1450 से 1500 ई० की मध्यावधि में निर्धारित करना ही युक्तियुक्त होगा।

'रसमंजरी' के अंतिम श्लोक में भानुदत्त का जन्मस्थान विवेह (विदेहभू:[2]) अथवा मिथिला दिया नया है। बर्नल ने भी भानुदत्त को मिथिला-निवासी कहा है। मैथिली लेखक होने के नाते इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे गौडीय जयदेव के प्रसिद्ध गीत-काव्य से परिचित थे तथा उन्होंने जयदेव का अनुकरण करते हुए शिव तथा गौरी पर उसी प्रकार के ग्रंथ की रचना की थी। 'कुमार-भार्गवीय'[3] नामक एक अन्य ग्रंथ में, जिसे भानुदत्त-रचित माना जाता है, लेखक को गणपति अथवा गणनाथ का पुत्र कहा गया है (हमारे लेखक के पिता का नाम भी यही है) और उनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—रत्नेश्वर— सुरेश्वर ('शारीरक भाष्यवार्त्तिक' के लेखक)— विश्वनाथ —रविनाथ–भवनाथ–महादेव— गणपति—भानुदत्त। गणपति भी कवि थे, स्वयं भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' में उनके श्लोक उद्धृत किए हैं। जह्लण के काव्यसंग्रह में (पृ० 45) 'महामोद' नामक ग्रंथ के रचयिता के रूप में किसी राजेश्वर के लिखे श्लोक में गणपति नाम कवि की प्रशंसा की गई है। हमारे भानुदत्त को

---

1. सुशीलकुमार डे का 'सम प्रॉब्लम्ज' पृ० 144-45 देखिए। किंतु रमानाथ झा के मतानुसार (जर्नल ऑफ पटना यूनिवर्सिटी iii, संख्या 1-2) निजाम उक्त वंश का दूसरा शासक है तथा कृष्ण (अनंत का भी यही मत है) विजयनगर का कृष्णदेव राय (1509-1530) है।

2. 1872 के मद्रास संस्करण में, औफ्रेक्ट द्वारा परीक्षित हस्तलिपियों में (बोडलियन कैटलॉग 213b) तथा भंडारकर की प्रति (रिपोर्ट 1883-84, पृ० 12) में दिया गया पाठ 'विदर्भभूः' अशुद्ध है; क्योंकि लेखक के कथनानुसार गंगा नदी उसके देश के बीचोबीच बहती है। यह बात विदेह के संबंध में ठीक है, विदर्भ के संबंध में नहीं। वेबर ii, संख्या 1726 से तुलना कीजिए। भानुदत्त के नाम के साथ मिश्र उपाधि प्रायः जोड़ दी जाती है, जिससे सूचित होता है कि वे मैथिल ब्राह्मण थे और संभवतः वैद्य नहीं थे।

3. 12 उच्छ्वास पर्यंत यह ग्रंथ चंपू (गद्य-पद्य-मिश्रित) है। इण्डिया ऑफिस कैटलॉग vii, पृ० 1540 देखिए। वहाँ वंशावली-संबंधी श्लोकों का संपूर्ण उद्धरण है।

पाँच अध्याय-पर्यंत एक 'अलंकारतिलक' तथा 'शृंगारदीपिका' का भी रचयिता कहा गया है।

'शृंगार-दीपिका' तो उपलब्ध नहीं है, किंतु 'अलंकार-तिलक' प्रकाशित हो चुका है।[1] इसकी रचना मिश्रित गद्य-पद्यमय है तथा इसमें संस्कृत-काव्य-शास्त्र के सभी सामान्य विषयों का निरूपण किया गया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य की चर्चा है, रस को काव्य की आत्मा कहा गया है तथा रस के तीन भेदों, अर्थात् उत्तम, मध्यम तथा अधम का निरूपण है। तत्पश्चात् रीतियों तथा चार वृत्तियों (कैशिकी इत्यादि) का विवेचन है। द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद में क्रमशः काव्य के दोषों तथा गुणों की चर्चा है, जो भोज के ग्रंथानुसार हैं। चतुर्थ तथा पंचम परिच्छेद में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण है। अलंकारों की संख्या 77 दी गई है। इस ग्रंथ में लेखक की एक रचना 'चित्र-चंद्रिका' का उल्लेख मिलता है।

'रसमंजरी' अपेक्षाकृत बहुत छोटा ग्रंथ है। इसमें सामान्यतः उदाहरण, नायक-नायिका विचार, उनके सहायक तथा गुण, शृंगार के दो भेद तथा विप्रलंभ शृंगार की दस अवस्थाओं का निरूपण है। 'रसतरंगिणी' आठ तरंगों (भागों) में विभक्त है। इसमें शृंगार के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त अन्य रसों का विशेष वर्णन है। विषय-विन्यास इस प्रकार है—(1) स्थायिभाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव, (4) सात्विक भाव; (5) व्यभिचारिभाव, (6) शृंगार-रस, (7) अन्य रस, (8) स्थायिभाव इत्यादि से संबंधित दृष्टि-त्रय।

भानुदत्त-रचित दो ग्रंथों पर अनेक टीकाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है। इनमें से 'रसतरंगिणी' पर गंगाराम जडि की 'नौका' नामक टीका तथा 'रसमंजरी' पर क्रमशः अनंत पंडित तथा नागोजी भट्ट की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' तथा 'रसमंजरी-प्रकाश' नामक टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

भानुदत्त ने 'रस-पारिजात' नामक एक काव्यसंग्रह की भी रचना की है (मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, 1939, द्वारा मुद्रित)।

ग्रंथ-सूची

रसमंजरी

संस्करण—(i) जीवानंद विद्यासागर के काव्यसंग्रह के अंतर्गत, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता 1886। (ii) सं० रामशास्त्री तैलंग, अनंत पंडित की व्यंग्यार्थ-कौमुदी

1. जी० वी० देवस्थली द्वारा, जर्नल ऑफ दि बंबई ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (न्यू सीरीज) xxiii-xxv (1947-49) के अंतर्गत।

तथा नागोजी भट्ट की रसमंजरी-प्रकाश टीकाओं सहित, बनारस संस्कृत सीरीज, 1904। (iii) सं० वेंकटराम शास्त्री, तेलुगु लिपि में, मद्रास 1909। (iv) 'ग्रंथमाला' खंड 1 के अंतर्गत। यहाँ संदर्भ बनारस सं० से दिए गए हैं।

टीकाएँ—(1) त्र्यंबक पंडित (तिमजी) के पुत्र, बालो पंडित के पौत्र तथा नीलकंठ पंडित के प्रपौत्र अनंत पंडित की 'व्यंग्यार्थकौमुदी'। अनंत पंडित का जन्मस्थान गोदावरी-तीर पर पुण्यस्तंभ (पुंतंबम् अहमद-नगर) था। उक्त टीका, वीरसेनदेव के पुत्र तथा मधुकर के पौत्र चंद्रभानु के अनुरोध पर संवत् 1692=1636 ई० में बनारस में लिखी गई थी। रचना की तिथि ग्रंथ के अंतिम श्लोक में दी गई है। यह श्लोक इंडिया ऑफिस हस्तलिपि (एगलिंग, इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, पृ० 356) में है, किंतु मुद्रित पाठ में इसका अभाव है। सं० यथोक्त। अनंत ने 'मुद्राराक्षस-पूर्वपीठिका' (मित्रा 1654) तथा 1645 ई० में 'गोवर्धन-सप्तशती' पर एक टीका भी लिखी है (सं० निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1886)।

(2) नागोजी अथवा नागेश भट्ट कृत 'रसमंजरी-प्रकाश'। इसके संबंध में जगन्नाथ के प्रकरण के अंतर्गत देखिए। सं० यथोक्त। इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, संख्या 1222/2602; भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट कैटलॉग xii, संख्या 223-25, पृ० 258 इत्यादि।

(3) शेष कृष्ण के कनिष्ठ भ्राता तथा शेष नृसिंह के पुत्र, शेष चिंतामणि रचित 'रसमंजरी-परिमल'। मित्रा 3115, खंड ix, पृ० 194, तथा भंडारकर रिपोर्ट 1883-84, पृ० 365 पर इसका उद्धरण दिया गया है। मित्रा की ग्रंथसूची में उल्लिखित हस्तलिपि संवत् 1609 (=1552—53 ई०) में तैयार की गई प्रतीत होती है। किंतु भंडारकर की प्रति में कोई तिथि नहीं दी गई है। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट कैटलॉग xii, संख्या 217-222 के अंतर्गत इस टीका की छह हस्तलिपियाँ हैं; इसके अतिरिक्त इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, संख्या 1226-27, पृ० 357 भी देखिए। चिंतामणि ने 'छंदःप्रकाश' (औफ्रेक्ट 189a) के अतिरिक्त कई अन्य ग्रंथ लिखे हैं।

(4) गोपाल आचार्य-रचित 'रसमंजरी-विकास' (अथवा, विलास)। इनका

उपनाम वोपदेव है। महाराष्ट्र में जवल-ग्राम निवासी वोपदेव, कौंडिन्य-गोत्रोत्पन्न नृसिंह के पुत्र, गोपाल के पौत्र तथा मेंगनाथ के शिष्य थे। इन्होंने भानुदत्त का नाम भानु कर दिया है। टीका-तिथि संवत् 1484=1428 ई० है। देखिए जम्मू कैटलॉग संख्या 1221 (उद्धरण)। श्रीधर भंडारकर का कथन है (द्वितीय भ्रमण की रिपोर्ट, 1904—06, पृ० 36) कि तिथि 1494 है, स्टीन द्वारा दी गई 1484 नहीं (उद्धरण पृ० 273)। किंतु उनके मत में तिथि शक संवत् में है, जिसके अनुसार टीका-तिथि 1572 ई० ठहरती है। एनाल्ज ऑफ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, xvi (1934-35), पृ० 145-47, में पी० के० गोडे का लेख देखिए।

(5) हरिवंश भट्ट द्रविड़ के पुत्र तथा नृसिंह भट्ट के पौत्र, गोपाल भट्ट की 'रसिक-रंजनी' टीका। इन्होंने रुद्र के 'श्रृंगारतिलक' पर भी टीका लिखी है। इसी नाम के एक टीकाकार ने मम्मट पर भी एक टीका लिखी है। ये दोनों लेखक एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। ऊपर देखिए पृ० 89, 148. हस्तलिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 495b, ii. 116a, iii. 106a; भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि कैटलॉग xii, संख्या 226-30 (उद्धरण)। अवध कैटलॉग xi.10 में हरिवंश भट्ट की टीका का उल्लेख संभवतः गलती से किया गया है। यह टीका उनके पुत्र ने लिखी है। गोपाल के अन्य ग्रंथों के लिए औफ्रेक्ट i. 161 देखिए।

(6) लक्ष्मीधर के पुत्र, विश्वेश्वर की 'समंजसा' अथवा 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' टीका। इसके संबंध में अल्पप्रसिद्ध लेखक अध्याय के अंतर्गत आगे देखिए। हस्तलिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 495b, ii. 116a, iii. 106a,

(7) 'रसमंजरी-आमोद' रंगशायी कृत। रंगशायी का उपनाम गुरुजाल-शायी अथवा गुरुजाल रंगशायी है। कहा जाता है कि उन्होंने वाधूल-गोत्र के महादेशिक तथा अपने चाचा अनंताचार्य से विद्या प्राप्त की थी। उन्हें चिलुकमरी कुल के धर्माचार्य का पुत्र बताया गया है। वे श्रीवैष्णव-मतावलंबी थे। वी० राघवन् के कथनानुसार गुंटूर जिले के पलनद तालुक में गुरुजाल नाम का एक ग्राम है। अतएव, लेखक का वास्तविक नाम रंगशायी था। चिलकमरी ग्राम पूर्व गोदावरी

जिले में है। लेखक के पिता तथा पितामह के नामों के साथ इस नाम के लगाए जाने से सूचित होता है कि चिलकमरी उनका जन्मस्थान था। रंगशायी ने अनेक बार 'परिमल' की आलोचना की है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'परिमल' 1553 ई० से पहले ही लिखा गया था, इसके पश्चात् नहीं। रंगशायी ने अप्पय्य के 'कुवलयानंद' तथा भट्टोजी दीक्षित के 'प्रौढ़मनोरमा' नामक ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है। ये दोनों लेखक 16 वीं शती के अंतिम चरण में हुए हैं। अतएव, रंगशायी को 17 वीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया जा सकता है। 'आमोद' टीका के अतिरिक्त उन्होंने एक 'शृंगार-लहरी' भी लिखी है, जिसके उद्धरण स्वयं उन्होंने दिए हैं। मद्रास कैटलॉग xxii, 12941-42 (उद्धरण)।

(8) त्र्यंबक के पुत्र आनन्द शर्मा रचित 'व्यंग्यार्थ दीपिका'। औफ्रेक्ट i. 495a, ii. 116a.

(9) महादेव-रचित 'भानुभाव-प्रकाशिनी'। तंजोर कैटलॉग ix. संख्या 5284, पृ० 4070।

(10) कामराज के पुत्र एवं जीवराज के पिता, व्रजराज दीक्षित-रचित 'रसिक-रंजन'। नार्थ वेस्टर्न प्रॉविंस कैटलॉग 1877-86, ii 120। 'रसतरंगिणी' पर जीवराज की टीका के प्रसंग में देखिए। बर्नल ने गलती से मूल लेखक द्वारा रचित टीका के रूप में इसका उल्लेख किया है। मद्रास कैटलॉग xx, काव्य, पृ० 8008 से यह सूचित होता है कि व्रजराज ने तीन-स्तवक पर्यन्त 'रसिकरंजन' नामक एक मूल काव्य लिखा था। इसका विषय नखशिख वर्णन है। क्या यह दोनों ग्रन्थ एक ही हैं?

(11) 'रसमंजरी-स्थूलतात्पर्यार्थ'। इण्डिया आफिस कैटलॉग iii, 1230/543, पृ० 358।

रसतरंगिणी

संस्करण–(1) गंगाराम जडि की 'नौका' नामक टीका सहित, पोथी आकार काशी संस्कृत प्रेस, बनारस 1886। (2) ग्रन्थमाला के अन्तर्गत, खण्ड i,

1887-88। (3) रेनो द्वारा सम्पादित Rhetorique Sanskrite के अन्तर्गत, पैरिस 1884 (मूलपाठ रोमन लिपि में है)।

टीकाएँ : (1) 'रसतरंगिणी-नौका', गंगाराम जड़ि अथवा जड़ी कृत। मद्रास कैटलॉग xxii. 12930 (उद्धरण) 31। इस टीका की तिथि संवत् 1799 = 1742-43 ई० है (अनाल्ज ऑफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xiii, पृ० 186, में पी० के० गोडे का लेख देखिए)। गंगाराम ने 'रसमीमांसा' (लेखक-कृत 'छाया' टीका सहित, काशी संस्कृत प्रेस, बनारस, 1885 से मुद्रित) नामक मूल ग्रन्थ भी लिखा है। इस ग्रन्थ में लेखक ने अपनी 'नौका' टीका का भी उल्लेख किया है। उनके पिता का नाम नारायण तथा गुरु का नाम नीलकण्ठ था। उन्होंने तर्कशास्त्र-विषयक दो ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से एक का नाम 'तर्कामृत-चषक' है। इसमें उन्होंने अपने पिता तथा गुरु के नाम दिए हैं (देखिए औफ्रेक्ट i. 140)। उक्त ग्रन्थ जगदीश-रचित 'तर्कामृत' की टीका है। गंगाराम जडि के सम्बन्ध में जर्नल ऑफ यूनिवर्सिटी ऑफ बम्बई, xi, भाग 2, 1942, पृ० 84-88, के अन्तर्गत जी० वी देवस्थली का लेख देखिए।

(2) वेणीदत्त तर्कवागीश भट्टाचार्य रचित 'रसिक-रंजनी' टीका। वेणीदत्त के पिता का नाम वीरेश्वर तथा पितामह का नाम लक्ष्मण था। एक अशुद्ध श्लोक में दी गई तिथि के आधार पर एगलिंग (इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, संख्या 1216) का अनुमान है कि इस टीका की तिथि 1553 ई० है। किंतु जी० वी० देवस्थली (इण्डिया एंटीक्वेरी, v 1942, पृ० 195 इत्यादि) का कथन है कि इस टीका को इतना प्राचीन नहीं माना जा सकता। उनके मतानुसार यह ग्रन्थ 18वीं शती में लगभग 1708 ई० का है। लेखक का जन्म अहिच्छत्रधर कुल में हुआ था। उनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—महीधर (महीधर काशीपति के एक मांत्रिक तथा 'मन्त्रमहोदधि' के लेखक थे)→कल्याण→लक्ष्मण→वीरेश्वर→वेणीदत्त। वेणीदत्त ने काव्य-शास्त्र-विषयक 'अलंकारचन्द्रोदय' नामक मूल ग्रन्थ भी लिखा है। अल्पप्रसिद्ध लेखक नामक अध्याय में आगे देखिए। हस्तलिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 494b, ii. 115b, 220a, ii. 106a, इण्डिया ऑफिस कैटलॉग iii; संख्या 1216/1703 a, पृ० 354 (उद्धरण); मद्रास कैटलॉग संख्या 12932।

(3) जीवराज रचित 'रसतरंगिणी-सेतु' अथवा '-सेतुबंध'। जीवराज के पिता का नाम ब्रजराज दीक्षित था (ऊपर 'रसमंजरी' के अंतर्गत ग्रंथ सूची में देखिए)। हस्तलिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 494b, ii. 220a, iii. 106a. औफ्रेक्ट i. 494b संभवत: उक्त टीका ही है। लेखक, सामराज दीक्षित (अन्यत्र देखिए—अल्पप्रसिद्ध लेखक नामक प्रकरण के अंतर्गत) के प्रपौत्र थे। वे 17वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे। उन्होंने गंगाराम की 'नौका' नामक टीका की निंदा की है (प्रारंभिक श्लोक 9)। अलवर कैटलॉग संख्या 226 में इसका उद्धरण है।

(4) गणेश-कृत 'रसोदधि' टीका। हस्तलिपि की तिथि 1698 ई० है। बूहलर, कैटलॉग गुजरात, काठियावाड़ इत्यादि, 3.54।

(5) महादेव रचित 'रसोदधि'। कीलहॉर्न, सेंट्रल प्रॉविंसेज कैटलॉग 104।

(6) भीमशाह के पुत्र नेमिशाह की साहित्यसुधा' अथवा 'काव्यसुधा' टीका। इन्हें महाराजाधिराज कहा गया है। औफ्रेक्ट i. 494b, iii. 106 a। देखिए, कैटलॉग भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि xii, पृ० 234-35. पी० के० गोडे ने इस लेखक को बम्बई प्रांत के जौहर वंश के नेमिशाह द्वितीय से अभिन्न कहा है—समय लगभग 1650 ई० (कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल i. पृ० 217-20)।

(7) भगवद्भट्ट-रचित 'नूतनतरी'। औफ्रेक्ट i. 494b.

(8) अयोध्या प्रसाद-रचित टीका। औफ्रेक्ट i. 494b. इस लेखक ने 'वृत्त-रत्नाकर' पर भी टीका लिखी है।

(9) दिनकर-रचित टीका। औफ्रेक्ट ii. 115b. सम्भवत: यह वही टीका है, जिसे ऊपर नेमिशाह-लिखित कहा गया है। नेमिशाह दिनकर के संरक्षक थे तथा नाम मात्र के ही लेखक थे।

अलंकार-तिलक

संस्करण—सं० जी० वी० देवस्थली, 'जर्नल ऑफ बम्बई ब्रांच ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी', न्यू सीरीज, xxiii, पृ० 57-82, xxiv-xxv, पृ० 92-

120 (1947-49 के अन्तर्गत। वर्नल 54a) तथा भाऊ दाजी की ग्रन्थसूची में लेखक का नाम भानुकर दिया गया है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद (पीटर्सन vi परिशिष्ट, पृ० 29) हैं।

शृंगार दीपिका

औफ्रेक्ट i. 661a (=अवध कैटलॉग iii. 12)।

4

उपर्युक्त ग्रन्थों के पश्चात् इसी प्रकार के अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, जिनमें रस, विशेषत: शृंगार, मुख्य विषय रहा है। शृंगार-विषयक काव्य-रचना में कवियों के मार्गदर्शनार्थ नियम तथा उदाहरण-सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करना इन ग्रन्थों का उद्देश्य था। संस्कृत साहित्य में शृंगार-साहित्य का बाहुल्य है। अल्पप्रसिद्ध लेखक नामक अध्याय में इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा उनके लेखकों का वर्णन किया जाएगा।

रूप गोस्वामी जैसे कुछ वैष्णव लेखकों ने काव्य अथवा नाट्य-रस को सिद्धांतों से प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। विवेचन-सुगमता के लिए ऐसे लेखकों पर सामूहिक रूप में चर्चा की जाएगी।

रूप तथा जीव गोस्वामी

रूप गोस्वामी के पिता का नाम कुमार तथा पितामह का नाम मुकुंद था। उन्होंने 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' तथा उज्ज्वल-नीलमणि' नामक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक वैष्णव-ग्रन्थों की रचना की है। उक्त ग्रन्थों में, प्राचीन रसों, विशेषत: शृंगार रस की तरह भक्ति-रस का विश्लेषण तथा व्याख्या की गई है। रूप गोस्वामी, बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के सुधारक चैतन्य के समकालीन थे और 15वीं शती के अन्तिम भाग तथा 16वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए थे। उनके कुछ ग्रन्थों में दी गई तिथियों से भी उक्त तिथि की पुष्टि होती है। उनकी 'दान-केलि-कौमुदी' तथा 'विदग्ध-माधव' नामक ग्रन्थ क्रमश: 1495 तथा 1533 ई० में लिखे गए थे।[1] उनके 'ललित-माधव', 'भक्ति-रसामृत' तथा 'उत्कलिका-वल्लरी' नामक ग्रन्थों की तिथि क्रमश: 1537, 1541 तथा 1550 ई० है। इस प्रकार रूप का

---

1. इन लेखकों के विषय में अधिक जानकारी के लिए सुशील कुमार डे का 'वैष्णव फेथ ऍंड मूवमेंट इन बंगाल', कलकत्ता 1942, देखिए।

साहित्य-सृजन काल 1533 तथा 1550 ई० की मध्यावधि में ठहरता है, किन्तु इसका आरम्भ इससे भी पहले 1295 ई० में हो चुका था।

'उज्ज्वल-नीलमणि' पर 'लोचन-रोचनी' नामक टीका की रचना रूप के भतीजे जीव गोस्वामी ने की थी। जीव, रूप के कनिष्ठ भ्राता वल्लभ (उपनाम अनुपम) के पुत्र थे।[1] जीव के 'माधव-महोत्सव' की रचना 1555 ई० में हुई थी; 'गोपाल चंपू' की तिथि 1589 तथा 1592 ई० है।

रूप गोस्वामी ने नाट्यशास्त्र विषयक 'नाटक-चन्द्रिका' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। 'विदग्धमाधव' की टीका में तथा 'भागवत' पर 'वैष्णवतोषिणी' नामक टीका में इसके उद्धरण हैं। अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही रूप गोस्वामी ने कहा है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना में भरत-शास्त्र तथा 'रससुधाकर' (शिंग भूपाल-रचित 'रसार्णवसुधाकर) का अवलोकन किया और क्योंकि 'साहित्यदर्पण' में भरत-मत का विरोध किया गया है, इसलिए मैंने सामान्य रूप में उसे स्वीकार नहीं किया है (i. 2)। उनके ग्रन्थ के आठ अध्यायों में इन विषयों का विवेचन है—(1) नाटक के सामान्य लक्षण, (2) नायक-निरूपण, (3) रूपक के भेद (नांदी, इत्यादि (4) सन्धि, पताका इत्यादि तथा उनका वर्गीकरण, (5) अर्थोपक्षेपक तथा उसके अंग (विष्कंभक इत्यादि) (6) अंकों तथा दृश्यों का विभाजन, (7) भाषा-विधान, (8) वृत्ति तथा उसका रसानुरूप प्रयोग। यह कोई लघु ग्रन्थ नहीं है; अधिकतर उदाहरण वैष्णव ग्रन्थों से लिए गए हैं, जो पर्याप्त सूक्ष्म होने के अतिरिक्त अपने 'उज्ज्वल-नीलमणि' में रूप ने उदाहरण-श्लोक मुख्यतः अपने ही काव्य तथा नाटक ग्रन्थों, यथा, 'उद्धवदूत,' 'विदग्धमाधव', 'दानकेलि-कौमुदी' इत्यादि से उद्धृत किए हैं।[2] 'रसामृत-शेष' नामक ग्रन्थ भी रूप-रचित माना जाता है।

---

1. तिथि के विषय में सुशील कुमार डे की 'पद्यावली' (सं० ढाका विश्वविद्यालय 1934) पृ० li.-liii. देखिए। रूप के ग्रन्थों की सूची पृ० xl, ix-l पर दी गई है।

2. उनकी ग्रन्थ-सूची के लिए, सुशील कुमार डे का 'वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट, पृ० 113-118, तथा पृ० 126-167 पर 'भक्तिरसामृत' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' का विश्लेषणात्मक अध्ययन देखिए। भक्ति-सिद्धान्त पर रससिद्धान्त के प्रयोग तथा वैष्णव ग्रन्थों के अन्तर्गत शृंगारिक रहस्यवाद के व्याख्यार्थ भी इस ग्रन्थ का अवलोकन किया जा सकता है। वैष्णव ग्रन्थों में शारीरिक (लौकिक) वासना की भाषा में धार्मिक (आध्यात्मिक) प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है। अतएव, इस प्रश्न पर यहाँ चर्चा नहीं की गई है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'आनन्द-चन्द्रिका' अथवा 'उज्ज्वल-नीलमणि-किरण' नामक टीकाएँ लिखी हैं। ये 17वीं शती के अंत तथा 18वीं शती के आरम्भ में हुए हैं, क्योंकि इन्होंने 'भागवत' पर 'सारार्थदर्शिनी' नामक टीका शक 1626 = 1704 ई० में लिखी थी। इनकी आनन्दचन्द्रिका' की तिथि भी शक 1618 = 1696 ई० है। अनेक वैष्णव ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने कविकर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' पर एक टीका लिखी है, जिसका विवरण आगे दिया गया है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' पर अपनी टीका में इन्होंने नारायण भट्ट के 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है (सं० निर्णयसागर प्रेस, पृ० 25)।

कविकर्णपूर

परमानन्द-दास सेन कविकर्णपूर को शिवानन्द सेन का कनिष्ठ पुत्र तथा श्रीनाथ का शिष्य कहा गया है। इन्होंने 'अलंकारकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ लिखा है। ये वैद्य कुल में उत्पन्न हुए थे तथा बंगाल के एक प्रसिद्ध वैष्णव थे। संस्कृत में अनेक वैष्णव ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने चैतन्य का पद्यमय जीवनचरित ('चैतन्य-चरितामृत', सं० राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद 1884) तथा चैतन्य पर ही एक नाटक भी लिखा है ('चैतन्य-चंद्रोदय', सं० बिब्लियोथिका इंडिका 1854)। इनका 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटक शक 1494 अथवा 1501 = 1572 अथवा 1579 ई० में[1] तथा 'गौरांग-गणोद्देश-दीपिका', 1576 ई० में लिखा गया था।[2]

---

1. तिथि इस श्लोक में दी गई है—'शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते, गौरो हरिर्धरणिमंडल आविरासीत्। तस्मिन् चतुर्नवति-भाजि तदीयलीला, ग्रन्थोऽयमाविरभवत् कतमस्य वक्त्रात्।' इससे सूचित होता है कि गौरहरि अथवा चैतन्य का जन्म शक 1407 ई० में हुआ था; उनके लीलाग्रन्थ की रचना शक 1494 अथवा 1501 = 1572 ई० अथवा 1579 ई० में हुई थी। उपर्युक्त ग्रंथ 'वैष्णव ग्रंथ' में तिथि से संबंधित विवेचन देखिए। ऑफ्रेक्ट का यह कथन कि यह ग्रंथ 1543 ई० में लिखा गया था, गलत है (किन्तु 'इण्डियन ड्रामा' पृ० 93, खंड 104 में स्टेन कोनो का विवेचन देखिए)। लेखक तथा उनके ग्रंथों के विषय में सुशीलकुमार डे की 'पद्यावली' सं० ढाका विश्वविद्यालय, 1934) पृ० 188-90 तथा 'वैष्णव फेथ ऐंड मूवमेंट' पृ० 32-34 का अवलोकन कीजिए।

2. यह तिथि हरप्रसाद शास्त्री ii. पृ० 50 और ALeip 721 के पाठ 'शाके' वसु-ग्रहमिते' के अनुसार 1576 या 1577 ई० है, किंतु इण्डिया ऑफ़िस कैटलॉग संख्या 2510 के पाठ 'शाके रसा-रसमिते' के अनुसार 1540 ई० होती है।

इनके पिता शिवानन्द चैतन्यदेव के ज्येष्ठ शिष्य थे और चैतन्य के अनुयायियों के लिए बंगाल से पुरी की वार्षिक यात्रा का प्रबंध एवं नेतृत्व किया करते थे। मित्रा ने इस नाटक के अपने संस्करण की भूमिका में कहा है कि कविकर्णपूर का जन्म, चैतन्य की मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व नदिया के अंतर्गत कांचनपल्ली (कांचड़ापाड़ा) नामक स्थान पर 1524 ई० में हुआ था। 'अलंकार-कौस्तुभ' में दस 'किरण' हैं; विषय-विवेचन इस प्रकार है—(1) काव्य-लक्षण, (2) शब्दार्थ, (3) ध्वनि, (4) गुणीभूत-व्यंग्य, (5) रस, भाव तथा उनके भेद, (6) गुण, (7) शब्दालंकार, (8) अर्थालंकार, (9) रीति, (10) दोष[1]। यह रूप गोस्वामी के ग्रन्थ से अधिक विशद है तथा इसमें वैष्णव-प्रवृत्ति अधिक नहीं है। उदाहरणार्थ अधिकतर श्लोक कृष्ण-स्तुति-वाचक हैं। विषय-विवेचन 'काव्यप्रकाश' के अनुरूप है। इस ग्रन्थ की टीकाओं का विवरण आगे दिया जा रहा है:

कविचन्द्र

कविचन्द्र ने स्वयं[2] को एक वैद्य तथा कविकर्णपूर और कौशल्या का पुत्र, विद्याविशारद का पौत्र तथा कविभूषण और कविवल्लभ का पिता कहा है। इनका जन्म दीर्घांक-ग्राम के दत्त कुल में हुआ था। शक 1583 (=1661 ई०) में इन्होंने चिकित्सा-रत्नावली[3] नामक ग्रन्थ लिखा था। उसमें भी उक्त व्यक्तिगत विवरण दिया गया है। इस तिथि के कारण 'पद्यावली[4] नामक काव्यसंग्रह में परिलक्षित कविचन्द्र हमारे कविचन्द्र नहीं हो सकते। अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'काव्य-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें 15 'प्रकाश' हैं, तथा इन विषयों का विवेचन किया गया है—(1) काव्य-लक्षण, (2) शब्द-शक्ति, (3) रस, (4) भाव, (5) रस-

---

1. इनकी विस्तृत विषय-सूची के लिए मित्रा 1662 का अवलोकन कीजिए।
2. इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, iii, पृ० 344-45; A Bod, 211-12.
3. इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, v. 958-59; औफ्रेक्ट (ii. 166) ने तिथि का उल्लेख करते हुए प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया है; किन्तु तिथि शुद्ध ही प्रतीत होती है।
4. सुशीलकुमार डे का सं० ढाका विश्वविद्यालय 1934, संख्या 162, 166, 168, 189, 190, 191 देखिए। इण्डिया ऑफिस कैटलॉग vii, पृ० 1534, पृ० 1535 भी देखिए। ABod 212a में कविचन्द्र के उद्धृत श्लोकों में लेखक का यथोक्त विवरण दिया गया है तथा ग्रंथ के पुष्पिकालेख में ऐसा कथन है— इति दीर्घांक-ग्राम-निवासी-दत्तकुलोद्भव-वैद्य श्री कविचंद्र-विरचितायाम्, इत्यादि। अतएव, 'चैतन्य-चंद्रोदय' के लेखक परमानंद सेन कविकर्णपूर, कविचन्द्र के पिता, कविकर्णपूर से भिन्न हैं।

भेद (6) रसाभास, (7) काव्यभेद, (8) प्रमाण-निरूपण, (9) रीति, (10) गुण, (11) शब्दालंकार, (12) अर्थालंकार, (13) दोष, (14) कवितोपाय, तथा (15) नाट्य[1]। अन्य लेखकों के अतिरिक्त उन्होंने 'कविकल्पना', 'साहित्यदर्पण', 'रामचंद्रचंपू', 'रत्नावलीकाव्य', 'शांतिचंद्रिका', 'स्तवावली', पुरुषोत्तम नामक एक लेखक तथा स्वरचित 'सारलहरी' और 'धातु-चंद्रिका' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनकी तिथि 17 वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

ग्रंथ-सूची

संस्करण—(i) जीव गोस्वामी की लोचनरोचनी टीका सहित, मुर्शिदाबाद 1889, 1917, बंगला लिपि में; (ii) जीव गोस्वामी की लोचन-रोचनी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'आनंदचन्द्रिका' टीकाओं सहित, सं० केदारनाथ तथा बी० एल० पंशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1913 (यहाँ संदर्भ इसी संस्करण से दिए गए हैं)।

टीकाएँ—(i) जीव गोस्वामी कृत 'लोचनरोचनी'। ग्रंथ-सूचियों में भूल से टीकाकार का नाम सनातन गोस्वामी दिया गया है। जैसा पहले कहा गया है, यह टीका मूलपाठ सहित प्रकाशित हुई है। (ii) विश्वनाथ चक्रवर्ती रचित 'आनद-किरण' सार)। औफ्रेक्ट, i. 62a। उपर्युक्त विवरण के अनुसार यह मूलपाठ के साथ निर्णयसागर प्रेस के संस्करण में प्रकाशित हुई है। मित्रा 580 (तथा कलकत्ता संस्कृत कैटलॉग SCC vii. 5; कथवटे रिपोर्ट 1891-95, 318) में 'आनंदकिरणलेश नामक टीका संभवतः यही टीका है। (iii) 'आगमचंद्रिका' तथा 'आगमप्रबोधिका;' औफ्रेक्ट i. 62a. (iv) कलकत्ता संस्कृत कैटलॉग SCC-vii. 3 में 'आनंदटीका' नामक एक अज्ञात लेखक की टीका।

नाटक चंद्रिका

संस्करण—रसबिहारी सांख्यतीर्थ, बँगला अनुवाद सहित (बँगला लिपि में), कासिम-बाजार 1907। हस्त-लिपियाँ औफ्रेक्ट i. 284b, ii. 61b, 207b.

---

1. औफ्रेक्ट की बोडलियन हस्तलिपि में उपर्युक्त प्रथम आठ विषयों के नामानुसार केवल आठ 'प्रकाश' हैं, किन्तु उपर्युक्त विषय-सूची इण्डिया ऑफिस हस्तलिपि के अनुसार है। तुलना कीजिए, रेनो, पृ० 377.

अलवर कैटलॉग 1061 तथा मित्रा 3160, मद्रास कैटलॉग xxii. 12900 में इसके उद्धरण हैं।

रसामृतशेष

औफ्रेक्ट ii. 220b. इसका दूसरा नाम 'भक्तिरसामृतशेष' है। सं० हरिदास दास, हरिवोले कुटीर, नवद्वीप 1941, बंगला लिपि में।

अलंकारकौस्तुभ

संस्करण—विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका सहित, मुर्शिदाबाद 1899, बंगला लिपि में; तथा सं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, अज्ञात लेखक टीका तथा शब्दसूची सहित, वरेंद्र रिसर्च सोसायटी: राजशाही, खंड 1 (अध्याय i-vi, 1923, देवनागरी लिपि में।

टीकाएँ—(i) विश्वनाथ चक्रवर्ती रचित 'सारबोधिनी'। औफ्रेक्ट iii. 7b। मूलपाठ सहित प्रकाशित, यथोक्त। (ii) चक्रवर्ती के शिष्य सार्वभौम की 'टिप्पणी', ढाका विश्वविद्यालय, हस्तलिपि संख्या 2363, 2494, 3471. (iii) राधाचरण कवींद्र चक्रवर्ती के पुत्र वृंदावनचंद्र तर्कालंकार चक्रवर्ती रचित 'अलंकारकौस्तुभ-दीधिति-प्रकाशिका'। इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग iii, 1195/240, पृ० 344। (iv) 'अलंकारकौस्तुभ-टीका' लोकनाथ चक्रवर्ती रचित। औफ्रेक्ट i. 31b। यह टीका वरेंद्र रिसर्च सोसायटी के उपर्युक्त संस्करण के अंतर्गत एक 'प्राचीन टीका' के रूप में अनामलेखक प्रकाशित हुई है।

काव्यचंद्रिका

हस्तलिपियाँ—औफ्रेक्ट i. 101a, KBod 499. बोडलियन हस्तलिपि में 16 प्रकाश हैं।

कविशिक्षाविषयक लेखक

अरिसिंह, अमरचंद्र और देवेश्वर

1

श्वेतांबर जैन संप्रदाय के अनुयायी, अरिसिंह तथा अमरचंद्र ने 'कविता-रहस्य' अथवा 'काव्यकल्पलता' उसकी टीका 'कविशिक्षावृत्ति' रचकर संस्कृत

काव्य-शास्त्र में ख्याति प्राप्त की है। अरिसिंह ने उक्त ग्रंथ का एक भाग लिखा था तथा अमरचंद्र ने उसे पूरा करने [1] के अतिरिक्त उसकी टीका भी लिखी थी।[2] अरिसिंह के पिता का नाम लावण्यसिंह अथवा लवणसिंह बताया गया है। उन्होंने अपने संरक्षक ढोल्का राणा वीरधवल के जैन मंत्री, वस्तुपाल (मृत्यु 1242 ई०) के सम्मान में 'सुकृत-संकीर्तन' (सं० भावनगर 1917) नामक काव्य की रचना की थी। वीरधवल के पुत्र वीसलदेव[3] (1243-66 ई०) के राज्यकाल में भी वे जीवित थे। अमरचंद्र ने अपेक्षाकृत अधिक ग्रंथ लिखे हैं। उन्होने 'जिनेंद्र-चरित' (इसका दूसरा नाम 'पद्मानंद-काव्य' है)[4], 'बाल-भारत[5] तथा व्याकरण-विषयक 'स्यादिशब्दसमुच्चय' (औफ्रेक्ट i. 180)[6] नामक ग्रंथों की रचना की है। 'प्रबंधकोश' (पृ० 61 सं० सिंधी जैन ग्रंथमाला) के जैन लेखक राजशेखर सूरि ने उन्हें 'सूक्तावली' तथा 'कलाकलाप' नामक ग्रंथों का रचयिता भी कहा है। स्वयं 'काव्यकल्पलता' की वृत्ति में अमरचंद्र के तीन ग्रंथों, अर्थात् छंदविषयक 'छंदोरत्नावली' (पृ० 6), 'काव्यकल्पलतापरिमल[7] (19, 63), जो कि इसी का संक्षिप्त रूप अथवा पूरक ग्रंथ है, तथा अलंकारविषयक 'अलंकारप्रबोध' (पृ० 117) नामक एक मूल ग्रंथ का उल्लेख है।

अमरचंद्र वायड-गच्छ के जिनदत्त सूरि[8] के शिष्य थे। ये जिनदत्त लगभग

---

1. किंचिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किंचित्।
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्॥-वृत्ति।
2. ग्रंथ के पुष्पिकालेख में वृत्ति को 'कविशिक्षावृत्ति' कहा गया है। अध्याय i के श्लोक 1 तथा 2 के आधार पर बूहलर का कथन है कि अरिसिंह के मूल श्लोकों को 'कविता रहस्य' तथा अमरचंद्र की वृत्ति को 'काव्यकल्पलता' कहा गया था।
3. बूहलर के Das Sukritasamkirtan des Arisimha', Wien 1889, पृ० 5 इत्यादि और 38; तथा इंडियन एंटीक्वेरी vi. 210-12 में प्रश्न पर की गई विस्तृत चर्चा देखिए। कहा जाता है कि अमरचंद्र ने 'सुकृतसंकीर्तन' में एक सर्गांत श्लोक जोड़ दिया था। इस काव्य में 11 अध्याय हैं (सं० जैन आत्मानंद सभा, भावनगर 1917)। इंडियन एंटीक्वेरी, xxxi, पृ० 377-95 देखिए।
4. सं० एच० आर० कपाडिया, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा 1932।
5. सं० काव्यमाला 45, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 18'4 तथा 'पंडित' सं० iv-vi (1869-72) के अंतर्गत।
6. सं० चंद्रप्रभा प्रेस, बनारस 1915।
7. तुलना कीजिए, इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग 848; इसमें काव्यकल्पलतामंजरी' का उल्लेख है।
8. 'बालभारत' का अंतिम श्लोक तथा 'काव्यकल्पलता' का पुष्पिका लेख देखिए।

13 वीं शती के पूर्वार्द्ध में 'विवेकविलास' के लेखक जिनदत्त ही माने गए हैं।[1] अमरचंद्र, अरिसिंह[2] के शिष्य अथवा सहपाठी थे तथा जैन राजशेखर के ग्रंथ[3] में दिए गए विवरण के अनुसार वीरधवल तथा उनके मंत्री वस्तुपाल के समय में तथा वीसलदेव द्वारा अण्हिल्वाड़ के सिंहासनारूढ़ होने से पहले तक, अर्थात् 13वीं शती के द्वितीय चरण अथवा मध्य भाग तक जीवित थे।

'काव्यकल्पलता' में चार प्रतान हैं। विवरण इस प्रकार है—(1) छंदः-सिद्धि, (2) शब्द-सिद्धि; (3) श्लेष-सिद्धि; तथा (4) अर्थ-सिद्धि। पूरे विवरण के लिए देखिए औफ्रेक्ट, बोडलियन कैटलॉग संख्या 497 तथा इंडिया ऑफिस कैटलॉग iii, संख्या 1183/848, पृ० 340-41.

2

'कविकल्पलता' के लेखक देवेश्वर की तिथि मोटे तौर से उनके ग्रंथ में प्राप्य सामग्री से ही निश्चित की जा सकती है, क्योंकि इसका विषय-विवेचन तथा इसकी सामान्य ग्रंथ-व्यवस्था अरिसिंह तथा अमरचंद्र के ग्रंथ के अनुसार है। इसके अतिरिक्त यह सिद्ध करना भी कठिन नहीं है कि देवेश्वर ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अत्यधिक नकल की है। उन्होंने अधिकतर नियमों तथा लक्षणों का शब्दशः उद्धरण देने के अतिरिक्त उदाहरण-श्लोक तक दोहराए हैं। यथा, देवेश्वर पृ० 157-50 (वेण्याः सर्पासि) तथा पृ० 36-7 (रत्नादि यत्न)=अरिसिंह पृ० 135-37 तथा पृ० 30-1; अरिसिंह द्वारा दिया गया, 'अद्‌भूतविधि' का लक्षण पृ० 93=देवेश्वर पृ० 130. अनुकरण यत्रतत्र न होकर नियमित और व्यवस्थित रूप में है तथा संपूर्ण ग्रंथ में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने ग्रंथ की रचना करते समय देवेश्वर के सम्मुख 'काव्यकल्पलता' का मूलपाठ विद्यमान था। इस आधार पर उनकी तिथि की एक सीमा, अर्थात् 13 वीं शती का मध्यभाग, प्राप्त होती है।

---

1. देखिए पीटर्सन i. पृ० 58-59; किंतु जिनदत्त के संबंध में पीटर्सन का अनुमान ठीक नहीं है; मेरुतुंग का 'प्रबंधचिंतामणि' पृ० 258 भी देखिए; पीटर्सन iv. पृ० viii, xxxvi तथा परिशिष्ट 115, भंडारकर रिपोर्ट 1883-84, पृ० 6, 156, बूहलर का उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 25-48 जिनदत्त सूरि के 'विवेकविलास' की तिथि 1220 ई० दी गई है।
2. राजशेखर सूरि का कथन है कि अमर, अरिसिंह के शिष्य थे। तुलना कीजिए श्रीधर भंडारकर, रिपोर्ट 1904-6, पृ० 23-24. बूहलर, उपर्युक्त ग्रंथ पृ० 5-6, भंडारकर के मत-विरुद्ध। राजशेखर के 'प्रबंधकोश' के एक विवरण में अमरचंद्र का वर्णन है।
3. उनके ग्रंथ की तिथि 1348 ई० दी गई है। अमर के 'बालभारत' के काव्यमाला संस्करण की भूमिका देखिए। राजशेखर सूरि, कोटिक गण (पीटर्सन iv, पृ० cv) के तिलक सूरि के शिष्य थे।

देवेश्वर की तिथि की दूसरी सीमा शार्ङ्गधर की 'पद्धति' के अंतर्गत (545 'देवेश्वरस्य') देवेश्वर-रचित एक श्लोक ('नाग-विशेषे शेषे' पृ० 155) के उद्धरण से प्राप्त होती है। उक्त काव्यसंग्रह लगभग 1363 ई० में संकलित हुआ था। यदि देवेश्वर तथा अरिसिंह के बीच आधी शती का अंतर मान लें तथा देवेश्वर और 'पद्धति' के संकलनकर्त्ता के बीच भी इतना ही अंतर मान लें तो मोटे तौर से 14वीं शती के आरंभ में उनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है।

देवेश्वर ने अपने पिता का नाम वाग्भट बताया है। वाग्भट मालवा के किसी राजा के महामात्य (?) थे। एक समस्या-श्लोक में हम्मीरमहीमहेंद्र की प्रशंसा की गई है। प्रत्यक्ष रूप में उक्त हम्मीर चौहान-वंशीय राजा था, जिसने लगभग 1283-1301 ई० तक राज्य किया था।[1]

3

जयसिंह सिद्धराज (1094-1143 ई०) के राज्यकाल में हुए आचार्य विनयचन्द्र (लगभग 1250 ई०) तथा जयमंगल नामक दो जैन लेखकों ने कविशिक्षा-विषयक दो अन्य ग्रंथों की रचना की हैं। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' के एक बड़े अंश में ऐसे ही विषयों का प्रतिपादन है। 'छन्दोमंजरी' के प्रसिद्ध लेखक, गंगादास ने भी कवि-शिक्षा पर एक ग्रंथ लिखा है। इसमें छन्द-कथन, सामान्य-शब्द, रस, गुण, शब्दालंकार, काव्यदोष तथा समस्यापूरण इत्यादि विविध विषयों का सामान्य विवेचन है (देखिए इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, xxiv, पृ० 315-16)। जयमंगल तथा राघव-चैतन्य रचित 'कविकल्पलता' पर 'अल्पप्रसिद्ध लेखक' नामक अध्याय में चर्चा की जाएगी। कवियों को काव्य-रचना के सम्बन्ध में आवश्यक व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करना ही इन सब ग्रंथों का उद्देश्य है। प्रत्यक्ष काव्यशास्त्र से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं है।

---

1. जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी 1922, पृ० 577 इत्यादि में देवेश्वर की तिथि के संबंध में सुशीलकुमार डे का लेख देखिए। वहाँ पाद-टिप्पणी के अंतर्गत 'शब्द पर लेखक की अपनी टिप्पणी से' शब्दों को छोड़ दीजिए। देवेश्वर ने अपने एक अन्य ग्रंथ 'चंद्रकलाप' (मत्कृत चंद्रकलापेऽमल-मतिभिस्तद् बुधैरज्ञेयम्, SgS अध्याय ii, पृ० 225, तथा बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण में) नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। कलकत्ता संस्करण (1900) में (पृ० 42) 'मत्कृतकविकल्पलतापरिमलतः' पाठांतर तथा बिब्लियोथिका इंडिका संस्करण (पृ० 52) पर 'मत्कृत-कविकल्पलतायामलमतिभिः' एक अन्य पाठांतर देखा गया है।

ग्रंथ-सूची

'काव्यकल्पलता' तथा इसकी 'कविशिक्षा' नामक वृत्ति

संस्करण—(1) रामशास्त्री, बनारस 1886, (2) वामन शास्त्री, बंबई 1891, (3) सं० जगन्नाथ शास्त्री होशिंग, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1931 (यहाँ संदर्भ इसी संस्करण से दिए गए हैं)।

टीका—'मकरंद', लेखक-शुभविजय गणि। ये 'अकबर शाहि' के राज्यकाल में हुए तपा-गच्छ के हीरविजय सूरि के शिष्य थे। औफ्रेक्ट i. 101a iii. 22b, K Bod 497. यह लेखक सलीम अथवा जहाँगीर (श्रीमत् सलेम-शाहि-राज्य) के राज्यकाल में हुए हैं तथा विजयदेव सूरि के अनुरोध पर इन्होंने संवत् 1665 = 1608-9 ई० में अपनी टीका लिखी (पीटर्सन vi, पृ० 25 इत्यादि)।

कविकल्पलता

संस्करण—(1) बेचाराम सार्वभौम का टीका सहित, 'हिंदू कामेंटेटर', खंड 1-3, बनारस 1867-70 के अंतर्गत। (2) रामगोपाल कविरत्न की टीका सहित, 1900 (यहाँ संदर्भ इसी संस्करण से दिए गए हैं)। (3) शरच्चंद्र शास्त्री की अपनी टीका सहित, बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता, 1913 के अंतर्गत। (4) 'प्रत्नक्रम-नंदिनी', बनारस, संख्या 1-31 के अंतर्गत। यह ग्रंथ चार स्तवकों में विभक्त है।

टीकाएँ (1) सूर्य कवि की 'बाल-बोधिका'। सूर्य कवि का दूसरा नाम सूर्यदास अथवा सूर्य सूरि है। इनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—पार्थपुर-निवासी, राम (देवगिरि के राजा, राम के अधीन)—विष्णु—नील-कंठ—नागनाथ—नृसिंह—नागनाथ—ज्ञानराज ('सिद्धांत-सुंदर' के लेखक)—सूर्य (वेबर i, पृ० 231)। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं (उनके ग्रंथों के विषय में देखिए औफ्रेक्ट i. 731b, ii. 175b)। उन्होंने 'लीलावती-टीका' 1542 में, तथा भास्कर के 'बीजगणित' पर 'सूर्यप्रकाश' नामक टीका 1539 ई० में लिखी थी। उन्होंने 'राम-कृष्ण-विलोम-काव्य' (सं० हेबरलिन के काव्यसंग्रह, तथा काव्यमाला गुच्छक xi, पृ० 147 इत्यादि के अंतर्गत) नामक एक श्रमसाधित काव्य की भी रचना की थी। इसका श्लोक-पाठ आगे

अथवा पीछे करने से, क्रमशः राम तथा कृष्ण, दोनों की स्तुति का वाचक हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नृसिंह-चंपू' नामक ग्रंथ भी लिखा (इंडिया ऑफिस कैटलॉग vii, पृ० 1548, तथा देखिए वही, पृ० 1478)। इसमें पाँच उच्छ्वास हैं। उनका जन्म भरद्वाज-गोत्र में हुआ था। निवास-स्थान गोदावरी तथा विदर्भ के संगम के समीप पार्थपुर था। औफ्रेक्ट i. 87a, iii. 19a.

(2) वेचाराम की टीका। संभवतः यह वही टीका है, जो बनारस के संस्करण में छपी है। औफ्रेक्ट ii. 16b; जम्मू हस्तलिपि संख्या 3482 (जम्मू कैटलॉग पृ० 59) में वेचाराम सार्वभौम नाम दिया गया है। अल्पप्रसिद्ध लेखक नामक अध्याय में आगे देखिए।
अज्ञातलेखक—'टीका'; कलकत्ता संस्कृत कॉलेज (SCC) कैटलॉग vii. 8.

(4) पट्टवर्धन मुद्गल के पुत्र महादेव-रचित 'पदार्थ-द्योतनिका' नामक टीका। हरप्रसाद शास्त्री, कैटलॉग एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल हस्त-लिपि, vi. हस्तलिपि संख्या 499/10004, 4800/8999, पृ० 393-94.

—:o:—

अध्याय 10

अलंकारविषयक अल्पप्रसिद्ध लेखक

1

पिछले अध्यायों में जिन टीकाकारों तथा अप्रसिद्ध लेखकों का उल्लेख किया जा चुका है इस अध्याय में उनके अतिरिक्त अलंकार विषयक अल्पप्रसिद्ध लेखकों के वर्ण क्रमानुसार नाम, उनके ग्रंथ तथा उनसे संबंधित प्राप्त विवरण दिया जाएगा[1]।

1. अकबर शाह अथवा बड़े साहब

'श्रृंगार मंजरी'

(सं० वी० राघवन् हैदराबाद पुरातत्त्व विभाग, 1951)।

लेखक को शाह राजा का पुत्र तथा गोलकुंडा के सुल्तान अबुल हसन कुत्ब शाह (1672-87 ई०) का गुरु कहा गया है। यह सुल्तान 1687 में औरंगजेब के हाथों बंदी बनाया गया तथा 1704 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अकबर का जन्म लगभग 1646 में तथा मृत्यु सन् 1672 और 1675 ई० के मध्य हुई। उक्त संस्कृत-ग्रंथ इसके स्वरचित मूल तेलुगु ग्रंथ का अनुवाद कहा जाता है। संभवतः अकबर की आज्ञा से किस तेलुगु विद्वान् ने तेलुगु में मूल श्रृंगारमंजरी' की रचना की थी तथा किसी संस्कृत विद्वान् ने उसका अनुवाद किया था (वी० राघवन् भूमिका पृ० 7)। यह ग्रंथ भानुदत्त की 'रसमंजरी' पर आधारित है। इसमें नायक-नायिका के विषय के साथ-साथ मुख्यतः श्रृंगार रस का विवेचन है। इसमें सब मिलाकर 312 श्लोक हैं।

2. अच्युत शर्मा अथवा अच्युतराय मोडक

'साहित्यसार' तथा उसकी टीका 'सरसामोद'

(सं० लिथो हस्तलिपि आकार, बंबई 1860 ; सं० डब्लू० एल० पंशीकर, निर्णयसागर प्रेस बंबई 1906)।

---

1. कुछ ग्रंथसूचियों में संदेहास्पद नाम दिए गए हैं। कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिनके संबंध में कोई विश्वस्त सूचना उपलब्ध नहीं है। इस सूची में ऐसे नामों को छोड़ दिया गया है। यह ध्यान रखा गया है कि बेकार के नाम न दिए जाएँ।

उक्त ग्रंथ की तिथि शक 1753 अर्थात् सन् 1831 ई० दी गई है। लेखक ने स्वयं को षष्टि नारायण का शिष्य बताया है। इनके पिता का नाम नारायण, माता का नाम अन्नपूर्णा तथा निवास नासिक के निकट था। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक जगन्नाथ के भामिनी विलास पर 'प्रणयप्रकाश' नामक टीका के रचयिता अच्युतराय ही हैं, क्योंकि इसमें उन्होंने 'साहित्यसार' को स्वरचित ग्रंथ कहा है (सं० निर्णयसागर प्रेस, 1894 पृ० 1) तथा उसमें 'साहित्यसार' के प्रथम अध्याय के श्लोक 14-15 का उद्धरण दिया है। 'साहित्यसार' में उन्होंने भामिनी विलास' का भी पृ० 7 पर उल्लेख किया है।

'साहित्यसार' में बारह रत्न अथवा अध्याय हैं। लेखक ने अलंकार-शास्त्र रूपी समुद्र के मंथन के फलस्वरूप इन रत्नों को प्राप्त किया है। अध्यायों के तदनुरूप नाम इस प्रकार हैं (1) धन्वंतरि रत्न (काव्य के सामान्य लक्षण), (2) ऐरावत-रत्न (शब्द तथा अर्थ की शक्तियाँ), (3) इंदिरा-रत्न (व्यंग्य तथा उसके प्रयोग), (4) दक्षिणावर्त कंबु रत्न (रस-ध्वनि सहित ध्वनि के अन्य भेद), (5) अश्ववर रत्न (ध्वनि के अन्य लघु भेद), (6) विष-रत्न (दोष), (7) गुण-रत्न (गुण), (8) कौस्तुभ-रत्न (अर्थालंकार), (9) कामधेनु-रत्न (शब्दालंकार), (10) रंभा-रत्न (नायिका), (11) चंद्र-रत्न (नायक), तथा (12) अमृत-रत्न (उपसंहार)। ग्रंथ के लेखक अर्वाचीन विद्वान् हैं तथा उन्होंने कुछ नवीन विचारों का प्रतिपादन किया है, किंतु वे विचार परंपरा अथवा सिद्धांत की दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं हैं। यह लेखक 'भागीरथी-चंपू' (1814 ई० में लिखित) के रचयिता अच्युत से अभिन्न हैं। औफ्रेक्ट (i. 770b.) ने इन्हें नारायण का पुत्र बताया है। यह ग्रंथ सात मनोरथों अथवा अध्यायों में विभक्त है। लेखक और उसके अन्य ग्रंथों के लिए न्यू-कैट० कैट० i, पृ० 59-60 देखिए। कुछ ग्रंथों की तिथियाँ दी गई हैं।

3. अजितसेनाचार्य अथवा अजितसेन देव

यतीश्वर

(क) अलंकार चिंतामणि

('काव्यांबुधि' 1893-94 के अंतर्गत पद्मराज पंडित द्वारा संपादित, देखिए 'इंडिया ऑफिस प्रिंटेड बुक्स', 1938, पृ० 72.

(ख) श्रृंगार मंजरी

(SgS. ii, पृ० 83, 231 उद्धरण; मद्रास कैटलॉग xxii, 12956-57) यह लेखक गंग राजा राचमल्ल के मंत्री चामुंडराय के दिगंबर जैन पुरोहित थे तथा 10 वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। ये नागवर्मा नामक एक कन्नड़ कवि के गुरु थे। नागवर्मा, राचमल्ल के कनिष्ठ भ्राता रक्कस गंग के कृपापात्र थे: अजितसेन ने वंगवापुर स्थित शांतीश्वर के मंदिर में अपने ग्रंथों की रचना की। इनके ग्रन्थ 'अलंकार चिंतामणि' में पाँच अध्याय हैं। अजितसेन ने 'चिंतामणि-प्रकाशिका' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो यक्षवर्मा कृत चिंतामणि का भाष्य है। यक्षवर्मा का 'चिंतामणि' ग्रंथ शाकटायन के 'शब्दानुशासन' पर टीका है। देखिए राइस, पृ० 308। छन्द:शास्त्र विषयक कालिदास की संदिग्ध कृति श्रुतबोध के लेखक अजितसेन, संभवत: एक भिन्न व्यक्ति हैं।

सेनगण कुलोद्भव एक अन्य अजितसेन भी हैं। उन्होंने विट्ठल देवी के पुत्र राय अथवा कामिराय नामक चंद्रवंशीय[1] आलूप जैन राजा की आज्ञा से राजा की शिक्षा के निमित्त 'श्रृंगारमंजरी' की रचना की। इस ग्रन्थ में तीन अध्याय तथा 128 श्लोक हैं। विषय विवेचन इस प्रकार है। (1) पद-दोष (अर्थात् अलक्षण, श्रुतिकटु, व्याघातार्थ, अनर्थक, अप्रसिद्ध, नेयार्थ, ग्राम्य तथा असम्मत; अन्त में वृत्तियों की चर्चा की गई है; (2) वामन-प्रतिपादित दस गुण तथा (3) अर्थालंकार अर्थात् उपमा, रूपक, जाति, भ्रांतिमत्, हेतु, संशय, प्रतिवस्तूपमा आक्षेप, दृष्टांत तुल्ययोगिता)। अजितसेन नाम के उक्त दोनों लेखकों के सम्बन्ध में न्यू कैट० कैट० i. पृ० 69 देखिए। वहाँ इस नाम के सभी ज्ञात लेखकों की चर्चा की गई है।

कुछ हस्तलिपि-सूचियों में 'अलंकार चिंतामणि' के रचयिता के रूप में शांत-राज का उल्लेख किया गया है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि शांतराज ने केवल हस्तलिपि तैयार की थी, वह ग्रंथ का लेखक नहीं था।

---

1. आलूप राजाओं में मातृतंत्र प्रचलित था। बंगवाडि, आलूपों की एक शाखा की राजधानी थी।

4. अणुरत्नमंडन अथवा रत्नमंडन गणि

(क) जल्प कल्पलता

(वेवर 1722, ii, पृ० 278-80 पर विस्तृत उद्धरण दिया गया है।) यह जैन लेखक तपा-गच्छ के रत्नशेखर सूरि के, जिनकी मृत्यु संवत् 1517 अर्थात् सन् 1460-61 ई०[2] में हुई थी, शिष्य थे। अणुरत्न, इस प्रकार, मोटे तौर से 15वीं शती के मध्य में हुए हैं। इनके ग्रंथ में तीन स्तवक हैं, जिनमें कविशिक्षाविषयक सामग्री है।

(ख) मुग्ध मेधाकर अलंकारवृत्ति

(पीटर्सन vi, पृ० xv; उद्धरण पृ० 31 पर तथा भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट कैटलॉग xii, पृ० 222-23)

इस ग्रंथ में काव्यालंकारों तथा तत्सम्बन्धी विषयों का विवेचन है।

5. अनंत

साहित्यकल्पवल्ली (मद्रास Trm कैट. संख्या 5483)

लेखक का जन्म शठमर्षण गोत्र के अन्तर्गत तिरुमल कुल में हुआ। ये तोचमांबा के पुत्र और उड़ीसा के राजा गजपति पुरुषोत्तमदेव के कृपापात्र थे। ग्रंथ का पूरा नाम 'गजपति पुरुषोत्तमदेव साहित्यकल्पवल्ली' है।

6. अनंत अथवा अनंताचार्य

(अनंताल्वन्)

कवि समय कल्लोल

(मद्रास कैटलॉग, xxii, 12808 उद्धरण)

ये शेषाचार्य कुलोत्पन्न अर्वाचीन दक्षिण भारतीय लेखक हैं। इनके पिता का नाम

---

1. रत्नशेखर के संबंध में भंडारकर रिपोर्ट 1883-84 पृ० 156-7; पीटर्सन iv : पृ० Cii इत्यादि, इंडियन एंटीक्वेरी xi, पृ० 256 देखिए।
2. रत्नशेखर सूरि ने अपने 'क्रियारत्नसमुच्चय' नामक ग्रंथ की रचना संवत् 1466 =1410 ई० में की। (सं० जैन यशोविजय ग्रंथमाला सीरीज)।

शिगराचार्य था। ये लोग मैसूर में यादवगिरि अथवा मेलकोट निवासी थे। उक्त ग्रंथ से धर्मसूरि, नरसिंह के 'नांजराज यशोभूषण' तथा 'प्रतापरुद्रीय' के उद्धरण हैं। लेखक कृष्णराज वोदेयर तृतीय के सभारत्न थे। उनकी तिथि 1822-62 ई० है। उन्होंने अपने 'कृष्णराज यशोडिंडिम' का उल्लेख किया है। ये विशिष्टाद्वैतवादी थे तथा इन्होंने अनेक वादों पर ग्रंथ लिखे हैं, जो वेदांत वादावली, बंगलूर 1898 इत्यादि के अंतर्गत प्रकाशित हुए हैं (देखिए न्यू कैट० i. पृ० 143)

7. अमृतानंद योगी

'अलंकार संग्रह'

(सं० कलकत्ता 1887, अंग्रेजी अनुवाद सहित; सं० अड्यार लाइब्रेरी सीरीज तथा श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपति। हस्तलिपि मद्रास कैटलॉग xxii, 12794, उद्धरण)

इस ग्रंथ में पाँच अध्याय हैं। विषयविवेचन इस प्रकार है (1) वर्णगण (2) शब्दार्थ, (3) रसभाव, (4) नायक भेद, तथा (5) अलंकार। लेखक का कथन है, उसने यह ग्रंथ भक्ति भूमिपति के पुत्र, शैवमतावलंबी मन्वसमुद्र के अनुरोध से लिखा है। आरंभिक श्लोक से प्रतीत होता है कि लेखक गुण, दोष, तथा दशरूपक विवेचन का भी इच्छुक था। यह लेखक तांत्रिक अमृतानंदनाथ (पुण्यानंद का शिष्य) से भिन्न है। अमृतानंदनाथ के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने कृष्णानंद-रचित 'तंत्रसार' का संशोधन किया था (वेबर, पृ० 361) किंतु 'योगिनी-हृदय-दीपिका' (सं० सरस्वतीभवन टेक्स्ट, संख्या 7) नामक ग्रंथ की भूमिका में कहा गया है कि अमृतानंद द्वारा उक्त संशोधन संभव नहीं, क्योंकि कृष्णानंद उनके बहुत समय पश्चात् हुए हैं।

8. अरुणगिरि कवि

'गोदवर्म यशोभूषण'

(जर्नल ऑफ़ ट्रावंकोर विश्वविद्यालय एम० एस० लाइब्रेरी खंड 1 के अंतर्गत)

यह ग्रंथ केवल अर्थालंकार विषयक है। लेखक, कौंडिन्यगोत्र के अंतर्गत शेषाद्रि के पुत्र तथा वेंकटाद्रि के शिष्य थे। वे वेदक्कुंकुर के राजा गोदवर्म के कृपापात्र थे। समय 1550-1650 ई०।

9. अल्लराज अथवा मल्लराज

(सं० आर० एन० दांडेकर, भारतीय विद्या सीरीज 8, बंबई 1945; ग्रंथ का नाम रसरत्नप्रदीपिका दिया गया है ।)

भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' (अल्लराज v. 57) में तथा मम्मट पर अपनी टीका में (पीटर्सन ii. पृ० 17) रत्नकंठ ने 'रसरत्नदीपिका' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख किया है । ऊपर देखिए पृ० 225 पा० टि० 5 भंडारकर रिपोर्ट 1884-87 संख्या 533 में अल्लराज को इस 'रसरत्नप्रदीप' का रचयिता बताया गया है। लेखक, रणथंबोर के चौहान राणा हम्मीर के पुत्र थे। हम्मीर ने कोंकण प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी। उसका राज्यकाल 1283-1301 ई० तक रहा है[1]। उक्त ग्रंथ में छह परिच्छेद अथवा अध्याय हैं, जिनमें केवल रस तथा भाव-संबंधी विषयों का गद्यपद्यमय विवेचन किया गया है। इसमें भरत नाट्यशास्त्र तथा 'दशरूपक' के शब्दश: एवं विस्तृत उद्धरण हैं। विषय अथवा विवेचन की दृष्टि से इस ग्रंथ में कुछ भी मौलिकता नहीं है।

10. आशाधर

(कोविदानंद' औफ्रेक्ट ii. 25a)

'त्रिवेणिका' (सं० बटुकनाथ शर्मा तथा जे० एस० होशिंग, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स बनारस 1925)

यह पहले ही बताया जा चुका है कि आशाधर ने 'कुवलयानंद' पर 'अलंकारदीपिका' नामक टीका लिखी (पृ० 211) थी। इनके पिता का नाम रामजीत तथा गुरु का नाम धरणीधर था। ये लेखक, एक प्राचीनतर जैन लेखक आशाधर, जिनके पिता का नाम सल्लक्षण था और जिन्होंने रुद्रट पर एक टीका लिखी थी (देखिए पृ० 87) से भिन्न हैं। स्वयं लेखक के कथनानुसार 'कोविदानंद' तथा उसकी टीका 'कादंबिनी' का एकमात्र विषय शब्दव्यापार-निर्णय है। उनकी (शब्द) 'त्रिवेणिका' में तीन वेणियाँ हैं, जिनमें तीन वृत्तियों अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना, का ही विवेचन है। इसमें अनेक बार 'कोविदानंद' का उल्लेख किया गया है। क्योंकि आशाधर ने अप्पय्य के ग्रंथ पर टीका की है तथा भट्टोजी की 'सिद्धांत

---

1. मूल ग्रंथ के संपादक ने अल्लराज की तिथि से संबंधित प्रश्न पर चर्चा की है। नयचंद्र सूरि ने इसी हम्मीर के सम्मानार्थ 1486 में 'हम्मीर महाकाव्य' की रचना की थी (सं० एन० जे० कीर्तने, बंबई, 1876).

कौमुदी' को उद्धृत किया है, इसलिये वे निश्चय ही 17वीं शती के पूर्वार्द्ध के पश्चात् हुए होंगे। उनकी 'अलंकारदीपिका' की एक हस्तलिपि की तिथि शक 1775 (=1850 ई०) दी गई है तथा उनके 'कोविदानन्द' की एक हस्तलिपि शक 1783 (=1861 ई०) में तैयार की गई प्रतीत होती है।[1] सम्भवतः आशाधर 18वीं शती के मध्य तथा उत्तरार्द्ध में ही प्रसिद्ध हुए हैं।

11. इंद्रजित

'रसिकप्रिया' (इसमें 16 प्रवाह हैं, पीटर्सन vi, संख्या 379)

भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि कैट. xii, पृ० 293 में इस ग्रंथ की एक हस्तलिपि की तिथि संवत् 1729 (=1672-73 ई०) दी गई है। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की तो दो हस्तलिपियों के पुष्पिका लेख में लेखक को महाराजकुमार कहा गया है। यह ग्रंथ संस्कृत का न होकर एक प्राचीन हिन्दी ग्रंथ है। इस लेखक ने "वैराग्यशतक' पर 'बालबोध' नामक नाटक भी लिखा है (औफ्रेक्ट iii. 13b)। बूहलर ने इंद्रजिल (पाठ ऐसा ही है) रचित 'रामचन्द्रिका' नामक एक अलंकार विषयक ग्रंथ का उल्लेख किया है (ZDMG, xliii, 543) उसकी तिथि 1712 ई० दी गई है।

12. कच्छपेश्वर दीक्षित

'रामचंद्रयशोभूषण'

(मद्रास कैट. xxii, 12950, उद्धरण)

लेखक के पिता का नाम वासुदेव तथा पितामह का नाम कालहस्तीश्वर था। वे उत्तर आर्काट जिले के अन्तर्गत ब्रह्मदेश नामक ग्राम के निवासी थे। उन्होंने 'भागवत' पर भी एक टीका लिखी है। इनके पितामह के नारायण तथा कृष्ण नामक दो अन्य पुत्र थे। इनके पिता मझले पुत्र थे। उक्त ग्रंथ में तीन अध्याय हैं, जिनमें रसों का विवेचन किया गया है, अर्थात् (1) शृंगार, (2) अन्य आठ रस, (3) भावनिरूपण। उदाहरण केम्मराज (संभवतः उत्तर अर्काट जिले में कारवेतनगर का जमींदार) की वीरता के परिचायक है।

---

1. आर० जी० भंडारकर, लिस्ट ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, पार्ट i, बम्बई 1893 पृ० 68.

13. कंदालयार्य

'अलंकार शिरोभूषण'

(हुलट्श i, संख्या 3/1 पर उद्धरण पृ० 75; मद्रास Trm. A 168)

लेखक का जन्म कौशिक गोत्र के रायलूरि परिवार में हुआ था। पिता का नाम रामानुजाचार्य तथा पितामह का केशवाचार्य था। लेखक का कथन है कि वे उस वेंकट भूपति की राजसभा में थे, जो सोमभूपति (तथा गिर्यंबा) के पुत्र थे और जिनका जन्म मिटिल्ल गोत्र के मुष्टिपल्ली (दूसरा नाम पाकनाडु) परिवार में नल्लरेड्डि के पुत्ररूप में हुआ था। उनका निवासस्थान तुंगभद्रा तथा कृष्ण नदियों के बीच नडिगड्डु प्रदेश था। किन्तु देखिए न्यू कैट i. पृ० 297a. ऐसा प्रतीत होता है कि वह विजयनगर के तृतीय[1] राजवंश के वेंकट प्रथम अथवा द्वितीय के सभासद थे और इस प्रकार अप्पय्य दीक्षित के समकालीन थे। उक्त ग्रन्थ में दस उल्लास हैं। विषय-सूची इस प्रकार है—(1) उपोद्घात, (2) काव्यलक्षण, (3) ध्वनि-प्रकरण, (4) रस प्रकरण, (5) दोष प्रकरण (7) गुण प्रकरण, (7-9) काव्यविशेष-प्रकरण (10) नायक प्रकरण।

14. कल्याण सुब्रह्मण्य सूरि

'अलंकारकौस्तुभ' टीका सहित

(SgS ii, पृ० 80, 220 उद्धरण, मद्रास कैट. xxii, 12790)

पेरूरु अथवा पेरुर परिवार में उत्पन्न इस लेखक के पिता का नाम सुब्रह्मण्य तथा पितामह का नाम गोपाल था। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनंतशयन (ट्रावंकोर) मंदिर के देवता पद्मनाभ तथा ट्रावंकोर के राजा वंजिपाल (बाल) रामवर्म कुलशेखर (1758-98) की स्तुति की गई है। ग्रन्थ में अर्थालंकारों का ही विवेचन है। इसमें 'चन्द्रालोक' में दिए गए अलंकारों के लक्षण तथा संरक्षक एवं इष्ट देवता की स्तुति में लेखक द्वारा स्वयंरचित उदाहरण हैं।[2]

---

1. हुलट्श वही, पृ० viii, किन्तु देखिए न्यू कैट. कैट. i, पृ० 297a.
2. इस लेखक के संबंध में के० कुंजुन्नि राजा का 'कंट्रीब्यूशन ऑफ़ केरल टु संस्कृत लिटरेचर' (मद्रास 1958), पृ० 175 देखिए। सदाशिव दीक्षित के 'बालराम वर्मा यशोभूषण' के उदाहरण-श्लोकों में बालराम वर्मन की स्तुति की गई है। इस ग्रंथ में यशोभूषण ग्रन्थों की तरह, 'वसुलक्ष्मीकल्याण' नामक पाँच अंक पर्यंत एक नाटक भी सम्मिलित है। उक्त राजा उसका नायक है। देखिए कैट. त्रिवेंद्रम पैलेस लाइब्रेरी, vi, 2354.

15. काशी अथवा काशीकर लक्ष्मण कवि
'अलंकार' ग्रंथ' (बर्नेल 54a)

संभवत: यह ग्रन्थ 17वीं शती के अन्त अथवा 18वीं शती के आरंभ में लिखा गया था, क्योंकि सभी उदाहरणों से तंजोर के राजा शाहजी (1684-1711 ई०) की प्रशंसा परिलक्षित होती है। ग्रन्थ का दूसरा नाम 'शाहराजीय' है। देखिए तंजोर डेस्क्रिप्टिव कैट. ix, संख्या 5304-05 वी० राघवन द्वारा सम्पादित 'महेंद्रविलास', तंजोर सरस्वती महल सीरीज (पृ० 23) भी देखिए।

16. काशीश्वर मिश्र
'रस मीमांसा'

विश्वेश्वर कविचंद्र (अन्यत्र देखिए) ने अपनी 'चमत्कारचंद्रिका' अध्याय 5 में इस ग्रंथ का इस प्रकार उल्लेख तथा उद्धरण किया है—'तथा चोक्तिं' समदाचार्यैः काशीश्वरमिश्रैः रसमीमांसायाम्'। विश्वेश्वर का गुरु होने के कारण उनकी तिथि 1300 ई० होनी चाहिए। एनाल्ज़ ऑफ़ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xvi (1934-35) पृ० 130-40 में वी० राघवन का लेख देखिए।

17. कुमारगिरि
'वसंतराजीय नाट्यशास्त्र'

काटयवेम ने इस लेखक को अपना संरक्षक कहा है।[1] कुमारस्वामी ने पृ० 178 पर 'वसंतराजीय' के नाम से ग्रंथ का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ ने 'शिशुपालवध' ii. 8 टीका में तथा 'अमरकोश' की टीका में सर्वानंद ने भी इसका उल्लेख किया है।[2] उक्त उल्लेखों से स्पष्ट रूप से यह सूचित होता है कि नाट्य-शास्त्र विषयक इस पद्यमय ग्रंथ की तिथि 14 वीं शती के पश्चात् नहीं हो सकती। उक्त 'नाट्यशास्त्र' संभवतः आंध्र प्रदेश में लिखा गया था। 'शकुन्तला' के दक्षिण पाठ पर काटयवेम द्वारा लिखी गई एक टीका के अन्तर्गत भी इसका उल्लेख मिलता है। काटयवेम को राजा वसंतराज कुमारगिरि का मंत्री बताया गया है। इस टीका से वसंतराज के 'नाट्यशास्त्र' (इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग vii, पृ० 157-79)

---

1. बर्नेल 173a.
2. SgS. ii, पृ० 30.

में प्रतिपादित विषय के अनुकरण का प्रयत्न किया गया है। ग्रंथ की एक हस्तलिपि में लेखक की वंशावली दी गई है।[1] उसके अनुसार वसंतराज कुमारगिरि के पिता का नाम अनपोत तथा पितामह का नाम वेम रेड्डि था। काटयवेम के पिता का नाम काटयभूपति तथा माता का नाम वोड्डांबा था। वोड्डांबा, वेम रेड्डि की पुत्री थी। रेड्डि राजा कुमारगिरि, 14वीं शती के उत्तरार्द्ध में तेलुगु प्रदेश का शासक रहा है।[2] उसके ग्रंथ के लोप हो जाने के कारण ग्रंथ के विषय तथा आकार के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु परवर्ती उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इसमें मुख्यरूप से नाट्यशास्त्र तथा आनुषंगिक रूप से रस का विवेचन किया गया है।

18. कुंभ अथवा कुंभकर्ण, श्रीराजाधिराज

'रस-रत्न-कोश' (औफ्रेक्ट i. 495b)

रेनो ने पृ० 379 पर पैरिस Biblioth Nationale (संख्या 243) के अंतर्गत देवनागरी लिपि में इस ग्रन्थ की एक हस्तलिपि का विवरण दिया है। इसमें ग्यारह अध्याय हैं, जिनमें रस तथा तत्सम्बन्धी विषयों का निरूपण किया गया है।[3] (1) 1-4 रस, (2) 5-6 नायक-नायिका, (3) 7 अभिनय, (4) 8-9 अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव, (5) 10-11 रस तथा भाव। विवेचन तथा विषय-व्यवस्था 'साहित्य दर्पण' के तीसरे अध्याय तथा भानुदत्त के रस विषयक दो ग्रथों के अनुसार है। लेखक संभवतः मेवाड़ के राजा कुंभ (1428-1459 ई०) थे। संगीत विषयक कुछ ग्रन्थों के अतिरिक्त कुंभ ने जयदेव के 'गीतगोविंद' पर 'रसिकप्रिया' (सं० निर्णयसागर प्रेस, 1917) नामक टीका भी लिखी है। ये 15वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं।

---

1. मद्रास Trm. IA 295 (6) के अतंर्गत, किंतु बर्नल तथा इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग की हस्तलिपियों में सम्बन्धित श्लोकों का अभाव है।

2. इस रेड्डि राजा के राज्यकाल (14वीं शती का उत्तरार्द्ध) तथा वंशावली के संबंध में 'पार्वती परिणय' के वाणीविलास प्रेस सं० (1906) की भूमिका, तथा 'पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम', पूना 1934, पृ० 401 इत्यादि में एन० वेंकटराव का 'बसंत-राजीय' लेख देखिए।

3. 'रसिकप्रिया' के अन्तर्गत उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ लेखक के बृहद् ग्रन्थ 'संगीत-राज' का एक अंश था; एनाल्ज ऑफ़ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xiv. 1933, पृ० 258-62 में वी० राघवन का लेख देखिए। कुंभ ने शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' पर भी टीका लिखी थी।

19. कुरविराम

'दशरूपक पद्धति'

इस लेखक से संबंधित सूचना के लिए पृ० 117, 219 देखिए।

20. कृष्ण

'साहित्य तरंगिणी' (ओफ्रेक्ट ii. 171a)

21. कृष्ण दीक्षित, अथवा कृष्ण यज्वन

'रघुनाथ भूपालीय'

(औफ्रेक्ट i. 446a मद्रास Tram, C 656d; अड्यार ii, 336)

जैसाकि ग्रंथ के शीर्षक से सूचित होता है, यह ग्रंथ लेखक के संरक्षक रघुनाथ के सम्मानार्थ लिखा गया था। इसमें विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रंथ का अनुकरण किया गया है। लेखक ने अपने ग्रंथ के आरंभ में ही विद्यानाथ का विद्यापति नाम से उल्लेख किया है। रघुनाथ के पिता का नाम अच्युत था। वह तंजोर का प्रसिद्ध नायकवंशी राजा (17वीं शती ई०) था। साहित्य से उसका विशेष अनुराग था। रघुनाथ की प्रेमिका, रुद्रांबा ने बारह अध्याय पर्यंत स्वरचित 'रघुनाथाभ्युदय'[1] में अपने प्रिय राजा का यशोगान किया है। कृष्ण दीक्षित के ग्रंथ में आठ विलास अथवा अध्याय हैं। विषयसूची इस प्रकार है— (1) नायक-गुण, (2) काव्य-स्वरूप, (3) संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य, (4) असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य, (5) गुणीभूत व्यंग्य, (6) शब्दालंकार, (7) अर्थालंकार, तथा (8) गुण। कृष्ण यज्वन ने एक 'अलंकारकौमुदी' भी लिखी है। राइस 288 के अंतर्गत सुधींद्र पूज्यपाद के शिष्य सुमतींद्र यति की 'साहित्य साम्राज्य' नामक टीका का उल्लेख है। 'शाहराजीय' इसी प्रकार का एक अन्य ग्रंथ है, जिसमें तंजोर के शाहजी (1648-1710) की प्रशंसा की गई है। इसके लेखक हैं लक्ष्मण कवि, देखिए पृ० 255, संख्या 15।

---

1. सं० टी० आर० चिंतामणि, मद्रास विश्वविद्यालय, 1934।

22. कृष्ण भट्ट अथवा जयकृष्ण मौनी

'वृत्ति दीपिका' (औफ्रेक्ट i. 598 a)

लेखक एक वैयाकरण थे। ग्रंथ में संभवतः शब्द की वृत्तियों से संबंधित व्याकरण तथा अलंकारविषयक चर्चा है। इनके अन्य ग्रंथों के संबंध में औफ्रेक्ट i. 198a देखिए इन्हें रघुनाथ भट्ट का पुत्र तथा गोवर्धन भट्ट का पौत्र कहा गया है।

23. कृष्ण शर्मा अथवा कृष्णावधूत

(क) मंदार-मरंद-चंपू'

(सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1895 'माधुर्यरंजनी' टीका सहित।

(ख) 'काव्यलक्षण'

(ग) 'सारस्वतालंकार' सूत्र तथा भाष्य

प्रथम चंपू ग्रंथ में वास्तव में छंदःशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा कवि-शिक्षा विषयक विवेचन है। ग्रंथ में ग्यारह बिंदु अथवा अध्याय हैं। विषय-सूची इस प्रकार है—(1) छंद, (2) नायक-वर्णन, (3) श्लेष, (4) यमक तथा चित्र, (5) विभिन्न बंध, (6) प्रहेलिका, (7) नाट्यशास्त्र, (8) नायक-लक्षण (9) भाव तथा रस, (10) अलंकार, ध्वनि-निरूपण इत्यादि तथा (11) दोष, जिसमें शब्दार्थ, वृत्तित्रय इत्यादि, पाक, काव्यभेद, तथा वर्णनात्मक काव्य पर उपयोगी सामग्री भी है। इस ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय में बड़ी अव्यवस्था है। किसी भी निश्चित सिद्धांत का निरूपण नहीं किया गया है। विभिन्न सूत्रग्रंथों से सभी प्रकार की सामग्री का संकलन कर लिया गया है, ताकि कवियों का पूर्ण रूप से मार्गदर्शन हो सके। लेखक को गुहपुरनिवासी तथा वासुदेव योगीश्वर का शिष्य बताया गया है। इन्होंने अपनी तिथि का कोई संकेत नहीं दिया है, किंतु इनकी रचना पर्याप्त अर्वाचीन है। इन्होंने अप्पय्य के 'कुवलयानंद' में से अनेक लक्षणों तथा उदाहरणों का उद्धरण दिया है तथा विद्यानाथ के ग्रंथ में से संपूर्ण पाक-विषयक-अध्याय को जैसे का तैसा ले लिया है। इस विशद संग्रह में कुछ ऐसे

अलंकार भी हैं, जिन्हें सबसे पहले अप्पय्य ने उदाहरण देकर प्रस्तुत किया था। लेखक तथा उनके ग्रंथ के संबंध में कर्णाटक यूनिवर्सिटी जर्नल (ह्यूमेनिटीज) 1957 पृ० 127 इत्यादि देखिए। लेखक की तिथि 1835-1909 ई० दी गई है। इन्होंने मम्मट पर 'रसप्रकाश' नामक टीका भी लिखी है।

24. कृष्ण सुधी

'काव्यकलानिधि'

लेखक के पिता का नाम शिवराम तथा पितामह का नाम उपदेष्टृ पंडित नारायण था। इनका निवासस्थान चेय्यार नदी के तट पर कांची के समीप टोंडइमंडम् के अंतर्गत उत्तरमेरूर था। इन्होंने 1845 ई० में कोलट्टनाड के राजा रविवर्मा के संरक्षण में 'काव्यकलानिधि' की रचना की थी। ग्रंथ में दस अध्याय हैं तथा उदाहरणों में लेखक ने अपने संरक्षक की प्रशंसा की है।

25. कृष्ण सूरि

'अलंकार मीमांसा' (मद्रास कैट० xxii, संख्या 2700)

लेखक के पिता का नाम गोपालाचार्य तथा पितामह का नाम कृष्णाचार्य था। इनका जन्म शांतलूरि. परिवार में हुआ था। कृष्ण सूरि नामक एक लेखक ने नृसिंह के पुत्र रामसुधी को 'अलंकारमुक्तावली' पर 'रत्नशोभाकर' नामक टीका लिखी है (सं० तेलुगु लिपि में, विजगापटम 1897-98)।

26. केशवभट्ट

'रसिक संजीवनी'

(ऑफ्रेक्ट i, 127b, 497b ब्रिटिश म्यूजियम संख्या 424 उद्धरण)

तीन विलास अथवा अध्याय पर्यंत इस ग्रंथ में रस-विषयक विवेचन है। लेखक के पिता का नाम हरिवंश भट्ट था। उन्हें सुधारक वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलेश्वर का वैष्णव शिष्य कहा गया है। इस प्रकार केशव भट्ट संभवतः

---

1. देखिए, के० कुंजुन्नि राजा, 'कंट्रीब्यूशन ऑफ़ केरल टु संस्कृत लिटरेचर' पृ० 62, 244.

16वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। यह केशव, श्रीमंगल के पुत्र तथा निंबार्क संप्रदाय के नेता, केशव भट्ट काश्मीरी से भिन्न हैं।[1] प्रथम विलास (केवल 11 श्लोक) में मुख्यतः ग्रंथ की भूमिका ही बाँधी गई है, द्वितीय विलास में नायिकाओं तथा तृतीय विलास में मान, प्रणय, रंग तथा शृंगार इत्यादि का निरूपण है।

27. कोल्लूरि राजशेखर

'अलंकार मकरंद' (मद्रास Trm. 2285)

लेखक का जन्म आंध्र-प्रदेश के अंतर्गत पेरूरु के द्रविड़ परिवार में हुआ था। ग्रंथ में 'चमत्कार-चंद्रिका' (विश्वेश्वर कविचंद्र के प्रकरण में आगे देखिए) का उद्धरण है तथा विश्वेश्वर तथा कामाक्षी के पुत्र, अणिपिडिवंशोत्पन्न, राजेश्वर नामक एक सरदार की प्रशंसा की गई है। इस सरदार को मुक्तेश्वर (गोदावरी के समीप) का अम्मणण महीमहेंद्र कहा गया है। कहा जाता है कि यह राजशेखर, पेशवा माधव राव (1760-72 ई०) का भी कृपापात्र था।

28. गंगाधर मिश्र

'चतुरचिंतामणि'

(हरप्रसाद शास्त्री, कै० एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, पांडुलिपि vi. 4934/3162, पृ० 485-86)

इस ग्रंथ में अट्ठारह प्रकाश, अथवा अध्याय हैं। नौ रसों, किंतु मुख्यरूप से शृंगाररस, का निरूपण है। लेखक के पिता का नाम मिश्र संदोह बताया गया है।

29. गंगानंद मैथिल

'कर्णभूषण'

(सं० भवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1902)

---

1. देखिए, सुशील कुमार डे का 'वैष्णव फेथ ऐंड मूवमेंट,' 1942, पृ० 55 पाद-टिप्पणी।

'काव्य डाकिनी'

(सं० पी० जगन्नाथ होशिंग, सरस्वती भवन टैक्ट्स, बनारस 1924) 'कर्णभूषण' एक रस-विषयक ग्रंथ है। इसमें पाँच अध्याय हैं। विषय-सूची इस प्रकार है--(1) विभाव, (2) अनुभाव, (3) व्यभिचार भाव, (4) स्थायिभाव, तथा (5) रस। लेखक के अपने ही कथन के अनुसार यह ग्रंथ बीकानेर के राजा श्रीकर्ण (बीकानेरिपुरी) की आज्ञा से लिखा गया था। श्रीकर्ण वास्तव में लूणकर्णजी ही हैं, जो 1505 से 1526 ई० तक बीकानेर के राजा रहे थे। 'काव्यडाकिनी' में पाँच अध्याय (दृष्टियाँ) हैं, जिनमें काव्य-दोषों का निरूपण किया गया है।

30. गंगाराम जडि अथवा जड़ि

'रसमीमांसा'

(सं० स्वलिखित 'छाया' टीका-सहित, काशी संस्कृत प्रेस, बनारस 1885) यह 114 श्लोक पर्यंत एक लघु ग्रंथ है, जिसमें काव्य के भावों पर चर्चा की गई है। लेखक तथा भानुदत्त के ग्रंथ पर उनकी टीका के विवरण के लिए ऊपर देखिए पृ० 233-34. ये 18वीं शती के द्वितीयचरण में हुए हैं।

31. गदाधरभट्ट

'रसिक-जीवन' (औफ्रेक्ट i. 497b, ii. 116 b)

इस ग्रंथ में रसों का विवेचन है। अलंकार-विषयक ग्रंथ न होकर यह वास्तव में एक काव्यसंग्रह है। इसके दस प्रबंधों में 122 लेखकों की रचनाओं से उद्धृत किए गए 1562 श्लोक हैं। लेखक के पिता का नाम गौरीपति अथवा गौरीश, माता का नाम उमा तथा पितामह का नाम दामोदर था। रेनो ने (पृ० 379) पैरिस Biblioth. Nationale MS में इस ग्रंथ की हस्तलिपि का विवरण दिया है। क्योंकि इस ग्रंथ में जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' का उद्धरण दिया गया है, इसलिए इसकी तिथि 17वीं शती के मध्यभाग के पश्चात् ही निर्धारित की जा सकती है।[1]

---

1. एनाल्ज़ ऑफ़ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xii 296-99 में पी० के गोडे, तथा झा कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० 359-65 पर हरदत्त शर्मा का लेख देखिए। उद्धृत लेखकों की सूची भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि कैट० xii, संख्या 247, 288-90 पर दी गई है।

32. गिरिधर

'कल्याण-कल्लोल'

(हरप्रसाद शास्त्री, कैट एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एम एस vi. 4932, 8312, 482)

इस ग्रंथ में शांत-सहित नौ रसों की चर्चा है। इसकी रचना टोडरमल्ल के पुत्र कल्याण दास के संरक्षण में हुई थी ।

33. गोकुलनाथ मैथिल

'रस महार्णव'

इस ग्रंथ के लेखक प्रसिद्ध मैथिल स्मार्त तथा नैयायिक, गोकुलनाथ थे। उनके पिता का नाम पीतांबर तथा माता का नाम उमादेवी था। उनका जन्म मंगरौनी के फणदह परिवार में हुआ था। इन्होंने 17वीं शती के अंत तथा 18वीं शती के आरंभ में बनारस में निवास किया तथा वहीं रचना-कार्य भी किया। अपने 'पदवाक्य रत्नाकर' में उन्होंने इस ग्रंथ का उल्लेख किया है।[1] संभवतः इसी गोकुलनाथ ने मम्मट पर एक टीका भी लिखी है; ऊपर देखिए पृ० 159 इनका 'अमृतोदय' (रचना तिथि लगभग 1693 ई०) नामक नाटक काव्यमाला, 59 के अंतर्गत, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1897[2] में प्रकाशित हुआ है।

34. गौरनार्य

'लक्षणदीपिका'

'प्रबंधदीपिका' अथवा 'पदार्थदीपिका' (मद्रास कैट xxii, 12951 उद्धरण)

'लक्षणदीपिका' छठे प्रकाश' (अध्याय) पर ही समाप्त हो जाती है। इसमें इन विषयों का निरूपण है—(1) काव्यस्वरूप, (2) परिभाषा, (3) काव्य-

---

1. ABod 246a.
2. देखिए, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, I खंड, पृ० 17 इत्यादि।

लक्षणभेद, (4) कलिकोत्कलिकादि (5) उदाहरण-भेद तथा (6) नायिका। एक अन्य ग्रंथ 'पदार्थ-दीपिका' में भी इन्हीं विषयों का विवेचन है। लेखक को आयमप्रभु का पुत्र तथा मितराज का भ्राता कहा गया है। मितराज रेचर्ल वंश के शिंगय माधव के मंत्री थे। इस ग्रंथ में (भट्ट गोपाल के ?) 'साहित्यचूड़ामणि' नामक ग्रंथ का उल्लेख है। इसी कैटलॉग में (संख्या 12952, उद्धरण) चार परिच्छेद पर्यंत एक ग्रंथ को, जिसका नाम भी 'लक्षणदीपिका' (कारिका तथा वृत्ति) है, गौरनार्य रचित कहा गया है; किंतु यहाँ पर लेखक के पिता का नाम अय्यलु मंत्री बताया गया है। अय्यलु, अमात्य पोतम का भाई था। ये दोनों लेखक एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। परवर्ती ग्रंथों में 'अलंकार संग्रह', 'कविकंठपाश', 'चमत्कार चंद्रिका', 'साहित्य चद्रोदय' तथा 'साहित्य रत्नाकर' (धर्मसूरि-कृत ?) के उल्लेख हैं। मद्रास कैट xii, 12802-03 में 'कविकंठपाश' की लेखक-नाम-रहित दो हस्त-लिपियों का उल्लेख है। पिंगल की किसी रचना पर आधारित इस ग्रंथ में कवि के व्यक्तिगत लक्षण, गुण, श्लोक के प्रथमाक्षर का प्रभाव तथा काव्यरचना के प्रारंभ के लिए शुभाशुभ दिन इत्यादि विषयों की चर्चा है।

35. घासी अथवा घासीराम पंडित

क. रसचंद्र

(इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग iii, 1210/295, पृ० 351-53 उद्धरण)

ख. रसकौमुदी

(मद्रास कैट० xii, 12921, उद्धरण; भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि कैट० xxii, संख्या 197, पृ० 223)

'रसचंद्र, 1696 ई० में लिखा गया था। 'रसकौमुदी' में नवरस-वर्णन है। पीटर्सन v. 414 में परिलक्षित अज्ञातलेखक की 'रसकौमुदी' वास्तव में यही ग्रंथ है[1]। 'रसचंद्र' में चार अध्याय हैं तथा विषयसूची इस प्रकार है— (1) नायिका-गण-भेद (198 श्लोक), (2) नायक संघ (85 श्लोक), (3) अनुभावादि गण, (150 श्लोक), (4) रस दशक (162 श्लोक)। यह एक प्रश्न है कि गौतम-

---

1. पी० के० गोडे (कैट० ओरिएंट जर्नल iii, पृ० 35-37) ने इस अज्ञातलेखक ग्रंथ की उचित तिथि अठारहवीं शती का उत्तरार्द्ध दिया है।

वंशीय ये घासीराम, तथा श्रीनाथ के पिता घासीराम भट्ट, जिन्होंने चिकित्सा-विषयक 'जगत्प्रकाश' (स्टीन पृ० 193-348) की रचना की है, एक ही व्यक्ति हैं या नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन घासीराम ने ही शृंगारविषयक 'पद्यमुक्तावली' लिखी थी।

36. चंडीदास

'ध्वनि-सिद्धांत ग्रंथ'

लेखक ने मम्मट पर अपनी टीका में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। देखिए पृ० 147।

37. चंद्रचूड़

'प्रस्ताव चिंतामणि' (अलवर 1064, उद्धरण 223, वेबर 826)

इस ग्रंथ में पांच उच्छ्वास हैं। विषय काव्यात्मक-वर्णन-कला है। लेखक के पिता का नाम पुरुषोत्तम भट्ट बताया गया है। इस ग्रंथ के अंतर्गत उद्धरणों के लिए वेबर का उक्त ग्रंथ देखिए। इसमें 'चंद्रशेखर-चंपु-प्रबंध' का उल्लेख है, जो रेनो के मतानुसार विश्वनाथ (अन्यत्र देखिए) के पिता चंद्रशेखर की रचना है।

38. चिरंजीव अथवा रामदेव (वामदेव)

चिरंजीव भट्टाचार्य

च. 'काव्यविलास'

(सं० बटुकनाथ शर्मा तथा जगन्नाथ शास्त्री होशिंग, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, बनारस 1925. विषय-विवरण के लिए इंडिया ऑफ़िस कैटलॉग, iii संख्या 1191 पृ० 343-44 देखिए)

ख. 'शृंगार-तटिनी' (औफ़्रेक्ट i. 660 b.)

लेखक 'गौड' प्रदेश में राधापुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम राघवेंद्र (इन्हें

आचार्य शतावधान कहा गया है) तथा पितामह का नाम काशीनाथ था। इन्होंने विद्वन्मोदतरंगिणी' नामक चंपू[1] तथा छंदःशास्त्र विषयक 'वृत्तरत्नावली' की भी रचना की है। 'काव्यविलास' की इंडिया ऑफिस हस्तलिपि तथा उसके प्रकाशित पाठ में दो भंगी अथवा अध्याय है, जिनमें क्रमशः रसों तथा अलंकारों का निरूपण है। ऐसा कहा गया है कि इस ग्रंथ में लक्षण प्राचीन सूत्र-ग्रंथों से लिए गए हैं, किंतु उदाहरण-श्लोक लेखक के अपने हैं। आशाधर की टीका सहित निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित (सं० वासुदेव एल० पंशीकर, बंबई, 1909) 'कुवलयानंद' में ही इस ग्रंथ का शब्दालंकार संबंधी अंश भूल से सम्मिलित कर लिया गया है[2]। देखिए पृ० 206 पा० टि० 3। इनके 'वृत्तरत्नावली'[3] के उदाहरण-श्लोकों का यशोवंतसिंह, लगभग शक 1653 = 1731 ई० में बंगाल के बादशाह शुजाउद्दौला के अधीन ढाका में नायब दीवान था। उसका 'काव्यविलास' लगभग 1703 ई० में लिखा गया था। यह लेखक 17वीं शती के अंतिम चरण तथा 18वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ है। उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त चिरंजीव ने 'माधव-चंपू' (स० सत्यव्रत समाश्रमी, 'हिंदू कॉमेंटेटर' iv संख्या 4-7 कलकत्ता 1871 के अंतर्गत), 'कल्पलता' तथा 'शिवस्तोत्र' की भी रचना की है। 'काव्य-विलास' में इन ग्रंथों का उल्लेख है।

39. जयमंगल

'कविशिक्षा' (पीटर्सन i, संख्या 120. उद्धरण)

रत्नकंठ ने 'स्तुतिकुसुमांजलि' के अध्याय 1 के श्लोक 1 पर अपनी टीका में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। लेखक जैन मतावलंबी थे तथा उन्होंने जयसिंह सिद्धराज (1094-1143 ई०) के राज्यकाल में साहित्य-सृजन किया है; इस प्रकार ये हेमचंद्र के समकालीन ठहरते हैं[4]।

---

1. सं० वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई 1912 तथा सं० सत्यव्रत समाश्रमी 'हिन्दू कामेंटेटर' iv, संख्या 1-4 1871 में; तथा सं० कालीकृष्ण देव, सीरमपुर प्रेस 1832 (मूलपाठ तथा अनुवाद,) द्वितीय संस्करण, 1834. ऊपर दी गई वंशावली लेखक द्वारा इस ग्रथ में दी गई वंशावली के अनुसार है।
2. इस संस्करण के पृ० 97-100 देखिए।
3. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, iii संख्या 280.
4. पीटर्सन, 'डिटेल्ड रिपोर्ट', 1883, पृ० 68.

40. जिनवल्लभ सूरि

'प्रश्नोत्तर' (ब्रिटिश म्यूजियम हस्तलिपि संख्या 426, उद्धरण)

इसमें समस्याओं तथा शब्द-पहेलियों का संग्रह है। लेखक (लगभग 1110 ई०) के संबंध में क्लाट पृ० 36 तथा भंडारकर रिपोर्ट 1882-83 पृ० 48 देखिए। लेखक के अन्य ग्रंथों की सूची वहां दी गई है। 'प्रश्नोत्तर' के साथ कमलमंदिर की एक 'अवचूरि' भी है।

41. जीवनाथ

'अलंकारशेखर' (अवध iii. 12)

42. तिरुमल अथवा त्रिमल्ल भट्ट

'अलंकारमंजरी' (उद्धरण ALcip 851)

ये लेखक दक्षिण भारतीय थे। इनके पिता का नाम वल्लभ भट्ट था। लेखक का नाम त्रिमल्ल अथवा तिरुमल तथा कहीं-कहीं अशुद्ध रूप निर्मल भी दिया गया है। यह ग्रंथ बनारस में लिखा गया था। इसमें केवल 43 श्लोक हैं, जिनमें अर्थालंकारों का ही निरूपण किया गया है।[1] बूहलर के कैटलॉग (1871-73) में इस लेखक के नाम से निर्दिष्ट 'अलंकारमंजरी' संभवतः यही ग्रंथ है[2]। ये लेखक वल्लभ के पुत्र, तथा शिंघण भट्ट के पौत्र और आयुर्वेद-विषयक कुछ ग्रंथों के लेखक (देखिए, ALcip 1182-85) त्रिमल्ल कवि एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इनकी तिथि[3] 1383-1499 ई० निर्धारित की गई है।

---

1. ग्रंथारंभ में ही निरूपित 38 अलंकारों की सूची है; ALcip हस्तलिपि संख्या 851, पृ० 273 में इस अंश का उद्धरण है।
2. न्यू कैटलॉगोस कैटलॉगोरम, पृ० 295 में इनका उल्लेख पृथक्-पृथक् है। अधिकतर हस्तलिपियों में केवल अर्थालंकार ही दिए गए हैं।
3. देखिए कैट. रायल एशियाटिक सोसायटी (बंबई ब्रांच) खंड i. संख्या 126, पृ० 421.

43. त्रिलोचनादित्य

'नाट्यालोचन (औफ्रेक्ट i. 284b iii. 61a)

लेखक का नाम दिए विना कई अन्य लेखकों ने इस ग्रन्थ के विस्तृत उद्धरण दिए हैं, यथा राघवभट्ट ने 'शकुन्तला' (सं० निर्णयसागर प्रेस, 1886, पृ० 7) पर अपनी टीका में; वासुदेव ने 'कर्पूरमंजरी' की टीका में; रंगनाथ ने 'विक्रमोर्वशीय' i. 1 पर अपनी टीका में। क्योंकि दिनकर की तिथि 1385 है[1], इसलिए इस ग्रंथ को 14वीं शती के मध्य अथवा तीसरे चरण से पहले ही स्थिर किया जा सकता है। ओपर्ट 2695 में लेखक की अपनी 'लोचन व्याख्यांजन' नामक टीका का उल्लेख है।

44. त्र्यंबक

'नाटक दीप' (औफ्रेक्ट 1. 284b.)

औफ्रेक्ट की सूची के उपर्युक्त स्थान पर ग्रंथ की तीन टीकाओं का उल्लेख है। डेक्कन कालेज की एक हस्तलिपि में ग्रंथ की एक प्राकृत टीका भी है।[2]

45. दामोदर भट्ट हर्ष

'अलंकार-क्रम-माला' (औफ्रेक्ट i. 32a)

46. दीनकृष्ण दास

'रसकल्लोल'

यह ग्रन्थ गजपति पुरुषोत्तम के राज्यकाल में लगभग 1480 ई० में लिखा गया था।[3]

---

1. नंदर्गीकर का 'रघु' का संस्करण 1897, भूमिका पृ० 17.
2. डेक्कन कालेज कैटलॉग पृ० 417 संख्या 38. 'नाटकदीप' पर रामकृष्ण पंडित की टीका वास्तव में इस ग्रन्थ की टीका नहीं है, बल्कि (औफ्रेक्ट i. 791a के अनुसार) पंचदशी के अंतर्गत 'नाटकदीप' की टीका है। ब्यूलर की ग्रन्थसूची पृ० 18 तथा हरिचंद शास्त्री पृ० 35 संख्या 361 में तदनुसार शुद्धि कर लीजिए।
3. देखिए, इंडियन ऐंटीक्वेरी पृ० i, 215.

47. देवनाथ

'रसिक प्रकाश' (औफ्रेक्ट i. 497b.)

ये लेखक संभवतः देवनाथ तर्कपंचानन ही हैं, जिन्होंने मम्मट के ग्रन्थ पर 'काव्य-कौमुदी' नामक टीका लिखी है (ऊपर देखिए पृ० 160)। भरतमल्लिक (11वीं शती) ने भट्ट x. 73 पर अपनी टीका में एक देवनाथ का उल्लेख किया है।

48. देवशंकर, उपनाम पुरोहित

'अलंकार-मंजूषा'

(सं० एस० एल० कत्रे, सिंधिया ओरिएंटल सीरीज, उज्जैन 2940; देखिए भंडारकर रिपोर्ट 1887-91 पृ० lxiii इत्यादि, उद्धरण)।

लेखक गुजराती ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नाहनाभाई, जन्मस्थान रानेर (रांदेर, सूरत के निकट), निवासस्थान उरहपत्तन (संभवतः उसी जिले में ओलपाड नामक स्थान) था। ग्रन्थ में केवल अलंकारों की ही चर्चा है तथा उदाहरणों में पूना के पेशवा माधव राव प्रथम और नारायण राव, तथा 1761 से 1772 ई० के बीच उनके चाचा रघुनाथ राव, का यशोगान है। अतएव उक्त लेखक 18वीं शती के तीसरे तथा चौथे चरण में हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ में केवल अलंकारों पर ही चर्चा की गई है। अलंकारों की संख्या 115 दी गई है तथा उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—अर्थालंकार (102), प्रमाणालंकार (103-6), ध्वन्यालंकार 107-13 तथा मिश्रालंकार (114-115)। कारिकाएँ तथा गद्यमय व्याख्या, सामान्यतः अप्पय्य के 'कुवलयानन्द' के तत्सम्बन्धी अंशों पर आधारित है। सम्पादक की प्रशंसा के बावजूद इस ग्रन्थ में कोई विशेषता, अथवा विषय-सम्बन्धी मौलिकता प्रतीत नहीं होती। देवशंकर ने 'अमरु शतक' पर एक टीका की रचना भी की है (मित्रा x, पृ० 81-82)।

49. धर्मदास सूरि

'विदग्ध-मुख-मंडन' वृत्ति सहित

(सं० हेबरलिन, काव्यसंग्रह के अन्तर्गत, कलकत्ता 1847, पृ० 269, इत्यादि

---

1. देखिए एनाल्ज ऑफ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xv. पृ० 92-96 तथा xxI पृ० 152. 54. 1।

इत्यादि। तथा 'काव्यकलाप' (प्रकाशक हरिदास हीराचंद) बंबई 1865 के अंतर्गत। भारत में कई बार प्रकाशित, किन्तु निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1914 का सं० अधिक उपयोगी है। हस्तलिपियाँ औफ्रेक्ट i. 572b, ii. 135b, 225 a, iii. 121a).

धर्मदास के ग्रंथ में चार परिच्छेद हैं। इनमें प्रहेलिकाशास्त्र, चित्रकाव्य तथा विप्रलंभ का वर्णन है। पाठ के बंबई संस्करण के अंतिम श्लोक (ब्रिटिश म्यूजियम हस्तलिपि, बेंडल संख्या 427 में इस श्लोक का अभाव है।) तथा प्रथम श्लोक (इसमें शौद्धोदनि की स्तुति है) तथा जिनप्रभ की टीका के पुष्पिकालेख से लेखक बौद्ध भिक्षु लक्षित होते हैं। जिनप्रभ की ज्ञात तिथि के आधार पर धर्मदास की तिथि की सीमा 13 वीं शती के चौथे चरण से पूर्व ही स्थिर की जा सकती है। कुमारस्वामी (पृ० 122 = iv. 1) ने तथा रायमुकुट ने अमरकोष पर अपनी टीका में इस लेख का नामोल्लेख किया है तथा शार्ङ्गधर की 'पद्धति' में इसका उद्धरण मिलता है। इन उल्लेखों के प्रमाण से इस लेखक की तिथि 14वीं शती से पूर्व निर्धारित की जा सकती है।

इस ग्रंथ पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं।

(1) जिनसिंह सूरि के शिष्य जिनप्रभ सूरि की टीका (वेबर 1728)। इस जैन लेखक की ज्ञात तिथियाँ 1293 तथा 1309 ई० हैं। इनके संबंध में देखिए पीटर्सन iv, पृ० xxxvii तथा क्लाट की शब्द-सूची। इनके गुरु जिनसिंह ने 1275 ई० में लघुखरतरगच्छ की स्थापना की थी। इस प्रकार इस टीकाकार की तिथि 13वीं शती का अंतिम चरण तथा 14वीं शती का आरंभिक भाग है। (2) आत्माराम की टीका। औफ्रेक्ट i. 573a. इस लेखक का पूरा नाम स्वात्माराम योगींद्र प्रतीत होता है। (3) ताराचंद्र कायस्थ की 'विद्वान्-मनोरमा'। औफ्रेक्ट i. 573a, ii 135b, iii 121a, इनके अन्य ग्रंथों के लिए देखिए वही i. 229a· (4) नरहरि भट्ट की 'श्रवणभूषण' नामक टीका, औफ्रेक्ट i. 573a (5) त्रिलोचन की 'सुबोधिनी' टीका'। औफ्रेक्ट ii 135b (उद्धरण, स्टीन पृ० 274)। (6) शिवचंद्र की टीका। औफ्रेक्ट iii 121a. इनकी तिथि 1613 ई० है। (7) वासुदेव के पुत्र तथा भट्ट देवचंद्र के शिष्य

---

1. रचना तिथि 1431 ई०, देखिए भंडारकर रिपोर्ट 1883-84 पृ० 63।
2. पी० के० गोडे 'जर्नल ऑफ दि यूनिवर्सिटी ऑफ बंबई, 1954 पृ० 126-29।

दुर्गादास-रचित 'टीका'। औफ्रेक्ट ii. 135b, iii. 121a उद्धरण, पीटर्सन iv पृ० 36.

50. धर्म सुधी अथवा धर्म सूरि

'साहित्यरत्नाकर'

(सं० तिरुवेंकटाचार्य टीका सहित, मद्रास 1871, सं० नेल्लोर 1885. हस्तलिपियां : औफ्रेक्ट i. 716a, ii. 171a, iii. 148a, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि कैट, xxii, संख्या 301 पृ० 366-70 (उद्धरण); मद्रास कैट xxii, 12970-75, हरप्रसाद शास्त्री ii, संख्या 246 उद्धरण)।

इस लेखक के अन्य नाम धर्म सिंह अथवा धर्मपंडित है। इनके पिता का नाम पर्वतनाथ तथा माता का नाम अल्लमांबा था। इनका जन्म दर्शनशास्त्र में पारंगत बनारस के एक परिवार में हुआ था। वंशावली इस प्रकार है (हुलट्स i पृ० 70); त्रिपुरारि-धर्म -- पर्वतनाथ अथवा पर्वतेश— धर्म सूरि। इन्होंने कुछ काव्यों तथा स्तोत्रों के अतिरिक्त 'नरकध्वंस' अथवा 'नरकासुरविजय' (व्यायोग) तथा 'कंसवध' (नाटक) की भी रचना की थी। अनंतार्य (अन्यत्र देखिए) ने अपने 'कविसमयकल्लोल' नामक ग्रंथ में इस लेखक का उल्लेख किया है। मद्रास कैट xxii 12974-75 में इस 'साहित्यरत्नाकर' पर वेंकट सूरि की 'नौका' नामक टीका (सं० मधुसूदन मिश्र, बोमर, 1901) का उल्लेख है। वेंकट सूरि के पिता का नाम लक्ष्मण सूरि, माता का सुरमांबा, पितामह का नाम ब्रह्मांतर वाणि तथा गुरु का नाम वेंकटाचार्य था। मल्लादि लक्षण सूरि का 'मंदर' नामक एक अन्य टीका भी है (सं० मद्रास 1891 तेलुगु लिपि में)। 'साहित्यालंकार' (समय 1425 ई०) में दस 'तरंग' अथवा अध्याय हैं। इसमें काव्यशास्त्र के रूढ़िगत विषयों का विवेचन है। विषयसूची इस प्रकार है : (1) ग्रंथारंभ, (2) वाचक शब्दार्थ वृत्ति, (3) लक्षण शब्दार्थ वृत्ति (5)[2] गुण, (6) शब्दालंकार (7) अर्थालंकार, (8) दोष, (9) ध्वनि भेद, (10) रस। अधिकतर उदाहरण-श्लोकों में भगवान् के रूप में राम का यशोगान किया गया है (श्रीमत् रघुतिलक यशोधन-सारसुरभित)। धर्मसूरि, विद्यानाथ के पश्चात् ही हुए होंगे; क्योंकि अपने एक श्लोक में उन्होंने नाम न देते हुए विद्यानाथ द्वारा अपने संरक्षक की प्रशंसा की खिल्ली उड़ाई है।

---

1. सं० मद्रास 1885 (तेलुगु लिपि में); हुलट्स 323 औफ्रेक्ट i. 277a.
2. मूल अंग्रेजी ग्रंथ में चार संख्यक विषय का उल्लेख नहीं है।—अनुवादक

(अलंक्रियाः पूर्वतरैः प्रणीताः
प्रयोगिताः काश्चन नायकेन ।
कैश्चित्तु कुक्षिंभरिभिर्निबद्धाः
क्षोदीयसा काश्चन नायकेन ॥)

मोटे तौर से इनकी तिथि 15वीं शती का पूर्वार्द्ध है ।[1]

51. नरसिंह

'गुणरत्नाकर' (तंजौर कैट ix, संख्या 5207, पृ० 4028)

इस ग्रंथ में एक सौ अलंकारों का विवेचन है। इसकी रचना तंजोर से सरफोजी 1684-1710 ई०) के संरक्षण में हुई थी ।

52. नरसिंह अथवा नृसिंह कवि

'नंजराज यशोभूषण' (सं० ई० कृष्णाचार्य, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा 1930)

लेखक के पिता का नाम शिवराम सुधि मणि तथा गुरु का नाम योगानंद था । इनका जन्म सनगर नामक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । इनका ग्रंथ नंजराज के नाम पर ही है तथा उदाहरण-श्लोकों में उसका यशोगान है । नंजराज 1739 से 1759 ई० तक मैसूर के राजा चिक्क कृष्णराज का सर्वाधिकरण (राजस्व मंत्री) रहा । इस काल के पश्चात् नंजराज का अधःपतन आरंभ हो गया तथा 1773 में हैदर अली के कारावास में बड़ी बुरी तरह उसकी मृत्यु हुई। अपने संरक्षक की 20 वर्षीय ऐश्वर्यपूर्ण अवधि के अंतर्गत ही संभवतः नरसिंह ने अपने ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ सात विलासों अथवा अध्यायों में विभक्त है। इसमें नाट्यशास्त्र का विवेचन है। सात उल्लासों की विषयसूची इस प्रकार :—(1) नायक, (2) काव्य-स्वरूप, (3) ध्वनि, (4-5) दोष-गुण, (6) नाट्य; इस अध्याय में चंद्रकला कल्याण नामक एक लघु रूपक भी सम्मिलित है, (7) अलंकार । यह ग्रंथ स्पष्टतः

---

1. धर्म सूरि की तिथि तथा रचनाओं के लिए देखिए ई० एम० वी० राघवाचार्य 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ ऑल इंडिया ओरिएंटल कान्फ्रेंस, त्रिवेंद्रम 1940, पृ० 503-17 तथा NIA, ii. 1939, पृ० 428-441. ग्रंथ का रचना-काल 1425 ई० दिया गया है ।

विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र-यशोभूषण' को आदर्श मानकर लिखा गया है तथा पर्याप्त मात्रा में उसकी विषय-सामग्री का अक्षरशः समावेश कर लिया गया है। लेखक ने विद्यानाथ का अनुकरण करते हुए अध्याय 4 में नाट्यशास्त्र विषयक विवेचन के साथ-साथ 'चंद्रकलाकल्याण' नामक पाँच अंक पर्यंत एक आदर्श रूपक का, उदाहरणार्थ, समावेश किया है। लेखक को 'अभिनव कालिदास' नामक एक उच्च उपाधि दी गई थी। उन्होंने स्वयं को अभिनव भवभूति (उपनाम आलूर तिरुमल कवि) का मित्र कहा है।

53. नरसिंहाचार्य अथवा वेंकट नृसिंह कवि

'अलंकारेंदुशेखर' (मद्रास कैट० xxii, 12978 उद्धरण; इसमें केवल प्रथम प्रकरण ही है।)

श्रीशैल कुलोत्पन्न इस दक्षिण भारतीय लेखक के पिता का नाम दासमाचार्य था। इन्होंने चरिष्णुशाल नामक ग्राम के निवासी, कृष्णराय के पौत्र तथा हरिराय के पुत्र, सुब्रह्मण्य सुधी (उपनाम हरिशाव कवींद्र) के संगीतविषयक 'शांतविलास' नामक ग्रंथ पर टीका लिखी थी। लेखक ने उक्त हरिशाव कवींद्र की 'गीतमंजरी' और अपने 'जानकी परिणय' नामक चंपू का उल्लेख किया है तथा धर्मसूरि के 'साहित्य रत्नाकर' का उद्धरण दिया है। अलंकार-विषयक उपर्युक्त ग्रंथ में पाँच प्रकरण हैं : (1) नायक-लक्षण, (2) काव्यस्वरूप, (3) रस-लक्षण, विशेषतया शृंगार, (4) दोष और गुण, तथा (5) अलंकार। सामान्यतः यह ग्रंथ भी 'प्रतापरुद्रीय' पर ही आधारित है। इस लेखक ने अलंकार-विषयक ग्रंथ 'लक्षणमालिका की कारिकाओं पर एक टीका लिखी है। उसका नाम भी 'अलंकारेंदुशेखर है।[1]

54. नरहरि सूरि

'रस निरूपण'

कुमारस्वमी ने पृ० 274 पर इस लेखक तथा इसके ग्रंथ का उल्लेख किया है।

---

1. देखिए मद्रास कैट० xxii, 12955 उद्धरण, SgS. i. 98-99, उद्धरण, तथा पृ० 11. वी० राघवन (न्यू कैट कैट i. पृ० 300) का विचार है कि संभवतः "स्वयं नृसिंह ने 'लक्षणमालिका' के मूल पाठ की रचना भी की थी"।

55. नरेंद्रप्रभ सूरि (मलधारि)

'अलंकार महोदधि'

(सं० एल० बी० गाँधी, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा 1942)

लेखक, हर्षपुरीयगच्छ के नरेंद्र के शिष्य थे। ग्रंथ की रचना वस्तुपाल (मृत्यु 1242 ई०) के अनुरोध पर की गई थी। उसी के सम्मानार्थ लेखक ने तीन प्रशस्तियों की रचना की थी। उपर्युक्त ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं, जिनमें निम्नांकित विषयों पर विचार किया गया है—(1) काव्यफलादि, (2) शब्दवैचित्र्य, (3) ध्वनि तथा रस, (4) गुणीभूत व्यंग्य, (5) दोष, (6) गुण, (7) शब्दालंकार तथा (8) अर्थालंकार। इस ग्रंथ की रचनातिथि संवत् 1282 (=1225-26 ई०) बताई गई है।[1]

56. नारायण

'काव्यवृत्ति रत्नावली' (तंजोर कैट ix, संख्या 5173)

इस ग्रंथ में नौ प्रकरण हैं। कवि-स्वरूप, काव्यलक्षण, रसस्वरूप तथा काव्य के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण इसके प्रतिपाद्य विषय हैं।

57. नारायण

'शब्दभेदनिरूपण'

इस ग्रंथ में शब्द की तीन वृत्तियों (अभिधा इत्यादि) का निरूपण है। लेखक ने अपने संरक्षक शाह महाराज (=शाहजी, तंजोर नरेश, 1686-1710) का उल्लेख किया है। लक्षण कवि लिखित 'शाहराजीय' (तंजोर कैट ix, संख्या 5304)

1. स्वरचित 'संगीत नारायण' (ABod 201) में नारायण ने अपनी 'अलंकार चंद्रिका' का उल्लेख किया है। किन्तु यह ग्रंथ अलंकारविषयक न होकर संगीत-अलंकारविषयक है। लेखक का अन्य नाम गजपति वीरनारायण देव था। उनके पिता का नाम पद्मनाभ तथा गुरु का नाम पुरुषोत्तम मिश्र था। इसी प्रकार, नारायण के पौत्र, तथा मंडन के पुत्र, अनंतका 'काम-समूह' (रचना तिथि 1457 ई०) वास्तव में कामशास्त्रीय श्लोकों का संग्रह है; देखिए पी० के० गोडे, 'जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च', मद्रास, xiv. पृ० 74-81. रामकृत शृंगारालाप' भी एक ऐसा ही ग्रंथ है। इसकी एक हस्तलिपि की तिथि 1556 ई० दी गई है (देखिए पी० के० गोडे, जर्नल ऑफ बम्बई यूनिवर्सिटी xv (N. S.) पार्ट 2, 1946. पृ० 81-88)

नामक एक और ग्रंथ के उदाहरणों में भी इस राजा की प्रशंसा की गई है। देखिए पृ० 255 संख्या 15. तंजोर कैट ix संख्या 5301-3 में 'शब्दभेदनिरूपण' नाम के कई ग्रन्थों का उल्लेख है।

58. पद्मसुंदर

(अकबरशाही) शृंगार दर्पण

(सं० अनूप संस्कृत सीरीज, बीकानेर 1943)

ये जैन लेखक अकबर के राज्यकाल में हुए हैं। इस ग्रन्थ में चार उल्लास हैं, किन्तु यह रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' का ही दूसरा रूप है। उदाहरण-श्लोकों में मुगल सम्राट् अकबर को संबोधित किया गया है। हस्तलिपि (बीकानेर 9356) की तिथि 1569 ई० दी गई है। 'सी० कुन्हन राजा प्रेजेंटेशन वाल्यूम' के अन्तर्गत इस ग्रंथ के संबंध में वी० राघवन का लेख देखिए।

59. पुंजराज

क. 'ध्वनि प्रदीप' (औफ्रेक्ट i. 273b)

ख. 'काव्यालंकार शिशुबोध' अथवा

'शिशुप्रबोधालंकार' (औफ्रेक्ट i. 103a)

लेखक के पिता का नाम जीवन (अथवा जीवानन्द) तथा माता का नाम मकू था। उनका जन्म मालावार (मालभार) के श्रीमाल परिवार में हुआ था। वंशावली इस प्रकार है : साधु-सदेपाल कोर (कोरा ?)—पाम (पामा ?)—गोवा—यांपच—जीवन। जीवन तथा उनके भाई मेघ, खलचि (खिलजी) शाही गयास के मंत्री थे। जीवन के पुंज तथा मुंज नामक दो पुत्र थे। पुंज राजा वन गए, किंतु राजपाट अपने छोटे भाई को सौंपकर विद्याध्ययन में लग गए तथा उन्होंने कुछ ग्रंथों की रचना की।[1] 'सारस्वत प्रक्रिया' पर पुंजराज की 'सारस्वत टीका' के पुष्पिका-लेख[2] में यह कथन

1. पीटर्सन, रिपोर्ट v, पृ० xliii, 166-69.
2. पीटर्सन रिपोर्ट v, पृ० 169, औफ्रेक्ट फ्लोरेंटाइन संस्कृत एम० ए० लाइपजिग 1901, 181.

है : 'श्रीमाल कुलश्रीमालभारश्री पुंजराज' इत्यादि। इस कथन पर भंडारकर ने पुंजराज को मालव-मंडल का एक रत्न कहा है।[1] औफ्रेक्ट का विचार है कि पुंज के पिता और चाचा के संरक्षक मालव के गयास शाह खिलजी (लगभग 1475 ई०) थे और पुंजराज 1475 और 1520 ई० के मध्य अथवा 15 वीं शती के अन्त और 16 वीं शती के आरम्भ में रहे होंगे।

60. पुंडरीक

'नाटक-लक्षण' (औफ्रेक्ट i. 284b संस्कृत कालेज बनारस, हस्तलिपि-सूची 308)

61. पुंडरीक (अथवा पौंडरीक) रामेश्वर

'रस-सिंधु' (औफ्रेक्ट iii. 106a)

इस ग्रंथ में चौदह रत्न अथवा अध्याय हैं। इसमें विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के उद्धरण हैं, इसलिए इसकी रचना 1500 ई० के उपरांत ही हुई है। इसकी तिथि के संबंध में 'कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल' ii, पृ० 30-32 में पी० के० गोडे का लेख देखिए। उसमें इसकी तिथि 15वीं शती का आरंभ बताई गई है।

62. पुरुषोत्तम सुधींद्र

'कवितावतार' (औफ्रेक्ट i. 87a)

दस विहारों अथवा अध्यायों का यह ग्रंथ नागभूपाल को समर्पित किया गया है तथा उदाहरण-श्लोकों में भी उन्हीं का यशोगान है। अपने 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने एक पुरुषोत्तम का उल्लेख किया है। देखिए पृ० 198 पा० टि० 1.

63. प्रकाशवर्ष

'रसार्णवालंकार

वी० वेंकटराम शर्मा ने इस ग्रंथ का विवरण-सहित-पाठ 'इंडियन हिस्टॉरिकल

---

1. रिपोर्ट, 1882-83 पृ० 12. तुलना कीजिए उपर्युक्त ग्रंथ के पृ० 199 पर उद्धृत उनके 'शिशुप्रबोध' का पुष्पिकालेख। पुंजराज की तिथि के संबंध में पी० के० गोडे का 'स्टडीज़ इन इंडियन लिटरेरी क्रिटिसिज्म' i, पृ० 68-72.

क्वार्टरली' v. 1229, पृ० 173 इत्यादि में रोमन लिपि में प्रकाशित किया है। ग्रंथ की मद्रास हस्तलिपि में पाँच अध्याय हैं। पहले चार अध्यायों में दोष, गुण तथा अलंकारों का, तथा अंतिम (अपूर्ण) अध्याय में रसों का विवेचन है। यह संभव है कि संपूर्ण पाँचवें अध्याय (जो लुप्त हो चुका है) में उभयालंकारों तथा छठे अध्याय (जो अपूर्ण उपलब्ध हुआ है) के अधिकांश में रसों का विवेचन किया गया हो। इस प्रश्न पर 'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली' v. पृ० 770-780 पर सुशीलकुमार डे तथा, 'जर्नल ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास, viii, 1934 पृ० 267-276 पर वी० राघवन के लेख देखिए। क्योंकि इस ग्रंथ में भोज के ग्रंथ के विस्तृत उद्धरण हैं, इसलिए इसकी रचना भोज के पश्चात् ही हुई है। इस ग्रंथ के संबंध में 'जर्नल ऑफ़ ओरिएंटल इंस्टीट्यूट', बड़ौदा, vii. 1957 संख्या 1-2 तथा ix. 1959 पृ० 5-16 पर एम० पी० भट्टाचार्य का लेख भी देखिए।

64. प्रभाकर भट्ट

क. रस-प्रदीप

(सं० नारायण शास्त्री खिस्ते, सरस्वती भवन टेक्स्ट, बनारस 1925 हस्तलिपियाँ वेबर 823; संस्कृत कालेज कलकत्ता कैटलॉग vii. 42. उद्धरण दोनों में हैं।)

ख. अलंकाररहस्य

(लेखक ने स्वरचित 'रसप्रदीप', पृ० 8, 9, 10, 13, 15, 20, 37, 38, 39, 40 तथा 51 पर इसका उल्लेख किया है।)

लेखक के पिता का नाम माधव भट्ट तथा पितामह का नाम रामेश्वर भट्ट था। रघुनाथ तथा विश्वनाथ नामक इनके बड़े भाई थे। विश्वनाथ को इन्होंने अपना 'विद्या गुरु' कहा है। लेखक ने उन्नीस वर्ष की अवस्था में (संवत् 1640=1583 ई० में), 'रसप्रदीप' की रचना की थी (वेबर, उपर्युक्त स्थल)। अतएव प्रभाकर का जन्म 1564 ई० में हुआ था। उन्होंने 1629 ई० में अपने 'लघु सप्तशतिक

---

1. संस्कृत कॉलेज कलकत्ता कैटलॉग vii संख्या 42 में संवत् 1170=1114 ई० तिथि दी गई है, किंतु ऐसा गलती से लिखा गया है।

स्तोत्र' की रचना की थी। इसमें 'देवी महात्म्य' का सार दिया गया है। अतएव, ये 16वीं शती के अंतिम चरण तथा 17वीं शती के प्रथम चरण में हुए हैं। 'रस-प्रदीप' में तीन आलोक अथवा अध्याय हैं, जिनमें (1) काव्यलक्षण, (2) रसविवेक; तथा (3) व्यंजन निरूपण आदि विषयों का विवेचन किया गया है। प्रभाकर भट्ट ने श्रीहर्ष मिश्र, मिश्र रुचिनाथ, धर्मदत्त, लोचनकार (अभिनवगुप्त), प्रदीपकृत तथा साहित्यदर्पणकार का उल्लेख किया है। संभवतः यह धर्मदत्त वही हैं, जिन्हें विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत किया है। अनंत ने 'आर्या सप्तशती' पर अपनी टीका में अलंकार-विषयक लेखक के नाते रुचिनाथ मिश्र का उल्लेख किया है। प्रभाकर के अन्य ग्रंथों के संबंध में देखिए औफ्रेक्ट i. 353b. 'रस-प्रदीप' संबंधी उल्लेखों के लिए इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली viii. 1932b पृ० 358 पर सुशीलकुमार डे का लेख देखिए।

65. बलदेव

'शृंगार-हार'

(कीलहार्न, रिपोर्ट, 1880-81 पृ० 71 = भडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, MS कैटलॉग संख्या xiii 295 पृ० 351)

लेखक के पिता का नाम केशव बताया गया है। हस्तलिपि की तिथि संवत् 1845 (= 1789-90 ई०) दी गई है।

66. बलदेव विद्याभूषण

'काव्य-कौस्तुभ'

(सं० हरिदास दास, नवद्वीप बंगाल, 1957)

इस ग्रंथ में नौ प्रभात अथवा अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः (1) काव्यफलादि, (2) शब्दार्थ वृत्ति, (3) रस, (4) गुण, (5) रीति, (7) ध्वनिभेद, (8) मध्यम काव्य तथा (9) शब्दार्थालंकार प्रभृति विषयों का विवेचन है। मम्मट के टीकाकारों के संदर्भ में ऊपर देखिए पृ० 158.

67. बालकृष्ण भट्ट

'अलंकार सार' (औफ़्रेक्ट० i. 32 b)

इस ग्रंथ में दस अध्याय हैं। बालकृष्ण भट्ट की उपाधि तिप्पर थी। वे वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी, गोवर्धन भट्ट के पुत्र थे। जयरथ ने इसी नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख किया है (पृ० 88, 97, 171, 172, 184); तथा बूहलर कैटलॉग 1871-73 में भी इसका उल्लेख है। 'अलंकारसार' में 'कुवलयानंद' में तथा 'चित्र-मीमांसा' के भी उद्धरण हैं। ग्रंथ की डेक्कन कॉलेज हस्तलिपि संख्या 23, 1881-82) संवत् 1758 (=1702 ई०) में तैयार की गई प्रतीत होती है। अतएव इसकी रचना-तिथि 1625 तथा 1700 ई० के बीच निर्धारित की जा सकती है।

ग्रंथ के दस उल्लासों अथवा अध्यायों में क्रमशः इन विषयों का निरूपण है—(1) काव्य प्रयोजन, कारण, स्वरूप, (2) शब्दनिर्णय, (3) अर्थनिर्णय, (4) ध्वनिनिर्णय, (5) गुणीभूतव्यंग्यनिर्णय, (6) शब्दार्थनिर्णय, (7) दोष, (8) गुण, (9) शब्दालंकार, (10) अर्थालंकार।

68. भाव मिश्र अथवा मिश्र भव

'शृंगार-सरसी'

(संस्कृत कॉलेज कलकत्ता कैटलॉग vii 43, उद्धरण)

शृंगार-विषयक इस ग्रंथ के रचयिता के पिता का नाम मिश्र भटक बताया गया है।

69. भाष्कराचार्य (अथवा भास्कराचार्य)

'साहित्य कल्लोलिनी'

(मद्रास कैट xxii, 12964, उद्धरण)

लेखक को श्रीवत्सगोत्र के वरदगुरु का वंशज कहा गया है। वे भूतपुरी अथवा श्रीपेरुंबुदूर के निवासी थे। इस ग्रंथ में कई प्रसिद्ध अलंकारविषयक ग्रंथों, यथा मम्मट, भावप्रकाश, इत्यादि से अनेक श्लोकों का उद्धरण दिया गया है। क्योंकि लेखक ने शिंगभूपाल के 'रसार्णव सुधाकर' के प्रति आभार प्रकट किया है,

अतएव उनकी तिथि 14वीं शती के मध्यभाग के पश्चात् ही निर्धारित की जानी चाहिए। ग्रंथ में प्रबंधभेद, नाट्य-नृत्त-नृत्य, वस्तु, संधि, नायकलक्षण, रूपक, उपरूपक तथा काव्यलक्षण प्रभृति विषयों की चर्चा की गई है।

70. भीमसेन दीक्षित

क. 'अलंकार सारोद्धार'

ख. 'अलंकार-सार-स्थिति' अथवा 'कुवलयानंद खंडन'

अप्पय्य दीक्षित के संदर्भ में, ऊपर देखिए पृ० 208

लेखक ने मम्मट पर 'सुधासागर' नामक अपनी टीका में इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख किया है (देखिए पृ० 157) इनकी तिथि 1650-1725 ई० के बीच है।

71. भीमेश्वर भट्ट

'रससर्वस्व' (बर्नेल 57a)

लेखक के पिता का नाम रंगभट्ट था।

72. भूदेव शुक्ल

'रस-विलास'

(सं० प्रेमलता शर्मा, पूना 1952)

लेखक गुजरात प्रदेश के अंतर्गत जंबूसर निवासी शुकदेव के पुत्र थे तथा 1660 तथा 1720 ई० के बीच हुए थे।[1]

---

1. एनाल्ज़ ऑफ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xiii, पृ० 183 में पी० के० गोडे का मत है कि 'रसविलास' की रचना लगभग 1550 ई० में हुई थी। क्योंकि 'रसविलास' ने 'रसगंगाधर' में दिए गए काव्य के लक्षण को उद्धृत किया है, अतएव यह 1660 ई० से पहले की रचना नहीं हो सकती।

भूदेव के अन्य ग्रंथों के संबंध में औफ्रेक्ट i. 414b तथा उपर्युक्त संस्करण की भूमिका पृ० xii देखिए। इस ग्रंथ की इंडिया ऑफिस हस्तलिपि (संख्या 1209/2526b) में केवल तीन 'स्तबक' तथा चौथे 'स्तबक' का प्रथमांश ही है। यह वे भूदेव शुक्ल नहीं हैं, जिन्होंने पाँच अंकों का 'धर्मविजय' नामक नाटक लिखा है।[1]

'रसविलास' में सात स्तबक अथवा अध्याय हैं, जिनमें इन विषयों पर अध्यायानुसार विवेचन है (1-2) रस, शांत सहित, नौ, (3) भाव, (4) गुण, (5-6) दोष, (7) वृत्ति (अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना)। इस ग्रंथ के संपादक का यह कथन यथार्थ ही है कि रस इत्यादि विषयक यह ग्रंथ साधारण कोटि का ही है। मुख्यतः इसमें मम्मट तथा जगन्नाथ की सामग्री का उपयोग किया गया है। कुछ भी मौलिकता नहीं है।

73. मानसिंह

'साहित्य-सार' (औफ्रेक्ट i. 716a)

74. मोहनदास

'रसोदधि'

लेखक ने 'महानाटक' (ABod 143 a) पर अपनी टीका में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। लेखक के पिता का नाम कमलापति था।

75. यज्ञनारायण दीक्षित

'अलंकार रत्नाकर' (तंजोर कैट ix, संख्या 5131)

'साहित्य रत्नाकर' (स० टी० आर० चिंतामणि, मद्रास 1932)

लेखक तंजोर के राजा रघुनाथ नायक के मंत्री गोविंद दीक्षित के पुत्र थे। रघुनाथ ने 1614 से 1633 की मध्यावधि में राज्य किया है। 'अलंकाररत्नाकर' के

1. सं० ग्रंथमाला iii, 1889 तथा सं० नारायण शास्त्री खिस्ते, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, बनारस 1930, देखिए मित्रा i, पृ० 37 वेबर 1561, इंडिया ऑफिस कैटलॉग vii, पृ० 1596.

प्राय: सभी श्लोकों में रघुनाथ का ही यशोगान है। 'साहित्य' वास्तव में सोलह अध्यायपर्यंत एक काव्य है, जिसमें इसी राजा की कीर्ति का वर्णन है। ये दोनों ग्रंथ लेखक के रघुनाथाभ्युदय[1] नामक एक अन्य ग्रंथ के पूरक हैं। के० कुंजुन्नी राजा ('कंट्रीब्यूशन ऑफ़ केरल', पृ० 134 ने इस लेखक को अधोवर्णित यज्ञेश्वर दीक्षित से अभिन्न मानने में गलती की है।

76. यज्ञेश्वर दीक्षित

'अलंकार राघव' (तंजौर कैट 5132-33)

'अलंकार' सूर्योदय' (तंजोर कैट 5140-41)

लेखक के पिता का नाम चेरुकूरि कोंडुभट्ट तथा भाई का नाम तिरुमल यज्वन् था।[2] अलंकार राघव' में शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' तथा (वीरनारायण कृत, अन्यत्र देखिए,) 'साहित्यचितामणि' के उद्धरण हैं, अतएव लेखक 15 वीं शती के पश्चात् (1600 ई० में) हुए हैं। जैसा कि ग्रंथ के शीर्षक से ही प्रतीत होता है, उदाहरण-श्लोकों में राम को संबोधित किया गया है। यह लेखक मम्मट के टीकाकार, पूर्वोक्त यज्ञेश्वर के अभिन्न हो सकते हैं (देखिए पृ० 161)। संभवत: लक्ष्मीधर (अन्यत्र देखिए) से भी इनका सम्बन्ध हो; वे भी चेरुकूरि के निवासी थे।

77. यशस्वी कवि

'साहित्य कौतूहल' तथा उसकी

'उज्ज्वलपदा' नामक टीका

(औफ्रेक्ट i. 715b, ii 117 a)

लेखक को गोपाल तथा काशी पुत्र बताया गया है। इस ग्रंथ की इंडिया-ऑफ़िस-हस्तलिपि (कैट iii, पृ० 337) 1730 ई० में तैयार की गई थी।

---

1. तंजोर ix, 1933 संख्या 5132 में भी ऐसा ही उल्लेख है। 'अलंकाररत्नाकर में, जिसे यज्ञनारायण (सं० 5131) का लिखा हुआ कहा गया है, कवि के संरक्षक रघुनाथ नायक का यशोगान है। यज्ञेश्वर तथा यज्ञनारायण भिन्न-भिन्न लेखक प्रतीत होते हैं।
2. देखिए, SgS. ii पृ० 65.

इसमें केवल प्रथम अध्याय ही है, जिसमें प्रहेलिका तथा चित्रकाव्यविषयक विवेचन है।

तंजोर की महारानी (1675-1712 ई० के बीच) दीपाबाई के कृपाभाजन रघुनाथ ने चित्रकाव्य-विषयक एक अन्य ग्रंथ 'साहित्य कुतूहल' भी लिखा है (देखिए 'जर्नल बम्बई यूनिवर्सिटी' x पृ० 132 इत्यादि)।

78. रत्नभूषण

'काव्यकौमुदी' (हरप्रसादशास्त्री, संख्या ii 35, उद्धरण)

पूर्वी बंगाल के वैद्य पंडित रचित इस अति अर्वाचीन ग्रंथ में दस परिच्छेद हैं—(1) नाम, (2) लिंगादि, (3) धातु प्रत्यय, (4) काव्यलक्षण, (5) ध्वनि, (6) गुणीभूत व्यंग्य, (7) गुण, (8-9) अलंकार (10) दोष इत्यादि विषयों का विवेचन है। प्रथम तीन परिच्छेदों में व्याकरण-विषयक चर्चा है। शक 1781 (=1859 ई०) सम्भवतः इसकी रचना तिथि है (हरप्रसाद शास्त्री, वही, भूमिका पृ० viii)।

79. रघुनाथ मनोहर

'कवि-कौस्तुभ'

पी० के० गोडे ('पूना ओरिएंटलिस्ट', vii 1943, पृ० 157-64) ने इस ग्रंथ की तिथि 1675 से 1700 ई० के बीच निर्धारित की है।

80. राघव चैतन्य

'कविकल्पलता' (औफ्रेक्ट i. 87 a)

'पद्धति' में सम्भवतः इसी कवि का राघवचैतन्य श्रीचरण के नाम से उल्लेख है (71, 68, 877, 1557-8)। 'श्रीचरण' उपाधि से सूचित होता है कि लेखक एक प्रसिद्ध वैष्णव थे। संस्कृत कालेज कलकत्ता कैट० vii संख्या 7 की हस्तलिपि के पुष्पिकालेख (तुलना कीजिए, ABod 211b) में 'माघ चैतन्य विरचित कविकल्पलतायाः' इत्यादि पाठ है। संभवतः, यह राघवचैतन्य नाम का

विकृत अथवा अशुद्ध रूप हो सकता है। राघवचैतन्य तथा स्वयं देवेश्वर के ग्रंथ में गलतफहमी के कारण ऐसा हो सकता है।

81. राजचूड़ामणि दीक्षित

क. 'काव्यदर्पण'

(सं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री, वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् (तिथि रहित)। हस्तलिपि मद्रास कैट xxii, 12809 रवि पण्डित की टीका सहित।)

ख. 'अलंकार चूड़ामणि'

लेखक के 'काव्यदर्पण' (मद्रास कैट xxii, 12809) अथवा 'अलंकार-शिरोमणि' (हुलट्श, उद्धरण पृ० 86) में इसका उल्लेख है।

राजचूड़ामणि दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध लेखक हैं। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है।[1] इनके पिता का नाम सत्यमंगल रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित, माता का नाम कामाक्षी था। केशव दीक्षित तथा शेषाद्रिशेखर दीक्षित उनके दो सौतले भाई थे। इनके दादा का नाम भावस्वामी, दादी का नाम लक्ष्मी, परदादा का नाम कृष्णभट्ट दीक्षित था। इनके अपने भ्राता, अर्धनारीश्वर दीक्षित, उनके गुरु थे (हुलट्श ii पृ० x)। मीमांसा-विषयक इनके ग्रन्थ 'तंत्रशिखामणि' की रचना-तिथि 1636 ई० बताई जाती है। इस प्रकार वे नीलकंठ दीक्षित के समकालीन थे, जिनका 'नीलकंठविजय' नामक चंपू 1636 ई० में लिखा गया था अतएव राजचूड़ामणि 17 वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। दस अध्याययुक्त अपने 'रुक्मिणी-कल्याण' नामक काव्य में उन्होंने स्वयं यह कहा है जिस समय मैंने इस काव्य की रचना की, उस समय अच्युत का पुत्र रघुनाथ, तंजोर का राजा था। इसी राजा की सभा में उनके 'आनन्दराघव' तथा 'कमलिनी कलहंस' नामक दो नाटकों का अभिनय किया गया था। इस लेखक ने अपनी वंशावली तथा अपने अन्य ग्रंथों की एक लम्बी सूची अपने 'काव्यदर्पण' के अंतिम श्लोक[1] तथा अपने नाटक 'आनन्द-राघव' में दी है।[2] 'काव्यदर्पण' में दस उल्लास हैं, जिनमें काव्यशास्त्र के सभी विषयों का सामान्य विवेचन है। उनके दूसरे ग्रंथ 'अलंकारचूड़ामणि' में विशेष

---

1. मद्रास कैट xxii, संख्या 12809 तथा हुलट्श i, पृ० 85-6 में उद्धरण दिया गया है।

2. मद्रास कैट xiii, संख्या 12495 'काव्यदर्पण' में लेखक के 26 ग्रंथों का उल्लेख है।

रूप से अलकारों का विवेचन किया गया है। 'काव्यदर्पण' के दस उल्लासों की विषय-सूची इस प्रकार है : (1) काव्यस्वरूप, (2) शब्दार्थ, (3) व्यंग्यार्थ, (4-6) काव्यभेद, (7) दोष, (8) गुण, (9) शब्दालंकार तथा (10) अर्थालंकार। राजचूड़ामणि का परिवार अतिरात्र याजिन् के नाम से प्रसिद्ध है। औफ्रेक्ट i. 672 में श्रीनिवास अतिरात्रयाजी, वास्तव में राजचूड़ामणि के पिता हैं। वे कांची प्रदेश के अन्तर्गत तोंडीर में सुरसमुद्र के निवासी थे। तुलना कीजिए, स्टेन कोनो, इंडि० ड्रामा, पृ० 94. उनके अन्य ग्रंथों की सूची के लिए, हुलट्श पृ० ix-x तथा 'कमलिनी कलहंस' के वाणीविलास प्रेस संस्करण की भूमिका देखिए। वाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम् ने उनका शंकराभ्युदय' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया है।

82. रामचंद्र तथा गुणचंद्र

'नाटयदर्पण'

(सं० जी० कुंजश्रीगोदेकर तथा एल० बी० गाँधी, दो खंडों में, गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज, बड़ौदा, खण्ड 1, 1929 सं० केवल एक हस्तलिपि पर आधारित पीटर्सन v. पृ० 188.

रंगनाथ ने 'विक्रमोर्वशीय' की टीका में तथा भरतमल्लिक ने भट्टि के ग्रन्थ की टीका में इसी नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। संभवत: वह ग्रंथ उपयुक्त ग्रंथ से भिन्न है। इस ग्रन्थ में चार 'विवेक' हैं, जिनमें नाट्यशास्त्र-विषयक विवेचन है तथा रूपक के बाहर भेदों और उपरूपकों का उल्लेख किया गया है। लेखक रामचन्द्र की केवल एक ही आँख थी। वे जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र नामक उनका एक शिष्य भी था। अतएव रामचन्द्र का रचना-काल 1100 तथा 1175 ई० के बीच है। उन्होंने दो नाटक लिखे हैं, जिनके नाम क्रमशः 'रघुविलास'[2] अथवा 'रघुविलाप'[3] हैं। उनमें उन्होंने अपने चार अन्य ग्रंथों का

---

1. पीटर्सन, रिपोर्ट iv, पृ० 16-7, बूहलर का हेमचंद्र पृ० 44. सब से पहले सिल्वाँ लेवी ने जर्नल एशियाटिक, cciii, 1923, में इस ग्रंथ पर प्रकाश डाला था। पी० के० गोडे ('स्टडीज', पृ० 36-42) ने इस ग्रंथ की तिथि 1150-1170 ठहराई है।
2. पीटर्सन, रिपोर्ट v. 145.
3. बूहलर, काश्मीर रिपोर्ट, पृ xlix

उल्लेख किया है। उन्होंने 'सत्यहरिश्चंद्र' (सं० बी० आर० अत्रे, निर्णय सागर प्रेस, बंबई 1898) नामक ग्रंथ भी लिखा है, जिसमें हरिश्चंद्र के कथानक का एक विचित्र जैन रूपांतर है। रामचंद्र को 'प्रबंध शतकार' अर्थात् सौ ग्रंथों का रचयिता कहा गया है; नाट्यदर्पण में उनके ग्यारह नाटकों के उद्धरण मिलते हैं।

83. रामचंद्र न्यायवागीश

'काव्यचंद्रिका' अथवा 'अलंकारचंद्रिका'

(औफ्रेक्ट i. 101a, 778b), 'अलंकारमंजूषा' नामक टीका सहित।

(सं० कोमिल्ला 1885; सं० ढाका 1886 जगबंधु तर्कवागीश की टीका सहित, सं० वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई 1912; रामचंद्र शर्मा की 'अलंकार मंजूषा' टीका सहित; ये टीकाकार स्वयं मूलग्रंथ के रचयिता भी हो सकते हैं।) इस बंगाली लेखक के पिता का नाम विद्यानिधि बताया गया है। क्या यह लेखक 'कुवलयानंद' पर काव्यमंजरी नामक टीका के लेखक, न्यायवागीश भट्टाचार्य ही हैं? (देखिए पृ० 212)।

84. रामशर्मा अथवा राम कवि

'नायिकावर्णन', 42 छंदों में (मद्रास कैट० xii. संख्या 12901)

85. राम सुब्रह्मण्य

'अलंकारशास्त्र-विलास' (मद्रास Trm. iic. 1802, 1805 उद्धरण)। लेखक का दूसरा नाम रामसुब्बा था। ये तिरुविसलूर के निवासी थे। बहुत अर्वाचीन लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होने दर्शनशास्त्रविषयक कुछ ग्रंथ भी लिखे हैं, जिनका उपर्युक्त ग्रंथसूचियों में उल्लेख मिलता है।

86. राम सुधी अथवा सुधीश्वर

'अलंकार मुक्तावली'

(सं० तेलुगु लिपि में कृष्ण सूरि की 'रत्नशोभाकर' टीका सहित, विशाखापत्तम् 1897-98)।

लेखक के पिता का नाम नृसिंह था।

87. लक्ष्मीधर दीक्षित

क. 'अलंकार मुक्तावली' (औफ्रेक्ट i. 32a)[1]

ख. 'रसमंजरी', लेखक ने 'गीतगोविंद' पर अपनी टीका में स्वय इसका उल्लेख किया है।

ग. 'भरत-शास्त्र-ग्रंथ'—भंडारकर औरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, हस्तलिपि संख्या 40, 1916-18)[2]

इस लेखक के पिता का नाम यज्ञेश्वर, माता का नाम सर्वांबिका (अथवा अंबिकांबा) तथा पितामह का नाम तिम्मय सोमयाजी था। ये अपने भाई कोंडुभट्ट के शिष्य थे। इनका जन्म काश्यप गोत्र में हुआ। दक्षिणामूर्ति किंकर इनका उपनाम था। इनके परिवार का निवास आंध्र-प्रदेश में कृष्णा नदी के तट पर चेरुकूरि नामक स्थान था। हुलट्श के मतानुसार यह स्थान बापटल के समीप वर्त्तमान पेद्दचेरुकूरु है। ये लेखक 'षड्भाषा चंद्रिका' नामक प्राकृत-व्याकरण के रचयिता लक्ष्मीधर से अभिन्न हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'अनर्घराघव', 'प्रसन्नराघव' तथा 'गीतगोविंद' पर टीकाएँ भी लिखी हैं। पहली टीका में कहा गया है कि लेखक ने दीर्घ काल तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात् विभिन्न देशों (प्रदेशों) की यात्रा की तथा सभी साहित्यिक प्रतिद्वंद्वियों को पराजित किया। तदुपरांत संसार से विरक्त होकर कृष्णाश्रम नामक गुरु से संन्यास या यती की दीक्षा प्राप्त कर रामानंद अथवा रामानंदाश्रम नाम ग्रहण किया। लक्ष्मीधर (जिन्हें लक्ष्मणभट्ट अथवा लक्ष्मण सूरि भी कहते हैं) तिरुमलराज के कृपाभाजन रहे हैं। यह राजा संभवतः विजयनगर के तीसरे वंश का तिरुमल प्रथम था।[3]

---

1. वी० राघवन (न्यू कैटलोगस कैट i, पृ० 296) ने यह प्रश्न उठाया है कि यह ग्रंथ वास्तव में लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर (अन्यत्र देखिए) की 'अलंकार मुक्तावली' है अथवा नहीं, तथा इस संबंध में 'एनाल्ज़ आफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट' xviii, 1937, पृ० 200 को लक्षित किया है।
2. देखिए, एनाल्ज़ ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xv, 1953 पृ० 240-42 के अंतर्गत पी० के० गोडे का लेख। उन्होंने 'भरतार्णव' तथा 'कविकंठपाश' का उल्लेख किया है। 'कविकंठपाश' (मद्रास कैट xxii संख्या 12802) के संबंध के ऐसा कहा गया है कि यह पिंगल के किसी ग्रंथ पर आधरित है तथा इसमें कवि के व्यक्तिगत आकार-प्रकार, आवश्यक गुण इत्यादि की चर्चा है (तुलना कीजिए, राजशेखर, 'काव्यमीमांसा' अध्या० 10) ग्रंथ के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। गौरनार्भ के प्रकरण में ऊपर पृ० 263 देखिए।
3. एपिग्राफिका इंडिका iii पृ० 238, सारणी। उसकी मृत्यु 1572 ई० में हुई थी।

कहीं-कहीं जयदेव के 'गीतगोविंद' पर उसकी 'श्रुतिरंजनी' नामक टीका का लेखक इसी राजा को मान लिया गया है[1]। चूँकि यह राजा 17वीं शती के मध्य में हुआ है, इसलिए लक्ष्मीधर की तिथि भी वही है[2]।

88. वल्लभ भट्ट

'अलंकार कौमुदी' (सं० ग्रंथमाला ii, 1889)

यह एक बहुत अर्वाचीन लघु ग्रंथ है, जिसमें अलंकारों का विवेचन है। उदाहरण राम-स्तुति के वाचक हैं।

89. बिट्ठलेश्वर अथवा बिट्ठल दीक्षित

'रीतिवृत्ति लक्षण' (कीलहार्न, सेंट्रल प्रोविंसेज कैट० पृ० 104)

लेखक का दूसरा नाम अग्निकुमार है। ये प्रसिद्ध धार्मिक सुधारक वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र तथा गोपीनाथ के भाई थे। इनके गिरिधर, रघुनाथ इत्यादि सात पुत्र थे। जन्म तिथि 1515 ई० है। इनकी अन्य रचनाओं के लिए औफ्रेक्ट i. 572ab, 135a, 225a, iii, 121a देखिए। इनके 'श्रृंगार रसमंडन' (सं० मूलचंद्र तुलसीदास तेलीवाला, गुजराती अनुवाद सहित, बंबई 1919) में दस उल्लास हैं। किंतु यह श्रृंगाररसविषयक ग्रंथ न होकर जयदेव के 'गीतगोविंद' के समान राधाकृष्णविषयक एक श्रृंगार रस-प्रधान धार्मिक ग्रंथ है। इसमें लयबद्ध तुकांत गीत दिए गए हैं।

90. विद्याराम

'रसदीर्घिका'

(पीटर्सन iii, संख्या 336 इस ग्रंथ के विवरण तथा उद्धरणों के लिए

---

1. देखिए हुलट्श 2112; SgS, ii, 2035; SgS ii, 63-5, 67; हुलट्श iii, पृ० vii-ix भी देखिए।
2. 'षड्भाषा चंद्रिका' के के० पी० त्रिवेदी के सं० (बंबई संस्कृत सीरीज 1916) का पृ० 14-17 देखिए। पी० के० गोडे (एनाल्ज़ ऑफ़ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xv, पृ० 240-42) ने इसे 16वीं शती के तीसरे चरण में निर्धारित किया है।

भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट हस्तलिपि कैट० xii, संख्या 210, पृ०, 240 देखिए। हस्तलिपि अपूर्ण है।

इस लेखक के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु पंच सोपानयुक्त यह ग्रंथ संवत् 1706 (=1649 ई०) में लिखा गया था। इसमें 'कविकल्पलता' को एक सूत्र-ग्रंथ के रूप में लक्षित किया गया है।

91. विश्वनाथ

'साहित्य सुधासिंधु' (अलवर कैटलॉग, उद्धरण 235 तथा जम्मू कैट० संख्या 1254)।

ये एक दक्षिण भारतीय लेखक थे। इन्होंने ग्रंथ की रचना बनारस में की। पिता का नाम त्रिमल अथवा त्रिमल्ल देव तथा पितामह का नाम अनंत था। अनंत का निवास-स्थान गोदावरी के तीर पर धारासुर नामक नगर में था। स्टीन की कश्मीरी हस्तलिपि[1] की तिथि 1602 ई० दी गई है।[2] लेखक ने ग्रंथारंभ में मम्मट तथा भोज के ग्रंथों के उद्धरण दिए हैं तथा अन्य स्थलों पर चंडीदास (संभवतः यह मम्मट के टीकाकार ही हैं) तथा महिम भट्ट का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में दस तरंग अथवा अध्याय हैं। विश्वनाथ ने 'मृगांकलेख'[3] नामक एक नाटक भी लिखा है। इस नाटक की एक हस्तलिपि की तिथि संवत् 1664 (=1608 ई०) है।

92. विश्वनाथ न्याय (अथवा सिद्धांत—पंचानन)

'अलंकार परिष्कार'

एस० सी० विद्याभूषण के ग्रंथ, 'इंडियन लॉजिक' पृ० 479 (तथा पृ० 392) में विश्वनाथ न्यायपंचानन के नाम से इस ग्रंथ का उल्लेख है। लेखक के पिता का नाम

---

1. जम्मू कैट० पृ० xxix.
2. स्टीन ने एक हस्तलिपि के संबंध में इस प्रकार कहा है : यह हस्तलिपि लेखक की अपनी हस्तलिपि (पांडुलिपि) की प्रतिलिपि है। जम्मू हस्तलिपि के अंत में किसी अन्य व्यक्ति ने एक पुष्पिकालेख जोड़ दिया है। उसमें इस मूल प्रति का उल्लेख है।' उसकी तिथि संवत् 1659 (=1602 ई०) कठिनाई से पढ़ी जाती है।
3. स्टेन कोनो, 'इंड० ड्रामा', पृ० 118. यह ग्रंथ सरस्वती भवन टैक्स्ट्स सीरीज, बनारस, में छप चुका है।

विद्यानिवास भट्टाचार्य तथा एक भाई का नाम रुद्र वाचस्पति था। इन्होंने 1634 ई० में 'भाषा परिच्छेद' नामक एक प्रसिद्ध वैशेपिक ग्रंथ की रचना की थी तथा 'पिंगल प्रकाशिका' नामक एक अन्य ग्रंथ भी लिखा था। लेखक, नवद्वीप (बंगाल) के निवासी तथा रघुनाथ शिरोमणि के नव्यन्याय संप्रदाय के अनुयायी थे। जर्नल ऑफ़ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल. vi, 1910 पृ० 313 पर हरप्रसाद शास्त्री का लेख देखिए।

93. विश्वेश्वर कविचंद्र

'चमत्कार चंद्रिका'

(इंडिया ऑफ़िस कैट vii, पृ० 1507 मद्रास Trm. कैट 1916-19, 1918-19 R 2679)।

लेखक शिंगभूपाल (1330 ई०) के कृपापात्र थे। ग्रंथ में अलंकार विषयक आठ विलास अथवा अध्याय हैं। उदाहरणों में लेखक ने अपने संरक्षक का गुण-गान किया है (सिंहभूपाल कीर्ति-सुधासार-शीतला)। उन्होंने काव्य के सात चमत्कार दिए हैं। अध्यायों के नाम ही पर्याप्त रूप में ग्रंथ के क्षेत्र को परिलक्षित करते हैं, यथा: (1) वर्ण, पद तथा पद-दोष, (2) वाक्य तथा वाक्य-दोष, (3) अर्थ-तथा अर्थ-दोष; प्रबंध के भेद, (4) गुण, रीति, वृत्ति, पाक तथा शय्या, (5) रस, (6) शब्दालंकार, (7) अर्थालंकार, तथा (8) उभयालंकार। यह ग्रंथ सामान्य रूप में भोज के अनुयायी अल्पसंख्यक अलंकार-ग्रंथों में से एक होने के कारण उल्लेखनीय है। किंतु लेखक ने केवल आठ रसों को ही मान्यता दी है, भोज प्रतिपादित शांत रस को छोड़ दिया है। इन्होंने असमासा, मध्यम-समासा, अतिदीर्घसमासा तथा मिश्रा नामक चार रीतियाँ स्वीकार की हैं। परवर्ती लेखकों का मार्गदर्शन करते हुए उन्होंने लोकोत्तराह्लाद, अनुभवैकवेद्य तथा विगलितवेद्यांतर के रूप में रस का वर्णन किया है। संभवत: यह पहला ग्रंथ है, जिसमें चमत्कार के आधार पर काव्य को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है, अर्थात्, चमत्कारी (शब्दचित्र), चमत्कारितर (अर्थचित्र तथा गुणीभूत व्यंग्य) तथा चमत्कारितम (व्यंग्यप्रधान)। इस ग्रंथ के विस्तृत विवरण तथा मूल्यांकन के लिए वी० राघवन् का एनाल्ज़ ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xvi, (1934-35) पृ० 131-39 में लेख देखिए।

94. विश्वेश्वर भट्ट

क 'अलंकार कौस्तुभ'

(लेखक की अपनी शब्दावली सहित, सं० शिवदत्त तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1898)

ख. 'अलंकार मुक्तावली' (सं० विष्णुप्रसाद भंडारी, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1927)

ग. 'अलंकार (कुल) प्रदीप' (सं० विष्णुप्रसाद भंडारी, चौखंबा संस्कृत सीरीज़, बनारस 1623)

घ. 'कवींद्र कर्णाभरण' (सं० काव्यमाला गुच्छक viii, 1891 के अंतर्गत)

ङ. 'रसचंद्रिका' (सं० विष्णुप्रसाद भंडारी, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस 1926)

लेखक के पिता का नाम लक्ष्मीधर था। क्योंकि इनका जन्म अल्मोड़ा में हुआ था, इसलिए इन्हें पार्वतीय कहा गया है। विश्वेश्वर 18वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं तथा उस शती के लगभग मध्यभाग[1] में 34 वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया था। लेखक ने 'अलंकार कौस्तुभ' में 'शृंगारमंजरी' (सट्टक)[2] तथा 'रुक्मिणी परिचय' नामक अपने दो नाटकों का क्रमशः पृ० 347 तथा पृ० 381, 387 पर उल्लेख किया है। आर्वाचीन लेखकों में उन्होंने अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ का उल्लेख किया है और दोनों ही लेखकों के विस्तृत उद्धरण दिए हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने दंडी के टकाकार के रूप में (ऊपर देखिए पृ० 67) मल्लिनाथ (पृ० 69), चंडीदास (पृ० 125, 166), महेश्वर (पृ० 49, 111), जो संभवतः मम्मट के टीकाकार हैं, का न्यायालंकार के रूप में उल्लेख किया है (पृ० 42) तथा 'काव्यडाकिनी' नामक ग्रंथ का उल्लेख भी किया है (पृ० 157)[3]। न्यायपंचानन, जिन्हें उन्होंने ग्यारह बार उद्धृत किया है, संभवतः मम्मट ने एक अन्य टीकाकार, जयराम न्यायपंचानन (अन्यत्र देखिए) ही हैं।

---

1. देखिए काव्यमाला, गुच्छक viii, पृ० 51-52 पा० टि०।
2. उनकी 'रसचंद्रिका' के पृ० 90 पर भी इसका उद्धरण है।
3. ऊपर देखिए पृ० 261.

विश्वेश्वर ने अपने ज्येष्ठ भ्राता का नाम उमापति (पृ० 357) दिया है। इस ग्रंथ में लेखक ने 61 अलंकारों का विवेचन किया है। इनका द्वितीय ग्रंथ, 'अलंकार-मुक्तावली', लेखक के अपने ही कथन के अनुसार, एक प्रारंभिक, सरल तथा संक्षिप्त' ग्रंथ है। यह पहले वृहद् ग्रंथ के पश्चात् ही लिखा गया था। 'अलंकार प्रदीप' नामक तृतीय ग्रंथ में केवल अलंकारों का ही विवेचन है। लक्षण तथा उदाहरण सहित 119 अलंकार लिए गए हैं। 'कवींद्र कर्णाभरण' नामक चतुर्थ ग्रथ के चार अध्यायों में प्रहेलिका तथा चित्रकाव्य (58 भेद) का वर्णन है। 'रसचंद्रिका' नामक पंचम ग्रंथ में नायक-नायिका-भेद तथा उनके गुणधर्म हैं। विश्वनाथ ने बहुत-सी टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने भानुदत्त की 'रसमंजरी' (ऊपर देखिए पृ० 232) पर 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' अथवा 'समंजसार्था' नामक टीका भी लिखी है। इनके अन्य ग्रंथों के लिए औफ्रेक्ट ii. 139b देखिए। काव्यमाला के संपादकों ने (गुच्छक viii पृ० 52) विश्वेश्वर के 'काव्यतिलक' तथा 'काव्यरत्न' नामक दो अन्य ग्रंथों का उल्लेख किया है।

95. विष्णुदास

क 'शिशुप्रबोध अलंकार' (औफ्रेक्ट फ्लोरेंटाइन संस्कृत एम० एस० 469 लाइपजिग 1892)

ख 'कविकौतुक' लेखक ने ऊपरिलिखित ग्रंथ के अध्याय vii में स्वयं इसका उल्लेख किया है।

लेखक के पिता का नाम माधव था। उपर्युक्त फ्लोरेंटाइन हस्तलिपि में केवल छठा और सातवां अध्याय है। इनमें क्रमशः अर्थगुण तथा शब्दालंकारों का विवेचन है।

96. वीर नारायण

'साहित्य चिंतामणि' टीका सहित (मद्रास कैट xxii, 12265-68 उद्धरण)

पुष्पिका लेख के अनुसार तो वीर नारायण ही इस ग्रंथ के लेखक हैं, किंतु ग्रंथ के अंतर्गत उनके लिए संबोधन विभक्ति का प्रयोग किया गया है तथा 'प्रताप रुद्र' के समान उनका गुणगान किया गया है। वास्तविक लेखक वामन भट्ट बाण[1] हैं,

---

1. वामन भट्ट बाण के विषय में उनके 'पार्वती परिणय' नामक नाटक के वाणी-विलास संस्करण की भूमिका देखिए।

जिन्होंने अपने संरक्षक के नाम को अपना लिया है। तथाकथित लेखक संभवतः कोंडवीडु का रेड्डि राजा वेम (14वीं शती के आरंभ तथा 15वीं शती के अंत में) था। यह राजा, वामन (अथवा अभिनव) भट्ट बाण के गद्यमय 'वेमभूपाल चरित' अथवा 'वीरनारायण चरित' (सं० आर० वी० कृष्णाचार्य, श्रीवाणीविलास प्रेस, 1910) का कथा-नायक था। इसी राजा को पेदकोमटि भूपाल नाम से भी परिलक्षित किया गया है। 'अमरुशतक' पर 'शृंगार दीपिका' नामक टीका भी वीरनारायण (औफ्रेक्ट ii, 141b) अथवा वेम भूपाल (वही, i. 609b) रचित कही गई है। 'साहित्यचिंतामणि' (अथवा 'साहित्यचूड़ामणि' में सात अध्याय[1] हैं, जिनमें (1) ध्वनि, (2) शब्दार्थ, (3) ध्वनिभेद, (4) गुणीभूतव्यंग्य, (5) दोष, (6) गुण, तथा (7) अलंकार का विवेचन है। कुमारस्वामी ने (पृ० 97) पर तथा 'वृत्तिवार्त्तिक' (पृ० 4) पर संभवतः इसी का 'साहित्यचिंतामणि' के नाम से उल्लेख किया है।

97. वीरेश्वर पंडित (भट्टाचार्य)

(उपाधि श्रीवर)

'रस रत्नावली' इंडिया ऑफ़िस कैट iii, 1233 / 12576 पृ० 359)

ये वीरेश्वर, लक्ष्मण के पुत्र तथा वेणीदत्त के पिता थे। वेणीदत्त ने 'अलंकारचंद्रोदय' के अतिरिक्त भानु की 'रसतरंगिणी' पर एक टीका भी लिखी है (ऊपर देखिए पृ० 234)। 'रस रत्नावली' में रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' का उद्धरण दिया गया है। इसमें मुख्यतः शृंगार-रस तथा नायिका-भेद का ही विवेचन है।

98. बेचाराम न्यायालंकार

'काव्यरत्नाकर'

इन बंगाली लेखक के पिता का नाम राजाराम था। चंद्रनगर से बनारस तक के विषय पर लिखी गई अपनी 'आनंद तरंगिणी' में लेखक ने इस ग्रंथ का उल्लेख

---

1. तंजोर कैट ix संख्या 5308 पृ० 4100 में इस ग्रंथ की अध्याय-संख्या 13 बताई गई है।

किया है (मित्रा 305)। इन्होंने ज्योतिष-विषय पर भी एक ग्रंथ लिखा है। संभवतः यह वेचाराम, देवेश्वर की 'कविकल्पलता' के टीकाकार, वेचाराम से अभिन्न हैं। (ऊपर देखिए पृ० 246)।

99. वेंकपय्य प्रधान

'अलंकार-मणि-दर्पण' (राइस 280)

लेखक मैसूर के प्रधान वेंकयामात्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। तिथि 1763-80 ई०।

100. वेंकट नारायण दीक्षित

लेखक का जन्म गोड़वर्ती परिवार में हुआ। पिता का नाम कामेश्वर वैदिक तथा माता का नाम लक्ष्मी था। इन्होंने इस ग्रथ में अपने वृहद् ग्रंथ शृंगार-सारावली का उल्लेख किया है, जिसमें लेखक ने अपने विषय का विस्तृत विवेचन किया है। 'शृंगार सार' में छह उल्लास है, जिनमें (1) काव्य-स्वरूप, (2) नायक-नायिका लक्षण-विभाग, (3) नायकादि सहाय निरूपण, (4) रस-भाव-स्वरूप (5) चतुर्विध शृंगार, तथा (6) दशरूपक-स्वरूप का निरूपण है। ऐसा कहा जाता है कि लेखक ने आठ भाषाओं में ग्रंथ लिखे हैं।

101. वेंकट नारायण दीक्षित

उपाधि, तर्कालंकार वागीश्वर

'अलंकारकौस्तुभ'

लेखक का जन्म तिरुमल वुक्कपट्टणम् श्रीशैल परिवार में हुआ था। पिता का नाम अण्णयार्य दीक्षित था। सुरपुर उनका निवास-स्थान था। ये लेखक रघुनाथ के पुत्र तथा अप्पय्य के पौत्र, कवि वेंकटाचार्य (विश्वगुणादर्श' के लेखक) से भिन्न हैं। हमारे लेखक पामि नायक (मृत्यु 1802 ई०) के पुत्र वेंकट के कृपा-भाजन रहे हैं। देखिए 'जर्नल ऑफ़ आंध्र हिस्ट० रिसर्च सोसायटी xiii, i पृ० 17 तथा 20-22।

102. वेणीदत्त शर्मा, तर्कबागीश भट्टाचार्य

उपाधि, श्रीवर

'अलंकार चंद्रोदय' (इंडिया ऑफ़िस कै० iii, 1198/235)

लेखक के पिता का नाम वीरेश्वर श्रीवर था। इन्होंने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' (अन्यत्र देखिए) पर एक टीका भी लिखी है। इनकी वंशावली इस प्रकार है: महीधर (काशीपति का एक मांत्रिक)—कल्याण—लक्ष्मण—वीरेश्वर। श्रीवर इनकी उपाधि थी। इनका जन्म 'नागच्छत्र-धर-द्विजोत्तम' कुल में हुआ था। 'अलंकार चंद्रोदय' में छह उल्लास अथवा अध्याय हैं और (1) काव्यस्वरूप, (2) काव्य-विभाग, (3) दोष, (4) गुण, (5) अलंकार तथा (6) 'उपमा' इत्यादि विषयों का निरूपण है।

103. शंख, शंखधर अथवा शंखचूड़

(कहीं-कहीं इन्हें शंकर भी कहा गया है)

उपाधि, कविराज।

'कवि कर्पटी' अथवा 'कवि कर्पटिका रचना'

(जम्मू कैट० संख्या 1135 (पृ० 267) उद्धरण भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट एम० एस० कैट० xii, संख्या 42-46, उद्धरण। दरभंगा में प्रकाशित, 1892)।

'कवि कर्पटी का अर्थ है 'कवि का चीथड़ा'। इस ग्रंथ में प्रायः काव्य-प्रबंध में काम आनेवाली सूक्तियों का संग्रह किया गया है। एक ही विचार को अनेक प्रकार से अनेक छंदों में व्यक्त करने के साधन बताए गए हैं। लेखक ने 'लटकमेलक प्रहसन' (सं० दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब, निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1889) भी लिखा है। शंख कान्यकुब्ज के राजा 'महामांडलिकाधिराज' गोविंदनृपति के राजकवि थे। उनका साहित्य-रचना-कार्य 12वीं शती (लगभग 1113-1143 ई०) का पूर्वार्द्ध रहा है। शार्ङ्गधर (संख्या 155, 3632) तथा जह्लण के काव्य-संग्रह में और 'साहित्यदर्पण' (अध्याय iii, 219 पृ० 176 'गुरोर्गिराः पंच' अनामतः) में उनके श्लोकों के उद्धरण मिलते हैं। क्षेमेंद्र के 'औचित्य विचार' में

कार्पटिक के नाम से दिए गए श्लोक (श्लोक 15 के नीचे) को कल्हण (iii, 181) ने मातृगुप्त-रचित माना है। 'सुभाषितावली (3181) में भी ऐसा ही उल्लेख है।

104. शंभुनाथ

'अलंकार-लक्षण'

(पीटर्सन v. 407, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट कैट xii, संख्या 19, पृ० 18)।

105. शातकर्णि

शंकर ने 'शकुंतला' पर अपनी टीका में नाट्यशास्त्र—(सूत्रधार के विषय पर) विषयक लेखक के रूप में तथा सागरनंदी ने अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में (सूत्रधार के विषय पर) इस लेखक का उल्लेख किया है।

106. शिवराम त्रिपाठी

क. 'रसरत्नहार' तथा उसकी 'लक्ष्मी बिहार' नामक टीका (स० काव्यमाला गुच्छक 1890 पृ० 118-140 जम्मू कैट० पृ० 273 (उद्धरण)।

ख. 'अलंकार समुद्गक', अपने 'रावणपुरवध' नामक ग्रंथ के अंत में लेखक ने इसका उल्लेख किया है, तथा इसी स्थल पर अपने 34 ग्रंथों की सूची दी है। स्टीन पृ० 292.

इस लेखक के पिता का नाम कृष्णराम, पितामह का नाम त्रिलोकचंद्र तथा भाइयों के नाम गोविंदराम, मुकुंदराम तथा केशवराम थे। अधिक जानकारी के लिए जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, xxiv, 57-63 देखिए। शिवराम, अपेक्षा-

---

1. 'औचित्यविचार' पर पीटर्सन का लेख देखिए, 1885, पृ० 21. तंजोर कैट० vi, संख्या 3753-56 (पृ० 2711-14) में वार्दींद्र की 'कवि कर्पटिका' का उल्लेख है। इनमें से एक हस्तलिपि राजा सरफोजी के पास थी। उन्होंने बनारस की यात्रा में इसे प्राप्त किया था।

2. A Bod 135 a 'कवि कंठहार' नामक एक अज्ञात लेखक ग्रंथ का भी उल्लेख है।

कृत अर्वाचीन लेखक हैं। क्योंकि इन्होंने 'परिभाषेंदुशेखर' के उद्धरण दिए हैं, इसलिए इन्हें 18वीं शती के आरंभ में निर्धारित किया जा सकता है। चूँकि अपनी टीका में इन्होंने 'रसरत्नहार' का पृ० 4, 9, 193, 206 तथा 207 पर उल्लेख किया है, अतएव यह 'वासवदत्ता' के टीकाकार, शिवराम से अभिन्न हैं (देखिए, फिट्जएडवर्ड हॉल, बिब्लियोथिका इंडिका संस्करण, 1859)। 'रसरत्नहार' में 100 श्लोक हैं, जिनमें रस के लक्षण तथा नायक-नायिका-भेद का निरूपण है। लेखक ने भानुदत्त तथा 'दशरूपक' के विस्तृत उद्धरण दिए हैं। इनके अन्य ग्रंथों के लिए, औफ्रेक्ट i. 652b, ii. 152b तथा स्टीन का जम्मू कैट० पृ० 292 देखिए। इन्होंने मम्मट पर 'विषमपदी' नामक एक टीका (ऊपर देखिए पृ० 162), छंदःशास्त्र विषयक 'काव्य-लक्ष्मीप्रकाश' अथवा 'विहार', तथा 'सिद्धांतकौमुदी' पर 'विद्याविलास' नामक टीका भी लिखी है[1]।

107. शोभाकरमित्र

'अलंकार-रत्नाकर'

(सं० सी० आर० देवधर, पूना 1942)

शोभाकरमित्र काश्मीरी लेखक हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वरमित्र था। उक्त ग्रंथ में सूत्र (संख्या में 107), वृत्ति तथा उदाहरण हैं। काश्मीरी कवि, यशस्कर ने इस ग्रंथ के सूत्रों को उद्धृत किया है तथा उनके उदाहरणार्थ 'देवी स्तोत्र' की रचना की है (पीटर्सन i, पृ० 77-78, उद्धरण, पृ० 81)। रत्नकंठ (अन्यत्र देखिए) ने सूत्रों तथा स्तोत्र दोनों पर टीका लिखी है। शोभाकर की तिथि तो ज्ञात नहीं है, किंतु ग्रंथगत अलंकारों की संख्या तथा उनके लक्षणों से ये अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक प्रतीत होते हैं, ये रुय्यक के काफी समय पश्चात् हुए हैं तथा इन्होंने रुय्यक की आलोचना की है। क्योंकि जगन्नाथ (पृ० 202 = सूत्र 11)[1] तथा अप्पय्य (वृत्तिवार्त्तिक, पृ० 20) ने शोभाकरमित्र के उद्धरण दिए हैं, इसलिए ये 16वीं शती की समाप्ति से पूर्व ही हुए हैं। जयरथ ने अपनी 'विमर्शिनी' नामक टीका में शोभाकर की आलोचना के विरुद्ध रुय्यक का पक्ष लिया है। क्योंकि शोभाकर रुय्यक के पश्चात् तथा जयरथ से पूर्व हुए हैं,

---

1. ऊपर देखिए पृ० 218 (जगन्नाथ के प्रकरण में)।

इसलिए संभवतः यह 12वीं शती के अन्त में अथवा 13वीं शती के आरम्भ में हुए हैं। 'अलंकाररत्नाकर' में केवल अलंकारों का ही विवेचन है। विवेचित अलंकारों की संख्या 109 है।

108. श्रीकंठ

'रसकौमुदी'

(औफ्रेक्ट i. 494a = भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट एमएस० 18880-81; संख्या 303, कैट xii, संख्या 347, पृ० 463 इत्यादि। तथा, हरप्रसाद शास्त्री, कैट० एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एमएस vi, संख्या 4931-8383, पृ० 481, हस्तलिपि की प्रति संवत् 1652 = 1596 ई० में तैयार की गई थी।

यह ग्रन्थ साहित्य तथा संगीत-मिश्रित है। इसके पूर्व तथा उत्तर दोनों खण्डों में 10 अध्याय हैं। रचनातिथि 1575 ई०। लेखक नवानगर के राजा शत्रुघ्न अथवा शत्रुशल्य जाम (जाम सत्तरसाल) (1569 से 1608 ई० तक) का कृपापात्र रहा है।[1]

109. श्रीकर मिश्र

'अलंकार-तिलक' (औफ्रेक्ट i. 32a)

110. श्रीनिवास दीक्षित

क. 'अलंकार-कौस्तुभ' (औफ्रेक्ट i. 31b)

ख. 'काव्यदर्पण' (राइस 282)

ग. 'काव्यसारसंग्रह' (औफ्रेक्ट i. 102b; संस्कृत कॉलेज कलकत्ता कैट vii, 19)।

घ. 'साहित्यसूक्ष्मसरणि' (राइस 244)

---

1. देखिए, पी० के० गोडे०, एनाल्ज़ ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xii, 1931, पृ० 202-4 तथा xiv, 1933, पृ० 329, तथा देखिए, एम० एस० कैट० भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट xii, पृ० 463-66।

यह लेखक संभवतः राजचूड़ामणि (अन्यत्र देखिए) के पिता, रत्नाखेट श्रीनिवास से अभिन्न हैं। यदि ऐसा ही है तो उपर्युक्त 'काव्यदर्पण' इनके पिता की इसी नाम की रचना है (ऊपर देखिए पृ० 283) जिसे अधिकतर ग्रन्थ-सूचियों में यहाँ भूल से दर्ज कर दिया गया है। जैसा कि 'काव्यसारसंग्रह' के प्रथम श्लोक से सूचित होता है, इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं: (1) काव्यलक्षण संग्रह, (2) वर्ण-संग्रह, तथा (3) सुभाषित-संग्रह। इसमें 'काव्यप्रकाश' के उद्धरण मिलते हैं। तिथि लगभग 1800 ई०।

111. सागरनंदी

'नाटक-लक्षण-रत्न-कोश'

(सं० माइल्स डिल्लन, ऑक्सफोर्ड यूनि० 1937)।

सिल्वाँ लेवी ने नेपाल में इस ग्रन्थ की एक अद्वितीय हस्तलिपि की खोज की थी। प्रकाशित ग्रन्थ उसी हस्तलिपि का देवनागरी में प्रतिलेख है।[1] जैसा कि नाम से सूचित होता है, इस ग्रंथ में अनेक प्रसिद्ध लेखकों के नाट्यशास्त्र-विषयक महत्त्वपूर्ण विचारो का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ की तिथि[2] निश्चित नहीं है। चूंकि इसमें राजशेखर की 'काव्यमीसांसा' का एक उद्धरण दिया गया है (पृ० 44, 'विलास विन्यास क्रमो) इसलिए यह 10वीं शती के प्रथम चरण से पूर्व का नहीं हो सकता। दूसरी ओर, रायमुकुट (1431 ई०), विश्वनाथ (1300 तथा 1350 के बीच) तथा बहुरूप मिश्र (1250 ई० के पश्चात्) इस ग्रंथ से परिचित थे। ग्रंथ में इन विषयों का निरूपण है: (1) रूपक तथा उसके दस भेद; (2—5) पंच अवस्था, प्रयुक्त बोलियाँ, पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, (6—10) पाँच उपक्षेपक, 5 संधियाँ, संधि के 21 प्रदेश,

---

1. सि० लेवी, 'जर्नल एशियाटिक xciii, 1923, पृ० 210 इत्यादि।

2. तिथि संबंधी चर्चा के लिए देखिए, पी० के० गोडे, एनाल्ज़ ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, xix, 1938, पृ० 280-88 ('स्टडीज' i. पृ० 48-56) एम० रामकृष्ण कवि, एन० आई० ए० ii. पृ० 412-19. पाठविषयक चर्चा के लिए देखिए वी० राघवन, 'जर्नल ऑफ़ दि यूनि० ऑफ़ गौहाटी, .iii, 1952 पृ० 17-33 तथा 'एनाल्ज़ ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास यूनि० xvi, 1958-59.

चार पताकास्थान, वृत्तियाँ तथा उनके भेद; (11) नायक के गुण, (12-13) छत्तीस नाट्यलक्षण, दस गुण, चौंतीस नाट्यालंकार, (14-16) रस तथा भाव (17) नायिका-भेद तथा उनके गुण, (18) रूपक के उपभेद। पूर्वोक्त विषयों पर मतमतांतरों के संग्रह तथा बहुत बड़ी संख्या में नाटकसंबंधी एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों के उद्धरणों के कारण यह ग्रंथ बड़ा महत्वपूर्ण है[1]।

112. सामराज दीक्षित

'शृंगारामृत लहरी'

(सं० काव्यमाला गुच्छक xiv; हस्तलिपि : जम्मू कैट० संख्या 1243; मद्रास कैट xxii, 12961)।

लेखक का दूसरा नाम श्यामराज था। पिता का नरहरि विंदुपुरंदर था। उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त सामराज ने 'त्रिपुरसुंदरी मानसपूजन स्तोत्र' (सं० काव्यमाला गुच्छक ix) तथा अन्य काव्य भी लिखे हैं। श्यामराज 17वीं शती के उत्तरार्द्ध में मथुरा में रहते थे। उनका 'शृंगार-कालिका-काव्य', काव्यमाला गुच्छक xiv के अंतर्गत प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने 'धूर्तनर्तक'[2] नामक एक प्रहसन भी लिखा है। श्यामराज के पौत्र व्रजराज तथा प्रपौत्र जीवराज ने क्रमशः भानुदत्त की 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' पर टीकाएँ लिखी हैं। (अन्यत्र देखिए। शृंगारामृत लहरी' में रस, विशेषतया शृंगार रस, का भानुदत्त के मतानुसार विवेचन है। श्यामराज ने 1681 ई० में बुंदेल राजा आनंदराज के लिए 'श्रीदामचरित' नाटक लिखा था। रामराज के पुत्र कामराज ने 15 उल्लास (अथवा, कला) युक्त 'काव्येंदुप्रकाश' की रचना की है। यह ग्रंथ संभवतः वही है, जिसका अज्ञात लेखक के रूप में भंडारकार रिपोर्ट 1887-91 संख्या 601 तथा भंडारकर, ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट एमएस कैट xii संख्या 142, पृ०

---

1. लेखकों तथा ग्रंथों की सूची के लिए, उपर्युक्त सं० पृ० 145-47 तथा पी० के० गोडे का पूर्वोक्त ग्रंथ पृ० 485 पा० टि० देखिए। अश्मकुट्ट (लाइन 83, 437 2766, 2775), चारायण (392, वात्स्यायन के 'कामसूत्र अध्या० 1.1.12; 1.5, 22 से भी इसका उल्लेख है) तथा बादर का 'नाट्यशास्त्र' विषयक लेखन के रूप में उल्लेख है।
2. विल्सन ii. 407 कीथ, संस्कृत ड्रामा पृ०, 262-63।

158-60 में उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ के विषय में उक्त रिपोर्ट तथा ग्रंथ-सूची देखिए।

एक सामराज ने 1719 ई० में 'रति-कल्लोलिनी' नामक ग्रंथ लिखा है, किंतु उन्होंने अपने पिता का नाम नहीं दिया। वे संभवत: एक भिन्न व्यक्ति हैं[1]।

113. सायण

'अलंकार सुधानिधि'

अप्पय्य दीक्षित तथा कुमारस्वामी ने इनका उल्लेख किया है। ऊपर देखिए पृ० 208, पा० टि० 3.

114. सुखदेव मिश्र

'शृंगार-लता' (औफ्रेक्ट i. 661a)

पीटर्सन iv संख्या 770 (परिशिष्ट पृ० 29) में सुखदेव के 'रसार्णव' नामक एक भाषा-ग्रंथ का उल्लेख है।

115. सुखलाल

'अलंकार मंजरी' (औफ्रेक्ट्स फ्लोरेंटाइन संस्कृत एम० एस० 'लाइपजिग' 1892, 213)।

गंगेश के शिष्य सुखलाल तथा उनके पुत्र हरिप्रसाद (अन्यत्र देखिए) ने जयदेव की कारिकाओं का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। औफ्रेक्ट के मतानुसार ये लेखक लगभग 1740 ई० में हुए हैं। ग्रंथ का आरंभ 'उपमा' से होता है, तदुपरांत उसमें रूपक, परिणाम, स्मृतिमत्, भ्रांतिमत्, संदेह, उत्प्रेक्षा नामक अलंकारों का विवेचन है। यहीं हस्तलिपि समाप्त हो जाती है। स्टीन 75 तथा उलवर कैट० संख्या 1083 (उद्धरण 230) में बाबूराम मिश्र के पुत्र, सुखलाल के, संवत् 1801 = 1745 ई० में लिखे 'शृंगारमाला' नामक एक काव्य का उल्लेख है।

---

1. देखिए पी० के० गोडे, 'एनाल्ज़ ऑफ़ दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, x पृ० 158-59।

116. सुधाकर पुंडरीक याजिन्

शृंगारसरोदधि (औफ्रेक्ट iii, 137b)

117. सुधींद्र योगिन अथवा यति

'अलंकार-निकर्ष'

(मद्रास कैट० xxii. 12976, उद्धरण)

'अलंकारमंजरी'; सुमतींद्र की 'मधुधारा' नामक टीका सहित (तंजोर कैट० ix, 5129-30)

'अलंकार निकर्ष' अर्थालंकार विषयक एक लघु ग्रंथ है। पुष्पिका में लेखक का उपर्युक्त नाम ही दिया गया है, किंतु ग्रंथ में ऐसा कहा गया है कि लेखक ने इस विषय के प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के मतानुसार अर्थालंकारों का विवेचन किया है तथा उदाहरण श्लोकों में माधव-संप्रदाय के अनुयायी, स्वयं सुधींद्र यति का गुणगान किया है। संभवतः यह विजयींद्र यति (मृत्यु 1623 ई०) के शिष्य तथा उत्तराधिकारी, सुधींद्र यति ही हैं। ओपर्ट 4797 में उल्लिखित 'अलंकार निकर्ष' संभवतः यही ग्रंथ है। सुधींद्र यति का एक अन्य ग्रंथ 'अलंकार मंजरी' है जिसके उदाहरण-श्लोकों में उन्होंने अपने गुरु, विजयींद्र की स्तुति की है। अधिकृत हस्तलिपियों में केवल शब्दालंकार ही हैं। सुधींद्र के उत्तराधिकारी, सुमतींद्र ने इस ग्रंथ पर 'मधुधारा' नामक एक टीका भी लिखी है। ऐसा कहा गया है कि सुधींद्र 17वीं शती में तंजौर जिले में निवास करते थे। सुधींद्र यति को मद्रास कैट० xxi संख्या 12729 में 'सुभद्रा परिणय' नामक नाटक का लेखक, तथा विजयींद्र यति को, वही, संख्या 12728 में 'सुभद्राधनंजय' नामक नाटक का लेखक माना गया है।

118. सुंदर मिश्र अजागरि

'नाट्य-प्रदीप' (औफ्रेक्ट i. 284b, 791a)

इस ग्रंथ की तिथि 1613 ई० दी गई है। 'शकुंतला' (सं० निर्णयसागर प्रेस, 1886, पृ० 6) पर राघव भट्ट ने अपनी टीका में इसका उल्लेख किया है। ग्रंथ में 'दशरूपक' के एक बड़े अंश का उद्धरण दिया गया है (हाल के सं० की

भूमिका देखिए)। स्वयं इस ग्रंथ में 'साहित्यदर्पण' का उल्लेख किया गया है। ये लेखक वही सुंदर मिश्र हैं, जिन्होंने 1599 ई० में 'अभिराममणि-नाटक' की रचना की थी। उन्होंने स्वयं को इस नाटक का लेखक कहा है। (ABod 137b-13 a कीलहार्न 'सेंट्रल प्राविंसेज़' पृ० 68, विलसन ii, पृ० 395)। देखिए, इंडिया ऑफ़िस कैट iii, पृ० 347-48 संख्या, 1199/1148d. (उद्धरण)।

119. सोमनार्य

'नाट्य चूड़ामणि'

(मद्रास कैट० xxii. 12998, तेलुगु टीका सहित)

नृत्य-संगीत विषयक यह एक बहुत अर्वाचीन ग्रंथ है।[1] लेखक को अष्टावधान (आठ वस्तुओं पर युगपद ध्यान करने की योग्यता) के लिए प्रसिद्ध कहा गया है।

120. हरिदास

'प्रस्ताव-रत्नाकर'

वेवर 827; औफ्रेक्ट i. 360a, ii 212a, iii. 77a)

लेखक के पिता का नाम पुरुषोत्तम था। उनका जन्म करण कुल में हुआ था। ग्रंथ पद्यमय है। इसमें कूट, समस्या, सामान्य प्रहेलिका, प्रबंध तथा नीति, ज्योतिष इत्यादि विविध विषयों का विवेचन है। रचना-तिथि 1557 ई० है।

121. हरिप्रसाद माथुर

क. 'काव्यार्थ गुंफ'

(औफ्रेक्ट ii. 20b; भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि कैट० xii, संख्या 131, पृ० 145. हस्तलिपि पर संवत् 1775 लिखा हुआ है।

---

1. देखिए, वी० राघवन् का जर्नल आफ़ मद्रास म्यूजिक एकेडमी iv, में परवर्ती संगीत-साहित्य पर लेख।

ख. 'काव्यालोक'

(औफ़ेक्ट i. 103a; पीटर्सन iii, पृ० 356-7 पर उद्धरण)

'काव्यालोक' में सात प्रकाश हैं, तिथि-संवत् 1734 = 1728 ई० दी गई है। 'काव्यार्थ गुंफ' की एक हस्तलिपि पर संवत् 1775 अंकित है, जिससे संभवतः इसकी रचना-तिथि लक्षित होती है। हरिप्रसाद ने आचार (मासादि निरूपण) विषयक एक अन्य ग्रथ भी लिखा है, देखिए, पीटर्सन iv, पृ० cxxxvii अप्पय्य ने अपनी 'चित्र-मीमांसा में एक 'काव्यालोक' का उल्लेख किया है। पृ० 73 पर कुमारस्वामी द्वारा उल्लिखित 'काव्यालोक' में 'ध्वन्यालोक' का उल्लेख है (पृ० 221)। जैसा कि हरिचंद शास्त्री (पृ० 27 संख्या 234) ने गलती से मान लिया है, उससे 'काव्यालोक' लक्षित नहीं होता। लेखक के पिता का नाम माथुर मिश्र गंगेश था (सुखलाल के प्रकरण में ऊपर देखिए)।

122. हरिहर

क. 'शृंगार-भेद-प्रदीप' (बर्नेल 59a)

ख. 'विद्वलंकार,' दीपक पर 'एकावली' टीका पृ० 242 में इसका उल्लेख है।

'एकावली' पृ० 19 पर हरिहर नामक एक लेखक का उल्लेख है। उसने अर्जुन नामक एक राजा से अपार धन-संपत्ति प्राप्त की थी। भंडारकर तथा त्रिवेदी (ऊपर देखिए पृ० 190) ने इस अर्जुन को मालवा-नरेश अर्जुनवर्मा माना है, जिसकी पहली तथा पिछली तिथियाँ 1211 तथा 1216 ई० हैं। यदि यह हरिहर ही अपना लेखक है तो इसकी तिथि 13वीं शती का प्रथम चरण ही हो सकती है। जैसा कि विश्वेश्वर ने अपनी 'रसचंद्रिका' (पृ० 55) में शृंगार-भेद-प्रदीप' के एक उद्धृत अंश से सूचित किया है, इस ग्रंथ में अन्य विषयों के अतिरिक्त विप्रलंभ शृंगार की दस अवस्थाओं की चर्चा की गई है।

123. हलधर रथ

'काव्य-तत्व-विचार'

(हरप्रसाद शास्त्री की रिपोर्ट, 1895, 1900 पृ० 16)

अज्ञात लेखक ग्रंथ

अलंकारविषयक कुछ अल्पप्रसिद्ध ग्रंथों की सूची नीचे दी जा रही है। लेखकों के नाम अज्ञात अथवा अनिश्चित हैं।

(1) 'अलंकार कारिका' औफ्रेक्ट i. 31b.

(2) 'अलंकार कौमुदी व्याख्या'। मद्रास कैट० xxii, 12784. न तो मूल ग्रंथ के लेखक का नाम दिया गया है और न ही टीकाकार का इसमें काव्यालंकारों का विवेचन है।

(3) 'अलंकार चंद्रिका'। राइस 284 (औफ्रेक्ट i, 32)

(4) 'अलंकार दर्पण,' प्राकृत में। इसमें 134 श्लोक हैं, जिनमें काव्यालंकारों का विवेचन है। Monatsber. Berl Akad, 1874-282.

(5) 'अलंकार प्रकरण'। SgS i, संख्या 52.

(6) 'अलंकार प्रकाशिका' मद्रास कैट० xii, 12791 इसमें काव्यालंकारों का विवेचन है: 'काव्यप्रकाश' से उद्धरण दिए गए हैं।

(7) 'अलंकार मयूख'। ओपर्ट 1754 (औफ्रेक्ट i, 32)।

(8) 'अलंकारवादार्थ'। इसमें शब्दभेद पर चर्चा है, जिसका आरंभ 'साहित्यदर्पण' से किया गया है। हरप्रसाद शास्त्री, i, 12.

(9) 'अलंकार-संग्रह' मद्रास कैट० xxii, 12795. इसमें विधि काव्यालकारों की गणना तथा उनका वर्गीकरण किया गया है।

(10) 'अलंकार-सर्वस्व'। मद्रास कैट० xxii, 12798 (हस्तलिपि अपूर्ण है)। लेखक के कथनानुसार उनके गुरु ने राजा गोपालदेव के यशोगान के उपलक्ष्य में अलंकारविषयक एक ग्रंथ लिखा था। उक्त ग्रंथ में सामान्य अलंकार-विषयों की चर्चा है, किंतु हस्तलिपि अधूरी है, गुणप्रकरण के साथ ही समाप्त हो जाती है। यह ग्रंथ 'प्रतापरुद्रीय' को तोड़-मरोड़कर लिखा गया प्रतीत होता है। लेखक के नाम की अनिश्चितता के संबंध में, वी० राघवन्, न्यू कैट० i 2976

'नंबर ऑफ़ रसाज़' पृ० 50, तथा परिशिष्ट के अंतर्गत टिप्पणी भी देखिए।

(11) 'अलंकारानुक्रमणिका' : ओपर्ट 5489 (औफ्रेक्ट i. 32b)

(12) 'अलंकारेश्वर' : शिवराम ने 'वासवदत्ता' की टीका, पृ० 4, पर इसका उल्लेख किया है।

(13) 'कविकंठपाश' : देखिए पृ० 263, 286 पाद-टिप्पणी 2. मद्रास कैट० 12802-03।

(14) 'कविकल्पलता' : बर्नेल 54a.

(15) 'कविसरणदीपिका' : काव्य-प्रबंधविषयक यह ग्रंथ, रत्नेश्वर-रचित कहा गया है। हरप्रसाद शास्त्री, कैट० एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल पांडुलिपि vi, संख्या 4915A/8069, पृ० 471-73।

(16) 'काव्यकलाप' : औफ्रेक्ट i. 100b

(17) 'काव्यकौस्तुभ' : ओपर्ट ii. 3616 (औफ्रेक्ट i. 101a)।

(18) 'काव्य दीपिका' : ओपर्ट 541, 636, मद्रास कैट० xxii, 12815 प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए है। संभवतः यह कांतिचंद्र रचित 'काव्यदीपिका' ही है। (आगे देखिए)।

(19) 'काव्यपरिच्छेद' : ओपर्ट ii. 8727.

(20) 'काव्यरत्न' ओपर्ट ii, 6237. ऊपर देखिए पृ० 203.

(21) 'काव्यलक्षण' : मद्रास कैट० xxii, 12829, यह 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं के आधार पर लिखा गया है, किंतु नाट्य पर एक अध्याय अतिरिक्त है (तुलना कीजिए, ओपर्ट, 1793 तथा ii, 6238)।

(22) 'काव्य-लक्षण-विचार' : मद्रास कैट० xxii, 12979, सामान्य अलंकार-विषयक एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रंथ है। इसमें 'चित्रमीमांसा' तथा 'रसगंगाधर' के उद्धरण हैं।

(23) 'काव्यामृततरंगिणी' : देखिए पृ० 163.

(24) 'काव्योपदेश' : 'रघुवंश' पर अपनी टीका में हेमाद्रि ने इसका उल्लेख किया है (औफ्रेक्ट i, 103a)।

(25) 'दशरूपक विवरण' : मद्रास कैट० xxii, 12892, यह 'दशरूपक' की टीका न होकर एक लघु संकलन ग्रंथ है, जिसमें नाट्य-प्रबंध की विशेषताओं की व्याख्या की गई है। संभवत: यह काव्यालंकार के किसी वृहद् ग्रंथ का नाटक-भाग है। इसमें 'दशरूपक' का नामशः उल्लेख है।

(26) 'नाटकरत्नकोश' : रायमुकुट तथा भानुजी ने इसका उल्लेख किया है। A Bod, 182b. यह सागर नंदी का नाटकलक्षण-रत्नकोश हो सकता है; देखिए पृ० 298, संख्या 111.

(27) 'नाटकावतार' : मोहनदास (अन्यत्र देखिए) ने इसका उल्लेख किया है। A Bod 142a.

(28) 'नाट्यदर्पण' : विक्रमोर्वशीय (सं० निर्णयसागर प्रेस 1914, पृ० 7) की टीका में रंगनाथ ने, तथा भट्टि काव्य अध्याय xiv. 3 की टीका में भरतमल्लिक ने इसका उल्लेख किया है। देखिए पृ० 284 संख्या 82.

(29) 'नाट्यसर्वस्व दीपिका' : भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि संख्या 41, वर्ष 1916-18 (कैट० xii, संख्या 344, पृ० 453)। इस ग्रंथ का उद्देश्य तथाकथित 'आदिभरत' की व्याख्या करना है। इसमें 5 स्कंध, 32 अध्याय, तथा 221 प्रकरणों का आयोजन था। मैसूर की 'आदिभरत' हस्तलिपि में इसका केवल एक अंश ही प्राप्त है। इस हस्तलिपि तथा उस ग्रंथ के विवरण के लिए सुशीलकुमार डे रचित 'सम प्रॉब्लम्स ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स' कलकत्ता 1959 पृ० 156-76 में 'दि प्रॉब्लम ऑफ़ भरत एंड आदिभरत' प्रकरण देखिए।

(30) 'रसकलिका' : वासुदेव ने 'कर्पूरमंजरी' की टीका में इसका उल्लेख किया है (औफ़्रेक्ट i, 494a)। रुद्रभट्ट की 'रसकलिका' के संबंध में वी० राघवन का 'नम्बर ऑफ रसाज़' पृ० 53 इत्यादि देखिए। यह ग्रंथ गवर्नमेंट ओरिएंटल लाइब्रेरी, मद्रास की दो हस्तलिपियों में प्राप्य है (संख्या आर० 2241 तथा 3274)। यह ग्रन्थ वही है, जिसका वासुदेव ने उल्लेख किया है। वासुदेव द्वारा उल्लिखित कुल छह श्लोक इसमें भी हैं।

(31) 'रसकौमुदी' : पीटर्सन v, संख्या 414, पी० के० गोडे (कलकत्ता ओरिएंटल जर्नल iii, पृ० 33-37) का अनुमान है कि इस अज्ञात लेखक टीका की संभव तिथि 18वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

(32) 'रसगन्ध' : राइस 286 (औफ्रेक्ट i, 494b)।

(33) 'रस-गांधार' : औफ्रेक्ट i, 494b (यह जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर' का अशुद्ध नाम भी हो सकता है।)

(34) 'रसरत्नाकर' : मल्लिनाथ ने 'किरात' अध्याय ix. 71 तथा 'मेघदूत' (सं० नन्दर्गीकर, 1894 पृ० 64, 67, 85, 91) की टीकाओं में इसका उल्लेख किया है। औफ्रेक्ट i, 496a (टीका हृदयराम रचित।)

(35) 'रसरत्नकोश' : अज्ञात लेखक; औफ्रेक्ट i, 495b में इसका उल्लेख है, किंतु यह समान नाम का कुंभ का ग्रन्थ भी हो सकता है (देखिए पृ० 256।)

(36) 'रस-विंदु' तथा 'रसामृत-सिंधु' : कयवटे संख्या 703 तथा 707:, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पांडुलिपि कैट० xii, संख्या 212, पृ० 245-46.

(37) 'रसविवेक' : मद्रास Trm. C, 589 (तुलना कीजिए, ओपर्ट 5144।)

(38) 'रससमुच्चय' : औफ्रेक्ट i, 496b.

(39) 'रस सागर' : मल्लिनाथ ने 'शिशुपाल' xv, 89 की टीका में इसका उल्लेख किया है।

(40) 'रससुधाकर' : मल्लिनाथ ने 'रघु' vi. 12 की टीका में इसका उल्लेख किया है। 'कुमार' पर अपनी टीका में मल्लिनाथ ने वास्तव में शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में देखिए पृ० 222-223.

(41) 'रसाकर' : 'मेघदूत' (सं० यथोक्त, पृ० 87, 97 पर अपनी टीका में मल्लिनाथ ने इसका उल्लेख किया है।

(42) 'रसिकसर्वस्व' : 'गीतगोविंद' v. 2, की टीका में नारायण ने इसका

उल्लेख किया है। 'अनर्घराघव' (निर्णयसागर प्रेस, सं०) पर अपनी टीका पृ० 13 पर रुचिपति ने भी इसका उल्लेख किया है।

(43) 'रहस्य' : संभवत: यह किसी अधिक निश्चित ग्रंथ का संक्षिप्त रूप है। मल्लिनाथ ने 'किरात' iii-60, xiv-40 तथा 'शिशुपाल वध' xiii-10 पर अपनी टीकाओं में इसका उल्लेख किया है।

(44) 'शृंगारकौस्तुभ' : राइस 288 (औफ्रेक्ट i, 660b.)

(45) 'शृंगारचन्द्रोदय' : 'प्रस्ताव-चिंतामणि' में इसका उल्लेख है। वेवर i, पृ० 229।

(46) 'शृंगार तरंगिणी' : ओपर्ट 2465 राइस 288 (=औफ्रेक्ट i-660b।)

(47) 'शृंगारपावन' : ओपर्ट 5766 (औफ्रेक्ट i, 661a.)

(48) 'शृंगारमंजरी' : औफ्रेक्ट i, 661a.

(49) 'शृंगार विधि' : ओपर्ट 5680 (औफ्रेक्ट i, 661a.)

(50) 'शृंगाररत्नाकर' : औफ्रेक्ट ii, 158a.

ग्रंथसूचियों में दिए गए उल्लेखों अथवा विवरणो से उपर्युक्त रस तथा शृंगार विषयक प्रत्येक ग्रथ के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट नहीं होती कि अमुक ग्रंथ वास्तव में अलंकारविषयक है अथवा कामशास्त्रविषयक ग्रंथों के समान है। जहाँ तक संभव है, कामशास्त्रीय ग्रंथों को उपर्युक्त सूची में शामिल नहीं किया गया है।

काव्यालंकारविषयक 19वीं शती के अंतिम भाग में लिखे गए संस्कृत के अर्वाचीन ग्रंथ ये हैं :

(1) 'अलंकार-सूत्र' : लेखक चन्द्रकांत तर्कालंकार। चन्द्रकांत एक बंगाली पंडित थे। इनकी स्मृति अभी तक बनी हुई है। (प्रकाशन कलकत्ता, 1899।)

(2) 'यशोवंतयशोभूषण' : लेखक पंडित रामकर्ण। यह ग्रंथ राजस्थान के यशोवंत नामक राजा की स्तुति में लिखा गया है। (प्रकाशन गोध-पुर, 1897.)

(3) 'अलंकार मणिहार' : लेखक श्रीकृष्ण ब्रह्मचारी। मैसूर गवर्नमेंट ओरिएंटल सीरीज के अन्तर्गत 4 खंडों, संख्या, 51, 85, 68, 72 में प्रकाशित हुआ है। लेखक का नाम कृष्णब्रह्मतंत्र परकाल स्वामी दिया गया है। ये मैसूर के परकाल वैष्णव मठ के मठाधीश थे।

(4) 'काव्यदीपिका' : लेखक कांतिचंद्र मुखोपाध्याय विद्यारत्न (सं० कलकत्ता 1870, 1886 जीवानंद विद्यासागर की टीका सहित 1919; सं० हरिदत्त शास्त्री, लाहौर 1939. हिंदी तथा संस्कृत टीकाओं सहित)। इसमें प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए मम्मट इत्यादि आचार्यों के उद्धरणों का संकलन किया गया है। ये अर्वाचीन लेखक 19वीं शती में हुए हैं।

(5) 'अलंकारसारमंजरी' : मूलपाठ संस्कृत तथा हिंदी-टीका सहित, लेखक नारायण शास्त्री खिस्ते, सं० नरहरि शास्त्री थत्ते, चौखंबा संस्कृत सीरीज 1933।

—:०:—

उपसंहार

(1)

पिछले पृष्ठों में संस्कृत के अलंकार-विषयक साहित्य की नानारूपता तथा विशालता प्रदर्शित करने के साथ-साथ ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से उपयोगी, एवं सापेक्ष कालक्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अज्ञात आरम्भ, तथा यदि भरत को छोड़ दिया जाय तो, इसके ऐतिहासिक विकास की अवधि मोटे तौर से 800 से 1800 ई० तक के 1000 वर्षों में निर्धारित की जा सकती है। रचनात्मक चिंतन की विशालता तथा सूक्ष्मता इस काल की विशेषताएँ रही हैं। आदि विकास का केंद्र काश्मीर रहा है। काव्यालकार के अधिकतर मौलिक तथा प्रसिद्ध आचार्य काश्मीरी ही थे। दो प्राचीन आचार्यों, भरत तथा भामह, के निवासस्थान तो वास्तव में ज्ञात नहीं हैं, किन्तु उनके पश्चात् वामन, उद्भट, रुद्रट, मुकुल, आनंदवर्धन, लोल्लट, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त, क्षेमेंद्र, कुंतक, मम्मट तथा रुय्यक प्रभृति आचार्य सभी काश्मीर-निवासी थे। दण्डी ही एक महत्वपूर्ण आचार्य हैं, जो संभवतः दक्षिण भारत में हुए हैं। परवर्ती काल में मध्य भारत, गुजरात, दक्षिण भारत तथा बंगाल में भी इस शास्त्र का अनुशीलन फैल गया। इसमें संदेह नहीं कि दक्षिण भारत के धुरंधर विद्वानों ने इस शास्त्र की परंपरा को जीवित रखा। उनकी कृतियाँ अधिक मौलिक नहीं हैं, यह दूसरी बात है; किंतु परवर्ती काल की भीमकाय रचनाएँ विवेचन की दृष्टि के यदाकदा सूक्ष्मतर होने पर भी, काश्मीर के मौलिक रचनाकार्य को विस्थापित नहीं कर सकतीं। अलंकार-शास्त्र का उद्गम काश्मीर में भले ही न हुआ हो, किंतु उसका विकास वहीं हुआ था। मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण भारत तथा बंगाल के लेखकों ने इस शास्त्र के आदि काश्मीरी आचार्यों को प्रमाण मानकर उनकी परंपरा को बनाए रखा है।

(2)

यद्यपि काव्यशास्त्र के इतिहास की अवधि एक सहस्र वर्ष से भी अधिक है, तथापि इसमें अनेक सोपान स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। आनंदवर्धन की तिथि के साथ ही इस शास्त्र का कालक्रम तथा इतिहास आरंभ होता है। इसी तिथि को सीमाचिह्न मानकर आचार्यों अथवा उनकी रचनाओं की पूर्वापरता निश्चित की जा सकती है। मम्मट के चिर-प्रतिष्ठित ग्रंथ ने स्वयं आनंदवर्धन की रचना को एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया है। आनंदवर्धन से पूर्वापर विद्यमान सिद्धांतों तथा आनंदवर्धन के सिद्धांत का पारस्परिक संबंध ही सर्वोत्तम प्रवृत्तियों का मार्गदर्शक हुआ और अंत में मम्मट के एकमात्र, स्पष्ट, प्रामाणिक तथा सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत में विलीन हो गया। वास्तव में आनंदवर्धन ने काव्य में ध्वनि के नवीन सिद्धांतों की स्थापना के अतिरिक्त, पूर्ववर्ती भामह, वामन प्रभृति आचार्यों द्वारा विकसित तथा भरत के परवर्ती नाट्य-रस-विषयक-लेखकों के विभिन्न सिद्धांतों में उपलब्ध विचारों का परिष्कार करने के पश्चात् उन्हें एक समुचित तथा व्यापक सिद्धांत के रूप में संबद्ध किया था। मम्मट ने उसी सिद्धांत को संक्षिप्त, सुबोध तथा पद्धतिबद्ध पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया।

(3)

भामह का 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ काव्य-शास्त्र की प्राचीनतम रचना है। इसमें काव्यालंकारों का पहली बार पद्धति-बद्ध विवेचन है। ऐसे प्रमाण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि 'काव्यालंकार' की रचना से पूर्व, इस शास्त्र के अनुशीलन के अज्ञात आरंभ की अनेक शतियों की अवधि अवश्य रही होगी। इस दीर्घ काल के अंतर्गत अलंकारविषयक चिंतन के संकेत भरत के ग्रंथ में, तथा भामह से पूर्व मेधावी-जैसे आचार्यों के उद्धृत विचारों, अथवा यत्रतत्र विकीर्ण उल्लेखों अथवा अलंकारविषयक ऐसे ग्रंथों में मिलते हैं जिनका सामान्यतः काव्यकारों ने और विशेषतया भट्टि ने अपने ग्रंथों में उपयोग किया है। इस काल के आरंभ में केवल चार अलंकारों, उनके लक्षणों, काव्य के दस गुणों तथा दस दोषों का ही वर्णन मिलता है, किंतु इस काल के अंत में भट्टि-काव्य के अंतर्गत अड़तीस स्वतंत्र तथा परिष्कृत अलंकारों का परिपाक हो चुका था। इस काल में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि भरत ने नाट्यशास्त्र की सूक्ष्म रूप

से तथा रस-शास्त्र की आनुषंगिक रूप से व्याख्या की; किंतु रस-शास्त्र का काव्य-शास्त्र से उतना घनिष्ठ संबंध नहीं है, जितना नाटक तथा नाट्यशास्त्र से है।

उपर्युक्त प्रारंभिक विकास के पश्चात् अपेक्षाकृत संक्षिप्त, किंतु अनुशीलन की पुष्टि से विशिष्ट रचनात्मक प्रतिभा का युग है। इसका आरंभ आचर्य भामह से हुआ तथा समाप्ति आनंदवर्धन से हुई। इस युग में संस्कृत काव्यशास्त्र की आधारभूत अधिकतम समस्याओं पर चिंतन के पश्चात् सिद्धांतों की स्थापना की गई। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रक ने काव्य के विभिन्न आलंकारिक साधनों का विवेचन किया, जिन्हें काव्यालंकार कहा जाता है। यह विवेचन अलंकार के बाह्य साधनों अथवा अलंकार-सिद्धांत तक ही सीमित था। इसी विवेचन के आधार पर इस शास्त्र का नामकरण हुआ तथा इसे एक मूल परंपरा की प्राप्ति हुई। दूसरी ओर आचार्य दंडी तथा वामन ने काव्य की अभिव्यक्ति में सौंदर्य के प्रसाधन, मार्ग अथवा रीति तथा उसके दस गुणों पर विशेष बल दिया। इन दोनों पद्धतियों ने काव्य में क्रमशः अलंकार तथा रीति पर बल दिया है, ताकि काव्य में उद्दिष्ट अभिव्यक्ति की सिद्धि हो सके। काव्यरचना में इन दोनों पद्धतियों का प्रयोग पर्याप्त रूप में लाभदायक समझा गया। इन पद्धतियों का उद्देश्य काव्य में दोषों का निवारण, गुणों की सिद्धि तथा अलंकारों का वर्णन था। इसी आधार पर इस शास्त्र को अलंकारशास्त्र अथवा काव्य-सौंदर्य का विज्ञान नाम से अभिहित किया गया।

इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त भरत पर टीका लिखनेवाले लोल्लट शंकुक प्रभृति लेखक भी हुए हैं, जिन्होंने रस के सौंदर्यबोधात्मक सिद्धांत भाव अनुभाव तथा रस के महत्व का प्रतिपादन किया। दंडी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट प्रभृति विपक्षी सैद्धांतिक भी, इन लेखकों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनकी रचनाएँ काव्यगत इस नवीन धारा के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को स्पष्ट रूप में परिलक्षित करती हैं, किंतु इस समय तक रससिद्धांत का विवेचन मुख्य रूप में नाट्य-कला तक ही सीमित था। सबसे पहले ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने ही काव्य में रस के महत्व का पूर्ण रूप से अनुभव किया।

इन नवीन सैद्धांतिकों के मतानुसार, नाट्यशास्त्र की तरह, अलंकारशास्त्र की किसी भी पद्धति में काव्य भावों अनुभावों, तथा रसों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतएव काव्यशास्त्र में भी रस को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। आनंदवर्धन इस मत के प्रवर्तकों के अग्रणी थे। इस प्रकार नाटक में जिन रससंबंधी

सिद्धांतों को पहले से ही मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, उन्हीं सिद्धांतों में बड़ा परिवर्तन भी प्रयोग किया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप काव्य-सिद्धांत में बड़ा परिवर्तन हुआ। रस को काव्य की आत्मा माना जाने लगा और रस को काव्य-सिद्धांत के अनुकूल बनाने के लिए नवीन पद्धति ने अभिव्यक्ति के साधनरूप-ध्वनि-सिद्धांत का आविष्कार किया। अपनी पद्धति में रस-सिद्धांत के समावेश से नवीन धारा के प्रवर्तक संतुष्ट नहीं हुए; उन्होने अलंकार तथा रीति (तथा रीति के अंग अर्थात् काव्य-गुण तथा काव्य-दोष) से संबंधित अब तक के संचित विचारों का सूक्ष्म रूप से अन्वीक्षण किया, ताकि ध्वनि तथा रस के नवीन विचारों से उनका सहसंबंध स्थापित किया जा सके और इस प्रकार प्राचीन तथा नवीन धाराओं के संश्लेषण से काव्यशास्त्र के एक व्यापक सिद्धांत की स्थापना हो सके।

आनंदवर्धन तथा मम्मट के अंतर्वर्ती काल में नवीन पद्धति की सूक्ष्मताओं को सुनिश्चित किया गया। अंत में मम्मट के सिद्धांत-ग्रंथ के फलस्वरूप नवीन सिद्धांत को ही एकमात्र मान्य सिद्धांत स्थिर किया गया। मम्मट की रचना पूर्ण रूप से सफल रचना थी, अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने नवीन ध्वनि-सिद्धांत को प्रामाणिक माना। मम्मट के पश्चात् जिन नवीन सिद्धांतों का आविर्भाव हुआ, उन्हें वास्तव में स्वतंत्र सिद्धांत नहीं माना जा सकता।

4

किंतु कोई भी सिद्धांत, भले ही वह कितना भी सुव्यवस्थित अथवा व्यापक क्यों न हो, निर्विरोध स्वीकार नहीं किया जाता। इसमें संदेह नहीं कि कालांतर में आनंदवर्धन के सिद्धांत से भी प्राचीन विचारधाराएँ अभिभूत होकर उसी में विलीन हो गईं, किंतु आनंदवर्धन तथा मम्मट के अंतर्वर्ती काल में, जब कि यह नवीन सिद्धांत एकाधिपत्य के लिए प्रयत्नशील था, कुछ समय तक इस, सिद्धांत का कड़ा विरोध हुआ। कुछ लेखकों ने आनंदवर्धन द्वारा की गई इस शास्त्र की नवीन व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। कुंतक ने नवीन विचारों को स्थान देने हेतु भामह के वक्रोक्ति-सिद्धांत को परिष्कृत तथा व्यापक बनाने का प्रयत्न किया, भट्ट नायक ने रस-सिद्धांत के पक्ष में नवीन विचारधारा के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई; तथा महिमभट्ट ने तर्क के शास्त्रीय आधार पर ध्वनि के नए सिद्धांत की व्याख्या करने का यत्न किया। इन आचार्यों ने ध्वनि के प्रतिष्ठित नवीन सिद्धांत को अस्वीकार तो नहीं किया, किंतु काव्य-विषयक पूर्वप्रतिष्ठित विचारों के अनुरूप ही

उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न अवश्य किया। ये निश्शक्त विपक्षी विचारधाराएँ अनुमोदन के अभाव के कारण मम्मट के समय में ही क्षीण हो गईं और इनके बावजूद, काव्यशास्त्र का वह सिद्धांत, जिसकी अंतिम रूपरेखा आनंदवर्धन ने प्रस्तुत की तथा मम्मट और उसके अनुयायियों ने जिसका सूक्ष्म विवेचन किया, 12वीं शती से लेकर सभी ग्रंथों में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। वाग्भट अथवा भोज के मतानुयायियों की तरह यत्रतत्र प्राचीन परंपरा के कुछ अवशिष्ट व्याख्याता अवश्य हुए हैं; इनके अतिरिक्त कविशिक्षा-विषयक अथवा कामशास्त्र-विषयक कुछ लेखक भी हुए हैं, जो नवीन धारा से अछूते रहे हैं, किंतु मुख्य रूप से इस शास्त्र का रचनात्मक काल लगभग समाप्त हो चुका था। किसी नए सिद्धांत के अभाव के कारण, आनंदवर्धन का ही सिद्धांत, जिसे मम्मट ने सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया था, मूर्धन्य स्थान पा चुका था। तथाकथित प्रतिपक्षी भी प्रत्यक्ष रूप में उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

(5)

इस ग्रंथ के द्वितीय खंड में विस्तृत चर्चा से उपर्युक्त बातें अधिक स्पष्ट हो जाएँगी। फलस्वरूप, विवेचन की सरलता के हेतु, संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास की मोटे तौर से रूपरेखा निश्चित की जाएगी और इसके सिद्धांतों को कालक्रमानुसार अनेक युगों में विभक्त किया जाएगा। अन्य भारतीय शास्त्रों की तरह इस शास्त्र का धुँधला आदिकाल हमारी दृष्टि से ओझल है। भरत तथा भामह के ग्रंथों में ही पहली बार यह शास्त्र कुछ-कुछ विकसित रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन आचार्यों के पश्चात् जिस युग का आरंभ हुआ, उसकी परिसमाप्ति आनंदवर्धन के साथ हुई। काव्यशास्त्र के इतिहास में यह सर्वाधिक रचनात्मक युग कहा जा सकता है। इस युग में विभिन्न धाराओं के अंतर्गत विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ तथा उनकी सामान्य रूपरेखाएँ भी निश्चित हुईं। फलस्वरूप कम-से-कम चार विभिन्न धाराओं का विकास हुआ, जिनमें क्रमशः काव्य में रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि पर बल दिया गया। इस युग में भामह, उद्भट, रुद्रट, दंडी, वामन, भरत टीकाकार (लोल्लट, शंकुक इत्यादि) हुए तथा विष्णुधर्मोत्तर तथा अग्निपुराण की रचना हुई। ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन भी इसी युग में हुए। आनंदवर्धन तथा मम्मट के बीच में एक तीसरा लक्षणात्मक युग है, जिसके अंत में काव्यशास्त्र के संपूर्ण सिद्धांत का अंतिम रूप से मानवीकरण कर दिया गया। इस सिद्धांत में ध्वनि पर विशेष बल दिया गया है तथा

इसमें विभिन्न प्राचीन धाराएँ विलीन हो गई हैं। इस सिद्धान्त का अंतिम रूप मम्मट के ग्रंथ में सुव्यवस्थित तथा संक्षिप्त आधार रूप में उपलब्ध है। इसी युग में कुंतक तया महिमभट्ट जैसे प्रतिपक्षी भी हुए हैं। अग्निपुराण की परंपरा का पालन करनेवाले भोज तथा नाट्यशास्त्र विधायक लेखक धनंजय भी इसी युग में हुए हैं। इस युग के पश्चात् टीकाकारों का युग है। इसके अन्तर्गत सिद्धांत का आलोचनात्मक परिष्कार हुआ तथा सामान्यतः मम्मट के ग्रंथ के अनुसार, सिद्धांत को अन्तिम रूप से सुव्यवस्थित तथा संक्षिप्तीकरण के साथ प्रस्तुत किया गया। इसी युग में सिद्धांत की बारीकियों तथा सूक्ष्मताओं पर भी विचार किया गया। इस युग की रचनाओं से टीकाकारों की विदग्धता अथवा उनकी कुशाग्रबुद्धि का परिचय मिलता है, यद्यपि उनमें उतनी मौलिकता अथवा सर्जनात्मक प्रतिभा प्रतिभासित नहीं होती, किंतु शास्त्र का उत्तरोत्तर पतन अवश्य परिलक्षित होता है। कुछ व्यावहारिक तथा विशिष्ट विषयक लेखक मुख्य धारा से विचलित हो गए, इसका कारण सामान्य सामयिक पतन था, न कि काव्यशास्त्र के सिद्धांत में किसी वास्तविक मतभेद अथवा स्वतंत्र चिंतन के कारण ऐसा हुआ। इस युग में असंख्य टीकाकार तथा टीकानुटीकाकार भी हुए। पूर्वप्रतिष्ठित नियमों का विस्तार करना अथवा उनके अपवादों को बतलाना अथवा मूलपाठ की व्याख्या-जैसा नीरस कार्य ही एकमात्र साध्य रह गया। इस काल में ऐसे सर्वप्रिय लेखक भी हुए हैं, जिन्होंने सामान्य बोध के हेतु इस शास्त्र के अध्ययन को सरल बनाने का यत्न किया। प्राचीन विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकें इसी निम्नतम कोटि में आती हैं।

(6)

इस खंड के उपसंहार के रूप में यही कहा जा सकता है कि हमारे सामान्य काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी शोध पर कालक्रमानुसार पूर्व-विवेचना का जो प्रभाव पड़ा है, उसके प्रकाश में हम काव्य-शास्त्र के इतिहास के विभिन्न युगों का स्थूल रूप में विभाजन प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे। द्वितीय खण्ड में विभिन्न युगों के शास्त्राचार्यों और उनके वर्गों को समाविष्ट किया जायगा, जिससे काव्यशास्त्रीय समस्याओं के अध्ययन में सुविधा हो जाय। विभाजन इस प्रकार है :

(1) अज्ञात आरंभ से भामह तक (उत्पत्ति काल)।

(2) भामह से आनंदवर्धन तक 7वीं शती के मध्य से 9वीं शती के मध्य तक (रचनात्मक काल)।

(i) भामह, उद्भट तथा रुद्रट (अलंकार सिद्धांत)।

(ii) दण्डी तथा वामन (रीति सिद्धांत)।

(iii) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक इत्यादि (रस सिद्धांत)।

(iv) विष्णु धर्मोत्तर तथा अग्निपुराण।

(v) ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन (ध्वनि सिद्धांत)।

(3) आनंदवर्धन से मम्मट तथा 9वीं शती के मध्य से 11वीं शती के मध्य तक (लक्षणात्मक काल)।

(i) अभिनवगुप्त

(ii) कुंतक

(iii) रुद्रभट्ट

(iv) धनंजय तथा धनिक।

(v) भोज

(vi) महिमभट्ट

(4) मम्मट से जगन्नाथ तक, 11वीं शती के मध्य से 18वीं शती तक, (टीका काल)।

(i) मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ (तथा हेमचंद्र, विद्याधर, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य इत्यादि)।

(ii) वाग्भट (अनेक) तथा केशव मिश्र।

(iii) रस, विशेषतया शृंगारविषयक लेखक : शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूप गोस्वामी इत्यादि।

(iv) कविशिक्षाविषयक लेखक : राजशेखर, क्षेमेंद्र, अरिसिंह, अमरचंद्र तथा देवेश्वर इत्यादि।

(v) जगन्नाथ।

7

ध्वनि सिद्धांत को केंद्रस्थानीय मानकर काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को मोटे तौर से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : (1) प्राक् ध्वनि, (2) ध्वनि, तथा

(3) ध्वनि-पश्चात् । प्राक् ध्वनि वर्ग में आनंदवर्धन से पूर्व, ध्वनि-सिद्धांत से संबंधित ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन को छोड़कर, वर्ग (1) तथा (2) में उल्लिखित सभी लेखक सम्मिलित किए जा सकते हैं । ध्वनि-पश्चात् वर्ग में मम्मट से लेकर जगन्नाथ पर्यंत ध्वनि-सिद्धांत के मतानुयायी, कुंतक-जैसे प्रतिपक्षी अथवा रूढ़ि-विरोधी महिमभट्ट-जैसे लेखक तथा शृंगार और कविशिक्षा-विषयक लेखक आते हैं । उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त, विशिष्ट आचार्यों द्वारा विशिष्ट सिद्धांत का पोषक होने के नाते काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया गया है, (1) रस सिद्धांत (2) अलंकार सिद्धांत, (3) रीति सिद्धांत, तथा (4) ध्वनि सिद्धांत । उक्त वर्गीकरण की सुगमता स्पष्ट ही है, किंतु विशिष्ट मत को 'सिद्धांत' नाम दिया जा सकता है अथवा नहीं, यह बड़ा संदेहास्पद है[1], क्योंकि यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न सिद्धांतों का अनिवार्य रूप से परस्पर सम्मिश्रण हुआ है । इसलिए कोई भी एक सिद्धांत अपने निरपेक्ष रूप से विद्यमान रहा हो, ऐसा नहीं हो सकता । इस प्रकार ध्वनि संप्रदाय ने काव्य के आवश्यक अंगों के रूप में रस तथा अलंकार को स्वीकार किया है । इन पर तथाकथित अलंकार तथा रस संप्रदायों का एकाधिकार नहीं है । यह भी संदेहास्पद है कि रस संप्रदाय के आदि प्रवर्तक

1. देखिए, भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० 387 इत्यादि में सोवानी का लेख । रुय्यक द्वारा की गई पूर्ववर्ती मतों की समीक्षा तथा समुद्रबंध द्वारा किए गए वर्गीकरण को विश्वसनीय माना गया है । पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि को परोक्ष रूप में कहाँ तक स्वीकार किया, रुय्यक ने केवल इसी बात को अपनी समीक्षा का आधार मानकर चर्चा की है । इस स्थल की व्याख्या करते हुए समुद्रबंध ने ध्वनि-सिद्धांत सहित पाँच पक्षों का उल्लेख किया है । उन्होंने ध्वनि को अंतिम पक्ष कहा है और स्वयं को भी इसी पक्ष का समर्थक बतलाया है । काव्य विशिष्ट शब्द तथा अर्थ सापेक्ष है । उसका वर्गीकरण भी इसी रूढ़ सिद्धांत पर आधारित है । उनके मतानुसार यह विशिष्टता, शब्द के (1) धर्म (2) व्यापार तथा (3) व्यंग्य को पुष्ट करने से प्राप्त होती है । अलंकार तथा गुण अर्थात् रीति से धर्म की प्राप्ति होती है, तथा व्यापार का आधार भणिति-प्रकार अथवा भोगीकरण होता है । इस प्रकार उद्भट, वामन, कुंतक, भट्टनायक तथा आनंदवर्धन प्रभृति आचार्यों से संबंधित क्रमशः पाँच पक्षों की सिद्धि होती है । यह वर्गीकरण, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अन्योन्याश्रित है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है । इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि व्यंजना, जिसे वर्गीकरण का एक आधार माना गया है, निश्चित रूप में कुतर्क द्वारा स्वीकृत भणिति की तरह एक व्यापार ही है । इसके अतिरिक्त कुंतक ने स्पष्टतया भामह की वक्रोक्ति को भणिति-वैचित्र्य के रूप में माना है । अतएव कुंतक को भी अलंकार पक्ष का आचार्य कहा जा सकता है । इसी प्रकार, भट्टनायक ने भोग को रस-सिद्धांत का विशिष्ट धर्म कहा है । अतएव भट्टनायक ने भरत के रस-विषयक उपदेश की व्याख्या करते हुए वास्तव में रस-सिद्धांत की ही व्याख्या की है ।

भरत ने तथाकथित रस-सिद्धांत की स्थापना की अथवा इसी प्रकार भामह ने किसी अलंकार को जन्म दिया। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि भरत तथा भामह ने काव्य में क्रमशः रस तथा अलंकार पर वल दिया था। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में समय पाकर यही विचार सिद्धांत रूप में प्रतिष्ठित हो गए। यह एक नियम है कि प्रत्येक महान् लेखक, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में किसी नए सिद्धांत को प्रस्तुत करता है, अपने पूर्ववर्ती लेखकों के उन विचारों को ग्रहण कर लेता है, जो उसके अपने सिद्धांत के अनुकूल हों और आलोचनारूपी अग्नि में तपकर खरे सिद्ध हो चुके हों। वास्तव में बहुमूल्य विचार इसी प्रकार सामान्यतः स्वीकार किए गए हैं, यद्यपि संभवतः उसी लेखक के अन्य विचार सर्वसम्मति से यदाकदा अस्वीकार भी कर दिए जाते हैं। इस बात का एक उदाहरण वक्रोक्ति-जीवितकार का है। उनके वक्रोक्ति सिद्धांत को किसी ने मान्यता नहीं दी, यद्यपि रुय्यक इत्यादि आचार्यों ने उनके मुख्य सिद्धांत, अर्थात् अलंकार विश्लेषण, को स्वीकार कर लिया। यहाँ हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में विकास का केवल एक ही प्रवाह है, जिसमें अनेक धाराएँ तथा प्रतिधाराएँ हैं। ये धाराएँ तथा प्रतिधाराएँ वास्तव में बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं, किंतु वे पृथक्-पृथक् नदियों का रूप कभी धारण न कर सकीं। स्वतंत्र रूप से विकसित अथवा मुख्य प्रवाह से विचलित भिन्न-भिन्न धाराएँ अंत में जाकर एक स्वच्छ तथा सर्वोपरि प्रवाह में विलीन हो गईं।

—:o:—

पद्धति और सिद्धांत

अध्याय : 11

आदिकाल से भामह तक

पहले खंड में, एक शास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र के अज्ञात आरंभ पर विचार-विमर्श किया गया था।[1] उससे यह सूचित होता है कि इस विषय के प्राचीनतम अवशिष्ट ग्रंथों, सामान्य साहित्य में तत्संबंधी यत्र-तत्र विकीर्ण उद्धरणों, अन्य शास्त्रों में इसी प्रकार के विचार से संबंधित व्याख्याओं तथा पूर्णविकसित काव्य-रीतियों पर आधारित परोक्ष अनुमानों से यह माना जा सकता है कि इस शास्त्र तथा इसके अनुप्रयोग से संबंधित कुछ सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे।

इन अनुमानों के अतिरिक्त, भरत के नाट्यशास्त्र के 16वें अध्याय में काव्यशास्त्र की रूपरेखा के प्रथम बार दर्शन होते हैं। यह रूपरेखा, सार रूप में, संभवतः प्राचीनतम उपलब्ध काव्य से भी पहले की है, भले ही इसका रचनाकाल इतना पुराना न हो। उक्त अध्याय में यदि काव्यशास्त्र का एक सिद्धांत नहीं तो एक विकसित मत अवश्य परिलक्षित होता है, जिसमें काव्य के चार अलंकारों, दस गुणों, दस दोषों तथा छत्तीस लक्षणों का वर्णन है। अति प्राचीन काल में, प्रत्यक्ष रूप में इस शास्त्र के यही अंग थे। संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में, अन्य सामग्री के अभाव के कारण, इसी काल को प्रथम ज्ञात काल माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह कहना उचित होगा कि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में मुख्य रूप से नाट्य तथा तत्सम्बन्धित विषयों का ही प्रतिपादन किया है;[2] काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रसंगवश ही है। परवर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में नाट्य को काव्यशास्त्र का ही अंग मान लिया गया है और तदनुसार नाटक को भी काव्य का ही भेद माना गया है। यह माना जा सकता है कि आरंभिक काल में नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र पृथक्-पृथक् रहे होंगे। अन्य प्रमाणों के

1. देखिए खंड 1, पृ० 1-17.
2. विंटरनिट्ज GIL, iii, पृ० 7 इत्यादि, तथा काणे की 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' पृ० vi-vii पर भरत के 'नाट्यशास्त्र' के विभिन्न अध्यायों की रूपरेखा दी गई है।

अभाव में नाट्य-शास्त्र को ही संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रथम ज्ञात अध्याय स्वीकार करना होगा। यह पहले ही बताया जा चुका है[1] कि 'नटसूत्र' पाणिनि के काल में भी विद्यमान थे। सूत्र-पद्धति में लिखे गए इन सूत्रों में संभवतः नाट्यकला का विवेचन किया गया था। किंतु ऐसे 'अलंकार-सूत्रों' का, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, कहीं भी उद्धरण नहीं मिलता। वास्तव में शास्त्रीय अर्थ में अलंकार शब्द, प्राचीन साहित्य में कहीं है ही नहीं। काव्यशास्त्र के प्राचीनतम विद्यमान ग्रंथों में नाट्य-विषयक विवेचन का सर्वथा अभाव है। क्योंकि नाट्य स्वयं एक पृथक् शास्त्र था, इसलिए संभवतः काव्य-शास्त्र के अंतर्गत उसका विवेचन नहीं किया गया। निस्संदेह, भामह तथा दंडी, दोनों ही 'आचार्यों' ने 'नाट्य' को 'काव्य' का एक भेद बताया है, किंतु इस विषय पर विस्तृत विवेचन के हेतु उन्होंने विशिष्ट ग्रंथों को ही निर्दिष्ट किया है।[2] इन आचार्यों के पश्चात्, काव्यशास्त्र-विषयक महत्त्वपूर्ण लेखक वामन हुए हैं। उन्होंने नाटक के प्रति असामान्य पक्षपात किया है (i. 3, 30-22), किंतु उन्होंने इस विषय पर अधिक लिखना उचित नहीं समझा। परवर्ती काल में हेमचंद्र, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ही ऐसे लेखक हुए हैं, जिसकी रचनाएँ इस शास्त्र में आलोचनात्मक विवेचन तथा तत्सम्बन्धी परिपक्व सिद्धांतों को परिलक्षित करती हैं। उनके अन्तर्गत विशिष्ट अध्यायों में इस शास्त्र पर विचार किया गया है। विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ऐसे अर्वाचीन लेखक हैं, जिन्होंने नाट्यकला के प्रामाणिक ग्रंथ, 'दशरूपक' को निर्दिष्ट करते हुए, उसे संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया है। सर्वकोशकार हेमचंद्र ने भरत तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त के प्रति बहुत आदर प्रकट किया है, किंतु इस विषय पर उन्होंने संक्षिप्त रूप में ही विचार किया है और अधिक जानकारी के लिए भरत तथा कोहल के सिद्धांत ग्रंथों को निर्दिष्ट किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-शास्त्र, काव्यशास्त्र के प्राचीन संप्रदाय से पृथक् रूप में विद्यमान था। इस प्रकार यह कोई विस्मय की बात नहीं है कि भरत ने काव्य के नाटकाश्रित अलंकारों का विवेचन एक पृथक् अध्याय में किया है। नाटकाश्रित गुणों तथा दोषों की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप में उन्हें क्रमशः 'काव्य गुण' तथा 'काव्य दोष' के नामों से लक्षित किया है (16, 92, 84)। अलंकारों के विषय में 'काव्यस्येते ह्यलंकाराः' (16,

---

1. खंड 1, पृ० 16.

2. 'काव्यादर्श' i. 31, 'भामहालंकार' i. 24, टीकाकारों के अनुसार दंडी के ग्रंथ में 'अन्यत्र' शब्द भरत को निर्दिष्ट करता है।

41)[1] कहते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन अलंकारों का प्रयोग केवल आलंकारिक भाषा में ही किया जाता है।

भरत ने काव्यशास्त्र विषयक इस अध्याय के आरंभ में 'लक्षणों' का निरूपण किया है। ये लक्षण आंशिक रूप से काव्य के औपचारिक तथा आवश्यक अंग प्रतीत होते हैं।[2]

भरत ने इस प्रकार के 36 लक्षणों का उल्लेख किया है। उस अध्याय के अधिकांश में इन्हीं की परिभाषाएँ दी गई हैं। जैसा कि अध्याय 17 के श्लोक 17 में[3] कहा गया है, इन्हीं लक्षणों के आधार पर इस शास्त्र को काव्य-लक्षण नाम से परिलक्षित किया गया है। जिस प्रकार भरत ने लक्षणों का विवेचन किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि से अलंकारों की अपेक्षा लक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण थे। भरत ने कुछ अलंकारों का उल्लेख मात्र ही किया है।

---

1. संस्करण काव्यमाला (निर्णयसागर प्रेस), संस्करण गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, xvi. 41, किंतु चौखंबा संस्कृत सीरीज संस्करण xvii. 42 में पाठ भिन्न है। यहाँ पर संदर्भ काव्यमाला संस्करण से ही दिए गए हैं। श्लोक 104 तथा 110 से भी तुलना कीजिए। भरत ने अन्य अध्यायों की तरह इस अध्याय में नाटक को निर्दिष्ट करने के लिए 'काव्य' शब्द का कई बार प्रयोग किया है, किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि भरत के विचार में काव्य आलंकारिक पदावली है और इसलिए उसे काव्य शब्द से लक्षित करना उचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय में उन्होंने 'काव्य' तथा 'नाटक' को प्रबंध के दो भेदों के रूप में परिलक्षित किया है।
2. लक्षणों तथा गुणों के विवेचन से संबंधित मूल पाठ के दो भेद हैं। यहाँ उन्हें क तथा ख पाठ से लक्षित किया जा रहा है। अभिनवगुप्त दोनों पाठों से परिचित थे, किन्तु लक्षणों के संबंध में उन्होंने क पाठ का ही अनुसरण किया है क्योंकि यह पाठ उन्हें परंपरागत रूप में अपने गुरुओं से प्राप्त हुआ था। (अस्मदुपाध्याय परंपरागत : पृ० 384)। काव्यमाला तथा गायकवाड़ सीरीज में पाठ दिया गया है। उसमें 39 श्लोक हैं, आरंभ में उपजाति में तथा बाद में अनुष्टुप छंद में। चौखंबा संस्कृत सीरीज के संस्करण में ख पाठ दिया गया है (पाद टिप्पणी में क पाठ भी दिया गया है। उसमें 42 श्लोक हैं। सभी अनुष्टुप में हैं। 'दशरूपक' में क पाठ का अनुसरण है, किंतु शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ ने ख पाठ को स्वीकार किया है। भोज को दोनों पाठ ज्ञात थे, किंतु उन्होंने 64 लक्षण दिए हैं। शारदातनय ने भोज का अनुसरण किया है।
3. काव्यमाला तथा गायकवाड़ संस्करणों में, चौखंबा संस्करण पृ० 204, श्लोक 16.

काव्यशास्त्र के सिद्धांत में इन लक्षणों को क्या स्थान दिया जाना चाहिए, यह बात भरत के विवेचन से ठीक तरह स्पष्ट नहीं होती, किंतु परवर्ती काव्य सिद्धांत में काव्य-अलंकारों अथवा काव्य-गुणों को ही उनके स्थान में प्रयुक्त कर लिया गया है। दंडी ने नाटकाश्रित 'संध्यंग' तथा 'वृत्यंग' के साथ-साथ, व्यापक अर्थों में अलंकारों के अंतर्गत संक्षिप्त रूप में उनका उल्लेख किया है। (ii. 366) तथा विवेचनार्थ 'आगमांतर' (तरुणवाचस्पति के मतानुसार 'आगमांतर' भरत को सूचित करता है) को निर्दिष्ट किया है। धनंजय ने भी ऐसा ही किया है (संस्करण निर्णयसागर प्रेस, iv. 84)। विश्वनाथ (सं० दुर्गाप्रसाद, vi. 171-111 पृ० 316-332) ने नाटक का विवेचन करते हुए कुछ लक्षणों को 'नाट्यालंकार' के नाम से सूचित किया है तथा यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ लक्षणों को 'गुण, अलंकार, भाव तथा संधि' के अंतर्गत मानना उचित है, तथापि उनका विशिष्ट उल्लेख अपेक्षित है, क्योंकि नाटक में उनकी सिद्धि प्रयत्न से ही होती है (पृ० 332)। परवर्ती साहित्य में नाटक के अंतर्गत, रूढ़ परंपरा के कारण, लक्षणों का उल्लेख किया जाता रहा, किंतु काव्यशास्त्र के ग्रंथों में उनका सर्वथा लोप हो गया। अपवादस्वरूप परवर्ती साहित्य में जयदेव कृत 'चंद्रालोक' ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें लक्षणों पर विचार किया गया है। इस अनुशीलन से संभवतः यही सूचित होता है कि लक्षण नाटकाश्रित ही माने गए थे। इसके अतिरिक्त यह निष्कर्ष भी निकलता है कि काव्यशास्त्र के आदिकाल में लक्षणों को काव्य-गुणों तथा अलंकारों से भिन्न मानकर उन्हें पृथक् रूप से विवेचन-योग्य समझा गया था। आलोचना के सिद्धांतों में विकास हो जाने के कारण बाद में इनका उचित स्थान काव्य-गुणों तथा अलंकारों के क्षेत्र में निश्चित कर लिया गया और उन्हीं में इनका समावेश भी कर लिया गया।[1]

वी० राघवन ने लक्षण-विचार पर विस्तृत इतिहास लिखा है।[2] चूंकि लक्षण-पद्धति का बड़ी जल्दी लोप हो गया; अथवा वह काव्यशास्त्र तथा नाट्य

1. उदाहरण के लिए भरत ने 'आशीः' को एक 'लक्षण' कहा है; भामह ने 'अलंकार' के रूप में 'ससंदेह' का उल्लेख करते हुए इस प्रकार कहा है—'आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता' (iii. 94.) दंडी ii. 357 (तथा भट्टि) ने इसे पहले से ही अलंकार मान लिया है। यह महत्त्वपूर्ण है कि कुंतक ने इसे अलंकार कहनेवालों का विरोध किया है।

2. 'सम कान्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र' अड्यार लाइब्रेरी 1942, पृ० 1-47.

के इतिहास का एक अनावश्यक अवशेष मात्र बनकर रह गई थी, इसलिए यहाँ आनुषंगिक रूप में ही उसका उल्लेख अपेक्षित है। भरत के मूलपाठ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लक्षण के सम्बन्ध में दस विभिन्न मतों का उल्लेख किया है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षण अथवा भूषण को (संभवतः सामुद्रिक लक्षण को तरह), सामान्यतः काव्यरूपी शरीर का शोभाकर सहज साधन अथवा स्वयं काव्य ही मान लिया गया था। यद्यपि अलंकार की तरह लक्षग का धर्म भी काव्य-शोभाकर होता है, तथापि उसका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं होता। वह अपृथक् सिद्ध होता है, अर्थात् वह स्वयं काव्य को शोभायमान करता है, किंतु अलंकार की तरह विशिष्ट शोभा के हेतु उसे बाहर से जोड़ा नहीं जाता। इतनी बात तो स्पष्ट है कि आरम्भ से ही लक्षण तथा अलंकार में आंशिक समानधर्मिता थी; कालांतर में लक्षण अलंकार में विलीन हो गए। नाट्य-संध्यंग-परक नाटकधर्म के रूप में भी लक्षण का अधिक महत्त्व नहीं था। 'दशरूपक' में लक्षण का पृथक् रूप में विवेचन न होना महत्त्वपूर्ण बात है। मुख्य रूप से यह सिद्धांत कि अलंकार के समान, लक्षण भी शोभाकर-धर्मी है, अभिनवगुप्त द्वारा अन्तिम बार समर्थित हुआ। अभिनवगुप्त के साथ ही इस मत की समाप्ति हो गई।

लक्षणों के पश्चात् भरत ने काव्यालंकारों के अधिक रोचक विषय की चर्चा की है। भरत के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में इस प्रकार के केवल चार अलंकार ही स्वीकार किए गए थे: 'उपमा', 'रूपक', 'दीपक'[1] तथा 'यमक'। 'उपमेय' अथवा 'उपमान' की एकता अथवा अनेकता के अनुसार 'उपमा' के चार भेद किए गए हैं।[2] भरत ने स्पष्ट रूप में इन शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। उपमानाश्रित गुणों के अनुसार एक अन्य दृष्टिकोण से 'उपमा' के उदाहरणों सहित पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है: (1) प्रशंसोपमा, (2) निंदोपमा, (3) कल्पितोपमा, (4) सदृशी उपमा तथा (5) किंचित सदृशी उपमा।[3] परवर्ती काल में भामह, दण्डी तथा उद्भट प्रभृति आचार्यों ने व्याकरण इत्यादि पर आश्रित उपमा के सूक्ष्म भेदों का विवेचन किया था तथा वामन ने उपमा की एक व्यापक परिभाषा की थी। भरत इन सब बातों से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। उपमा का ऐसा सूक्ष्म

---

1. अनुवाद अनावश्यक है।
2. अर्थात् (1) एकस्य एकेन, (2) एकस्य अनेकेन, (3) अनेकस्य एकेन, (4) बहूनां बहुभिः।
3. अभिनवगुप्त ने 'असदृशी' पाठांतर पर विचार किया है।

विश्लेषण इस काल में तत्सम्बन्धी गम्भीर चिंतन को परिलक्षित करता है।[1] भामह (ii. 37) ने भरत द्वारा दिए गए उपमा के प्रथम दो भेदों की आलोचना की है, किंतु दण्डी ने उन्हें मीनमेष बिना ही स्वीकार किया है (ii. 30-31); वामन (iv. 2, 2) ने तीसरे भेद का लक्षण न देकर केवल उसका नाम ही दिया है। रूपक तथा दीपक[2] के उपभेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। सम्भवतः उनका आविष्कार बाद में हुआ था। इसके विपरीत यमक के दस उपभेदों की विस्तार से व्याख्या की गई है तथा उनके उदाहरण भी दिए गए हैं।[3] भामह ने भी यमक के इतने उपभेद नहीं दिए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य शास्त्र के विकासारंभ में परवर्ती लेखकों ने सुलभ शब्दालंकारों पर अधिक विचार-विमर्श किया था।[4] इन शब्दालंकारों में यमक अत्यधिक प्रिय था। अपेक्षाकृत वर्त्तमानकाल के घटिया लेखकों ने भी इस प्रकार के काव्य-प्रयोगों में आनन्द का अनुभव किया है।

---

1. उपमा निश्चित रूप में अत्यन्त प्राचीन अलंकार है, आचार्य यास्क भी इससे परिचित थे। (देखिए खंड i, पृ० 3-6)।

2. विभिन्न संस्करणों में इन दो अलंकारों से संबंधित पाठ भिन्न-भिन्न रूपों में दिए गए हैं। किंतु काव्यमाला संस्करण में (xvi. 55) 'संप्रकीर्तित' को छोड़कर सभी पाठों में समान शब्द हैं। 'संप्रकीर्तित' स्पष्ट रूप में (जैसा कि अभिनव की टीका से सिद्ध होता है) 'संप्रदीपक' के स्थान पर अशुद्ध पाठ है। अन्य संस्करणों में शुद्ध पाठ ही दिया गया है।

3. भट्टि, दण्डी इत्यादि लेखकों की रचनाओं में इनमें से अधिकांश उपभेदों के नाम मिलते हैं, किंतु उनकी परिभाषाओं में भिन्नता आ गई है। देखिए खंड i, पृ० 52, पा० टि० 1.

4. भट्टि, दण्डी, वामन, रुद्रट, अग्नि-पुराण तथा भोज इत्यादि प्राचीन लेखकों की रचनाओं में यही स्थिति है। भामह ने केवल पाँच भेद बताए हैं। उद्भट ही एक ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने इस विषय को अछूता छोड़ दिया है। भरत के विस्तृत विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अलंकार का बहुत पहले ही विवेचन किया जा चुका था, यथा, 'रामायण' में सुन्दरकांड, v. 15-17, तथा ईसा की दूसरी शती के रुद्रदामा के शिला-लेख से प्रमाणित होता है। संभवतः इसे अंत्यानुप्रास के तुल्य मान लिया गया। प्राचीन संस्कृत में अनुप्रास का अभाव ही रहा है। परवर्ती साहित्य में 'अंत्यानुप्रास' से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। किंतु मम्मट तथा परवर्ती लेखकों ने, संभवतः आनन्दवर्धन (ii. 16 इत्यादि की टीका) के इस कथन का पालन करते हुए कि यमक प्रयत्न-साध्य होने के अतिरिक्त रस की पुष्टि के लिए भी है, कुछ शब्दों में ही यमक को समाप्त कर दिया है। काव्य की सौंदर्य बोधात्मक-आवश्यकताओं के सूक्ष्म विवेचन में जैसे-जैसे प्रगति होती गई, वैसे-वैसे काव्यशास्त्र से मुख्य रूप से शब्दाडंबर पर आश्रित अलंकारों

परवर्ती काल में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद-विवेचन का न तो भरत ने उल्लेख किया है[1] और न ही भामह ने; किन्तु भरत ने यमक के संबंध में 'शब्दाभ्यास' का प्रयोग किया है। जैसा कि इस विषय पर अभिनव की टीका से सूचित होता है, उक्त शब्द परवर्ती वर्गीकरण का द्योतक हो सकता है। प्रथमतः दंडी ने अपने तत्संबंधी विवेचन में ऐसा ही परिलक्षित किया है।

अलंकारों के पश्चात् दस काव्य-दोषों (xvi. 84 इत्यादि) तथा दस काव्य गुणों (xvi. 92 इत्यादि) पर विचार किया गया है। प्राचीन काल में काव्य के दोषों तथा गुणों की यही संख्या थी। रीति-सिद्धांत के प्रवर्तकों की चर्चा के प्रसंग में गुण तथा दोष के सिद्धांत की चर्चा आगे की जाएगी। सबसे पहले इन्हीं आचार्यों ने काव्य-गुणों तथा दोषों का गंभीर विवेचन किया था। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भरत के निकटतम परवर्ती आचार्यों ने दोषों तथा गुणों की जो संख्या दी है और जिस प्रकार उनके लक्षण दिए हैं, वे भरत-द्वारा दी गई संख्या तथा विवेचन के अनुरूप नहीं हैं। भामह तथा दंडी दोनों ने परम्परागत दस की संख्या का पालन किया है, किन्तु गुणों तथा दोषों के विषय में उन्होंने भरत के तत्संबंधी उपदेश को स्वीकार नहीं किया है। भामह ने तर्काश्रित शुद्धता[2] की दृष्टि से एक स्थल पर ग्यारहवें दोष का उल्लेख किया है तथा एक अन्य स्थल पर काव्य के दस दोषों की सूची दी है। उन्होंने केवल तीन काव्य गुणों का ही उल्लेख किया है।

भरत ने निम्नलिखित दोषों का उल्लेख किया है (xvi. 84)[3]—

की संख्या तथा उनकी चर्चा में स्वाभाविक रूप से ह्रास होता गया, यद्यपि ह्रासोन्मुख परवर्ती काव्यों में स्वयं यमक तथा अनुप्रास का बहुल प्रयोग हुआ है। परवर्ती लेखकों में असत्य कथन का दोष रहा है, भोज ने भी 'मुरज-बन्ध' जैसे अलंकारों को 'भरत कथित' कह डाला है।

1. किन्तु अभिनव के मतानुसार भरत ने इस भेद को लक्षित किया। अपने 'लोचन' के पृ० 5 पर उनका कथन है—
   "चिरंतनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दार्थालंकारत्वेनेष्टे।"
2. ग्यारहवें दोष को छोड़कर दंडी ने भामह के साथ अपनी सहमति प्रकट की है तथा दोषों इत्यादि की संख्या और उनकी परिभाषाओं में लगभग भामह का अक्षरशः अनुसरण किया है। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।
3. भरत-विवेचित दोषों के सम्बन्ध में वी० राघवन् का 'शृंगार-प्रकाश' भाग 2, पृ० 229-233 देखिए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन प्रबन्ध-दोषों का उल्लेख है—व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द (व्याकरणागत अशुद्धि) तथा संप्लव (शब्द-संघटना से व्यत्यय)।

(1) गूढ़ार्थं पर्यायशब्दाभिहितम्[1]।
(2) अर्थांतर (अवर्ण्यस्य वर्णनम्)[2]।
(3) अर्थहीन (असंबद्ध) (अशेपार्थ)।
(4) भिन्नार्थं (असभ्य अथवा भिन्नार्थं)।
(5) एकार्थ (एकार्थस्य अभिधानम्)।
(6) अभिप्लुतार्थं (यत्पदेन समस्यते)[3]।
(7) न्यायादपेतं (प्रमाण-वर्जितम्)।
(8) विषम (वृत्त-दोष)।
(9) विसंधि[4]।

---

1. भरत द्वारा प्रयुक्त 'गूढ़ार्थ' शब्द का अभिप्रेतार्थ 'पर्यायशब्दाभिहितं' नहीं है, अन्यथा 'गूड़ार्थ' तथा इससे आगे दिए गए दोष 'एकार्थ' में भेद करना कठिन हो जाएगा। संभवतः परवर्ती लेखकों ने इस दोष को 'प्रर्यायोक्त' नामक अलंकार के रूप में निरूपित किया है। अभिनवगुप्त ने भी इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है। संभवतः परवर्ती आचार्यों ने विशेष संदर्भ में 'पर्यायोक्त' को एक संभव अलंकार मानते हुए अलंकार के रूप में उनका विवेचन किया था। परवर्ती शास्त्रीय अनुशीलन के परिणामस्वरूप अलंकारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि किस प्रकार हुई, यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।
2. अभिनव ने 'शब्देनावर्णनीयमपि वर्णित' के अर्थों में इसे मानते हुए, इसका 'अप्राकृत वर्णन' अर्थ स्वीकार नहीं किया। किन्तु इसका अभिप्राय 'अवर्णस्य वर्णनं' अधिक जँचता है यद्यपि अभिनव ने इसे नहीं माना है। महिमभट्ट (पृ० 100) ने जिस वाच्यवाचन दोष का उल्लेख किया है, संभवतः वही भरत का अभिप्रेत दोष है। माघ के (i. 43) में भी यही दोष है। अभिनव ने रस तथा भाव आश्रित 'स्व-शब्द-वाच्यता-दोष' को भरत के 'अर्थांतर दोष' के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है, किन्तु भरत ने इस 'स्व-शब्दवाच्यता दोष' को दोष माना भी था, यह स्पष्ट नहीं है।
3. अभिनव की व्याख्या इस प्रकार है—अभिलुप्तार्थं यथा—स राजा नीति-कुशलः सरः कुमुदशोभितम्। सर्वप्रिया वसंतश्रीः ग्रीष्मे मालतिकागमः॥ इति। अत्र प्रतिपदमर्थस्य परिसमाप्तावभिप्लुप्तार्थं, एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात्।
4. 'अनुप्रतिष्ठा शब्दं यत्' प्रत्यक्षतः अशुद्ध है। अभिनव की व्याख्या स्पष्ट नहीं है, किन्तु उन्होंने 'अनुपारूढ़शब्दं' पाठ ही लिया है। 'संधि' अथवा 'संधान' से उनका अभिप्राय संक्षेप से है अर्थात् सुन्दर शब्द-विन्यास। गायकवाड़ संस्करण के अन्तर्गत 'अनुपश्लिष्ट शब्दं' पाठ अधिक युक्त है किन्तु संभवतः यह मूल पाठ नहीं है।

(10) शब्द-हीन (अशब्दस्य योजनम्)[1] ।

किंतु भामह ने निम्नलिखित दोषों का निरूपण किया है (अध्याय iv)—

(1) अपार्थ = अपूर्ण अर्थ ।[2]

(2) व्यर्थ = संदर्भ-प्रतिकूल अर्थ ।

(3) एकार्थ (भामह के कथनानुसार अन्य आचार्यों ने इसे 'पुनरुक्त' कहा है । भरत इस सर्वविदित शब्द से अनभिज्ञ थे ।)

(4) ससंशय ।

(5) अपक्रम ।

(6) शब्द-हीन (व्याकरण से असिद्ध शब्दों का प्रयोग ।)

(7) यतिभ्रष्ट ।

(8) भिन्नवृत्त ।

(9) विसंधि ।

(10) देश-काल-कला-लोक-न्यायागम विरोधि = अर्थात् देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम (धर्मशास्त्र) के विरुद्ध ।

इन दस दोषों के अतिरिक्त भामह ने अशुद्ध 'प्रतिज्ञा,' अशुद्ध 'हेतु' तथा अशुद्ध 'दृष्टांत' पर आश्रित दोषों का भी उल्लेख किया है । क्योंकि यह दोष काव्य-न्याय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव भामह ने पृथक् रूप (अध्याय v) से इसका निरूपण किया है । सामान्य काव्य-लक्षणों की चर्चा करते हुए भामह ने एक अन्य स्थल (i. 37 इत्यादि) पर दस अतिरिक्त दोष भी बताए हैं, जिनसे कवि को बचना चाहिए, अर्थात् ।

(1) नेयार्थ ।

(2) क्लिष्ट ।

(3) अन्यार्थ ।

(4) अवाचक ।

---

1. अशब्द = अपशब्द इति अभिनवगुप्त ।

2. भामह और दंडी दोनों ने ही कहा है—'समुदायार्थ-शून्यं यत्र' । उनका कथन है कि संपूर्ण अर्थ की यह अपूर्णता, किसी वाक्य में शब्दों की स्वाभाविक अपेक्षा (आकांक्षा) के असंतुष्ट रहने के कारण ही उत्पन्न होती है । वैयाकरण और मीमांसक इस विषय पर पहले ही विचार कर चुके हैं । भामह ने व्याख्या के रूप में स्वयं कहा है (iv. 48) आगमो धर्मशास्त्राणि, लोकसीमा च तत्कृता । तद्विरोधि तदाचार व्यतिक्रमणतो····।।

(5) गूढ शब्दाभिधान ।

(6) अयुक्तिमत् । यथा काव्य में संदेशवाहक मेघ ।

(7) श्रुति-दुष्ट (प्रत्यक्ष रूप से ग्राम्य)[1] ।

(8) अर्थदुष्ट = परोक्ष रूप में ग्राम्य (परवर्ती लेखकों ने इसे 'अश्लीलता' कहा है) ।

(9) कल्पनादुष्ट = दोषयुक्त कल्पना; अवांछित अर्थ में दो शब्दों का सहयोजन ।

(10) श्रुतिकष्ट ।[2]

इन दस दोषों का विवरण देने के पश्चात् भामह ने यह भी बताया है कि कब यह दोष गुण बन जाते हैं (i. 54-58) । दस दोषों के इन दो वर्गों के परस्पर भेद के विषय में भामह ने कुछ नहीं कहा है, किंतु इसके विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे वर्ग के दोष काव्य के तत्त्व से संबंधित हैं तथा पहले वर्ग के दोष काव्य के वाह्य आकार अथवा रूप से संबंधित हैं । इन दोष-विषयक दो सूचियों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि भामह के दोष, नाम तथा तत्व की दृष्टि से भरत के दोषों के अनुरूप हैं, तथापि भामह का तत्संबंधी विवेचन अपेक्षाकृत निश्चित रूप में भरत से अधिक व्यापक है ।

यह बात भी ध्यान देने की है कि अंतिम दोष, 'श्रुतिकष्ट' पर चर्चा करते हुए भामह ने कहा है कि (i. 54) विशेष शब्द-विन्यास के कारण कभी-कभी सदोष पदावली भी स्वीकार्य हो सकती है; दूसरे शब्दों में कभी-कभी दोष भी गुण में परिवर्तित हो जाता है । इसके विपरीत भरत के अनुसार सभी गुण, दोषों के विपर्यय अर्थात् विरोधी ही होते हैं ।

दोषों का निरूपण कर चुकने के पश्चात् भरत ने प्रबंधाश्रित दस गुणों की चर्चा की है ।[3]

---

1. इस विषय में भामह का पाठ प्रत्यक्षतः अशुद्ध है । अभिनव ने अपने 'लोचन' में, पृ० 82 (ii. 2. की व्याख्या) पर पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा निरूपित 'श्रुतिदुष्ट' तथा 'श्रुतिकष्ट' के परस्पर भेद की व्याख्या की है ।
2. इस दोष के उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के शब्द दिए गए हैं, यथा, अजिह्लवत् (भामह), अथवा अधाक्षीत्, अक्षौत्सीत्, तृणेधि (अभिनव, 'लोचन' में उपर्युक्त स्थल पर) ।
3. अभिनव ने 'काव्यस्य गुणाः' 'पाठ लिया है (xvi 92 में), जैसा कि गायकवाड़ तथा चौखंबा संस्करणों में दिया गया है, काव्यमाला संस्करण का 'काव्यार्थगुण' पाठ नहीं लिया ।

भरत ने इस चर्चा के आरंभ में कहा है (xvi. 91) कि गुण, दोषों के विपर्यय होते हैं (गुणा विपर्ययादेषाम्) । यह एक असामान्य कथन है, क्योंकि वामन (ii. 1.1-3) जैसे परवर्ती लेखकों ने अपने सिद्धांत में गुणों को निश्चित तत्व माना है। लक्षितार्थ में दोष, गुणों के विपर्यय हैं। इसके विपरीत, जैसा कि भरत ने (xvi. 91-92) में कहा है, 'माधुर्य' तथा 'औदार्य' गुण, उनकी अपनी परिभाषा के अनुसार किसी ऐसे विशेष दोष का विपर्यय नहीं हैं, जिसकी उन्होंने चर्चा की है। संभवतः इस विषय में जैकोबी का स्पष्टीकरण[1] ठीक प्रतीत होता है । जैकोबी के अनुसार भरत ने गुणों का दोषों के विपर्यय के रूप में जो विवरण दिया है, वह सामान्य बुद्धि के अनुरूप है; क्योंकि स्वभावतः दोष को ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है, किंतु गुण का निर्धारण इतना सरल नहीं होता। इसके लिए दोष से भिन्न, गुण-तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। भरत ने निम्नलिखित[2] गुणों का विवेचन किया है (xvi. 92)—

(1) श्लेष = परस्पर संबद्ध तथा अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करनेवाली पदावली को श्लेष कहते हैं। प्रत्यक्ष रूप में अर्थ स्पष्ट होते हुए भी वास्तव में गहन होता है।[3]

(2) प्रसाद = स्पष्टता; शब्दार्थ संयोग से जहाँ अनुक्त अर्थ का बोध होता है।[4]

---

1. देखिए, Sb. der preuss. Akad. xxiv, पृ० 223.
2. वैकल्पिक पाठों से सूचित होता है कि गुणों से संबंधित दो पाठांतर विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने भरत के गुणों को वामन के गुणों के समान बताने तथा इन दोनों के गुणों को क्रमशः शब्दाश्रित गुणों तथा अर्थाश्रित गुणों का स्रोत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अतएव अभिनवगुप्त को ग्रंथ के इस अंश का ठीक मार्गदर्शक नहीं माना जा सकता। भरत के गुणों के संबंध में वी० राघवन का 'शृंगार प्रकाश', पृ० 271-81 देखिए।
3. हेमचंद्र (पृ० 196) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 191) का यह कथन है 'स्वभाव-स्पष्टं विचारगहनं वचः श्लिष्टमिति भरतः' अभिनव के मतानुसार यह गुण वामन के 'शब्दगुण श्लेष' के अनुरूप है।
4. हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने इस प्रकार व्याख्या की है—'विभक्त-वाच्य-वाचका-योगादनुक्तयोरपि शब्दार्थयोः प्रतिपत्तिः प्रसाद इति भरतः'। जैकोबी ने (ZDMG xiv, पृ० 138, तथा आगे पा० टि०) भरत के पाठ में 'मुख' के स्थान पर 'मुख्य' पाठ को ग्रहण किया है और भरत के 'प्रसाद' का दंडी के 'समाधि' के अनुरूप बताया है। किंतु अभिनव ने 'सुख' पाठ को ग्रहण किया है तथा ऐसा कहा है, 'सुखयति, न प्रयत्नमपेक्षते यः शब्दार्थः'। इस गुण से संभवतः भरत का आशय प्रयुक्त शब्द से अनुक्त अर्थ को परिलक्षित करने से है।

(3) समता=समत्व; सुबोध तथा व्यर्थ शब्दों तथा पूर्णपदों[1] के आधिक्य से रहित।

(4) समाधि=समाधान।[2]

इस प्रकार के शब्द, उदाहरणतया, 'चंद्रालोक' में 'मुद्रा' अलंकार जीवानंद, v. 139 तथा 'कुवलयानंद,' सं० निर्णयसागर प्रेस, 1917, पृ० 146-7 में मिलते हैं। यह 'गुण' अंशतः, वामन द्वारा दी गई 'वक्रोक्ति' (iv. 3.8) की विशेष परिभाषा के अंतर्गत आलंकारिक उक्ति के अनुरूप, अथवा परवर्ती लेखकों के 'लक्षण' अथवा 'उपचार' अलंकार के अंतर्गत माना जा सकता है। अभिनव ने वामन की 'अर्थगुण प्रसाद' की परिभाषा को 'अर्थवैमल्य' (iii. 2.3.) कहा है तथा 'सोऽर्थो वैमल्याश्रयोऽपि वैमल्यमुपचारात्' कहकर उक्त मत का समर्थन किया है। उन्होंने भरत के 'प्रसाद' को वामन के 'अर्थगुण' के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

1. भरत ने स्वयं xviii. 50-51 में 'चूर्णपद' की परिभाषा दी है। तुलना कीजिए वामन 1, 3, 22, 24; वहाँ अदीर्घ समासयुक्त पद्य को 'चूर्ण' कहा गया है। गोपेंद्र तिप्पभूपाल ने वामन की टीका करते हुए इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'चूर्णपदेन उपचाराद् व्यस्तपद समाहारो लक्ष्यते, तेन व्यस्त-पदबहुलं चूर्णम्'। स्वयं वामन ने अपनी वृत्ति में इसके दो लक्षण दिए हैं अर्थात् 'अदीर्घ समास' तथा 'अनुद्धत पद'। अध्याय iii. 1. 12. में वामन के इसी नाम के 'शब्दगुण' का उल्लेख करते हुए तथा उसे भरत के 'समता' नामक गुण के अनुरूप सिद्ध करते हुए, अभिनव गुप्त ने इस प्रकार कहा है—'शब्दानां समत्वात् समः, चूर्णपदैरसमासरचना यत्र सातिशया न भवति,''' '''दीर्घसमासोऽत्यंत-समासश्च विषमता, तद्विपर्ययेण समता, उपक्रांत-मार्गापरित्याग-स्थैर्युक्तम्।'
2. अभिनव ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"यस्यार्थस्याभियुक्तैः प्रतिभाना-तिशयवद्भिर्विशेषोऽपूर्वः स्वोल्लिखित उपपद्यते स समाहितमनः संपाद्य विशेष-त्वादर्थो विशिष्टः समाधिः।" मूल श्लोक के उत्तरार्द्ध में अभिनव ने 'परि-कीर्त्यते' के स्थान पर 'परिकीर्तितः' पाठ को ग्रहण किया है तथा 'अर्थेन' को 'समाधि' शब्द निर्दिष्ट किया है: "समाधिः शब्दस्य योऽर्थपरिहारलक्षणस्तेन परिकीर्तितः परितः समंतादाक्रांत्या उच्चारणे संपन्नः"। संभवतः, वामन द्वारा की गई समाधि की परिभाषा, अर्थात् 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' (iii. 1. 13) के अनुरूप सिद्ध करने के लिए 'संपन्न' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है; क्योंकि इसके पश्चात् अभिनव ने 'आक्रांत्योच्चारणे आरोहावरोहक्रम एव' की भी व्याख्या की है। जैसा कि उन्होंने विस्तार से बताया है, 'आरोह तथा

(5) माधुर्य = जब वाक्य की अनेक बार श्रुति अथवा पुनरावृत्ति बुरी नहीं लगती ।[1]

(6) ओज = विविध तथा उदार समस्त पदों का प्रयोग, जहाँ वर्णों में परस्पर विरोध न हो ।[2]

(7) सौकुमार्य = सुकुमारता, सुप्रयुक्त तथा सुश्लिष्ट संधियुक्त शब्दों से जहाँ सुकुमार अर्थ की निष्पत्ति होती हो ।[3]

(8) अर्थ-व्यक्ति = सुप्रसिद्ध विशेषणों द्वारा जिससे लोक-व्यवस्थित वस्तुओं के धर्म का वर्णन किया जा सके ।[4]

'अवरोह', उच्चारण पर निर्भर होता है। हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने भरत की परिभाषा की व्याख्या में केवल इतना कहा है— अर्थस्य गुणांतर-समाधानात् समाधिरिति भरतः ।'

1. काव्यमाला संस्करण में छपे 'कृत' तथा 'काव्य' के स्थान पर अभिनव ने 'श्रुत' तथा 'वाक्य' पाठ को ग्रहण किया। भरत के इस गुण के विषय में हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र की व्याख्या से उक्त पाठ का समर्थन होता है। अन्य संस्मरणों में शुद्ध पाठ दिया गया है।
2. अभिनव ने 'विविधैः' के स्थान पर 'बहुभिः' तथा सा तु स्वरैः' के स्थान पर 'सानुरागैः' पाठ के समर्थन में इस प्रकार कहा है— 'यत्र वर्णैर्वर्णांतरम्-पेक्षते तत्र सानुरागत्वम्'। हेमचंद्र ने भरत की परिभाषा को एक दूसरे ही रूप में लक्षित किया है, अर्थात्, 'अवगीतस्य हीनस्य वा शब्दार्थ-संपदा यदुदात्तत्वं निषिचति काव्यस्तदोष इति भरतः। माणिक्यचंद्र ने भी इसी आशय से कहा है (यहाँ 'ख' पाठ का अनुसरण किया गया है) ''अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुदात्ताव-भासकः यत्र शब्दार्थसंपत्या परिकीर्तितः।''
3. अभिनवगुप्त ने 'सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैः' के स्थान पर 'सुखप्रयोज्यैश्छंदोभिः' पाठ को ग्रहण किया है। हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र की व्याख्या इस प्रकार है— 'सुखशब्दार्थ सौकुमार्यमिति भरतः'। यह 'सुकुमारार्थ', दंडी के समनाम गुण 'अनिष्ठुराक्षर-प्रायता'; अथवा वामन के द्विविध 'अजरार्थत्व' अथवा 'अपारुष्य' के अनुरूप है तथा संभवतः कठोर अथवा अमंगल शब्दावली कथन के परिहार को लक्षित करता है। अतएव, 'मृतः' के स्थान पर 'कीर्तिशेष गतः' कहना अधिक उचित है। यही कारण है कि मम्मट के परवर्ती 'आचार्यों' ने इसे एक गुण न मानकर केवल 'अमंगल दोष' का विपर्यय कहा है। कुछ लेखकों ने इसे 'अश्लीलत्व' दोष के अंतर्गत माना है।
4. यह पाठ प्रत्यक्ष रूप में विकृत है। अभिनव ने 'सुप्रसिद्धधातुना च' के स्थान पर 'सुप्रसिद्धाभिधानातु' पाठ ग्रहण किया है। 'सुप्रसिद्ध धातुना' का अर्थ 'सुप्रसिद्ध धातुओं के प्रयोग द्वारा' भी हो सकता है। 'लोक-कर्म' के

(9) उदार=जहाँ दिव्य तथा विविध भाव, शृंगार तथा अद्भुत भावों का प्रयोग हो।[1]

(10) कांति=जिससे मन तथा श्रुति को आह्लाद होता है अथवा लीलादि[2] से जहाँ अर्थ की उपपत्ति होती है।

उपर्युक्त विवरण में, कहीं-कहीं किसी गुण विशेष से यथार्थ रूप में भरत का तात्पर्य क्या है, यह समझ में नहीं आता। गुणों का वर्गीकरण अपूर्ण है तथा वे एक दूसरे का अतिलंघन करते प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, इनमें से कुछ गुण, मोटे तौर से उन 'शब्द गुणों' तथा 'अर्थगुणों' के अनुरूप माने जा सकते हैं, जिनका वामन तथा परवर्ती आचार्यों ने सविस्तर विवेचन किया है। क्योंकि गुण-सिद्धांत का रीति संप्रदाय के मुख्य सिद्धांतों से घनिष्ठ संबंध है, इसलिए इस पर आगे चर्चा की जाएगी। किन्तु

स्थान पर 'लोक-धर्म' पाठ लेना चाहिए। हेमचंद्र की टिप्पणी इस प्रकार है—'यस्मिन् अन्यथास्थितोऽपि तथास्थित एवार्थः प्रतिभाति सोऽर्थ-व्यक्तिः।' उनके कथनानुसार भरत का यह गुण, वामन के अर्थगुण, अर्थव्यक्ति (iii, 2, 13 में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—वस्तु स्वभावस्फुटत्वम्) के अनुरूप है, तथा दंडी इत्यादि आचार्यों के 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' नामक अलंकार का पर्याय है। तुलना कीजिए, मम्मट पृ० 583 'अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण वस्तु-स्वभाव स्फुटत्वरूपार्थव्यक्तिः स्वीकृता' किंतु विश्वनाथ ने इसे 'प्रसादगुण' के अंतर्गत माना है।

1. इस गुण से 'अद्भुत' रस परिलक्षित होता है; 'दिव्यभाव' में प्रयुक्त होने से यह गुण अद्भुत कारक, उत्कर्षवान धर्म का सूचक है, जैसा कि दंडी के 'उदार' गुण से सूचित होता है। पृ० 199 पर हेमचंद्र द्वारा दिया गया इस गुण का उदाहरण देखिए। 'शृंगार' तथा 'अद्भुत' रसों का समावेश हो जाने के कारण भरत का यह गुण आंशिक रूप में वामन के 'अर्थगुण कांति' के अनुरूप है। किन्तु दंडी का कथन है—'श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्त-मुदारं कैश्चिदिष्यते।' भरत ने इस प्रकार के श्लाघ्य विशेषणों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हेमचंद्र ने कहा है—'बहुभिः सूक्ष्मैश्च विशेषैःसमेतमुदारमिति भरतः।' अग्निपुराण अध्या० 349, 9 से इस प्रकार कहा गया है 'उत्तानपदतौदार्ययुतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः।' संभवतः यह दंडी की ही प्रत्यक्ष प्रतिध्वनि है।

2. अभिनवगुप्त के कथनानुसार, लीलादि=लीलादिचेष्टा। इसे वामन के 'अर्थ-गुण कांति' के 'दीप्त रसत्वं' के तुल्य समझा जा सकता है। कौटिल्य (ii. 28) ने प्रबंध के निम्नलिखित गुण बताए हैं: अर्थक्रम (विषय-सामग्री की क्रम-व्यवस्था), संबद्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि गुणों के विषय में भरत द्वारा की गई परिभाषा यथार्थ में परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई परिभाषाओं के अनुरूप रही है, तथापि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भरत पहले आचार्य हैं, जिन्होंने इस विषय में एक निश्चित कथन किया है, भले ही उन्होंने सिद्धांत का यथोचित विवेचन न किया हो। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट गुणों की परिभाषाओं के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद रहा है, यह सर्वविदित है; इसलिए यह कोई विस्मयजनक बात नहीं है कि परवर्ती आचार्यों ने गुणों की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे भरत की परिभाषाओं से भिन्न हैं। गुणों का वामन के रीति-सिद्धांत से अथवा ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन द्वारा प्रथम बार स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किए गए रस-सिद्धांत से क्या संबंध है, संभवतः भरत को इसका ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार, जैसा कि वामन ने भेद किया है, भरत को 'शब्दगुण' तथा 'अर्थगुण' के परस्पर भेद का भी ज्ञान नहीं था यद्यपि भरत के गुण अधिकांश रूप में अर्थगुणाश्रित हैं और जैसा कि अभिनवगुप्त ने किया है, कुछ गुण 'शब्दगुण' भी माने जा सकते हैं। किंतु सभी परवर्ती आचार्यों ने गुणों के विषय में जहाँ तक उनकी संख्या, उनके नाम तथा उनमें से कुछ के भावों का संबंध है, भरत का ही मतानुसरण किया है। भामह ही एकमात्र अपवाद हैं। उनके विषम में आगे बताया जाएगा। इस संबंध में इनके विचार आमूल भिन्न थे। उसके पश्चात् ध्वनिकार तथा उनके मतानुयायियों ने गुण-सिद्धांत की एक नवीन व्याख्या की। यह बात ध्यान देने की है कि भरत ने रस-निष्पत्ति को नाटक का मुख्य उद्देश्य कहा है तथा गुणों, दोषों एवं अलंकारों को रस के परिपाक में सहायक माना है। इस संबंध में भरत ने संभवतः ध्वनिकार के मत तथा सिद्धांत का पूर्वाभास दिया है तथा उसे प्रभावित भी किया है। ध्वनिकार ने किस प्रकार भरत के नाटकाश्रित रस सिद्धांत का काव्य में प्रयोग किया, यह आगे बताया जाएगा।

(2)

यह बताया जा चुका है कि भरत ने लक्षण, गुण, दोष तथा अलंकार को नाटक के मुख्य उद्देश्य, रस के परिपाक में सहायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है। भरत के कथनानुसार यह तत्त्व 'वाचिक अभिनय' (वाचिक अभिनय की परिभाषा viii, 6, 9 में दी गई है) के अंग होते हैं। अध्याय 14-20 तक में 'वाचिक अभिनय' का विवेचन किया गया है। 'वाचिक अभिनय', अनुभाव (vii. 5) का एक महत्त्वपूर्ण अंग है तथा रस-निष्पत्ति में सहायक होता है।

अतएव, भरत ने उनके रस-संबंधी प्रयोग के विषय को लेकर ही उनका विवेचन किया है (xvi. 104 इत्यादि)। यहाँ रस के सिद्धांत से संबंधित भरत के विचारों पर संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है।[1] 'नाट्यशास्त्र' के अध्याय 6 तथा 7 में इस विषय का निरूपण किया गया है।[2]

यह पहले से ही समझ लेना चाहिए कि रस का विषय भरत का मुख्य विषय नहीं है। भरत का मुख्य विषय नाट्य-अभिनय की व्याख्या है। नाटक के प्रसंग में ही उन्होंने अपने रस-संबंधी विचार प्रकट किए हैं। अतएव, यह कोई विस्मयजनक बात नहीं है कि संभवत: किसी प्रचलित परंपरा के आधार पर राजशेखर ने भरत को रस के बदले रूपक का प्रामाणिक आचार्य माना है तथा नंदिकेश्वर[3] को रस-सिद्धात के मूल व्याख्याता के रूप में निर्दिष्ट किया है। यदि राजशेखर का कथन यथार्थ है, तब भरत ने नंदिकेश्वर के रसाश्रित विचारों का अपने नाट्यशास्त्र के सिद्धांत में समावेश किया है। रस का सिद्धांत भरत से भी प्राचीन है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने अपने तत्संबंधी कथन की पुष्टि अथवा पूर्ति के लिए आर्या तथा अनुष्टुप छंदों में अनेक श्लोकों का उद्धरण किया है। इनके अतिरिक्त, एक स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने रस-विषयक एक अज्ञात ग्रंथ के दो आर्या श्लोकों का उद्धरण किया है।[4]

---

1. 'सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली कमेमोरेशन वाल्यूम, ओरिएंटेलिया, खंड iii, 1922 के अंतर्गत 'थियोरी ऑफ़ रस' शीर्षक लेख में सुशीलकुमार डे ने इस विषय पर संक्षिप्त रूप से चर्चा की है। 'सम प्राब्लम्ज. ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स', कलकत्ता 1959, पृ० 177-235 के अंतर्गत इस लेख का पुनर्मुद्रण हुआ है।
2. कुछ अन्य अध्यायों में भरत ने नायक-नायिका, उनके सहाय तथा भावों का निरूपण किया है। यथोचित स्थान (अध्या० viii) पर इन विषयों पर चर्चा की जाएगी।
3. देखिए खंड 1, पृ० 1, 2, 19
4. 'अत्रार्यं रस-विचार-मुखे' काव्यमाला संस्करण, पृ० 67. ग्रोसे के संस्करण में इन शब्दों का अभाव है। 16वीं शती के एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक, केशव मिश्र ने भगवान् शौद्धोदनि नामक एक आचार्य का उल्लेख किया है। केशव मिश्र के मतानुसार वे रस के 'सूत्रकार' थे। केशव मिश्र ने इन अज्ञात आचार्य के मतों का जिस प्रकार उल्लेख किया है (देखिए खंड i, पृ० 202), वे रस के पक्षपाती, नवीन संप्रदाय के परवर्ती लेखकों के रूढ़िग्रस्त विचारों से बहुत भिन्न नहीं हैं।

प्राचीन लेखक रस की संकल्पना से अनभिज्ञ नहीं थे, भले ही उन्हें रस के सिद्धांत का ज्ञान न रहा हो। भरत के निरूपण से ऐसा सूचित होता है कि विशेषतया नाटकाश्रित रस का सिद्धांत, कम-से-कम अविकसित रूप में, तो उनके समय में भी विद्यमान था। किंतु काव्य पर इस सिद्धांत का प्रभाव शायद ही कभी चर्चा का विषय हुआ था। काव्य के अनिवार्य अंगों के रूप में रस के महत्त्व का सहज बोध तो था, किंतु सिद्धांत रूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी।[1]

नाट्य प्रारंभ से ही अध्ययन का एक पृथक् विषय रहा है, संभवतः इसी से काव्य-चिंतन का मार्गदर्शन भी हुआ है। क्योंकि आरंभ में रस-सिद्धांत का चिंतन मुख्यतः नाट्याश्रित था, अतएव विकास के आदिकाल में नाटक-रचना के क्षेत्र में ही इसका प्रयोग हुआ, काव्य-सिद्धांतों पर इसका प्रभाव सीमित था।[2]

काव्य-शास्त्र में, आरंभ से ही अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का प्रभुत्व था अतएव काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में नाटकाश्रित रस के सिद्धांतों को महत्त्वपूर्ण

---

1. रस तथा काव्याश्रित रस के विषय की प्रथम बार निश्चित रूप में व्याख्या ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के ग्रंथों में की गई है। संभवतः तभी से नाटक के अतिरिक्त रस के काव्याश्रित महत्त्व का बोध हुआ था। माघ के कुछ श्लोकों (देखिए खंड i, पृ० 58, पा० टि० 3) से सूचित होता है कि उन्हें रस के किसी एक ही सिद्धांत का बोध था; किंतु उन्होंने काव्यरस की जगह भरत के नाट्यरस को ही निर्दिष्ट किया है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि प्राचीन संस्कृत काव्य रसविहीन है अथवा यह कि पूर्ववर्ती लेखक रस की कल्पना से रहित थे, किंतु आशय यह है कि रस के सिद्धांत का आलोचनात्मक प्रतिपादन उस समय तक न हो पाया था और न ही ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन से पहले काव्य के क्षेत्र में रस का सौंदर्यबोधात्मक महत्त्व ठीक तरह से समझा गया था। संस्कृत काव्य तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन काव्यशास्त्र विषयक संस्कृत के लेखकों के ग्रंथों में रस का अस्तित्व इतना सर्वविदित है कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य दृष्टि से ओझल हो सकता है।

2. आरम्भ में रस-सिद्धांत नाट्याश्रित था, काव्य पर इसका प्रयोग आगे चलकर हुआ। इस तथ्य का स्पष्टीकरण अत्यन्त अर्वाचीन लेखकों के ग्रंथों में उपलब्ध परम्परा से भी होता है। इस परम्परा के अनुसार उन्होंने न केवल रस-सिद्धांत का विवेचन स्पष्टतया नाटक के प्रसंग में किया गया है (यथा विश्वनाथ), बल्कि अधिकतर उदाहरण भी नाटकों से ही उद्धृत किए हैं। अभिनव ने काव्य को 'लोक-नाट्य-धर्मिस्थानीय' लक्षित करते हुए ऐसा कहा है—"नाट्य एव रसः, काव्ये च नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थः।"

स्थान न मिल सका। काव्यशास्त्र के दो प्राचीनतम लेखकों—भामह तथा दण्डी—ने इस परम्परा का पालन करते हुए अपने-अपने सिद्धांत में रस को बहुत गौण स्थान दिया है, किंतु नाटकाश्रित रस का सिद्धान्त भरत से भी अपेक्षाकृत प्राचीन है, इसमें संदेह नहीं।

भरत को इस सिद्धान्त का प्राचीनतम व्याख्याता कहा गया है। भरत ही सभी परवर्ती ज्ञात सिद्धान्तों के स्रोत हैं, यहाँ तक कि स्वयं आनन्दवर्धन ने (पृ० 181) काव्यशास्त्र पर रस-सिद्धांत का प्रयोग करते हुए प्रमाण के रूप में भरत को निर्दिष्ट किया है। इसलिए भरत के नाट्यरस-सिद्धांत को परवर्ती काव्यशास्त्र में विकसित हुए काव्यरस के सिद्धांत के मूल स्रोत के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। ध्वनिकार ने रस तथा काव्य के परस्पर सम्बन्ध की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की तथा मम्मट ने प्रामाणिक रूप में उसका प्रतिष्ठापन किया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इससे बहुत पहले ही नाट्य-शास्त्रीय सिद्धांतों में भरत के रसविषयक विचारों पर न्यूनाधिक चर्चा की जा चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक प्रभृति आचार्यों के नामों से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का जन्म हुआ। ये सभी भरत के टीकाकार माने गए हैं,[1] अथवा इन्होंने भरत को मूल स्रोत मानकर ही अपने-अपने सिद्धांत का निरूपण किया है। जहाँ तक रस-सिद्धांत के विकास का सम्बन्ध है, भरत को स्पष्ट तथा निश्चित युगप्रवर्तक माना जा सकता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि सभी सैद्धांतिकों ने भरत को आदि-स्रोत मानकर उन्हीं के प्रामाणिक, किन्तु अपर्याप्त पाठ के आधार पर अपने-अपने सिद्धांत का निर्माण किया है, तथापि प्राचीन आचार्यों के समान स्वयं भरत का विवेचन बहुत सरल है, क्योंकि उनके समय में इस विषय का आलोचनात्मक चिंतन नहीं हो पाया था। भरत का ग्रन्थ ज्ञान-कोश की तरह है, किंतु इसका मुख्य विषय नाटक तथा विशिष्ट नाटकाश्रित काव्य की कल्पना है। संभवतः इसी कारण वामन ने उपर्युक्त नाट्य-रचना का पक्षपात किया है तथा अभिनवगुप्त ने 'काव्यं तावद् दशरूपात्मकमेव' कहकर संक्षिप्त रूप में इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। भरत के मतानुसार इस प्रकार की रचना में रस का प्राधान्य आवश्यक है। भरत ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप में कहा है कि रस के बिना काव्य अर्थहीन अथवा नीरस ही होता है।[2] शास्त्रीय सूक्ष्म-

1. देखिए खंड 1, पृ० 31 इत्यादि।
2. यथा, 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' ग्रोसे पृ० 87; सं० काव्यमाला, पृ० 62 अध्याय vii. श्लोक 7 से भी तुलना कीजिए।

ताओं पर ध्यान न देते हुए भरत ने यह प्रकट किया है कि विभाव तथा अनुभाव, जिन्हें परवर्ती सिद्धांत में अनिवार्य अंग माना गया है, रस के निष्पादक होते हैं, किंतु यथार्थ रूप में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने भाव को रस का आधार माना है तथा भाव की सामान्य व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव वह है, जो शब्दों, भंगिमाओं तथा सत्व के मनोभावों के माध्यम से काव्यार्थ की अभिव्यक्ति करे (वागंग सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः)। मनोभावों पर आश्रित ऐसा भाव, स्थायी हो जाने पर, विभाव तथा अनुभाव के माध्यम से रस की अवस्था में परिवर्तित हो जाता है। विभाव की व्याख्या इस प्रकार है—"विभावो नाम विज्ञानार्थः, विभाव्यंतेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः।" अतएव, विभाव शब्द विज्ञान अथवा ज्ञान का वाचक है तथा तीन प्रकार के अभिनय के ज्ञान को सूचित करता है। इसी प्रकार भाव का अनुगामी अनुभाव है, जो तीन प्रकार के अभिनय के वास्तविक ज्ञान को परिलक्षित करता है। व्यभिचारी भाव को रस का तीसरा अंग बताया गया है। यह एक प्रकार का सहायक मनोभाव है, जो रस की निष्पत्ति में सहायक होता है तथा उसकी पुष्टि करता है। व्यभिचार भाव की व्युत्पत्ति पर आधारित व्याख्या इस प्रकार की गई है—"वि अभि इत्येतावुपसर्गों, चर गतौ धातुः, विविधं आभिमुख्येन रसान् चरंतीति व्यभिचारिणः।" इन अंगों का रस से क्या सम्बन्ध है तथा रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस विषय पर भरत का एक गूढार्थ कथन इस प्रकार है—"विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" यद्यपि भरत ने स्वयं इसकी व्याख्या की है, तथापि 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का यथार्थ रूप में क्या महत्त्व है, यह स्पष्ट नहीं होता। इन शब्दों की व्याख्या में बड़ा मतभेद है, जिसके कारण रस के अनेक सिद्धांतों का सूत्रपात हुआ है। भरत की अपनी व्याख्या—यदि उसे व्याख्या कहा जा सकता है—के अनुसार जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों तथा औषधियों के संयोग से रस निकाला जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव, विविध भावों से 'उपगत' (पुष्ट) हो जाने पर रस की अवस्था को प्राप्त होता है। इसे रस इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसका आस्वादन किया जा सकता है (आस्वाद्यत्वात्)। रस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यही है।[1] भरत के अनुसार[2] 'स्थायिभाव' रस का आधार होता है, क्योंकि उनचास

---

1. स० ग्रोसे पृ० 87, सं० काव्यमाला पृ० 62. यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'रसना', 'चर्वणा,' अथवा 'आस्वाद' इत्यादि रस-तत्त्व के द्योतक शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार रसास्वादन के सूचक हैं। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।

2. सं० ग्रोसे पृ० 102 11-7-19 = सं० काव्यमाला, पृ० 17, 11,13-22.

विभिन्न भावों में प्रधान होने के कारण इसी की निष्पत्ति होती है, रचना के अंतर्गत अन्य भाव इसी मुख्य भाव के आश्रित रहते हैं। भरत ने उनचास भावों का उल्लेख किया है।[1]

इससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत के मतानुसार किसी रचना का मुख्य भाव अथवा स्थायिभाव रस का आधार अथवा मूल होता है; पाठक अथवा दर्शक उसका आस्वादन कर सकता है तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव उस स्थायिभाव के आस्वादन में सहायक होते हैं। इस व्याख्या की अस्पष्टता के कारण सैद्धांतिकों तथा टीकाकारों को बहुत बौद्धिक परिश्रम करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद', शंकुक के 'अनुमिति-वाद' प्रभृति सिद्धांतों का जन्म हुआ। भरत ने चर्चाधीन स्थल के अंतर्गत 'व्यंजित' तथा 'सामान्यगुणयोग जैसे विशिष्ट शब्दों के कारण अभिनवगुप्त के 'व्यक्तिवाद' जैसे विशिष्ट सिद्धांतों का विकास हुआ।

इस सिद्धांत की मूल रूप रेखा, भरत के विवेचन के अनुसार ही, स्वीकार कर ली गई। काव्य के अर्धमनोविज्ञानिक विवेचन के दृष्टिकोण से सभी आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि काव्य-प्रबंध अथवा रचना के अन्तर्गत पाठक द्वारा स्थायिभाव की आस्वादन-अवस्था का नाम रस है। यह एक आंतरिक अवस्था है, जो नाटक के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के कारण पाठक के मन में स्थायि-भाव की आस्वादनावस्था को जन्म देती है। विभाव तथा अनुभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, व्यभिचारिभाव गौण अथवा सहायक रूप में ही रहता है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस व्याख्या का अति सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य अथवा नाटक में स्थायिभाव का अर्थ है—रति, शोक, क्रोध अथवा भय-जैसे न्यूनाधिक स्थायिभाव। प्रबंध अथवा रचना के अन्तर्गत स्थायिभाव ही मुख्य भाव होता है तथा माला में सूत्र के समान अन्य भावों में ।चरण करता हुआ कभी भी सहायक अथवा विरोधी भावों से अभिभूत न होकर उनसे तुष्ट ही होता है। काव्य तथा नाटक में जो भाव स्थायि-भाव को क्रमानुसार उत्तेजित करता है, उसका अनुभाव करता है तथा उसकी पुष्टि करता है, उसे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव (अथवा संचारि) कहा जाता है।

ये भाव काव्य के अलौकिक क्षेत्र से भिन्न लौकिक कारण तथा कार्य के

---

1. अर्थात् 8 स्थायिभाव, 8 सात्विक भाव तथा 33 व्यभिचारि भाव।

अनुरूप होते हैं। यदि शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को अलग रखा जाय, तो विभाव उसे कहा जा सकता है, जो स्थायिभाव को अनुभूति के योग्य बनाता है; अनुभाव, जिससे वास्तव में स्थायिभाव की अनुभूति होती है, तथा व्यभिचारिभाव वह, जो स्थायिभाव का गौण अथवा नवीन रूप से पोषक होता है। स्थायिभाव रति होने पर स्त्री तथा ऋतुएँ विभाव के, कटाक्ष तथा आलिंगन अनुभाव के, प्रमोद तथा चिंता, अस्थायी तथा गौण व्यभिचारि भाव के रूढ़ उदाहरण हैं। भरत का कथन है कि स्थायिभाव के साथ इन भावों के विशिष्ट संयोग से पाठक रस के रूप में प्रबंध के स्थायिभाव का आस्वादन करता है। संयोग का उद्देश्य स्थायिभाव की निष्पत्ति करना तथा उसे आस्वाद्य बनाना है। प्रश्न यह उठता है कि इन भावों का रस से क्या संबंध है, अथवा इनके द्वारा पाठक के मन में आंतरिक आस्वादन की अवस्था किस प्रकार उत्पन्न होती है। भरत ने इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया है। इस प्रश्न का समाधान, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति', दो शब्दों की व्याख्या पर निर्भर है। इन दोनों शब्दों पर बहुत चर्चा हो चुकी है। भरत के मूल सूत्रों में इनका प्रयोग हुआ है। परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का यही केंद्र रहा है। आगे प्रसंगवश इस विषय पर चर्चा की जाएगी। (अध्याय iv).

भरत ने नाटकाश्रित आठ विभिन्न रसों का उल्लेख किया है। 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में इनका सविस्तर विवरण है। परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी को प्रामाणिक माना है, यद्यपि रसों की परंपरागत आठ संख्या के विषय में कभी-कभी उनमें मतभेद रहा है। इस बात पर आगे विचार किया जायगा। वास्तव में भरत के अनुसार मुख्य रस चार ही हैं; शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स। अन्य चार रस इन्हीं के अनुजन्य होते हैं, अर्थात् हास्य शृंगार का, करुण रौद्र का, अद्भुत वीर का तथा भयानक वीभत्स का। (xvi. 39-40)।

आठ रसों के अनुरूप आठ ही स्थायिभाव होते हैं, जो इस प्रकार हैं (1) रति, (2) हास, (3) क्रोध, (4) उत्साह, (5) भय, (6) जुगुप्सा, (7) विस्मय तथा (8) शोक। यही स्थायिभाव क्रमानुसार शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा करुण रसों के आधार होते हैं। व्यभिचारि भावों की संख्या तैंतीस दी गई है। ये हैं निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, वृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क।[1]

---

1. इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यभिचारि भावों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, किंतु वे मुख्य मानसिक अवस्था अथवा स्थायिभाव के सहायक

अनभीप्सित आंतरिक मनोभाव के लक्षणों को 'सात्विक भाव' कहा गया है। इनकी संख्या आठ दी गई है[1] : स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलाप।

होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी प्रबन्ध में मुख्य रूप से व्यभिचारिभाव की ही अभिव्यक्ति हो तथा स्थायिभाव गौण ही रहे। ऐसी अवस्था को परवर्ती आचार्यों ने रस न कहकर भाव ही माना है, अतएव अपूर्ण रस का नाम भाव है। रस तथा भाव के परस्पर अन्तर का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। इस विषय पर आगे चर्चा की जाएगी। व्यभिचारि भावों की संज्ञा से ऐसा प्रतीत होता है कि पुरातन आचार्यों ने कई भावों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया है, किंतु हमने उन्हें भौतिक (यथा, व्याधि अथवा मरण) दृष्टिकोण से ही माना है। ZDMG. lvi, 1902, पृ० 395, पा० टि० 2 पर जैकोबी का कथन देखिए।

1. सात्विक भाव (जिसे परवर्ती आचार्यों, यथा अभिनवगुप्त, ने सांख्य के सत्वगुण से सम्बन्धित माना है) के सम्बन्ध में भरत का कथन इस प्रकार है (सं० ग्रोसे, पृ० 129—सं० काव्यमाला, पृ० 82,) "इह हि सत्वं नाम मनःप्रभावं तच्च समाहित मनस्त्वादुत्पद्यते मनःसमाधानाच्च सत्वनिर्वृ तिरिति; तस्य योऽसौ स्वभावो रोमांचास्राविकृतः स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति; लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम्।" इस प्रकार भरत की व्याख्या के अनुसार अभिनय में समाहित मन से, मानव-स्वभाव के अनुकरण से उत्पन्न मानसिक भाव ही सात्विक भाव होते हैं। भरत ने इसका उदाहरण दिया है—'इह हि नाट्यधर्मप्रवृत्ताः सुखदुःखकृतो भावास्तथा सत्व-विशुद्धा कार्या यथा-स्वरूपा भवंति।" रोने के बिना दुःख अथवा हँसने के बिना हर्ष, अनभीप्सित लक्षणों के अतिरिक्त और किस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है? भरत के 'सत्वाभिनय' अथवा 'सात्विकाभिनय' शब्द इसी अर्थ को लक्षित करते हैं। किंतु 'दशरूपक' में 'सत्व' शब्द 'सहृदय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा 'सात्विक' की व्याख्या 'सत्वेन निर्वृत्तः' की गई है (तुलना कीजिए, साहित्य-दर्पण, iii. 134)। अपनी 'रस तरंगिणी' में भानुदत्त ने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न की है। उनके अनुसार शरीर के भाव सात्विक भावों को लक्षित करते हैं (सत्वं जीव-शरीरं, तस्य धर्माः सात्विकाः, इत्थं च शारीर भावाः स्तंभादयः सात्विका भावाः इत्यभिधीयते)। 'काव्यप्रकाशप्रदीप' के लेखक के समान परवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से 'सात्विक' को सत्व गुण से उत्पन्न बताया है। 'सात्विक' शब्द के

यह मनःशारीरिक विश्लेषण औपचारिक-सा प्रतीत होता है। सातवें अध्याय में इसका सविस्तर विवेचन किया गया है। नाट्याश्रित दृष्टिकोण से ही प्रत्येक अवस्था का पृथक्-पृथक् लक्षण उदाहरण दिया गया है, किंतु परवर्ती साहित्य में काव्य के लिए भी इन्हें प्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया।[1]

3

भरत के यत्किंचित अपर्याप्त पाठ के आधार पर भरत के काव्याश्रित मत की मोटे तौर से रूपरेखा ऊपर दी गई है। इसे इस शास्त्र के इतिहास में अत्यंत प्राचीन रूपरेखा माना जा सकता है। इस शास्त्र का दूसरा युग भामह, दंडी तथा ध्वनिकार से आरम्भ होता है। यह युग अपेक्षाकृत अल्पकालिक होते हुए भी विशिष्ट सृजनात्मक प्रतिभा का द्योतक होने के कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भरत के पूर्ववर्ती काल के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यल्प है; भामह के समय में व्यवस्थित काव्य-सिद्धांतों का जन्म हुआ, किन्तु भरत तथा भामह के मध्य एक दीर्घ अंतराल है, जिसके विषय में हम अधिक नहीं जानते। यह बात स्पष्ट है कि भरत को कुछ काव्याश्रित गुणों, दोषों, अलंकारों तथा लक्षणों का ज्ञान था; उन्होंने नाट्याश्रित शोभाकरों की तरह उनका विवेचन भी किया है। इस तथ्य को सामने रखते हुए यह अनुमान गलत नहीं है कि अलंकार-शास्त्र का अनुशीलन—यद्यपि इसका अभी उतना विकास नहीं हो पाया था—संभवतः भरत से भी प्राचीन है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मत-परंपरा का वह भामह तथा दंडी के प्राचीनतम विद्यमान ग्रंथों में अथवा ध्वनिकार के स्मरणीय श्लोकों में मिलता है, वास्तव में भरत के बहुत समय पश्चात् ही एक निश्चित रूप में उपलब्ध हुआ है; किंतु यह संभव है कि निश्चित रूप में न होकर सार रूप में यह मत-परंपरा भरत से भी बहुत पहले की है। भरत ने स्वयं इस परम्परा की प्राचीनता को निर्दिष्ट किया है। भरत ने इस विषय में जो कुछ कहा है, उसके अतिरिक्त इस शास्त्र के क्रमिक विकास तथा परिष्करण के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। भामह प्रभृति आचार्यों के ग्रंथों में तो विभिन्न सिद्धांत

अर्थों में जो भी अन्तर हो, किन्तु इस विषय पर सभी आचार्य एकमत हैं कि यह शब्द मानसिक भावों के अनभीप्सित अभिनय का ही द्योतक है। उन भावों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

1. यथा, मम्मट ने।

अपेक्षाकृत विकसित रूप में ही उपलब्ध हुए हैं; किंतु विकास का एक प्रयोगात्मक युग अवश्य रहा होगा और यदि तत्कालीन रचनाएँ आज प्राप्त होतीं तो उनसे भामह, दंडी तथा ध्वनिकार के क्रमिक विकास का आभास मिल सकता था तथा भरत एवं उनके पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्यों के मध्य का दीर्घ अंतराल पाटा जा सकता था।

यदि भामह, दंडी अथवा ध्वनिकार को प्राचीनतम आचार्य मान भी लिया जाए तो भी इनमें से किसी भी आचार्य ने स्वयं को अपने सिद्धांत का मूल प्रवर्तक नहीं कहा है। इनमें से किसी भी आचार्य की क्रमानुसार अलंकार, रीति अथवा ध्वनि का एकमेव प्रवर्त्तक नहीं माना जा सकता। इस शास्त्र के अनुशीलन का आरंभ यहीं से नहीं माना जा सकता। इन आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति अपना आभार प्रकट किया है, जिसका विवरण इस ग्रंथ के पहले खंड में दिया जा चुका है (पृ० 46, 47, 64, 101)। इन स्पष्ट आभारोक्तियों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति, रीति, गुण अथवा अलंकार-जैसी मूल संकल्पनाएँ तथा सूत्र बिना किसी पूर्व व्याख्या के भामह-जैसे आचार्यों के ग्रंथों में इस प्रकार प्रयुक्त किए गए हैं, मानो वे परंपरागत शब्द ही थे अथवा सर्वविदित होने के कारण उनकी सविस्तर चर्चा आवश्यक नहीं समझी गई।

आगे बढ़ने से पहले, यह देख लेना लाभदायक रहेगा कि भामह आदि आचार्यों के ग्रंथ भरत तथा भामह इत्यादि आचार्यों के मध्यवर्ती अंतराल में होनेवाले इस शास्त्र के विकास-क्रम का कोई संकेत देते हैं अथवा नहीं। जैकोबी ने इस तथ्य को पहले ही निर्दिष्ट[1] किया है कि भामह ने काव्यालंकारों का विवेचन करते हुए उन्हें विशिष्ट वर्गों में विभक्त किया है। अलंकारों का इस प्रकार का वर्गीकरण भामह से पहले अलंकारों के क्रमिक विकास तथा संख्यावृद्धि का सूचक है। परवर्ती लेखकों ने वर्गीकरण के किसी निश्चित सिद्धांत के अनुसार ही काव्यालंकारों की सामूहिक रूप से सूची दी है[2]। भामह का वर्गीकरण इनसे भिन्न है। भामह ने

---

1. Sb. der preuss. Akad. xxiv, 1922 p. 220-222.

2. उदाहरण के लिए दंडी के समय तक अलंकारों की एक बड़ी संख्या को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, किंतु दण्डी ने भामह की तरह उनका वर्गानुसार उल्लेख आवश्यक नहीं समझा, अपनी इच्छा के अनुसार ही उन्होंने उनका क्रम निश्चित किया है। उन्होंने दो पृथक्-पृथक् अध्यायों में, पहले अर्था-

पहले (ii. 4) केवल पाँच वर्ग-बद्ध अलंकारों के नाम तथा उनकी परिभाषाएँ दी हैं, तत्पश्चात् अन्य वर्ग-बद्ध अलंकारों का वर्णन किया है तथा अंत में शेष चौबीस अलंकारों के एक वर्ग पर चर्चा की है। पहले वर्ग में अनुप्रास, यमक, दीपक तथा उपमा नामक अलंकारों का उल्लेख है। भामह के कथनानुसार ये अलंकार अन्य आचार्यों द्वारा उदाहृत हैं (अन्यैरुदाहृताः) और उन्होंने स्वयं भी इन्हें मान्यता दी है। वास्तव में ये पाँचों अलंकार ऐसे चार प्राचीन काव्यालंकारों, अर्थात् यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा के अनुरूप हैं, जिनका भरत को ज्ञान था और जिनकी परिभाषाएँ उन्होंने दीं हैं। भामह के अतिरिक्त अलंकार अनुप्रास को यमक के अंतर्गत माना जा सकता है[1], क्योंकि इनमें से एक 'वर्णाभ्यास' है तथा दूसरा 'पदाभ्यास' है। भरत के मतानुसार ये दोनों 'शब्दाभ्यास' के ही रूप हैं। अभिनवगुप्त के कथनानुसार[2] भरत ने अनुप्रास को यमक से ही परिलक्षित माना है। भामह ने अनुप्रास तथा यमक में स्पष्ट रूप से भेद किया है। इससे यह सूचित होता है कि कुछ काल के पश्चात् इन अलंकारों का अति सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया था।

कालांतर में छह अतिरिक्त अलंकारों का विवेचन एवं संयोजन हुआ और भामह ने ii. 66 में उनका वर्ग-बद्ध रूप में उल्लेख किया। वे अलंकार हैं : आक्षेप

लंकारों का विवेचन किया है। भामह के मतानुयायी उद्भट ने, भामह के प्रथम तीन वर्गों पर अपने ग्रंथ के प्रथम तीन अध्यायों में चर्चा की है। अन्य तीन अध्यायों में अंतिम वर्ग के शेष चौबीस अलंकारों का विवेचन है; किंतु उद्भट ने प्रथम तीन वर्गों में संबंधित भामह के अन्यैरुदाहृताः; अपरः, अभिहिताः क्वचित्, इत्यादि शब्दों को छोड़ दिया। उद्भट ने अपने विवेचन में भामह के क्रम तथा परिभाषाओं का अनुसरण तो किया है, किंतु भामह के अनुसार वर्ग-बद्ध उल्लेख नहीं किया है।

1. यमक तथा अनुप्रास का परस्पर भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। अनुप्रास में एक अथवा अनेक व्यंजनों की पुनरावृत्ति होती है, व्यंजनों के साथ कभी-कभी— किन्तु ऐसा आवश्यक नहीं है— उनके स्वरों की भी पुनरावृत्ति हो सकती है. यमक में व्यंजनों तथा स्वरों की एक ही क्रम से पुनरावृत्ति होती है। यमक में एक ही शब्द-समूह की पुनरावृत्ति होती है, उसका अर्थ एक होना आवश्यक नहीं है, वह निरर्थक भी हो सकता है किन्तु अनुप्रास की पुनरावृत्ति सार्थक होती है। 'निचितं खमुपेत्य नीरदैः प्रियहीनाहृदयावनीरदैः' एक प्रकार के यमक का उदाहरण है तथा, 'अद्रिद्रोणीकुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयंति' अनुप्रास का उदाहरण है।
2. तेनानुप्रास लाटीयादेरनेन (यमकेन) एवोपसंग्रहात्।

अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति। भरत के ग्रंथ में इन अलंकारों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये अलंकार विकास के द्वितीय सोपान के द्योतक हैं। अलंकारों के इस वर्ग में सातवें अलंकार, वार्त्ता को सम्मिलित किया जा सकता है। दंडी ने i. 85 में इसका उल्लेख किया है, किंतु वक्रोक्ति-रहित काव्य से इतर होने के कारण भामह ने इसे मान्यता नहीं दी। (ii. 87)[1]।

भामह के विवेचन के अनुसार तृतीय विकास-सोपान अधिक रचनात्मक परिलक्षित नहीं होता, क्योंकि इस युग में अलंकारों की संख्या में केवल दो की वृद्धि हुई, यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा (ii. 88), संभवतः तीसरा अलंकार स्वभावोक्ति था। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दंडी के समय तक स्वभावोक्ति (अथवा जाति, बाणभट्ट ने इसे स्वीकार किया है), आद्या अलंकृति, अथवा आद्य अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था, किंतु भामह में इसका स्थान अनिश्चित है। भामह ने वक्रोक्ति सिद्धांत से अधिक प्रभावित होने के कारण इसका अधिक समर्थन नहीं किया। इस युग में अलंकार-क्षेत्र में उत्प्रेक्षा[2] की

---

1. वी० राघवन ('सम कान्सेप्ट्स', पृ० 11 इत्यादि) ने यह तर्क दिया है कि भामह के ग्रंथ में वार्त्ता नामक कोई अलंकार नहीं है। भामह ने इसी संदर्भ में हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक तीन अन्य अलंकारों का उल्लेख किया है, किंतु क्योंकि वे वक्रोक्ति-रहित हैं, अतएव भामह ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। इन अलंकारों का उपर्युक्त अलंकार-वर्ग से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। पिछले श्लोक में लक्षित वक्रोक्ति के संदर्भ में ही उनका उल्लेख है। जैसा कि टीकाकार की व्याख्या से प्रतीत होता है, भट्टि ने इन अलंकारों के उदाहरण दिए हैं। संभवतः भामह से पहले ही इन्हें मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

2. सुबंधु ने स्पष्ट रूप से उत्प्रेक्षा तथा आक्षेप अलंकारों का उल्लेख किया है, सं० श्रीरंगम, पृ० 146। बाणभट्ट ने उपमा तथा दीपक नामक अलंकारों को स्वीकार किया है (कादंबरी की भूमिका)। सुबंधु तथा बाण दोनों ने प्रबंध में श्लेष के महत्त्व का कथन किया है, श्लेष से उनका तात्पर्य एक 'प्रबंध-गुण' (जैसा कि भरत ने कहा है) से है, अथवा श्लेष नामक एक विशिष्ट अलंकार से है, यह स्पष्ट नहीं होता। भामह ने श्लेष के तीन भेदों का निरूपण किया है। सुबंधु की यह गर्वोक्ति कि उन्होंने अपने प्रबंध के प्रत्येक अक्षर में श्लेष का प्रयोग किया है (सुबंधु के टीकाकारों की व्याख्या से भी ऐसा ही सूचित होता है) यथार्थ ही है और जिस प्रकार सुबंधु ने श्लेष का प्रयोग किया है, वह वास्तव में अर्वाचीन श्लेष अलंकार ही है; भरत ने अपनी परिभाषा में श्लेष को एक गुण कहा है, सुबंधु के श्लेष को गुण नहीं कहा जा सकता।

वृद्धि वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। भामह के कथनानुसार (ii. 88) मेधावी ने इसे संख्यान की संज्ञा दी है।[1]

क्या यह संभव है कि भामह के पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी ने इस अलंकार का सबसे पहले विश्लेषण करके इसे 'संख्यान' नाम दिया था? 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा का बोधक है या नहीं, इस विषय पर दंडी ने एक प्रसिद्ध स्थल पर विस्तार से चर्चा की है; भामह तथा दंडी के मध्यवर्ती आचार्यों ने भी इस पर आपत्ति की थी, किंतु वामन के समय में उत्प्रेक्षा को मान्यता मिल चुकी थी। भामह (ii. 40) से सूचित होता है कि मेधावी ने सात उपमा-दोषों का कथन किया था। नमिसाधु (रुद्रट, ii. 24 की व्याख्या) ने उपमा के इन सात दोषों को मान्यता प्रदान करते हुए इनका सोदाहरण उल्लेख किया है। मेधावी (अथवा मेधाविरुद्र) के संबंध में इसके अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है[2], नमिसाधु तथा राजशेखर, जिन्होंने इनके उद्धरण दिए हैं, केवल इनके नाम से ही परिचित थे। भामह के उद्धरणों के आधार पर यह मान लेना अनुचित न

---

1. भामह का मूल पाठ (ii. 88) इस प्रकार है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि दंडी (ii. 273) के अनुसार संख्यान (तथा क्रम) नाम, उत्प्रेक्षा के न होकर यथासंख्य अलंकार के ही वैकल्पिक नाम हैं। यही उचित भी है। संभवतः यहाँ पाठ शुद्ध नहीं है। 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० 61-62 पर काणे ने पाठशुद्धि के लिए यह सुझाव रखा है—संख्यानमिति मेधावि नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्, तथा इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—"यथासंख्य को मेधावी ने संख्यान नाम दिया है।" अलंकारविषयक कुछ ग्रंथों में उत्प्रेक्षा को अलंकार नहीं कहा गया है। इस पाठशुद्धि को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि जिस प्रकार दंडी ने उत्प्रेक्षा का विशद विवेचन किया है, उससे सूचित होता है कि भामह के समय में भी यह एक महत्त्वपूर्ण अलंकार माना जा चुका था। अलंकार-ग्रंथों में उसका समावेश न होना जँचता नहीं। वामन ने यथासंख्य को 'क्रम' नाम से लक्षित किया है।

2. देखिए खंड i, 48. नमिसाधु के मेधावी-संबंधित उद्धरण (xi. 24 पर) केवल भामह के ii. 40 को ही लक्षित करते हैं। मेधावी पर उनसे कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। राजशेखर तथा वल्लभदेव (शिशुपालवध, xi. 6) ने मेधावी को कवि कहा है। राजशेखर ने कुमारदास के साथ उनका उल्लेख किया है तथा वल्लभदेव ने वास्तव में मेधाविरुद्र के एक श्लोक को उद्धृत किया है (देखिए ZDMG. lxxiii, 1919, पृ० 160, पा० टि०)।

होगा कि मेधावी काव्यशास्त्र के एक प्राचीन लेखक थे, जिन्होंने सबसे पहले उपमा तथा उत्प्रेक्षा नामक दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण अलंकारों की व्याख्या की थी।[1]

उपर्युक्त वर्ग-बद्ध अलंकारों पर विचार करने के पश्चात् भामह ने अगले अध्याय (iii. 1-4) में शेष ऐसे काव्यालंकारों का एक साथ विवेचन किया है, जो उनके समय में स्वीकार किए जा चुके थे। चौबीस अलंकारों की यह एक लंबी सूची है। इस सूची को भामह के अपने काल तक अलंकारों के विकास का चौथा सोपान माना जा सकता है। इस सोपान की समाप्ति होते-होते अलंकारों की एक बड़ी संख्या का सूक्ष्म रूप से विवेचन हो चुका था, यद्यपि उनकी संख्या दंडीकालीन संख्या के बराबर नहीं हो पाई थी।[2] भट्टि काव्य का एक अध्याय भी इस विकास सोपान को परिलक्षित करता है। इसमें सभी अड़तीस स्वतंत्र अलंकारों के उदाहरण हैं, यद्यपि जैसा कि पहले बताया जा चुका है[3]—संभवतः भट्टि ने एक ऐसे पाठ का उपयोग किया है, जो भामह को ज्ञात नहीं था, किंतु वह पाठ भामह के अपने स्रोत-ग्रंथ से अधिक भिन्न नहीं। निस्संदेह, इस काल तक स्पष्ट रूप में अलंकारशास्त्र की परिभाषा हो चुकी थी और उसे प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। भामह के साथ एक नये युग का आरंभ हुआ, जिसमें न्यूनाधिक प्रामाणिक तथा शास्त्रीय विवेचन के फलस्वरूप पूर्ववर्ती काल के अनिश्चित अलंकार-वर्गों का लोप हो गया।

---

1. प्राचीन लेखकों ने उपमा-दोषों तथा उत्प्रेक्षा पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया था। उपमा दोषों के संबंध में देखिए, खंड 1, पृ० 57, पाद-टिप्पणी 1. उत्प्रेक्षा के संबंध में दंडी, i. 226-234; वामन iv. 3, 9 वृत्ति तथा उद्भट, सं० तैलंग, पृ० 43-46 का अवलोकन करें।
2. अलंकार-साहित्य में अलंकारों के विवेचन के साथ उनके भेद तथा संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, यह सर्वविदित है। इसमें कोई विस्मय की बात नहीं है कि शास्त्र के अनुशीलन में प्रगति के साथ-साथ भेदों के सूक्ष्म विवेचन के फलस्वरूप ऐसा भी समय आया कि अलंकारों की संख्या बहुत बढ़ गई तथा परस्पर भेद बहुत सूक्ष्म हो गए। उन्हें किसी मुख्य सिद्धांत के अनुसार व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ी। समय-समय पर इस प्रकार के प्रयत्न किए गए थे। संभवतः इस दिशा में वामन का प्रयत्न प्राचीनतम है। इस पर आगे चर्चा की जाएगी।
3. देखिए खंड i, 50-53.

अध्याय 12

भामह, उद्भट तथा रुद्रट

(अलंकार सिद्धांत)

भामह

1

भामह के 'काव्यालंकार' में भरत की तरह काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों का प्रासंगिक विवेचन नहीं है, अपितु उनकी सुस्पष्ट रूपरेखा दी गई है, जिससे सूचित होता है कि अलंकारशास्त्र को एक स्वतंत्र शास्त्र का स्थान प्राप्त हो चुका था।

नाटकाश्रित भाषा के शोभाकर साधन होने के कारण तथा नाटकाश्रित रस की उत्पत्ति के मुख्य उद्देश्य में सहायक होने की दृष्टि से, भरत ने काव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों पर विचार किया है। इसके विपरीत भामह ने मुख्य रूप से काव्यालंकारों का ही विवेचन किया है तथा नाटक एवं रस-सिद्धांत को अछूता रहने दिया है। उन्होंने पहली बार साधिकार काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का न्यूनाधिक निश्चित तथा व्यवस्थित विवेचन किया है। भरत के विवेचन से यह सूचित होता है कि उससे पहले भी कुछ प्राचीन काव्यालंकारों, अधिकतर गुणों तथा दोषों, को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी तथा स्पष्ट रूप से उनकी परिभाषाएँ की जा चुकी थीं; यद्यपि उस समय तक अलंकार का कोई विशिष्ट सिद्धांत विद्यमान नहीं था। संभवतः एक प्राचीन परंपरा का पालन करते हुए भामह ने इन काव्याश्रित अलंकरणों, तत्संबंधी गुणों तथा दोषों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जिसके फलस्वरूप यह शास्त्र अलंकारशास्त्र के महत्त्वपूर्ण नाम से विख्यात हुआ। निस्संदेह यह परंपरा अपेक्षाकृत प्राचीन है, इस बात को पिछले अध्याय में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यदि अलकार के मत[1] को

---

1. यहाँ 'मत' शब्द अत्यन्त सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मत किसी विशिष्ट सिद्धांत के अनुसरण अथवा संबंध का सूचक है। ऐसा कहा गया है कि उद्भट तथा वामन के अपने-अपने मतानुयायी थे; उन्हें क्रमशः औद्भट तथा वामनीय कहा गया है। इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि किसी महान् आचार्य ने रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि के विशिष्ट सिद्धांतों का मूर्त अथवा अमूर्त रूप में प्रवर्तन किया हो तथा उनके अनुयायियों ने उनका

काव्य के मुख्य अंग अर्थात् अलंकार अथवा काव्यालंकार के विशिष्ट अर्थ का वाचक मान लिया जाय,[1] तो यह माना जा सकता है कि अलंकार का सिद्धांत, रस-सिद्धांत अथवा नाटकाश्रित रस-सिद्धांत का समकालीन था तथा जहाँ अलंकार-सिद्धांत ने रस-सिद्धांत को प्रभावित किया, वहाँ सीमित रूप में रस-सिद्धांत ने अलंकार सिद्धांत को भी प्रभावित किया। किंतु अलंकार-शास्त्र का यह सिद्धांत भामह-जैसे एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक ने प्रस्तुत किया है, जो स्वयं इसके मूल-प्रवर्तक नहीं थे।

मूलभूत अलंकारशास्त्र के समान सामान्य रूप से इस अलंकार-सिद्धांत का क्षेत्र भी वस्तुनिष्ठ, अनुभवाश्रित तथा न्यूनाधिक यंत्रवत् है। नाटकाश्रित रस-सिद्धांत अलंकार-सिद्धांत का पूर्ववर्ती अथवा सहवर्ती सिद्धांत था। अत्यंत प्राचीन काल में भी अलंकार-सिद्धांत के अस्तित्व से इस अकाट्य प्राक्कल्पना की पुष्टि होती है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का जन्म किसी अलंकार-सिद्धांत से ही हुआ था। इस अलंकार सिद्धांत के अंतर्गत सभी काव्यालंकारों पर विचार किया गया था तथा अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से न्यूनाधिक यंत्रवत् सूत्रों की व्याख्या ही इसका

समर्थन किया हो। किंतु इसमें संदेह नहीं कि अनिवार्य रूप से सिद्धांतों के परस्पर सम्मिश्रण तथा उद्धरण के बावजूद इन सिद्धांतों की अपनी-अपनी विशिष्ट परंपरा तथा इतिहास रहा है, जिसके फलस्वरूप उनमें परस्पर भेद होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक लेखक ने, जहाँ तक मूल तत्त्व का संबंध है, विशिष्ट परंपरा का अनुसरण करते हुए एक-न-एक सिद्धांत को महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने मुख्य रूप से आनंदवर्धन के ध्वनि-सिद्धांत का अनुसरण किया है, यद्यपि उन्होंने रस के महत्व को स्वीकार किया है अथवा भरत के गुणों की व्याख्या करते हुए वामन के गुण-विषयक विचारों का समावेश किया है। उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त यहाँ 'मत' शब्द का प्रयोग क्रमशः रस, अलंकार, रीति अथवा ध्वनि की पुष्टि करने-वाले सिद्धांतों के लिए किया गया। समुद्रबंध (पृ० 4) ने काव्य के पाँच पक्षों (1) उद्भट का (2) वामन का (3) वक्रोक्ति-जीवितकार का, (4) भट्टनायक का तथा (5) आनंदवर्द्धन का उल्लेख किया है। 'व्यक्तिविवेक' का अनुमानपक्ष उल्लेख योग्य नहीं माना गया है।

1. भामह, उद्भट तथा अन्य प्राचीन लेखकों का उल्लेख करते हुए रुय्यक ने इस प्रकार कहा है—"तदेवमलंकार एवं काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्" (पृ० 7)।
2. (देखिए खंड i, पृ० 7) संस्कृत साहित्य के इतिहास में विशिष्ट रूप से श्रेणी-कालीन काव्य-साहित्य विदग्ध तथा अनुभवी आचार्यों की कृति है।

इस प्राक्कल्पना का संकेत पहले भी दिया जा चुका है। जिस प्रकार चित्रकला के सिद्धांत में रंगों, तैल-चित्र, जलरंग (वाटर कलर), पेस्टल, मानव शरीर का अनुपात, संदर्श के नियमों के विषय में तकनीकी जानकारी का संग्रह होता है, उसी प्रकार काव्य के सिद्धांत में भी अभिव्यक्ति के रूपों, रचना-सौंदर्य, काव्य-दोषों अथवा अलंकारों इत्यादि से संबंधित उपदेशों का संग्रह किया जा सकता है। सिद्धांत में चिंतनमूलक समस्याओं का समावेश आवश्यक नहीं। बाह्य अलंकरण के इन साधनों के दृष्टिकोण से सौंदर्य-निर्णय किया जाता था तथा सौंदर्य-सुख को अनुभूति का आधार माना जाता था। इन प्राचीन आचार्यों को इस दिशा में चरम सिद्धांत को स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ी अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु इस शास्त्र के अनुशीलन का आरंभ व्यवस्थित रूप में ही हुआ होगा, जिसके फलस्वरूप परिभाषाओं में न्यूनाधिक रूढ़ता आ गई तथा वर्गों का यत्किंचित् सूक्ष्म विवेचन होने लगा। वामन तथा ध्वनिकार से पूर्व काव्य-रस अथवा सौंदर्य की समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी,

---

यह काव्य-परंपरा तत्संबंधी नियमों तथा काव्य में कला-पक्ष के व्यवस्थित समावेश को लक्षित करती है। विचार तथा शब्द के लिए अलंकार सापेक्ष स्वाभाविक अलंकार-प्रियता के कारण ही काव्यशास्त्र का जन्म हुआ। अलंकार शब्द का प्रयोग शास्त्र तथा काव्यालंकार दोनों के लिए किया गया। भामह से लेकर रुद्रट तक के अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में अलंकार ही चर्चा का मुख्य विषय है। इससे सूचित होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास अलंकार के ही किसी सिद्धांत तथा अनुप्रयोग से हुआ। इस सिद्धांत के अंतर्गत शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा काव्य के सभी शोभाकर साधनों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैसा कि जैकबी का कथन है, आदिकाल में भारतीय काव्यशास्त्र का उद्देश्य कविशिक्षा अथवा कवि का मार्गदर्शन करना तथा काव्य-रचना की दृष्टि से नियम इत्यादि उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करना था। इसमें निषिद्ध काव्य-दोषों तथा उद्दीप्त काव्य-गुणों की चर्चा तथा काव्य-अभिव्यक्ति के शोभाकर काव्यालंकारों का वर्णन था। अतएव इस समस्त अनुशीलन को अलंकार-शास्त्र के नाम से लक्षित किया गया। परवर्ती साहित्य में कवि-शिक्षा का यह विषय एक पृथक् शास्त्रीय विषय बन गया, क्योंकि काव्यशास्त्र के अंतर्गत सिद्धांत-पक्ष पर अधिक बल दिया जाने लगा था। कुछ लेखकों ने केवल कवि-शिक्षा विषय पर ही ग्रंथ लिखे हैं। काव्य-कला के लिए आवश्यक, कवि-शिक्षा विषयक व्यावहारिक तथा कुछ यंत्रवत् अनुभव एवं प्रशिक्षण ही आरंभ में काव्यशास्त्र के आधार थे। संभवतः काव्यशास्त्र को एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में उसी काल में मान्यता प्राप्त हुई थी, जिस काल में संस्कृत 'चिर प्रतिष्ठित' काव्य-विकास की चरम सीमा को लांघ चुका था।

क्योंकि भामह (i. 23) तथा दंडी (i. 10) जैसे प्राचीन आचार्यों ने मुख्यतः अपने आपको 'काव्य-आत्मा' से भिन्न, 'काव्यशरीर' तक ही सीमित रखा है।[1] रुचिकर अर्थ के व्यंजक शब्द-विन्यास तथा काव्यालंकारों की कलापूर्ण

1. संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'काव्यशरीर' तथा 'काव्यात्मा' जैसे आलंकारिक शब्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद, मंडल 6, सूत्र 58, श्लोक 3 (चत्वारि श्रृंगा) में वेदपुरुष के रूपक के आधार पर इसकी कल्पना की गई है। राजशेखर ने इसी दृष्टांत को लेकर काव्यपुरुष तथा उसकी पत्नी साहित्य-विद्या की कल्पना की है। राजशेखर के आलंकारिक वर्णन के अनुसार शब्द तथा अर्थ, काव्यपुरुष का शरीर हैं, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जंघा तथा कटि प्रदेश हैं, पैशाची (पैशाच) चरण है, वक्षस्थल मिश्रित भाषाएँ हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ऐसा ही परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि काव्यपुरुष की वाणी उक्तिचणम् (विभिन्न काव्यालंकारों की अभिव्यक्ति) में समृद्ध है; काव्य-रस उसकी आत्मा है, छंद उसके रोम हैं, प्रश्नोत्तर तथा प्रहेलिका उसके संलाप हैं, अनुप्रास तथा उपमा इत्यादि उसके अलंकार हैं। सबसे पहले वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था, परवर्ती लेखकों ने इसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है। अलंकार इत्यादि काव्य के बाह्य अंगों को व्यवस्थित तथा नियमबद्ध किया जा सकता है, यही संस्कृत काव्यालंकार की एक उपलब्धि थी, किंतु इसके साथ-साथ. काव्य की अंतर्वस्तु अर्थात् काव्यात्मा के विविध रूपों की व्याख्या के लिए एक शास्त्रीय सिद्धांत की आवश्यकता की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इसलिए काव्य-शरीर के जीवन-सिद्धांत, अर्थात् काव्यात्मा के विवेचन का प्रयत्न किया जाने लगा। भामह ने संभवतः इसी का अनुभव करते हुए वक्रोक्ति को काव्याभिव्यक्ति का मूलभूत सिद्धांत कहा, किंतु आचार्य दंडी ने एक कदम आगे बढ़कर, गुणों का मार्ग अथवा रीति का प्राण कहा तथा उन्हें काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना। काव्य की आत्मा क्या है? संभवतः सबसे पहले आचार्य वामन ने इस प्रश्न का सूक्ष्म तथा स्पष्ट विवेचन किया। अंत में ध्वनिकार ने काल्पनिक काव्यशरीर तथा काव्यात्मा के परस्पर संबंध की व्यवस्थित रूप से परिभाषा की। ध्वनिकार, (ii. 7) के अनुसार 'व्यंग्यार्थ काव्य की आत्मा है; काव्य-गुण, साहस की तरह स्वाभाविक गुण है; काव्यालंकार, शारीरिक आभूषणों, यथा, कंकण-कुंडल के सदृश हैं। मम्मट ने उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया है, (vii. 1) तथा परवर्ती सभी लेखकों ने इसे प्रामाणिक माना है, किंतु नमिसाधु ने (रुद्रट, xii. 2) अपनी टीका में इस विषय पर रुद्रट के मत का कथन करते हुए इसी प्रकार की, किंतु अशुद्ध, व्याख्या की है। विश्वनाथ ने इस आलंकारिक संकलपना को अंतिम रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीत्योऽवयव-संस्थानविशेषवत्, अलंकाराः

साज-सज्जा को इन आचार्यों ने बड़ा महत्त्व दिया है। काव्य का सिद्धांत जो भी हो, कलापूर्ण अभिव्यक्ति के वस्तुनिष्ठ-सौंदर्य से ही काव्य-सौंदर्य का अनुभव हो जाता है।

शब्द तथा अर्थ, तथा उनके शोभाकर, अर्थात् अलंकार, काव्य-शरीर के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं।[1] काव्य के यही लक्षण हैं। दूसरे शब्दों में काव्य एक सार्थक शब्द-प्रबंध होता है तथा काव्यालंकारों अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट शोभाकर साधनों द्वारा उसका अलंकरण किया जाता है। क्रमशः शब्द तथा

कटककुंडलादिवत्।" इस अलंकार के अंतर्गत विश्वनाथ ने ऐसे सभी काव्यांगों को एकत्र कर लिया है, जिनका विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया था। क्रमशः विकसित भारतीय काव्य-संकल्पना के सूचक इस रूपक अलंकार का मूल्य कुछ भी हो, यह बात स्पष्ट है कि भामह से लेकर जगन्नाथ प्रभृति सभी आचार्यों ने शब्द तथा अर्थ को काव्य का शरीर माना है, इसी विचार को लेकर आचार्यों ने अंत में काव्य की आत्मा का अन्वेषण किया। एक अन्य दृष्टिकोण से, सभी सिद्धांत शब्द तथा अर्थ की मीमांसा तथा विशेष रूप से काव्यशक्ति के विवेचन पर ही आधारित हैं। उन सबका आरंभ अभिव्यक्ति से ही हुआ है। जैसा कि सभी महान् आचार्यों ने स्वीकार किया है, काव्यशास्त्र का जन्म भाषा के व्याकरण संबंधी दार्शनिक चिन्तन से ही हुआ है, इसलिए इन दो अंगों अर्थात् शब्द और अर्थ पर अधिक बल दिया जाना विस्मयजनक नहीं है।

1. ऊपर देखिए, पृ० 32, पा० टि० 2. कुंतक के कथनानुसार भामह के i. 16 में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के आधार पर ही संभवतः काव्य को 'साहित्य' नाम से लक्षित किया गया था। संभवतः सबसे पहले मुकुल (पृ० 21 तथा 22) तथा उनके शिष्य, प्रतीहारेंदुराज ने संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत इस शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर ने स्पष्ट रूप में साहित्यविद्या शब्द का प्रयोग किया है। शब्द तथा अर्थ के संयोग पर आधारित तथा काव्य की पूर्वोक्त परिभाषा को लक्षित करनेवाले इस साहित्य शब्द की राजशेखर ने प्राचीन व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या'। कुंतक भी इस व्याख्या से सहमत हैं। एक मूल अभ्युपगम-सिद्धांत के रूप में, शब्द तथा अर्थ का यह साहित्य अथवा संयोग, यथोचित परिवर्तन-सहित सभी काव्यमतों तथा आचार्यों ने अत्यंत प्राचीन काल में स्वीकार किया है। तुलना कीजिए, दंडी i. 10 वामन अध्याय i. 1, (वृत्ति), रुद्रट ii, 1. आनंदवर्धन ने इसे निर्विवाद स्वीकार करते हुए कहा है—'शब्दार्थौ तावत् काव्यं, न विप्रतिपत्ति-रिति दर्शयति।' माघ ने ii. 86 (द्वितीयार्द्ध) में तथा कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक में स्पष्ट रूप में इसी विचार को निर्दिष्ट किया है।

अर्थ पर आधारित दो प्रकार के अलंकारों की सामान्य रूप से चर्चा करते हुए भामह ने आरंभ में ही इसी विचार को निर्दिष्ट किया है।[1]

'रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचां वांछंत्यलंकृतिम् ।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।।

'वक्रोक्तिजीवित' (i. 8 की टीका में) तथा 'काव्यप्रकाश' के छठे अध्याय में उपर्युक्त श्लोकों का समर्थनसहित उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनका अनुवाद करना सरल नहीं, तथापि इनका तात्पर्य यह है कि "अन्य लेखकों ने रूपकादि को बाह्य अलंकार कहा है। उनका कथन है कि शुद्ध व्याकरण के प्रयोग से भाषा की शोभा बढ़ती है, वे इसी को सौशब्द्य अर्थात् भाषा-सौंदर्य कहते हैं, किंतु इससे अर्थ की शुद्धता परिलक्षित नहीं होती, तथापि हमने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार नामक दो प्रकार के अलंकार स्वीकार किए हैं। यद्यपि दंडी इस मत के अनुयायी नहीं थे, तथापि भामह के उपर्युक्त कथन के साथ उन्होंने सहमति प्रकट करते हुए स्पष्ट रूप में कहा है (i. 10) कि 'रुचिकर अर्थ-सम्मत शब्दसमूह का नाम काव्य है।'

भामह का ग्रंथ इस सिद्धांत का प्राचीनतम प्रतिनिधि है, किंतु जैसा कि अनेक बार बताया गया है—भामह इस सिद्धांत के मूल प्रवर्तक नहीं थे। ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया सिद्धांत अविकसित रूप में नहीं है, अपितु अपने विषय पर स्पष्ट रूप में विकसित अनुशीलन का द्योतक है। पहले कहा गया है कि राजशेखर ने (i. 1), विशेष रूप में काव्यालंकारों से संबंधित विविध विषयों के मूल पौराणिक व्याख्याताओं की लंबी सूची दी है। उन्होंने प्रचेतायन, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर, उतथ्य तथा कुबेर को क्रमशः अनुप्रास, यमक तथा चित्र, शब्दश्लेष, वास्तव, उपमा, अतिशय, अर्थश्लेष तथा उभयालंकार प्रभृति काव्यालंकारों के मूल मीमांसक माना है। भामह के उपरांत भी सामान्यतः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद तथा विशेषतः

1. भामह के समय से शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद को स्वीकार किया जाने लगा, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में उसे निर्दिष्ट नहीं किया गया। दंडी ने दूसरे अध्याय में अर्थालंकारों की तथा तीसरे अध्याय में शब्दालंकारों की पृथक्-पृथक् चर्चा करके इस परस्पर भेद को परिलक्षित किया है, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप में इस भेद का विवेचन नहीं किया है। भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वतीकंठाभरण' में शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों का वर्गीकरण किया है तथा प्रत्येक वर्ग के 24 अलंकारों की सोदाहरण परिभाषा दी है।

शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के परस्पर भेद की प्राचीनता पर संदेह किया जा सकता है, किंतु इनमें से कुछ अलंकार बहुत प्राचीनकाल में स्वीकार कर लिए गए थे ।

भरत ने इनमें से कुछ अलंकारों का उल्लेख किया है तथा भामह ने चित्र तथा वास्तव के अतिरिक्त सभी अलंकारों को मान्यता दी है । चित्र अलंकार का दंडी ने तथा वास्तव का रुद्रट ने उल्लेख किया है । भामह के कथनानुसार मेधाविन इसी मत के अनुयायी थे । इस मत के वे ही एक प्राचीन व्याख्याता हैं ।

भामह के ग्रंथ से काव्यशास्त्र के इतिहास में अनुमानमूलक तथा अनिश्चयमूलक अंधकार युग की समाप्ति हो जाती है तथा काव्य-सिद्धांत को एक व्यवस्थित तथा शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है, यद्यपि भामह अथवा उनके मतानुयायी उद्भट के ग्रंथों में शास्त्र का सूक्ष्म विवेचन नहीं है, तथापि कुछ मोटे-मोटे निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं । सामान्यतः व्यावहारिक तथा आदर्श ग्रंथ होने के कारण इनमें शुद्ध सिद्धांत-पक्ष की पर्याप्त मीमांसा नहीं की गई है, तत्कालीन अवस्था में इस प्रकार की मीमांसा की आशा करना व्यर्थ है । अतएव भामह ने कहीं भी काव्य की व्यवस्थित परिभाषा देने अथवा वक्रोवित तथा अलंकार के सिद्धांत को स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया है । उनके मतानुयायी वक्रोक्तिजीवितकार ने ही सबसे पहले स्पष्ट रूप में इनकी परिभाषा दी है । भामह के ग्रंथ के प्रथम अध्याय में काव्य के सामान्य लक्षणों तथा भेदों का कथन है, किंतु अधिकांश में अभिव्यक्ति के सामान्य दोषों का ही वर्णन है ।

आरंभ में भामह ने काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-हेतु के विवेचन के साथ-साथ काव्य-योनयः का प्रासंगिक वर्णन किया है । यहाँ काव्य-प्रयोजन से संबंधित विभिन्न विचारों पर चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि उनका उद्देश्य बाह्य वस्तुओं का वर्णन ही रहा है, सामान्य काव्य-सिद्धांत से उनका विशेष संबंध नहीं है । प्राचीन लेखकों ने कवि-कीर्ति तथा पाठक-प्रीति[1] को काव्य के प्रयोजन कहा, किंतु यह कथन सर्वथा समीचीन नहीं है; भामह (i. 2), दंडी (i. 105), वामन (i. 1. 5), रुद्रट (i. 21, 22) तथा भोज (i. 2) प्रभृति आचार्य भिन्न-भिन्न मतों का अनुसरण करते हुए भी उपर्युक्त कथन से संतुष्ट हैं । काव्य के उक्त प्रयोजनों के अतिरिक्त, काव्यकार के दृष्टिकोण से अर्थ-प्राप्ति यश-प्राप्ति तथा निरामयता भी काव्य के प्रयोजन मान लिए

---

1. भरत ने नाटक के प्रीतिकारण प्रयोजन को 'क्रीडनक' (i. 11) तथा 'विनोदकारण' (i. 86) कहा है ।

गए ।[1] पाठक के दृष्टिकोण से, काव्य से शांति, विद्या तथा सांसारिक कुशलता की प्राप्ति होती है; कभी-कभी इन काव्य-प्रयोजनों को संक्षेप में 'त्रिवर्ग' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम से परिलक्षित किया गया है; कुछ समय पश्चात् भामह (i. 2) ने इसमें चौथा प्रयोजन मोक्ष भी जोड़ दिया; इस प्रकार चतुर्वर्ग काव्य का प्रयोजन हो गया। प्राचीन काल से ही अन्य शास्त्रों में ऐसे प्रयोजनों का विधान है; काव्यशास्त्र भला उनसे भिन्न कैसे हो सकता था? अतएव काव्य को भी पूर्णतया शास्त्र-सम्मत बना देने का प्रयत्न किया गया। परवर्ती-आचार्यों, यथा मम्मट तथा उनके अनुयायियों ने अभिनवगुप्त के सिद्धांत ('लोचन' पृ० 12) पर बल देते हुए कहा है[2] कि श्रुति तथा शास्त्रों से भिन्न, काव्य 'कांता-सम्मित' है, अर्थात् काव्य, कांता अथवा प्रिया के उपदेश अथवा शिक्षा के समान है और रसास्वादन की विशिष्ट शक्ति को परिलक्षित करता है। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध प्रथम श्लोक में कहा गया है कि नियति-रचित नियमों से रहित, आनंदमयी कविवाणी रमणी काव्यसृष्टि को प्रकट करती है। इस कथन से सारी बात स्पष्ट हो जाती है। चतुर्वर्ग-सहित काव्य के अन्य भौतिक प्रयोजनों के उल्लेख की परंपरा अटूट रही है, किंतु रसाश्रित काव्य-शास्त्र-सिद्धांत के पूर्ण विकास के साथ-साथ काव्य का प्रयोजन काव्य के लक्षणों के साथ सम्मिलित कर दिया गया, काव्य को एक ऐसे सौंदर्य-सुख का साधक अथवा स्रष्टा मान लिया गया, जिसे सामान्य दर्शनशास्त्र में आनंद कहा गया है।[3] जगन्नाथ ने इसे 'निरपेक्ष' अथवा 'अलौकिक' आनंद बताकर इसकी

1. यथा, मम्मट i. 2; हेमचंद्र पृ० 2, इत्यादि।
2. अभिनव ने 'प्रभु-सम्मित', 'जाया-सम्मित' तथा 'मित्र-सम्मित' शब्दों का प्रयोग किया है, मम्मट ने इन्हें स्वीकार किया है (बंबई संस्कृत सीरीज, सं० 1917, पृ० 9)। परवर्ती लेखकों (यथा 'एकावली' पृ० 13-15) ने 'प्रभु-सम्मित' वेद, 'मित्र-सम्मित' इतिहास इत्यादि तथा 'कांता-सम्मित' काव्य में भेद किया है।
3. इस विषय पर भामह के अध्याय i श्लोक 2 पर अभिनवगुप्त की टिप्पणी बड़ी रोचक है ('लोचन' पृ० 12, हेमचंद्र ने अपनी टीका, पृ० 3 पर इसे आंशिक रूप में उद्धृत किया है)—

   'यथोक्त—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

   इति, तथापि प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः, कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्रधान्येनानंद एवोक्तः। चतुर्वर्ग-

परिभाषा पूर्ण कर दी है । बारंबार सुंदर वस्तुओं की अनुभूति से अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है, काव्य-रहस्य में निपुण व्यक्ति ही इस आनंद का उपभोग कर सकता है ।

भामह ने काव्यहेतु तथा काव्ययोनि के महत्त्व को मान्यता दी है । सर्वप्रथम वामन ने इन विषयों का सविस्तर निरूपण किया है, किंतु भामह का तत्संबंधी विवेचन अपेक्षाकृत संक्षिप्त ही है । संस्कृत काव्यशास्त्र मूलत: एक यंत्रवत् अनुशीलन का ही परिणाम था, अतएव कवि के लिए आवश्यक गुणों की एक लंबी सूची दी गई है तथा कविशिक्षा के व्यापक नियमों का विधान है । शास्त्र के सिद्धांत-पक्ष के विकास के साथ-साथ कुछ ऐसे लेखक भी हुए, जिन्होंने कविशिक्षा को एक पृथक् विषय मानकर उसका ही निरूपण किया, यद्यपि सामान्यतः काव्य-शास्त्र के सभी प्राचीन आचार्यों ने इस विषय पर कुछ-न-कुछ अवश्य कहा है । कविशिक्षा के विषय पर चर्चा आगे की जाएगी, किंतु तत्संबंधी प्राचीन अनुशीलन के विषय में यहाँ कुछ कह देना उचित रहेगा। प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी लेखकों ने प्रतिभा-मूलक सत्कवित्व (भामह, i. 4) को परमावश्यक मानते हुए स्वाध्याय तथा अनुभव पर बल दिया है । भामह (i. 5) तथा दंडी (i. 103-4) ने 'नैसर्गिकी' अथवा 'सहज' प्रतिभा की आवश्यकता को स्वीकार किया है, वामन के कथनानुसार काव्य प्रतिभामूलक तथा जन्मांतरगत विशेष संस्कार-मूलक होता है (अध्याय i. 3, 16 वृत्ति) ।[1] उसके बिना काव्य संभव नहीं, यदि फिर भी कोई काव्य-रचना करे तो वह हास्यास्पद ही रहेगा । मम्मट ने वामन के इस कथन को अक्षरशः उद्धृत किया है, किंतु प्रतिभा के स्थान पर उन्होंने सामान्य शब्द 'शक्ति' का प्रयोग किया है ।[2] अभिनवगुप्त ने इसे 'अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षम'

व्युत्पत्तेरपि चानंदः पार्यंतिकं मुख्यं फलम् ।" काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व रस माना जाने लगा; प्रीति अथवा आनंद को ही रस बतलाया गया । यह स्वाभाविक ही था कि आगे चलकर आनंद अथवा प्रीति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मान लिया गया । मम्मट ने इसे 'सकलप्रयोजनमौलीभूतं' कहा है ।

1. 'जन्मांतरगतसंस्कारविशेषः कश्चित् ।' दंडी ने इसे 'पूर्ववासनागुणानुबंधि' कहा है ।
2. रुद्रट ने इस शब्द का प्रयोग किया है (i, 14-15) और 'शक्ति' तथा 'प्रतिभा', दो वैकल्पिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया है । अभिनवगुप्त ने भी 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है—'शक्तिः प्रतिभानं, वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् ।'

प्रज्ञा नाम से परिलक्षित किया है ('लोचन' पृ० 29) और प्रज्ञा का लक्षण इस प्रकार दिया है—'तस्य विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौंदर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम् ।' इस विषय में अभिनवगुप्त ने भरत (vii. 2) की प्रामाणिक उक्ति को भी उद्धृत किया है। भरत ने इसे कवि का 'अंतर्गत भाव' कहा है। हेमचंद्र ने एक अज्ञात लेखक के श्लोक को उद्धृत किया है। उसमें 'प्रतिभा' की परिभाषा 'प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी' शब्दों से की गई है। यह परिभाषा उपर्युक्त परिभाषा से सम्मित है, किंतु क्षेमेंद्र (''औचित्यविचार' श्लोक 35) ने अभिनव के गुरु, भट्टतौत को इसका लेखक माना है। परवर्ती लेखकों ने अभिनव तथा मम्मट के कथन को प्रमाण माना है तथा उक्त परिभाषा को शास्त्रीय स्वीकार किया है, यद्यपि यदाकदा इसे लोकोत्तर कहकर वैचित्र्य, विच्छित्ति, चारुता, सौंदर्य, हृदयत्व अथवा रमणीयत्व इत्यादि अनिर्वचनीय सौंदर्य की उत्पत्ति का उद्गम कहा है।

प्रतिभा में विश्वास करने के अतिरिक्त इन आचार्यों ने कवि को कवि बनाने के लिए उचित तथा आवश्यक शिक्षा को भी महत्त्व दिया है। दंडी ने इसे 'श्रुत' अथवा 'अभियोग' कहा है, किंतु परवर्ती लेखकों ने इसे 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' कहा है। रुद्रट के कथनानुसार, प्रतिभा केवल सहज ही नहीं होती, बल्कि व्युत्पत्ति द्वारा उत्पाद्य होती है। अतएव, कवि को अनेकानेक शास्त्रों तथा कलाओं में निपुण होना चाहिए। ऐसे शास्त्रों तथा कलाओं की एक लंबी सूची दी गई है। सबसे प्राचीन सूची भामह i. 9 में दी गई है। इसमें काव्य-योनियों के रूप में इन शास्त्रों अथवा विषयों का अनुशीलन निर्दिष्ट किया गया है[1]: शब्दशास्त्र (व्याकरण), छंदःशास्त्र, अभिधानार्थ (शब्दकोश) इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकाचार, युक्ति तथा कलाएँ। रुद्रट की सूची भी अधिकांशतः यही है (i. 18), किंतु वामन ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है (i. 3, 21-22)। उनके अनुसार कवि को इन शास्त्रों अथवा विषयों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए—व्याकरण, शब्दकोश, छंद, कलाएँ, नीतिशास्त्र कामशास्त्र, राजनीति तथा लोकाचार। उन्होंने लोकाचार को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि कवि को काव्य-सिद्धांत तथा काव्य के अभ्यास में कुशल होना चाहिए। कवि को रूपकादि

---

1. जैसा कि वामन ने अध्याय i. 3, 1 (काव्यागानि) तथा राजशेखर ने अध्याय 8 (काव्ययोनयः) में निर्दिष्ट किया है, मुद्रित पाठ 'काव्ययैर्वशी' के स्थान पर 'काव्ययोनयः' पढ़िए।

काव्यालंकारों, श्लेष, जटिल अनुप्रास तथा यमक के प्रयोग में नवीण होने के अतिरिक्त आशु-काव्य, समस्यापूर्त्ति इत्यादि विचित्र प्रयोगों में भी निपुण होना चाहिए। जैसा कि मंखक, राजशेखर तथा अन्य आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है, प्रत्येक नवीन काव्य अनुमोदनार्थ पंडित-सभा में प्रस्तुत किया जाता था। काव्य के सभी सिद्धांतों के अनुसार उसका खरा उतरना आवश्यक माना जाता था। किंतु यह इतना सरल नहीं होता था। रीति के एक आचार्य का कथन है कि रीति अथवा शैली एक स्त्री के समान है। दोनों की शुद्धता में संदेह होना स्वाभाविक है। तनिक दोष भी अनर्थ कर देता है, इसी प्रकार जन-साधारण के लिए भी सिद्धांत का कुछ ज्ञान होना आवश्यक समझा गया था। संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार रसिक अथवा सहृदय के लिए विद्वान्, बुद्धिमान तथा सिद्धांत की जटिलता से परिचित होना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें सौंदर्यानुभूति की सहज प्रवृत्ति भी होनी चाहिए।[1] काव्य-रचना में सभी नियमों, परंपराओं तथा रसिक-तुल्य मान्यताओं का पालन किया जाय, प्रत्येक कवि का यही प्रयत्न होता था, क्योंकि सहृदय-ग्राहकता ही काव्य की एकमात्र कसौटी मान ली गई थी। अतएव काव्य में कवि की सहज प्रतिभा लक्षित होने के अतिरिक्त उसका सिद्धांत-सम्मित होना भी आवश्यक था। इस प्रकार विद्वानों के साहचर्य में पंडित-सभाओं में काव्यकला का विकास तथा उन्नति हुई, प्राचीन भारतीय समस्त वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय साहित्य के समान काव्यशास्त्र भी किस प्रकार एक पांडित्यपूर्ण तथा तर्काश्रित शास्त्र बन गया, यह आगे बताया जाएगा। निस्संदेह सिद्धांत पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष में थोड़ा-बहुत अंतर होना अनिवार्य है, कुछ ऐसे प्रतिभाशाली कवि भी हुए हैं, जिन्होंने निरंकुश काव्यरचना का प्रयत्न किया है, इसके विपरीत नियमों के अंधानुकरण की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक क्लिष्ट तथा परिश्रमसाध्य काव्यों की रचना हुई है।

अब भामह के ग्रंथ के अंतर्गत अन्य विषयों का संक्षिप्त रूप में अवलोकन किया जाएगा।[2] भामह ने काव्य की 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' परिभाषा करते

1. कवि-शिक्षा के विषय पर 'भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम' पृ० 375 इत्यादि पर एफ० डब्ल्यू० टामस का 'दि मेकिंग ऑफ दि संस्कृत पोएट' शीर्षक लेख देखिए।

2. भामह के ग्रंथ में छह अध्याय हैं। प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं—पहला अध्याय, काव्य (60 श्लोक), दूसरा तथा तीसरा अध्याय, अलंकार (160 श्लोक), चौथा अध्याय, दोष (50 श्लोक), पाँचवाँ अध्याय, न्याय (70 श्लोक), तथा छठा अध्याय, व्याकरण अथवा शब्द-शुद्धि (60 श्लोक)।

हुए काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों को समान महत्त्व दिया है, किंतु जैसा कि भामह के निरूपण से परिलक्षित होता है, काव्य 'निर्दोष' तथा 'सालंकार' भी होना चाहिए । इसके पश्चात् भामह ने काव्य के भेद बताए हैं—(1) रूप के अनुसार, गद्य तथा पद्य, (2) भाषा के अनुसार, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, (3) प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के अनुसार क्रमशः चार भेद, मानव अथवा देव-चरित, कल्पित-चरित, कला अथवा शास्त्राश्रित चरित, (4) प्रबंधों का रूढ़िगत पाँचवाँ विभाजन, अर्थात् सर्गबंध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटक), आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध-काव्य (यथा गाथा तथा फुटकर श्लोक)। भामह ने महाकाव्य की परिभाषा न्यूनाधिक रूढ़ि के अनुसार ही की है, वह दंडी (i. 14 इत्यादि) तथा अग्निपुराण (336. 24-32) की परिभाषा से मिलती-जुलती है। क्योंकि अन्य आचार्य 'अभिनेयार्थ' का निरूपण कर चुके थे, इसलिए भामह ने इसे छोड़ दिया है। कथा तथा आख्यायिका के परस्पर सूक्ष्म भेद का निरूपण है। दंडी ने भामह के इस भेद को स्वीकार नहीं किया है तथा वामन ने अति सूक्ष्म समझकर इस पर अपना मत प्रकट नहीं किया है ।[1]

प्रबंध के पद्य तथा गद्य में द्विधा विभाजन के संबंध में यह कहा जा सकता

---

1. देखिए खंड I, पृ० 59. श्रेणीगत संस्कृत काव्य के इन दो भेदों के विकास में दो अथवा तीन सोपान स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। पहला सोपान भामह द्वारा दिए गए तत्संबंधी लक्षणों से तथा अंतिम सोपान रुद्रट द्वारा दिए गए लक्षणों से परिलक्षित होता है। भामह ने बाण की दो श्रेष्ठ रचनाओं को कथा तथा आख्यायिका के उदाहरण के रूप में स्वीकार कर लिया था, ऐसा नहीं माना जा सकता, किंतु रुद्रट ने उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं को कथा तथा आख्यायिका के सामान्य लक्षणों के रूप में उद्धृत किया है। इस विषय की चर्चा अन्यत्र भी की गई है। देखिए, बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरिएंटल स्टडीज खंड 3 में 'दि कथा एंड दि आख्यायिका इन क्लासिकल संस्कृत'। यह लेख 'सम प्राब्लम्ज' के अंतर्गत (पृ० 65-79 पर भी छपा है)। अपने Essai Sur Gunadhya et la Brahatkatkatha में (पृ० 282) लाकोत (Lacotc) का कथन है कि दंडी को अवश्य इस बात का ज्ञान था कि गुणाढ्य ने कथा तथा आख्यायिका के परंपरागत भेद को स्वीकार नहीं किया था (यथा, जैसा कि लाकोत ने पृ० 220 पर कहा है, मूल बृहत्कथा में नरवाहनदत्त ने अपनी विजययात्राओं का वर्णन किया है, जो कि भामह के नियमों के विरुद्ध है)। अतएव भामह ने इसे मान्यता नहीं दी। यद्यपि उन्होंने i. 28 में अपभ्रंश की एक कथा का उल्लेख किया है, किंतु उन्हें 'बृहत्कथा' के अस्तित्व का ज्ञान था अथवा नहीं, यह मालूम नहीं है।

है कि संस्कृत के आचार्यों के अनुसार काव्य दो प्रकार का होता है, पद्य तथा गद्य, यद्यपि कभी-कभी मिश्र भी हो सकता है, यथा नाटक, जिसमें गद्य तथा पद्य दोनों होते हैं । संस्कृत के लेखकों ने प्राचीनकाल में ही इस सिद्धांत को निर्विवाद स्वीकार कर लिया था कि गद्य काव्य का नहीं अपितु पद्य का प्रतिलोम होता है । यूरोपीय आलोचना-सिद्धांत में इस तथ्य को बहुत बाद में मान्यता प्राप्त हुई है । संस्कृत काव्य में छंद का जैसा स्थान है, वैसा यूरोपीय काव्य में है; भारत में तो प्राचीनतम काम से ही नीरसतम उपदेश को भी छंदोवद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रचलन था ।[1]

दंडी तथा उनके अनुयायियों ने जिस रीति-सिद्धांत को इतना महत्त्व दिया है, भामह ने उसकी उपेक्षा ही की है (i. 31-35) । रीति के आचार्यों द्वारा किया गया वैदर्भी तथा गौडी का भेद भामह के विचार में निरर्थक है । यद्यपि भामह ने दंडी के 'मार्ग' तथा वामन के 'रीति' शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि उनका कथन क्रमशः 'वैदर्भी' तथा 'गौडी' के ऐसे काव्यों का व्यंजक है, जो शैली तथा विवेचन-भेद को परिलक्षित करते हैं ।[2] इसी प्रकार के विचारों के कारण भामह ने 'गुणों' पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया है । रीति के आचार्यों ने गुणों को रीति के अंग माना था । भामह ने एक अन्य प्रसंग में (i. 1-3) भरत के दस रूढ़ गुणों की उपेक्षा करते हुए केवल तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—का संक्षिप्त उल्लेख किया है । उनके मतानुसार इन गुणों का रीति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है । उनका भाव अथवा अभाव न्यूनाधिक समासाश्रित होता है । दीर्घ समास ओज-गुण को तथा उनका अभाव माधुर्य तथा प्रसाद गुणों को लक्षित करता है । ये गुण किसी रीति-विशेष के गुण न

---

1. इस बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है कि संस्कृत के आचार्यों ने सभी प्रकार की कल्पनाश्रित रचनाओं को काव्य नाम से लक्षित किया है, अंत्यानुप्रास अथवा पद्यकरण को काव्य के लिए आवश्यक माना है । यह परंपरा इतनी प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि उक्त प्रश्न पर न कहीं चर्चा की गई है और न ही किसी प्रकार का संदेह प्रकट किया गया है । आचार्यों ने इसीलिए 'कादंबरी' तथा 'हर्षचरित' को काव्य ही कहा है, यद्यपि वे अधिकांशतः गद्यमय ही हैं । वामन के कथनानुसार गद्य कवि की कसौटी है (गद्यं कवीनां निकषं वदंति, i. 3. 21. की वृत्ति में उद्धृत) ।
2. भामह के कथनानुसार प्रत्येक रीति अथवा मार्ग की अपनी-अपनी विशिष्टता है, अतएव गौडी की निन्दा करना अथवा वैदर्भी की प्रशंसा करना उचित नहीं है । भामह ने स्वयं इन रीतियों की चर्चा नहीं की है, यद्यपि उनके समय में वे सर्वविदित थीं ।

होकर सामान्य उत्तम काव्य के गुण होते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गुणों का यह संक्षिप्त विवेचन अलंकारों के पश्चात् किया गया है, जो संभवतः उनकी समानता को लक्षित करता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भामह ने 'गुण' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। अपवादस्वरूप, यह प्रयोग भाविक अलंकार की चर्चा के प्रसंग में किया गया है। दंडी की तरह भामह ने भी 'भाविक' को एक 'प्रबंध-गुण' माना है।

इसके पश्चात् भामह ने दो लंबे अध्यायों में (ii. 4-95 तथा iii. 1-56) लगभग एक सौ पचास श्लोकों के अंतर्गत, उदाहरणों-सहित, अलंकारों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् चौथे अध्याय में काव्य-दोषों का निरूपण है। पहले अध्याय के श्लोक 37-56 में भी इस विषय की चर्चा की गई है। अंत में, पाँचवें तथा छठे अध्याय में क्रमशः काव्य की न्यायाश्रित[1] तथा शब्दाश्रित[2] मीमांसा की गई है। न्यायाश्रित शुद्ध शब्द-प्रयोग तथा काव्य-दोषों का विवेचन तो एक प्रकार से नकारात्मक ही है। भामह के मतानुसार, काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु अलंकार ही है। अपने ग्रंथ के अधिकांश में भामह ने अलंकार का ही विवेचन किया है।[3] भामह ने अलंकारों को निश्चित वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है, इस दृष्टिकोण से उनका ग्रंथ एक शास्त्रीय ग्रंथ बन गया है, जिसमें काव्य-कल्पना की अभिव्यंजना के इच्छुक कवि के लिए उपादेय काव्यालंकारों की सोदाहरण परिभाषाएँ तथा अन्य व्यावहारिक नियम-सामग्री है। इस विवेचन के प्रसंग में भामह को ऐसा अनुभव हुआ कि

---

1. इसमें न्याय-वैशेषिक के प्रमाण, प्रज्ञा, हेतु, दृष्टांत इत्यादि विषयों की चर्चा है।
2. वामन के ग्रंथ के अंतिम अधिकरण की तरह इसमें सौशब्द्य (व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द-प्रयोग) संबंधी उपयोगी सामग्री दी गई है।
3. उपभेदों को छोड़कर भामह ने 39 (+4) अलंकारों का उल्लेख अथवा परिभाषा इस क्रम में की है—अनुप्रास (दो भेद), यमक (पाँच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (उपमा के एक भेद के रूप में), आक्षेप (दो भेद) अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, समन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः (किन्हीं के अनुसार) तथा हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा वार्ता (इन्हें अलंकार नहीं माना गया है।)

अलंकारों का दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण करना संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अलंकार का मूलतः वर्गीकरण तो हो सकता है, किंतु प्रत्येक अलंकार के असंख्य रूप हो सकते हैं। भामह के मतानुसार अभिव्यंजना की अनेक कोटियाँ अथवा रीतियाँ हो सकती हैं, वक्रोक्ति पर आश्रित रीति सर्वोत्तम होती है,[1] सभी अलंकारों में उक्तिवैचित्र्य अथवा उक्तिसौंदर्य होना आवश्यक है। भामह का यह प्रयत्न संश्लेषात्मक प्रयत्न है।

'वक्रोक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति वक्र उक्ति है। रुद्रट ने (ii. 13-17) शब्दाश्रित इस अलंकार की परिभाषा में इसी अर्थ को निर्दिष्ट किया है। रुद्रट का अनुसरण करते हुए सभी परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को काकु अथवा श्लेष पर आश्रित एक प्रकार की वक्र उक्ति का वाचक कहा है। वामन ने इसके विपरीत, वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार न मानकर, अर्थालंकार ही माना है और इसकी परिभाषा करते हुए इसे एक लक्षणाश्रित अलंकार कहा है। भामह के मतानुसार सभी अलंकारों को सामूहिक रूप में वक्रोक्ति नाम से लक्षित किया जा सकता है,[2] दंडी का भी ऐसा ही मत है (ii. 363), किंतु भामह के अनुसार, सामान्य भाषा से भिन्न, किंतु काव्य में उपयुक्त शब्दों के चयन तथा विशिष्टि उक्ति का नाम वक्रोक्ति है। कुंतक ने इसी विचार को लेकर अलंकार के एक विशिष्ट सिद्धांत का विकास किया है। उसके अनुसार, 'विच्छित्ति' अथवा 'वैचित्र्य' ही वक्रता है, जो कवि-प्रतिभा से सामान्य शब्दों

1. यह सत्य है कि एक स्थान पर भामह ने भाविक अलंकार को प्रबंध का सामान्य गुण बताया है। दंडी तथा भट्टि का भी ऐसा मत है। भट्टि के टीकाकारों के कथनानुसार भट्टि ने एक संपूर्ण अध्याय (अध्याय 12) में इस अलंकार को उदाहृत किया है। जहाँ भूत अथवा भविष्य की वस्तुओं अथवा घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया जाए, मानों वे प्रत्यक्ष वर्त्तमान हों, वहाँ भाविक अलंकार घटता है। इसके लिए 'चित्रोदात्तद्-भूतार्थत्वं कथायाः' अर्थात् कथा अथवा विषय विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत होना चाहिए। उसमें 'स्वभिनीतता' तथा 'शब्दानुकूलता' के गुण होने भी आवश्यक हैं। भामह ने काव्य में भाविकत्व के अस्तित्व पर अधिक बल नहीं दिया है, एक सामान्य अलंकार के समान ही इसका भी विवेचन किया है। भामह ने भाविक को निस्संदेह एक 'प्रबंध गुण' माना है, किंतु उन्होंने गुण तथा अलंकार में कोई विशेष सैद्धांतिक भेद स्वीकार नहीं किया। इस प्रसंग में गुण शब्द किसी शास्त्रीय अर्थ का वाचक नहीं है।
2. इस विषय पर कुंतक-कृत 'वक्रोक्तिजीवित' पर सुशीलकुमार डे की भूमिका, द्वितीय सं०, पृ० xiv-xxv देखिए।

में भी उत्पन्न की जा सकती है। उन्होंने 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इन शब्दों का अभिधाश्रित सामान्य प्रयोग होता है, जैसा कि काव्य-कल्पना से रहित व्यक्ति प्राय: करते हैं, तब उसमें कोई विशेष अर्थ, विच्छित्ति अथवा वैचित्र्य नहीं होता, फलस्वरूप, जैसा कि भामह तथा उनके अनुयायियों का मत है, ऐसा शब्द-प्रयोग काव्य में नहीं होता। दंडी ने, 'वक्रोक्ति' से भिन्न इस प्रकार की 'स्वभावोक्ति' को 'आद्या अलंकृति' अर्थात् अद्य अलंकार कहा है, किंतु भामह[1] तथा कुंतक ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार स्वभावोक्ति कोई अलंकार नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकृत अथवा विशिष्ट तथा स्वाभाविक अथवा अलंकृत अभिव्यक्ति के परस्पर भेद को परिलक्षित किया है।[2]

1. ZDMG lixv. पृ० 130 इत्यादि तथा Sb. der Preuss Akad, xxiv. 1922, पृ० 224 इत्यादि पर जेकबी के लेख देखिए। कुंतक ने भी वक्रोक्ति को अलंकार शब्द के अर्थ में प्रयुक्त किया है (पृ० xxx) तथा तथाकथित काव्यालंकारों को वक्रोक्ति के भेद ही कहा है। भामह ने कुंतक के समान स्वभावोक्ति की अधिक आलोचना नहीं की है। भामह ने स्वभावोक्ति को स्वीकार तो किया है, किंतु उसके तत्संबंधी शब्द-प्रयोग से (ii, 93-94) ऐसा प्रतीत होता है कि यह अलंकार उन्हें उतना मान्य नहीं था, जितना दंडी को था। दंडी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति में विभाजित किया है। सभी अलंकार वक्रोक्ति के अंतर्गत हैं। भोज ने (सरस्वतीकंठाभरण) वाङ्मय को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति में विभाजित किया है।
2. भामह तथा कुंतक के मतानुसार स्वभावोक्ति, वस्तु के केवल स्वभावाश्रित वर्णन के कारण, काव्योचित वैचित्र्य से रहित होती है; ऐसा स्वाभाविक वर्णन सामान्य अथवा अनलंकृत ही होता है। उनका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने विचार शास्त्रों अथवा साधारण जीवन में उपलब्ध नीरस पद्धति से भिन्न रूप में व्यक्त करने चाहिए, किंतु इसके विपरीत दंडी तथा परवर्ती अन्य आचार्यों ने 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' को एक काव्यालंकार माना है। इस विषय पर 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका पृ० xx, पा० टि० 19 के अपने कथन को हम उद्धृत करते हैं: "स्वभावोक्ति का रूप सामान्य वर्णन के समान हो सकता है, किंतु इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। जिस दृष्टि से साधारण व्यक्ति एक वस्तु का अवलोकन अथवा उसकी कल्पना करता है, कवि उस दृष्टि से उसकी कल्पना नहीं करता : साधारण व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से वस्तुओं का अवलोकन करता है; वस्तु तथा व्यक्ति का परस्पर संबंध व्यक्ति-आश्रित होता है। तथा व्यक्ति का उद्देश्य वस्तुओं के शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति करना होता है किंतु कवि, किसी वस्तु से अपना अथवा किसी अन्य व्यक्ति का कोई संबंध नहीं मानता; वह वस्तु

भामह ने काव्य के विभिन्न भागों का वर्णन करते हुए यह कहा है कि यह विभाजन सर्वथा वक्रोक्ति-सापेक्ष है (i. 30); उन्होंने आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य में रीति का स्थान जो कुछ भी हो; काव्य में वक्रोक्ति एक वांछनीय अलंकार है (i. 36)। एक अन्य स्थल पर भामह ने वक्रोक्ति को 'वक्र' से लक्षित किया है (vi. 23)। उन्होंने 'वक्रोक्ति' का अभ्यास करने का आग्रह किया है, क्योंकि वक्रोक्ति ही काव्यार्थ की अभिव्यक्ति करती है; वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलंकार संभव नहीं हो सकता (ii. 85)। इसमें कोई विस्मय नहीं कि भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश-जैसे अलंकारों को इसलिए अस्वीकार किया है, क्योंकि उनमें वक्रोक्ति का समावेश नहीं है।

यह विचित्र बात है कि भामह ने वक्रोक्ति शब्द की कहीं भी व्याख्या अथवा परिभाषा नहीं की है। संभवतः भामह एक ऐसे प्राचीन आचार्य हैं, जो व्यवस्थित रूप में सिद्धांत की मीमांसा नहीं कर पाए थे, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण से, काव्यात्मक अभिव्यक्ति के साधक तथा मौलिक सामान्य नियमों का उपदेश किया। अथवा भामह के समय में वक्रोक्ति-सिद्धांत इस प्रकार परंपरागत अथवा सर्वविदित था कि उन्होंने इस विषय पर विस्तारपूर्वक व्याख्या करना

की वास्तविक कल्पना करता है। 'लोकातिक्रांत-गोचरता' का आंशिक तात्पर्य यही है। जगन्नाथ ने (बंबई सं० 1913, पृ० 4) काव्य-सौंदर्य अथवा विच्छित्ति के द्योतक 'लोकोत्तरत्व' शब्द की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया है। 'लोकोत्तर' का शाब्दिक अर्थ है संसारोत्तर, किंतु उक्त संदर्भ में मोटे तौर से इसका अर्थ 'निःसंग' अथवा 'अलिप्त' किया जा सकता है। दंडी ने 'स्वभावोक्ति' के लिए परंपरागत 'अलंकार' शब्द का प्रयोग करते हुए भामह के इस कथन को कि 'वक्रता' सभी काव्यालंकारों का समान लक्षण है, स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दंडी (ii. 362) के अनुसार स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति नहीं होती; किंतु 'अतिशयोक्ति' के संबंध में भामह के कथन को (ii. 81) स्वभावोक्ति-सहित सभी अलंकारों पर लागू करते हुए दंडी ने भामह के साथ सहमत होने का प्रयत्न किया है। भारतीय आचार्यों ने अपने एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य की उपेक्षा की है, उन्होंने कवि की काव्य-कल्पना के रूप में काव्य विषय के गुण-धर्म की परिभाषा नहीं की। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रियों ने इसी विषय को मुख्य विषय मानकर इसका विवेचन किया है। 'स्वभावोक्ति' तथा 'भाविक' इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय आचार्यों को भी इस विषय का ज्ञान था, किंतु उन्होंने इसका सर्वांगीण विवेचन न करके केवल आंशिक रूप में ही, इस पर विचार किया है।" इस विषय पर उपयुक्त Sb. der preuss Akad पृ० 224 इत्यादि पर जेकबी का लेख भी देखिए।

आवश्यक नहीं समझा। अस्तु, अतिशयोक्तिसहित अन्य काव्यालंकारों का उल्लेख तथा परिभाषा करने के पश्चात्, भामह ने कहा है 'सैषा सदैव वक्रोक्तिः, (ii. 85), अर्थात् यह सब वक्रोक्ति ही है, संदर्भ-गत संकेत से भामह ने ऐसा लक्षित किया है कि वास्तव में अतिशयोक्ति में वक्रोक्ति निहित है। कुंतक भामह से इस बात से सहमत हैं कि वक्रोक्ति में एक प्रकार का 'अतिशय' होता है। उनके मत में 'अतिशय', 'वक्रोक्ति-वैचित्र्य', प्रमुख 'विचित्र-मार्ग' का एक आवश्यक अंग होता है (i. 37)। एक अन्य प्रकार से दंडी भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, क्योंकि उनके कथनानुसार सभी काव्यालंकार 'अतिशयोक्ति' पर ही निर्भर हैं। दंडी के एक टीकाकार ने उनके मत की व्याख्या इस प्रकार की है—

> "अलंकारांतराणाकति एव (=अतिशयोक्त्यालंकारः
> उपकारी भवति, अतिशय-जननत्वं
> विना भूषणतया न स्यादित्यभिप्रायः।।"

इस संबंध में आनंदवर्धन का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि प्रत्येक अलंकार में 'अतिशय' का समावेश हो सकता है, जैसा कि सभी महाकवियों ने अपने काव्य-प्रबंधों के शोभावर्धनार्थ सफलतापूर्वक उसका प्रयोग किया है। 'अतिशयोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' के संबंध में भामह के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा है (पृ० 209)[1]—"कविप्रतिभा-युक्त 'अतिशयोक्ति' में बहुत चारुता होती है; अन्य अलंकारमात्र ही होते हैं। क्योंकि अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में स्वीकार की जा सकती है, इसलिए यह उनसे अभिन्न सर्वालंकार-रूप मानी जा सकती है।" अभिनवगुप्त के व्याख्यानुसार अतिशयोक्ति सब अलंकारों का सामान्य लक्षण अथवा रूप है (सर्वालंकार सामान्य-रूपम्), अथवा जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है, यह उनका प्राण है (प्राणत्वेनावतिष्ठते, पृ० 743)। अतिशयोक्ति तथा भामह की 'वक्रोक्ति' का परस्पर घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है।

भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रांत-गोचरम्" (ii. 81)। दंडी ने इस परिभाषा की व्याख्या इस प्रकार की है—'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' (ii. 214)।

1. तत्रातिशयोक्तिरयमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगः, अन्यस्य त्वलंकारमात्रत्वेति। सर्वालंकारशरीर-स्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगंतव्यः।

अलंकारों की 'वक्रता' का 'अतिशय' वस्तुतः इस 'लोकातिक्रांत-गोचरता' में ही होता है। अभिनवगुप्त की तत्संबंधी व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है ('लोचन' पृ० 208)—'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह के कथनानुसार लोकोत्तीर्ण अथवा विशिष्ट अभिव्यक्ति 'वक्रता' को लक्षित करती है (यही कुंतक की 'भंगि' अथवा 'विच्छित्ति' है)। अभिधा से भिन्न, काव्याभिव्यक्ति का यही गुण सौंदर्य अथवा वैचित्र्य का द्योतक है। कुंतक ने इसी विचार को लेकर 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति' के विशिष्ट सिद्धांत का विकास किया। उन्होंने 'विच्छित्ति' को 'वक्रता' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। शब्द तथा अर्थ पर आश्रित विच्छित्ति ही सभी अलंकारों का आधार होती है; अन्य अलंकार इसी के विभिन्न रूप होते हैं; इसी विच्छित्ति के द्वारा कवि सामान्य शब्द को लोकोत्तर-विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है।

क्योंकि इस सिद्धांत में 'वक्रोक्ति' अथवा 'अलंकार' का बड़ा महत्त्व है, इसलिए विशिष्ट काव्यालंकारों में रस को भी सम्मिलित कर लेना आवश्यक है। वास्तव में भामह ने रस का निर्देश करने के लिए 'रसवत्' अलंकार, और यदि इस संबंध में उद्भट तथा भामह की सहमति स्वीकार कर ली जाए तो 'प्रेयस' तथा 'ऊर्जस्वी' अलंकार भी, रस के ही वाचक हैं। भामह ii. 85 के अंतर्गत 'विभाव्यते' शब्द की शास्त्रीय व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने 'वक्रोक्ति' को रस तथा अलंकार दोनों का उद्गम सिद्ध करने का यत्न किया है। इसमें कोई असाधारण बात नहीं है, टीकाकार ने व्यर्थ प्रयास किया है। परवर्ती सिद्धांतों में 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' का बड़ा महत्त्व है, किंतु भामह ने स्पष्ट रूप में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उन्हें किसी प्रकार के व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं था। उन्होने पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति-जैसे अलंकारों की परिभाषाएँ दी हैं। ये सब अलंकार व्यंग्याश्रित होते हैं। उदाहरण-स्वरूप पर्यायोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' (iii. 8)। उद्भट ने इस परिभाषा का इस प्रकार विस्तार किया है—"वाच्यवाचक-वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना' जिसमें 'अवगम्यमान अर्थ' स्पष्ट रूप में लक्षित होता है।[1] आनंदवर्धन की तत्संबंधी आलोचना से भी ऐसा ही सूचित

---

1. इस अलंकार के संबंध में रुय्यक की टिप्पणी से तुलना कीजिए। भामह द्वारा 'समासोक्ति', ii. 79 की परिभाषा भी देखिए।

होता है। वे इससे सहमत नहीं हैं कि भामह का 'पर्यायोक्त' अलंकार मुख्यतः लक्ष्यार्थ का वाचक है, क्योंकि 'पर्यायोक्त' में अभिधार्थ केवल गौण नहीं है (पृ० 39-40)। आनंदवर्धन ने यह भी कहा है कि उद्भट ने विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है कि अभिधाश्रित 'रूपक' जैसे अलंकारों में कभी-कभी लक्ष्यार्थ भी हो सकता है। ध्वनि के आचार्यों ने इसे अलंकार-ध्वनि' नाम से सूचित किया है। इस प्रकार, ध्वनि-सिद्धांत के महान् व्याख्याता के मतानुसार, भामह तथा उद्भट (तुलना कीजिए, 'लोचन' पृ० 10), ध्वनि के 'अभाव-वादी, नहीं हैं (जैसा कि मल्लिनाथ ने पृ० 24 पर गलती से ऐसा माना है), अपितु वे 'अंतरभाववादी' हैं, जिनके मतानुसार ध्वनि भी काव्य का एक अंग है। इस विषय पर चर्चा करते हुए प्रतीहारेंदुराज ने आनंदवर्धन से अपनी सहमति प्रकट की है; क्योंकि उनके अनुसार ध्वनि का, जिसे किसी मतविशेष में काव्य की आत्मा कहा गया है, आद्य आचार्यों ने पृथक् रूप से इसलिए विवेचन नहीं किया, क्योंकि उन्होंने ध्वनि को एक अलंकार माना है (पृ० 76)। इसी प्रकार, जगन्नाथ का कथन है (पृ० 414-15) कि यद्यपि ध्वनिकार के भी पूर्ववर्ती उद्भट इत्यादि आचार्यों ने कहीं भी ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इस आधार पर यह मान लेना कि वे ध्वनि के संकल्पना-विचार से अनभिज्ञ थे, अनुचित है, क्योंकि उन्होंने पर्यायोक्ति, समासोक्ति, व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा-जैसे अलंकारों की अपनी परिभाषाओं में ध्वनि के कुछ भेद परिलक्षित किए हैं। रुय्यक के सामान्य कथन (पृ० 3) से भी ऐसा ही सूचित होता है। उनके अनुसार भामह, उद्भट इत्यादि प्राचीन आचार्यों ने अलंकार के लक्ष्यार्थ को अभिधार्थ के शोभाकर के रूप में स्वीकार किया है, अथवा उन्होंने ध्वनि को पृथक् न मानते हुए इसे रस के समान अभिधार्थ का गौण अंग माना है। संभवतः भामह के 'पर्यायोक्ति' की परंपरा का पालन करते हुए कनिष्ठ वाग्भट ने (पृ० 36-37) इस अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—'ध्वनिताभिधानम्', तथा 'ध्वनितोक्ति' की अधिक जानकारी के लिए आनंदवर्धन के ग्रंथ को निर्दिष्ट किया है। हेमचंद्र ने ध्वनि को संक्षेप में 'व्यंग्यस्योक्तिः' कहा है। उपर्युक्त विवेचन से यह सूचित होता है कि भामह तथा उद्भट-जैसे प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों में भी ध्वनि-संबंधी विचारों को खोजने का प्रयत्न किया गया है, ताकि इसकी प्राचीन प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके, किंतु यह संभव प्रतीत होता है कि उक्त प्राचीन आचार्य, सामान्य रस की तरह सामान्य लक्ष्यार्थ की विचार-संकल्पना से अनभिज्ञ नहीं थे, यद्यपि उनके तत्संबंधी विचार स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने पृथक् रूप में इसकी कहीं चर्चा नहीं की और इसे कुछ काव्यालंकारों का एक अंगमात्र मान लिया।

2

उद्भट

परवर्ती-कालीन लेखकों में केवल कुंतक ने ही भामह के 'वक्रोक्ति-सिद्धांत का विवेचन किया है। कुंतक 'वक्रोक्तिजीवितम्' के रचयिता थे; उनके ग्रंथ के अतिरिक्त 'वक्रोक्ति' का अन्य ग्रंथों में कहीं निरूपण नहीं किया गया है। भामह के प्राचीनतम मतानुयायी, उद्भट ने कहीं भी वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि उनके उपलब्ध किंतु संक्षिप्त 'अलंकार-संग्रह' की अपेक्षा उनके 'भामहविवरण' अथवा 'काव्यालंकार वृत्ति'[1] नामक लुप्त ग्रंथ से विचारों का अधिक व्यापक ज्ञान प्राप्त हो सकता था। 'अलंकारसंग्रह' में, जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है, अनुप्रास के तीन भेदों सहित इकतालीस अलंकारों की पद्यमय परिभाषाएँ हैं। उनके काव्य-संबंधी विचारों से सामान्य समस्याओं पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

उद्भट का अलंकार-निरूपण भामह के निरूपण के समान ही है। जिस क्रम में भामह ने अलंकारों का वर्णन किया है, उद्भट ने भी उसी क्रम को अपनाया है, यहाँ तक कि उन्होंने भामह की अनेक परिभाषाओं का अक्षरशः उद्धरण किया है। उद्भट ने कुछ विशिष्ट अलंकारों के ऐसे भेद किए हैं, जो संभवतः भामह को ज्ञात नहीं थे। उद्भट ने 'अतिशयोक्ति' के चार रूप बताए हैं; भामह ने उनका कहीं उल्लेख नहीं किया है; किंतु ये चार भेद परवर्ती लेखकों द्वारा स्वीकार किए गए अतिशयोक्ति के पाँच में से चार भेदों से काफी मिलते-जुलते हैं। भामह ने अनुप्रास के केवल दो भेद बताएँ हैं (ii. 6-8) अर्थात् ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास। प्रतीहारेंदुराज के विचार में अनुप्रास का ऐसा वर्गीकरण 'ग्राम्या' तथा 'उपनागरिका' नामक दो वृत्तियों

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 44. उद्भट के उपलब्ध ग्रंथ के छह अध्यायों में केवल काव्यालंकारों का निरूपण तथा वर्गीकरण है। क्रम इस प्रकार है :
प्रथम अध्याय – पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास (तीन वृत्तियों सहित), लाटानुप्रास, रूपक, दीपक (तीन भेद), उपमा, प्रतिवस्तूपमा।
द्वितीय अध्याय – आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति (चार भेद)।

तृतीय अध्याय – यथासंख्य, उत्प्रेक्षा + स्वभावोक्ति।
चतुर्थ अध्याय – प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लेष।
पंचम अध्याय – अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, शंकर (चार भेद), उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।
षष्ठ अध्याय – संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग (हेतु) तथा काव्यदृष्टांत (दृष्टांत)।

को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर लेने के कारण किया गया है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार, मुख्य रूप से शब्दविन्यास पर आधारित अनुप्रासाश्रित इन वृत्तियों को सबसे पहले उद्भट ने स्वीकार किया था तथा आनंदवर्धन ने तत्संबंधी जानकारी उद्भट से प्राप्त की थी (पृ० 5-6)। रुद्रट ने वृत्तियों के पाँच भेद बताए हैं (ii. 19. इत्यादि)। मम्मट तथा रुय्यक-जैसे परवर्ती आचार्यों ने उद्भट के मत को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने रस के दृष्टिकोण से ही [1] इस विषय का विवेचन किया है। उपमा के व्याकरणाश्रित भेदों का (भामह ने ii. 31-33 में इसका संकेत मात्र ही किया है) सबसे पहले उद्भट ने ही उल्लेख किया है (i. 35-40)। आगे चलकर काव्य-सिद्धांत में इन्हीं भेदों को मान्यता दी गई। यह सत्य है कि इस ग्रंथ में उद्भट ने, भामह की तरह, एक पृथक् अध्याय में शब्द-शुद्धता के विषय का विवेचन नहीं किया है, न ही उन्होंने उन शब्द-शक्तियों से संबंधित सिद्धांतों का उल्लेख किया है, जिन्हें पहले भामह ने निर्दिष्ट किया था (vi. 6 इत्यादि), फिर भी शब्द के व्याकरणात्मक विश्लेषण का ध्यान रखते हुए उन्होंने वत्, क्यच, क्य, क्विप, कल्पप् इत्यादि सादृश्यबोधक प्रत्ययों पर आश्रित उपमा के विविध उपभेदों की विस्तार-सहित चर्चा की है। परवर्ती साहित्य में यह विश्लेषण लगभग प्रामाणिक मान लिया गया।

विशिष्ट अलंकारों की परिभाषाओं तथा उनकी व्याख्याओं में भी कुछ भेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए, उद्भट का 'तुल्ययोगिता' अलंकार मम्मट के 'तुल्ययोगिता' के अनुरूप है, किंतु भामह का 'तुल्ययोगिता' अलंकार संभवतः मम्मट के 'दीपक' के समान है। भामह ने 'दृष्टांत' तथा 'काव्यलिंग' (अथवा, क्रमशः, 'काव्यदृष्टांत' तथा 'काव्यहेतु') नामक अलंकारों को छोड़ दिया है, किंतु उद्भट ने पहली बार उनकी सोदाहरण परिभाषा दी है। केवल उद्भट ही ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने 'यमक' की कहीं भी चर्चा नहीं की है। भामह ने सहोक्ति, उपमा तथा हेतु अलंकारों में 'श्लेष' का भाव माना है तथा दंडी के कथनानुसार सभी अलंकारों में श्लेष विद्यमान रहता है और श्लेष से ही उनकी शोभा-वृद्धि होती है। शब्द तथा अर्थ पर आश्रित श्लेष के भेदों तथा श्लेषपरक अन्य अलंकारों और श्लेष के परस्पर संबंध की समस्या के प्रसिद्ध विवाद का श्रीगणेश रुय्यक के कथनानुसार उद्भट के समय में ही

---

1. ये वृत्तियाँ मुख्यतः अनुप्रास को परिलक्षित करती हैं; इनका भरत की चार काव्य-वृत्तियों से कोई संबंध नहीं है (vi. 25; xx, 24 इत्यादि)।

हुआ था। उद्‌भट का कथन है कि जहाँ संसृष्टि होती है, वहाँ श्लेष अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक पुष्ट होता है, यहाँ तक कि अन्य अलंकार अग्राह्य हो जाते हैं। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अलंकार-क्षेत्र में उद्‌भट ने रस की परिभाषा करते हुए उसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है, यद्यपि सामान्य काव्य में उन्होंने रस को उतना महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने शास्त्रीय शब्दों 'भाव' तथा 'अनुभाव' तक का प्रयोग किया है; भामह के ग्रंथ में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। भामह, भट्टि, दंडी तथा वामन ने दो अथवा अधिक पृथक अलंकारों की संसृष्टि का उल्लेख किया है; किंतु उद्‌भट ने संसृष्टि के उन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है, जिन्हें दंडी ने निर्दिष्ट किया था (ii. 360); उन्होंने स्पष्ट रूप में संसृष्टि को संकर से भिन्न बताते हुए (पृ० 63 तथा 72) संकर के चार भेद कहे हैं।[1]

पहले जो कुछ कहा गया है, वह शास्त्र की प्रगति का ही द्योतक है, मार्ग-विचलन का नहीं। इससे परिश्रम-साध्य वैचारिक क्रिया-कलापों के रचना-कार्य का विकास ही सूचित होता है। इस काल में अलंकारों के सूक्ष्म भेदों की मीमांसा की गई तथा तदनुसार उनका वर्गीकरण किया गया; किंतु मौलिक सिद्धांत अक्षुण्ण बने रहे। परवर्ती लेखकों ने भामह को छोड़कर उद्‌भट को ही इस सिद्धांत का प्रामाणिक आचार्य माना है। काव्य-सिद्धांत के विभिन्न मत-मतांतरों में उद्‌भट के विचारों का बड़ा आदर है। निस्संदेह, प्राचीन होने के कारण भामह का आदर किया जाता है, किंतु कालांतर में उनके टीकाकार उद्‌भट ने अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। परवर्ती आचार्यों ने उद्‌भट के ग्रंथ को ही प्रामाणिक-सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया। आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा रुय्यक के कथनानुसार, उपमा-भेद अथवा श्लेष से संबंधित कुछ परवर्ती चिंतन तथा तत्संबंधी वाद-विवाद उद्‌भट के समय से ही आरंभ हुए थे। संभवतः उद्‌भट (तथा दंडी एवं रुद्रट) ने काव्यालंकारों के सूक्ष्म विश्लेषण तथा भेद-निरूपण के संबंध में आचार्यों का मार्गदर्शन किया। परवर्ती सिद्धांतों में इस विश्लेषण तथा भेद-निरूपण का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मम्मट

---

1. वामन ने 'संसृष्टि' का क्षेत्र सीमित कर दिया है और दंडी (ii. 258-60) के विपरीत उसके केवल दो भेद स्वीकार किए हैं, 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव'। दंडी ने 'संकर' का उल्लेख नहीं किया है। जैसा कि प्रतीहारेंदु ने सूचित किया है, संभवतः दंडी के संसृष्टि का 'अंगांगिभाव-संस्थान' नामक भेद उद्‌भट के संकर के 'अनुग्राह्यानुग्राहक' भेद के अंतर्गत है।

तथा रूय्यक काव्यविद्या के दो महत्त्वपूर्ण परवर्ती आचार्य रहे हैं। उन्होंने अधिकांश अलंकारों की परिभाषाओं को अंतिम रूप देकर कुछ सामान्य सिद्धांतों के अनुसार उनका विश्लेषण तथा पूर्वापर क्रम निश्चित किया तथा तत्संबंधी सिद्धांत को व्यवस्थित किया। मम्मट तथा रुय्यक दोनों ही उद्भट के उपदेश से प्रभावित थे। उनकी काव्य-विद्या संबंधी मीमांसा में उद्भट ने उनका मार्ग-दर्शन किया था। अतएव उद्भट का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि कुंतक ने भामह के उपदेश के एक अंश को अपने 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का आधार मानकर भामह के उपदेश की व्याख्या की है, तथापि भामह की परंपरा को प्रचलित रखने तथा उनके उपदेश की व्यवस्थित रूप में व्याख्या करने का श्रेय उद्भट को ही प्राप्त है। अपने समकालीन वामन के साथ उद्भट को काव्य-विद्या के काश्मीर-मत का प्रवर्तक मान लेना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। आनंदवर्धन इसी काश्मीर-मत के सर्वोत्तम परिणाम थे। जिस समय दंडी के उपदेश के आधार पर आचार्य वामन रीति-सिद्धांत को व्यवस्थित करने में व्यस्त थे, उसी समय उद्भट ने काश्मीर में काव्य-विद्या में अलंकार-सिद्धांत का प्रतिष्ठापन किया था। इन दोनों आचार्यों ने मिलकर आनंदवर्धन का मार्गदर्शन किया।

प्रतीहारेंदुराज ने जिस प्रकार उद्भट के मत की व्याख्या की है, वह आंशिक रूप में ही उद्भट के वास्तविक आशय को परिलक्षित करती है। कारण यह है कि प्रतीहारेंदुराज उद्भट के एक सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं और उन्होंने प्रायः उद्भट के पाठ से अपने विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है। उद्भट ने कहीं भी प्रत्यक्ष रूप में 'ध्वनि' की चर्चा नहीं की है, यद्यपि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्हें लक्षितार्थ का ज्ञान था, किंतु प्रतीहारेंदुराज ने ध्वनि का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उद्भट ने अपने अलंकार-विवेचन में 'ध्वनि' को भी स्थान दिया है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि प्रतीहारेंदुराज वामन के रीति-मार्ग मत से बहुत प्रभावित थे। 'गुण' तथा 'अलंकार' (पृ० 75 इत्यादि) के परस्पर संबंध का निरूपण करते हुए प्रतीहारेंदुराज ने वामन के मत का उल्लेख ही नहीं किया है, अपितु वामन की व्याख्या का अनुसरण भी किया है। भामह ने 'गुण' तथा 'अलंकार' के परस्पर भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया, उद्भट का भी यही मत था, जैसा कि रुय्यक ने स्पष्ट रूप में कहा है—'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्' (पृ० 7), हेमचंद्र का भी यही आशय है—'तस्माद् गडरिका-प्रवाहेण गुणालंकार-भेद इति भामह-विवरणे...

भट्टोद्भटोभ्यधात्' (पृ० 17)। इसके विपरीत, वामन ने रीति को अधिक महत्त्व देते हुए गुण तथा अलंकार के परस्पर भेद का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। प्रतीहारेंदुराज ने उद्भट पर वामन के विचारों को लादने का प्रयत्न किया है। भामह ने रीति का केवल प्रसंगवश उल्लेख किया था, उद्भट ने उसका कहीं वर्णन नहीं किया है। उद्भट ने तीन वृत्तियों का कथन किया है। वृत्तियाँ अनुप्रास अलंकार पर आश्रित हैं, किंतु मोटे तौर से ये वामन द्वारा निरूपित तीन वृत्तियों के अनुरूप हैं और इन्हीं की तरह उन तीन गुणों के अनुरूप हैं, जिनका निरूपण आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायियों ने किया है।[1] यह कहना कठिन है कि उद्भट की तीन वृत्तियों तथा वामन की तीन रीतियों अथवा आनंदवर्धन के तीन गुणों का कार्यक्षेत्र समान है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार (पृ० 134) गुण 'संघटना' के लक्षण हैं, किंतु यह संघटना आचार्य वामन की रीति के तुल्य नहीं है।[2] इसी प्रकार प्रतीहारेंदुराज ने रस को काव्य की 'आत्मा' कहा है (पृ० 77)। उद्भट रस के महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने रस को कुछ विशिष्ट अलंकारों के सहायक गौण अंग के रूप में ही स्वीकार किया है।

---

1. "रीतेर्हि गुणेष्वेव पर्यवसायिता", 'लोचन' पृ० 231.
2. आनंदवर्धन ने 'संघटना' के तीन भेद बताए हैं, असमासा, दीर्घसमासा तथा मध्यसमासा। ये भेद समस्त पदों के अभाव अथवा उनके न्यूनाधिक्य पर निर्भर हैं। विशिष्ट प्रकार की संघटना विशिष्ट रस के उपयुक्त होती है, किंतु सभी स्थानों पर ऐसा होना आवश्यक नहीं है। आनंदवर्धन का मत है कि संघटना तथा गुणों के लक्षण समान नहीं होते, न ही गुण संघटनाश्रित होते हैं। संघटना की उपयुक्तता अथवा औचित्य रस, वक्ता तथा विषय के आश्रित होती है (पृ० 133-5)। इस विषय में ZDMG, lvi, 1952 पृ० 779 पा० टि० 6 तथा 'सम प्राब्लम्ज्' के पृ० 91-94 पर सुशील कुमार डे का 'आनंदवर्धन ऑन संघटना' शीर्षक लेख देखिए।
3. इस विषय पर आगे छठे अध्याय में चर्चा की जाएगी। राजशेखर ने उद्भट तथा औद्भटों को कुछ अन्य सिद्धांतों के प्रवर्तक भी कहा है, किंतु उद्भट के विद्यमान ग्रंथ में इनका उल्लेख नहीं मिलता (1) कि वाक्य के तीन अभिधा-व्यापार होते हैं (वाक्यस्य त्रिधाभिधा-व्यापार इति औद्भटाः), (2) कि अर्थ के दो भेद होते हैं, 'विचारित-सुस्थ' तथा 'अविचारित-रमणीय'। विचारित-सुस्थ अर्थशास्त्रों में तथा अविचारित-रमणीय अर्थ काव्यों में होता है। 'व्यक्तिविवेक-व्याख्यान' के पृ० 4 पर उद्भट को ऐसे ही सिद्धांत का प्रवर्तक कहा गया है. किंतु उद्भट के ग्रंथ में उसका भी उल्लेख नहीं मिलता। किसी विशिष्ट मत को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम से पूजार्थ संबद्ध कर देने की प्रथा परवर्ती टीकाकारों में प्रचलित थी। ZDMG, lxvi, 1912 में सुक्थंकर ने इस प्रथा की चर्चा की है। उदाहरण के लिए, प्रतीहारेंदुराज ने इस विचित्र मत को भरत के नाम से

3

रुद्रट

रस-सिद्धांत से प्रभावित होने पर भी रुद्रट वास्तव में अलंकार-सिद्धांत के समर्थक थे। उन्होंने रसों को मान्यता दी है और लंबे-लंबे अध्यायों में इसी विषय का विवेचन किया है, किंतु जैसा कि आगे बताया जाएगा, उन्होंने रस को न्यूनाधिक बाह्य महत्त्व ही दिया है। इसके विपरीत, काव्य में अलंकार को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने अपने ग्रंथ के अधिकांश, अथवा दस, अध्यायों में अलंकारों की ही चर्चा की है। भामह तथा उद्भट के ग्रंथों के अनुरूप, स्वयं उनके ग्रंथ का नाम ही 'काव्यालंकार' है। उनके टीकाकार, नमिसाधु के कथनानुसार (पहले अध्याय के दूसरे श्लोक की टीका), काव्य के अंग-स्वरूप काव्यालंकारों की विशिष्ट मीमांसा होने के कारण ही ग्रंथ को ऐसा नाम दिया गया था।

अलंकार के अन्य आचार्यों की तरह रुद्रट ने भी रीति अथवा उसके गुणों को विशेष महत्व नहीं दिया है। दंडी की दो अथवा वामन की तीन रीतियों के स्थान पर रुद्रट ने निस्संदेह पांचाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी नामक चार रीतियों का उल्लेख किया है, किंतु उनका तत्संबंधी विवेचन रीति-सिद्धांत से प्रभावित नहीं है। उनके कथनानुसार रीति-भेद, लघु, मध्य अथवा आयत समासों के न्यूनाधिक प्रयोग अथवा वैदर्भी के समान समास के सर्वथा अभाव पर निर्भर है। वैदर्भी को इसीलिए सर्वोत्तम रीति माना गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि भामह ने ऐसे ही आधार पर रीति के स्थान पर अपने तीन गुणों का भेद-निरूपण किया है। रुद्रट के मतानुसार, रीति, सर्वथा शब्द-विन्यास के निश्चित नियमों अथवा समास पर आश्रित होती है, इसीलिए इसे शब्द की 'समासवती वृत्ति' कहते हैं। रुद्रट ने ध्वनि का कहीं उल्लेख नहीं किया है, न ही वे ध्वनि-शक्ति से परिचित प्रतीत होते हैं, किंतु भामह तथा उद्भट की तरह, उन्होंने पर्याय अथवा पर्यायोक्त-जैसे कुछ अलंकारों तथा भाव अलंकार में लक्षितार्थ को अभिधार्थ गौण रूप में स्वीकार किया है (vii. 38-41)[1]।

संबद्ध किया है कि व्याकरण इत्यादि विषयक ग्रंथों को काव्य नाम से लक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें आवश्यक गुणों का अभाव होता है।

1. रुद्रट द्वारा दिए गए अलंकार के दो उदाहरण 'काव्यप्रकाश' में तथा 'लोचन' पृ० 45 पर उद्धृत किए गए हैं। अभिनव ने रुद्रट के भावालंकार को गौण व्यंग्यार्थ का स्पष्ट उदाहरण बताया है। अभिनव का

अलंकारों का सविस्तर विवेचन ही रुद्रट के ग्रंथ की विशेषता है, जिससे ग्रंथ के नाम की उपयुक्तता सिद्ध होती है। अलंकारों का विवेचन विस्तृत और व्यापक ही नहीं, अपितु अलंकार सिद्धांत के पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्न तथा विशिष्ट भी है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रुद्रट न केवल उन लेखकों के पश्चात् हुए हैं, वरन् उन्होंने भामह तथा उनके मतानुयायियों से भिन्न परंपरा का अनुसरण किया है। उद्भट के अलंकारों की सीमित संख्या में रुद्रट ने लगभग तीस अतिरिक्त अलंकार बढ़ाए हैं।[1] इनके

कथन है कि उद्भट ने भावालंकार को प्रेयस् माना है (पृ० 71-72)। यह उल्लेखनीय है कि रुय्यक ने रुद्रट के तत्संबंधी मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि रुद्रट ने ध्वनि के आचार्यों द्वारा निरूपित लक्षितार्थ के तीन भेदों को स्वीकार किया है। उनके कथनानुसार रुद्रट ने भाव अलंकार में वस्तु-ध्वनि, रूपक इत्यादि में अलंकार-ध्वनि तथा रसवत् तथा प्रेयस् में रस-ध्वनि को लक्षित किया है। किंतु यह कह देना आवश्यक है कि रुद्रट के 'भाव अलंकार' में वस्तु-ध्वनि तो है, किंतु अन्य स्थानों पर पूर्वोक्त कथन लागू नहीं होता। रुद्रट ने रसवत्, प्रेयस् इत्यादि अलंकारों का कहीं भी उल्लेख, परिभाषा अथवा विवेचन नहीं किया है और न ही इस संबंध में रुय्यक द्वारा निर्दिष्ट प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का कहीं उल्लेख किया है, यद्यपि अध्याय ix के तेरहवें श्लोक में उन्होंने लक्ष्यार्थ उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण दिया है। इस विषय पर ZDMG, lxxi; 1908, पृ० 295 पा० टि० 5 में जेकबी का कथन देखिए।

1. उद्भट के अलंकारों की संख्या 41 है, उपभेदों को छोड़कर रुद्रट के अलंकारों की संख्या 68 है। रुद्रट के ग्रंथ के सोलह अध्यायों की विषय-सूची इस प्रकार है—(1) काव्यप्रयोजन, कवि के गुण इत्यादि, (2) चार रीतियाँ (पांचाली, लाटीया, गौडिया तथा वैदर्भी), छह भाषाएँ (प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शौरसेनी, अपभ्रंश), तथा पांच शब्दालंकार। अनुप्रास की पाँच वृत्तियों के साथ यहाँ केवल वक्रोक्ति तथा अनुप्रास का ही निरूपण किया गया है। (3) यमक, (4) श्लेष तथा उसके आठ भेद, (5) चित्र, (6) शब्द-दोष, पद-दोष तथा वाक्य-दोष-सहित, (7) अर्थालंकार के चार आधार (वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष) तथा वास्तवाश्रित 23 अलंकार। (8) औपम्याश्रित 21 अलंकार। (9) अतिशयाश्रित 12 अलंकार। (10) श्लेष, शुद्ध तथा संकीर्ण पर आश्रित 12 अलंकार। (11) नौ अर्थ-दोष तथा चार उपमा-दोष। (12) दस रस तथा शृंगार-निरूपण। (13) संभोग-शृंगार इत्यादि। (14) विप्रलंभ-शृंगार तथा उपायस्। (15) अन्य रसों के लक्षण। (16) कथा-आख्यायिका इत्यादि काव्य-प्रबंधों के भेद तथा उनके लक्षण।

अतिरिक्त रुद्रट ने मुख्य-मुख्य अलंकारों के अनेक उपभेदों का निरूपण किया है तथा चित्र अलंकार पर पूरा एक अध्याय लिखा है। रुद्रट से पहले दंडी चित्र अलंकार पर चर्चा कर चुके हैं। भामह तथा भरत के अतिरिक्त उद्भट ने भी शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद को कहीं स्पष्ट नहीं किया है, यद्यपि चार शब्दालंकारों का पहले तथा तत्पश्चात् अर्थालंकारों का विवेचन दोनों के परस्पर भेद को लक्षित करता है। दंडी ने भी पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए इनके परस्पर भेद को लक्षित किया है, यद्यपि उस भेद को प्रत्यक्ष रूप में कहीं निर्दिष्ट नहीं किया है। इसके विपरीत, वामन की तरह रुद्रट ने शब्द तथा अर्थ के महत्त्व के अनुसार, दो वर्गों में अलंकारों का विभाजन किया है। सामान्य अथवा विशिष्ट लक्षणों के आधार पर प्रत्येक अलंकार को एक निश्चित जाति के अंतर्गत निर्धारित करने के लिए उन्होंने पहलीवार एक विशिष्ट सिद्धांत अथवा आधार प्रस्तुत किया है। शब्दालंकारों के पाँच मुख्य भेद बताए गए हैं, अर्थात् वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास तथा यमक अर्थालंकारों के जाति-भेद उन्होंने अपने ही सिद्धांतों के अनुसार निर्धारित किए हैं अर्थात् वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष।[1] अर्थालंकारों के अंतर्गत इन अलंकारों का उल्लेख है ;

(1) **वास्तव**—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मिलित, तथा एकावली (23 अलंकार)।

(2) **औपम्य**—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थांतरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, तथा स्मरण (21 अलंकार)।

(3) **अतिशय**—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात तथा हेतु (12 अलंकार)।

(4) **श्लेष**—दो भेद, शुद्ध तथा संकीर्ण। अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र,

---

1. रुद्रट से पहले वामन ने अलंकारों का औपम्याश्रित जातिभेद-निरूपण किया है। वामन के अनुसार सभी अलंकार 'उपमा-प्रपंच' हैं, अर्थात् सभी अलंकार उपमा के ही विभिन्न रूप हैं। रुद्रट के मत में सभी अलंकार उपमा को लक्षित नहीं करते। वामन को छोड़कर सभी आचार्यों का यही मत है। एकमात्र वामन ही उक्त मत के प्रतिपादक हैं।

याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास, शुद्ध-श्लेष के तथा संकीर्ण-श्लेष के दो भेद हैं (10+2=12 अलंकार)।

स्वयं दंडी ने अलंकारों की एक बहुत बड़ी संख्या का वर्णन किया है।[1] किंतु उनका कहना है कि मामूली से भेद के कारण ही यदि एक अलंकार को दूसरे से भिन्न मान लिया जाए तो अलंकारों के असंख्य रूप अथवा भेद हो जाएँगे। यह बात आंशिक रूप में रुद्रट पर भी लागू होती है, क्योंकि उनका अलंकार-संबंधी सामान्य विवेचन तथा अलंकारों की परिभाषाओं में यही दोष है। अलंकारों के इस जाति-भेद का अथवा रूप-भेद का एक परिणाम यह है कि एक ही अलंकार विभिन्न जातियों के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ वास्तवाश्रित, तथा औपम्याश्रित, सहोक्ति तथा समुच्चय अलंकारों के दो रूप हैं, इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार का औपम्य तथा अतिशय के अंतर्गत दो स्थानों पर उल्लेख किया गया है। परवर्ती लेखकों ने रुद्रट के कुछ अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है, कुछ लेखकों ने उनके अलंकारों के नाम बदल दिए हैं अथवा उनमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया है।[2] परवर्ती लेखक इस विषय में उद्भट अथवा दंडी की रूढ़िगत व्याख्या से अधिक प्रभावित थे, किंतु मम्मट जैसे परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट के अलंकार-विषयक विश्लेषण तथा परिभाषाओं को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है[3], इसलिए रुद्रट की तत्संबंधी विशिष्टता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अलंकार-क्षेत्र में इन परवर्ती लेखकों ने भामह तथा उद्भट की अपेक्षा उन्नति के अतिरिक्त विशिष्ट विवेचन-स्वातंत्र्य लक्षित किया है, जिसके फलस्वरूप अनेक विशिष्ट अलंकारों की विविध प्रकार से व्याख्या की गई है।

---

1. अर्थात्, दूसरे अध्याय में 35 तथा तीसरे अध्याय में यमक, चित्र तथा प्रहेलिका।

2. तथा, वाग्भट के 'काव्यानुशासन' को छोड़कर परवर्ती लेखकों ने रुद्रट के भाव, मत, साम्य तथा पिहित अलंकारों के लक्षण नहीं दिए हैं। मम्मट ने उनके हेतु को स्वीकार नहीं किया है। कनिष्ठ वाग्भट ने रुद्रट के जिन 'अवसर' तथा 'पूर्व' का उल्लेख किया है, वे क्रमशः मम्मट (तथा उद्भट) के 'उदात्त' की दूसरी जाति तथा मम्मट के 'अतिशयोक्ति' की चौथी जाति के समान हैं।

3. ZDMG, lxv,, 1972 पृ० 4,1 पर सुक्थंकर ने मम्मट पर रुद्रट के प्रभाव की चर्चा की है। नोबल के उपर्युक्त Beitrage में भी कई स्थानों पर इस विषय की चर्चा है। इसके विपरीत, यद्यपि रुय्यक ने स्वयं मम्मट का अनुकरण किया है, फिर भी वे उद्भट से अधिक प्रभावित हैं।

शब्दालंकारों के अंतर्गत श्लेष तथा काकु पर आश्रित रुद्रट की वक्रोक्ति उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। रुद्रट के पश्चात् कुछ लेखकों ने काकु पर आश्रित वक्रोक्ति को अस्वीकार किया है (यथा, पृ० 31 राजशेखर तथा पृ० 234 पर हेमचंद्र ने), क्योंकि यह वक्रोक्ति पाठ-उच्चारण की विशिष्टता पर ही निर्भर रहती है (पाठ-धर्मत्वात्), किंतु वामन की अलंकाराश्रित, अर्थाश्रित वक्रोक्ति के स्थान पर रुद्रट की तत्संबंधी व्याख्या को ही मान्यता प्राप्त हुई। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति की एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की थी, किंतु रुद्रट की वक्रोक्ति पर वह परिभाषा लागू न हो सकी और परवर्ती साहित्य में मम्मट इत्यादि आचार्यों ने रुद्रट की ही वक्रोक्ति को एकमात्र वक्रोक्ति अलंकार के रूप में स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त रुद्रट का अनुप्रास-संबंधी जातिभेद उद्भट से कुछ भिन्न है। रुद्रट ने अनुप्रास को पांच वृत्तियों, अर्थात् मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता तथा मुद्रा पर आश्रित माना है, किंतु उद्भट ने वृत्यनुप्रास पर ही आश्रित तीन वृत्तियों, अर्थात् परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या अथवा कोमला को ही स्वीकार किया है। इस विषय में परवर्ती आचार्यों ने उद्भट का ही मतानुसरण किया है। यद्यपि उद्भट से पूर्व भरत तथा भामह ने यमक का विवेचन किया था तथा दंडी ने इस अलंकार की अपने ग्रंथ मे बड़ी व्यापक व्याख्या की है, तथापि उद्भट ने उसका कहीं वर्णन नहीं किया है। अलंकारों के विवेचन की व्यापकता के दृष्टिकोण से रुद्रट का नाम दंडी के पश्चात् ही आता है, यद्यपि तत्संबंधी जाति-भेद-निर्धारण में दोनों में कुछ अंतर है। यद्यपि माघ के कथनानुसार (xix. 41) महाकाव्य में चित्र अलंकार का प्रयोग आवश्यक माना जाता था, तथापि भरत, भामह, उद्भट ने इस अलंकार का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दंडी ने चित्र के कुछ रूपों का वर्णन किया है, किंतु रुद्रक की तत्संबंधी व्याख्या अधिक व्यापक है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि आचार्य मम्मट ने शब्दा-डम्बर को अधिक महत्व नहीं दिया, फिर भी चित्र अलंकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने रुद्रट के लगभग सभी उदाहरणों को उद्धृत किया है। शब्दालंकारों के दोषों का विवेचन करते हुए रुद्रट ने अनेक ऐसे स्थलों का उल्लेख किया है। (vi. 29-33), जहाँ पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता। उद्भट ने, जैसा कि नमिसाधु ने भी कहा है, ऐसे सभी स्थलों को पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार के अंतर्गत ले लिया। उद्भट ने श्लेष को अर्थालंकार मानकर उसके दो भेद किए हैं, शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष, जो परवर्ती लेखकों के क्रमश: अभंगश्लेष तथा सभंग श्लेष के अनुरूप हैं। इसके विपरीत, रुद्रट ने श्लेष को शब्दालंकार

कहा है तथा उसे श्लेषाश्रित अर्थालंकार से भिन्न बताते हुए (ii. 13) दशवें अध्याय में पृथक् रूप से उसकी व्याख्या की है और उसे बारह स्वतंत्र अलंकारों का कारण बताया है। इसके विपरीत, शब्दाश्रित श्लेष के वर्ण, लिंग, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन के अनुसार सूक्ष्म रूप-भेद किए हैं (iv. 12)। श्लेष शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार, इस विषय को लेकर परवर्ती आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है, किंतु रुद्रट ने स्वयं को उससे अलग ही रखा।

भामह तथा मेधावी के सात तथा वामन[1] के छह उपमा-दोषों के स्थान पर, रुद्रट ने केवल चार उपमा-दोषों अर्थात् वैषम्य, असंभव, अप्रसिद्धि तथा सामान्य शब्दभेद का ही उल्लेख किया है (xi. 24)। सामान्य शब्दभेद दोष के अंतर्गत लिंग, वचन, काल, कारक तथा विभक्ति पर आश्रित भेदों के कारण उपमेय तथा उपमान पर आधारित समान-धर्म शब्द के परिवर्त्तन के सभी रूप सम्मिलित हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उद्भट ने व्याकरणाश्रित उपमा के भेदों का सूक्ष्म विवेचन किया है, किंतु रुद्रट ने उनका कहीं वर्णन नहीं किया। उन्होंने इन भेदों को सामूहिक रूप में समासोपमा तथा प्रत्ययोपमा के अंतर्गत ही रखा है। भामह ने हेतु को अलंकार के रूप में स्पष्टतया अस्वीकार किया है, यद्यपि दंडी ने इसे काव्यलिंग (कारक-हेतु) तथा अनुमान (ज्ञापक-हेतु) के अंतर्गत मानते हुए 'वाचामुत्तमभूषणं' कहा है। उद्भट ने केवल काव्यलिंग को स्वीकार किया है, इसे काव्यहेतु नाम से लक्षित करते हुए दृष्टांत से भिन्न बताया है। उद्भट ने दृष्टांत को काव्य-दृष्टांत नाम से लक्षित किया है। रुद्रट ने (vii. 82) पहली बार दृष्टांत की परिभाषा तथा उसके लक्षण निर्धारित किए हैं, जिन्हें काव्यविधा में अंतिम रूप से मान्यता प्राप्त हुई है। यहाँ अन्य कोई उदाहरण देना अनावश्यक है, किंतु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह पर्याप्त रूप में सूचित होता है कि विशिष्ट अलंकारों तथा तत्संबंधी जाति-भेद में रुद्रट तथा पूर्ववर्ती आचार्यों में विशिष्ट अलंकारों और उनके अवांतर भेदों की प्रकृति और क्षेत्र के विषय में काफी मतभेद था। इससे भी अधिक महत्त्व इस बात में है कि इनके अंतर को, जो मौलिक रूप में विद्यमान है, उनको सरलता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतएव, यह अनुमान किया जा सकता है कि अत्यंत प्रतिभाशाली रुद्रट ने अलंकारविषयक रूपभेदों तथा परिभाषाओं की विशिष्ट

---

1. प्रथम खंड, पृ० 57, पा० टि० 1 देखिए।

पद्धति का स्वयं आविष्कार किया अथवा भामह तथा भामह के मतानुयायियों से किंचित भिन्न विचार-परंपरा का अनुसरण किया, किंतु जहाँ तक सामान्य अलंकार-सिद्धांत का प्रश्न है, इन दोनों आचार्यों ने एक ही मत का अनुसरण किया है।

यद्यपि रुद्रट के ग्रंथ में अलंकारों की एक बड़ी संख्या का सूक्ष्म विश्लेषण, उनका व्यवस्थित रूप-भेद-विवेचन तथा ऐसे उपयुक्त उदाहरण दिए गए हैं, जो कालांतर में प्रामाणिक मान लिए गए, तथापि काव्यविद्या में तत्संबंधी उनके योगदान को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वास्तव में, उद्भट के ग्रंथ के समान उनका ग्रंथ भी व्यावहारिक है। उसमें अलंकारविषयक सामान्य सिद्धांतों अथवा तत्संबंधी प्रश्नों पर चर्चा करने की विशेष गुंजाइश नहीं है। रुद्रट का मुख्य प्रतिपाद्य विषय काव्यविद्या न होकर अलंकारविद्या है। इस विषय के अधिकतर लेखकों ने अलंकारों के रूपभेदों के सूक्ष्म विवेचन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य माना है, क्योंकि उनके अनुसार संपूर्ण काव्य-सौंदर्य अलंकार पर ही आश्रित होता है। अलंकार-विवेचन में कुछ नवीनता के कारण तथा उनके ग्रंथ में भौतिक सिद्धांतों की व्याख्या होने के कारण परवर्ती साहित्य में रुद्रट का शायद ही किसी ने मतानुसरण किया है। अपवादस्वरूप केवल एक रुद्रट हुए हैं, किंतु उन्होंने भी केवल उनके रस-विषयक अध्यायों का ही उपयोग किया है। रुद्रट ने किसी विशिष्ट मार्ग अथवा सिद्धांत का प्रतिष्ठापन नहीं किया, यद्यपि कुछ विशिष्ट अलंकारों का विवेचन करने में उन्होंने कुशाग्रबुद्धि का परिचय दिया है। इस विषय के परवर्ती लेखकों ने परोक्ष रूप में उनकी तत्संबंधी व्याख्याओं को मान्यता दी है। रुद्रट निश्चित रूप में अलंकार-मत के अंतिम महान् व्याख्याता हैं, उनके पश्चात् यह मत ह्रासोन्मुख होकर अंत में, रस तथा रीति-मतों की तरह ध्वनि-मत के परिवार में विलीन हो गया।

अलंकार-सिद्धांत के अधःपतन का कारण प्रतिपक्षी रीति-सिद्धांत की उत्तरोतर प्रगति थी। इसका पहला संकेत दंडी के ग्रंथ से मिलता है। दंडी का स्थान अलंकार तथा रीति-सिद्धांतों के मध्य में है, उन्होंने काव्यविद्या में अलंकारों के महत्व को स्वीकार किया है (ii. 1), किंतु गुणों-सहित अलंकारों को 'मार्ग' (अथवा रीति) का सार कहा है। क्योंकि अलंकार तथा गुण दोनों ही काव्य के शोभाकर होते हैं, इसलिए दंडी के मतानुसार दोनों को व्यापक अर्थ में अलंकार कहा जा सकता है। वैदर्भ-मार्ग में गुण विशिष्ट शोभाकर

होते हैं तथा वैदर्भ और गौड मार्गों में अलंकार समान रूप से शोभाकर होते हैं। वामन का, जिन्होंने रीति-सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठापन किया था, कथन है कि गुण नित्य होते हैं तथा अलंकार अनित्य होते हैं। नित्य-गुण संपन्न काव्य की शोभाभिवृद्धि करना ही अलंकार का एकमात्र प्रयोजन होता है।

ध्वनि-सिद्धांत के आविर्भाव के साथ-साथ रूपक मुख्य लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त काव्य के लक्ष्यार्थ के रूप में भी रस-सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन किया गया। गुण तथा अलंकार दोनों ही स्वभावतः रस के गौण अंग हो गए। गुणों का रस से घनिष्ठ संबंध है, ऐसा माना जाने लगा। रस के बिना गुणों का कोई अस्तित्व नहीं होता, किंतु रस के साथ रहते हुए वे रस की शोभा में वृद्धि करते हैं। इसके विपरीत, शरीर के कृत्रिम शोभा-साधक आभूषणों की तरह, अलंकारों को काव्य के बहिरंग तथा कृत्रिम शोभाकर बताया गया। रीति तथा ध्वनि के आचार्यों के सिद्धांतों की चर्चा के अवसर पर इन विषयों का अधिक विस्तार से विमर्श किया जायगा, यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि मूल-सिद्धांत के अन्वेषण में प्रयत्नशील परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि-शास्त्र को बहिरंग, अलंकार-सिद्धांत के समक्षेत्रीय के रूप में स्वीकार नहीं किया, फलस्वरूप, अभिव्यंजना के वस्तुनिष्ठ सौंदर्य पर आश्रित अलंकारों तथा गुणों को काव्य के गौण अंग ही माना गया। 'अलंकार्य' क्या है इसकी व्याख्या अलंकार शब्द से की जानी चाहिए। जैसा कि अलकार शब्द से सूचित होता है और जैसा कि अलंकार विद्या के प्राचीन प्रवर्तकों ने कहा है, अलंकार को काव्य के शरीर तक ही सीमित रहना चाहिए। अलंकार का कार्य काव्य की आत्मा की व्याख्या करना नहीं है।

काव्य-विद्या के परवर्ती सिद्धांत असंदिग्ध रूप में अलंकार-विद्या से प्रभावित रहे हैं। दंडी तथा वामन के रीति-मार्गों में विभिन्न अलंकारों की विस्तृत मीमांसा इस प्रभाव को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करती है, यद्यपि आनंदवर्धन के पश्चात् किसी भी लेखक ने काव्यक्षेत्र में अलंकार को एकमात्र महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी सभी लेखकों ने इसके महत्व को स्वीकर करते हुए अपने-अपने सिद्धांत में इसे यथोचित स्थान प्रदान किया है। यद्यपि नए मत में ध्वनि तथा रस के सिद्धांतों पर अधिक बल दिया गया था, तथापि मम्मट इत्यादि आचार्यों ने अपने सिद्धांत के एक बड़े अंश में अलंकारों की ही सूक्ष्म रूा से मीमांसा की है, अलंकाराध्याय में अलंकार के विषय को बड़े व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें अलंकारों के सूक्ष्म भेद

तथा असंख्य जाति-भेदों के विवेचानार्थ प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गई है। सभी प्रकार के रूपक, उपमा, अनुप्रास इत्यादि अलंकारों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उनकी परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनसे पांडित्यपूर्ण सूक्ष्म-विवेचन लक्षित होता है। अलंकार-विद्या के इतिहास में सूक्ष्म रूप-भेद के कारण तथा प्रत्येक अलंकार के अनेक उपभेद किए जाने के कारण अलंकारों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई।[1] अर्वाचीन काल तक में नव-नवीन अलंकारों की झलक मिलती है।

अलंकारों के रूप-भेद का विशिष्टीकरण अथवा सूक्ष्म-विवेचन कहाँ तक हो गया है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। एक रमणी के मुख के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। यह वर्णन कई प्रकार से किया जा सकता है। संस्कृत कवि के प्रसिद्ध अलंकार 'तुलना' से आरंभ करते हुए इससे अनेक अलंकारों की सिद्धि होती है। 'आपका मुख चद्रमा के समान है'—यहाँ उपमा अलंकार है, 'चंद्रमा आपके मुख के समान है'—यह प्रतापी अलंकार है, 'आपका चंद्र-मुख'—रूपक अलंकार है, 'यह आपका मुख है अथवा चंद्र है'— ससंदेह अलंकार है, 'यह चंद्र है; आपका मुख नहीं है,—अपह्नुति अलंकार है, 'चंद्र आपके मुख के समान है तथा आपका मुख चंद्र के समान' है— यह उपमेयोपमा है, 'आपका मुख आपके मुख के ही समान हैं'—अनन्वय अलंकार है, 'चंद्र को देखकर आपके मुख का स्मरण हुआ'—स्मरण अलंकार है, 'आपके मुख को चंद्र जानकर चकोर आपके मुख की ओर उड़ा (चकोर पक्षी चंद्र किरणों का भक्षण करता है)'—भ्रांतिमत् अलंकार है, 'यह चंद्र कमल है, ऐसा समझकर चकोर तथा भ्रमर आपके मुख की ओर उड़ रहे हैं'—उल्लेख अलंकार है; 'यह सर्वथा चंद्र है'—उत्प्रेक्षा; 'यह द्वितीय चंद्र है'—अतिशयोक्ति, 'आपके मुख से चंद्र तथा कमल पराजित हैं'—तुल्योगिता, 'रात्रि में आपका मुख तथा चंद्र आनंदित होते हैं'—दीपक; 'चंद्र रात्रि में ही उल्लसित होता है; किंतु आपका मुख सदैव उल्लसित होता है'—व्यतिरेक, 'जिस प्रकार आकाश में चंद्र है, उसी प्रकार पृथ्वी पर आपका मुख है'—दृष्टांत; 'आकाश

1. उपभेदों को छोड़कर, भरत ने केवल 4 अलंकार गिनाए हैं. किंतु विष्णु-धर्मोत्तर में 18, भामह ने 39 (+4), दंडी ने 38, उद्भट ने 41, रुद्रट ने 68, वामन ने 31, मम्मट ने 61 (+6), रुय्यक ने 75 (+4), वाग्भट द्वितीय ने 63 (+6), विश्वनाथ ने 77 (+7), जयदेव (चंद्रालोक) ने 100, कुवलयानंद में 115 अलंकारों का उल्लेख है। इस विषय पर आनंदवर्धन ने (पृ० 8) पर इस प्रकार कहा है— 'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकशिताः प्रकाश्यंते च :'

में चंद्र विराजमान है, पृथ्वी पर आपका मुख विराजमान है'—प्रतिवस्तूपमा; 'आपका मुख चंद्रमा की शोभा को धारण करता है'—निदर्शना; 'आपके मुख के सम्मुख चंद्रमा फीका है'—अप्रस्तुत-प्रशंसा; 'आपके चंद्रमुख के कारण कामाग्नि शांत हो जाती है'—परिणाम; 'नीलनेत्रांकित तथा स्मितोल्लास से आपका मुख सुशोभित है'—समासोक्ति। कुछ स्थलों पर अनुवाद के कारण वाग्वैचित्र्य किंचित् फीका पड़ गया है। सूक्ष्म भेद-निरूपण के कारण इन अलंकारों की सिद्धि हुई है। केवल तुलना पर आश्रित अलंकारों के ये थोड़े-से ही उदाहरण हैं। इनके परस्पर भेद साधारण प्रतीत होते हैं, तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इनके विवेचन में बहुत सूक्ष्मता से काम लिया गया है। केवल एक उपमा अलंकार के ही अनेक उपभेद कर दिए गए हैं। इनमें से अधिकांश उपभेद व्याकरणाश्रित विशेष विन्यास पर आधारित हैं। इस विषय के एक अर्वाचीन लेखक, अप्पय्य दीक्षित, ने अलंकार-विषयक अपने ग्रंथ में इन्हीं कारणों से ऐसे उपभेदों का वर्णन नहीं किया है।[1]

अलंकारों के यथार्थ लक्षणों तथा उनकी सीमाओं के विषय में आचार्यों में ऐकमत्य नहीं हैं। आंशिक रूप में इस मतभेद का कारण इस शास्त्र अथवा विद्या की प्रगति के फलस्वरूप विचारों का क्रमिक विकास तथा सूक्ष्म रूप-भेद की सर्वप्रिय परिष्कारक प्रवृत्ति थी। विभिन्न मतावलंबी आचार्यों के ग्रंथों में विभिन्न अलंकारों से संबंधित संकल्पनाओं के विकास का अनुशीलन स्वयं एक रोचक विषय है। इस ग्रंथ की सीमा में उसका विवेचन नहीं किया जा सकता;[2] किंतु एक-दो उदाहरणों से अलंकार-विकास की प्रक्रिया स्पष्ट हो

---

1. एवमयं पूर्णलुप्तविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्र-व्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति, चित्रमीमांसा, पृ० 27।

2. अत्यंत प्राचीन काल से जगन्नाथ के समय तक पृथक्-पृथक् अलंकारों की विभिन्न संकल्पनाओं के अध्ययन का अभी तक कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया गया है। त्रिवेदी तथा काणे ने क्रमशः अपने एकावली' तथा 'साहित्यदर्पण' के पांडित्यपूर्ण संस्करणों की टिप्पणियों में प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। कुछ अलंकारों के विकास पर जे० नोबल ने एक लेखमाला प्रकाशित की है। उनके ग्रंथ 'Beitrage zur alteren Geschichte des Alamkar Sastra (Diss, Berlin 1911) में दीपक तुल्ययोगिता, विभावना, विशेषोक्ति अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति निदर्शन तथा अर्थांतरन्यास अलंकारों पर चर्चा की गई है; ZDMG. lxvi, 1912, पृ० 283-93 तथा lxvi, 1913, पृ० 1-36 पर उनके लेखों में क्रमशः व्याजस्तुति, सहोक्ति तथा बिनोक्ति का विवेचन है;

जाएगी। मोटे तौर से आक्षेप अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विशेष के कथन की इच्छा से वक्ष्यमाण बात का निषेध किया जाता है। विभिन्न आचार्यों ने इसके विभिन्न रूप-भेद किए हैं। वामन के कथनानुसार उपमान का आक्षेप, आक्षेप (अलंकार) होता है (उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः, iv. 3.27)। वामन की वृत्ति में इसकी एक व्याख्या इस प्रकार दी गई है—"उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः, तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायाम्;" अर्थात् वक्ष्यमाण वस्तु के नैरर्थक्य को सूचित करने के लिए उपमान का आक्षेप अथवा प्रतिषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार का आक्षेप परवर्त्ती आचार्यों के 'प्रतीप' अलंकार के समान है। किंतु वामन की एक अन्य व्याख्या के अनुसार जहाँ उपमान का केवल संकेत ही होता है, वहाँ भी आक्षेप की प्रतिपत्ति हो सकती है (उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः)। इस प्रकार का आक्षेप कुछ आचार्यों के समासोक्ति अलंकार के समान है। दंडी ने आक्षेप की बड़ी व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार उक्त अथवा वक्ष्यमाण का ही प्रतिषेध आवश्यक नहीं है। प्रतिषेध किसी का भी हो सकता है। भामह, उद्भट तथा मम्मट ने प्रतिषेध को उक्त अथवा वक्ष्यमाण तक ही सीमित माना है। रुय्यक, विद्याधर तथा विश्वनाथ का भी यही मत है, किंतु उन्होंने एक भेद और बढ़ा दिया है, अर्थात् अनभीष्ट उक्त। जगन्नाथ ने आचार्य वामन तथा उद्भट, दोनों के मतों का उल्लेख किया है (पृ० 421 इत्यादि); किंतु उनके कथनानुसार तीसरा मत ध्वनिकार का भी है, जिसके अनुसार लक्ष्यार्थ पर आश्रित निषेध अथवा प्रतिषेध के सभी भेद आक्षेप के अंतर्गत आ जाते हैं। इसकी पुष्टि में यह कहा गया है कि प्रतिषेधाभास पर आश्रित विशेषार्थ उक्त न होकर अनुक्त ही रहता है। ध्वनिकार ने इसे गुणीभूत-व्यंग्य का जातिभेद कहा है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ गौण होने पर अभिधार्थ ही सुंदर होता है। संभवतः इसी मत को लक्षित करते हुए अग्निपुराण में यह कहा गया है—'स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते मतः।' प्रत्येक अलंकार का किस प्रकार सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया गया तथा रूप-भेद के कारण किस प्रकार उनके जातिभेद निर्धारित किए गए, आक्षेप अलंकार कुछ अंशों में इस प्रक्रिया का एक उदाहरण है। इसी प्रकार उपमा के छह पूर्ण तथा सत्ताईस अपूर्ण भेद हैं; उत्प्रेक्षा के बत्तीस, व्यतिरेक

---

lxxiii, 1919, पृ० 189 इत्यादि में प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टांत की विवेचना है।

के अड़तालिस तथा विरोध अलंकार के दस भेद हैं। इस विद्या के अनुशीलन की प्रगति के साथ, मुख्य अलंकारों की संख्या तथा उनके असंख्य उपभेदों की संख्या बढ़ते-बढ़ते एक सौ से ऊपर पहुँच गई। इस विद्या के अनुशीलन के परवर्ती काल में रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व', जयदेव के 'चंद्रालोक' अथवा अप्पय्य के 'कुवलयानंद' इत्यादि ग्रंथों का एकमात्र प्रयोजन विभिन्न अलंकारों की विशेष रूप से विवेचना, लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करना ही रह गया, यह विस्मयजनक बात नहीं है।

रुद्रट के समय से लेकर शब्द अथवा अर्थ के आधार पर ही अलंकारों का शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार के अंतर्गत सरल जाति-भेद निरूपण किया जाता रहा;[1] किंतु कुछ लेखकों ने ऐसे अलंकारों का भी उल्लेख किया है, जो शब्द तथा अर्थ दोनों पर ही आश्रित, अर्थात् शब्दार्थालंकार होते हैं। अग्नि-पुराण एक ऐसा प्राचीनतम ग्रंथ है, जिनमें अलंकारों के इस तृतीय जाति-भेद का वर्णन मिलता है। भोज ने अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'शृंगार-प्रकाश' में इसी मत का समर्थन किया है। यह जातिभेद एक विवाद का विषय बन गया और यह कहा गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी अलंकार, शब्द तथा अर्थ, दोनों के आश्रित होते हैं, तथापि इस प्रकार के जातिभेद का औचित्य इसमें है कि 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः' के अनुसार उक्त जातिभेद से क्रमशः शब्द, अर्थ अथवा दोनों को सापेक्ष तथा यथोचित महत्त्व प्राप्त हो जाता है। किंतु सभी आचार्यों ने इस आश्रय-आश्रयी-संबंध को स्वीकार नहीं किया। मम्मट का कथन है कि जातिभेद अन्वय तथा व्यतिरेक पर आश्रित होना चाहिए, अर्थात् यह देखना चाहिए कि अलंकार में 'परिवृत्ति-सहत्व' होता है या नहीं। यदि शब्द की परिवृत्ति के कारण अलंकार लुप्त हो जाए तो वहाँ शब्दालंकार होता है; यदि लुप्त न हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है। स्वतंत्र अथवा मुख्य शब्दालंकारों की संख्या काफी अधिक रही है। भोज ने संभवतः अधिकतम शब्दालंकारों, अर्थात् चौबीस, का उल्लेख किया है। प्राचीन लेखकों ने शब्दालंकारों पर अधिक ध्यान दिया था। ह्रासोन्मुख श्रेणीगत कवियों को शब्दाडंबर प्रदर्शन करने का प्रचुर अवसर प्राप्त हुआ; किंतु आनंदवर्धन अथवा मम्मट-जैसा अधिक अर्वाचीन आचार्यों ने शब्दालंकारों के विवेचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि इस प्रकार के शब्दाडंबर से अभिव्यक्ति में कुछ वैचित्र्य तो अवश्य आ जाता है, किंतु पाठक, पूर्ण रूप से

---

1. ऊपर देखिए, पृ० 59.

इसी में उलझ जाने के कारण प्रबंधगत रस का आस्वादन नहीं कर पाता। शब्दाडंबर रसास्वादन में सहायक होने की जगह बाधक बन जाता है। इसके विपरीत, अर्थालंकारों पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है; व्यवस्थित रूप में उनके सूक्ष्म परिष्करण की प्रक्रिया निरंतर चालू रही है। अर्थालंकारों की संख्या निरंतर घटती-बढ़ती रही है; प्राचीन आचार्यों ने अर्थालंकारों की एक सीमित अथवा निश्चित संख्या का ही निरूपण किया था, अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखकों की रचनाओं में उनकी संख्या बढ़ती ही गई है। एक ओर भरत ने केवल चार अर्थालंकारों का उल्लेख किया है; भामह, उद्भट तथा वामन ने लगभग तीस से लेकर चालीस विभिन्न अलंकारों का निरूपण किया; संभवतः रुद्रट के ग्रंथ में इनकी अधिकतम संख्या बढ़ाकर अड़सठ तक पहुँच गई। भोज, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रंथों में संख्या-वृद्धि रुककर घटने लगी; किंतु इस विद्या के इतिहास के अर्वाचीनतम काल में, 'चंद्रालोक' के अंतर्गत लगभग एक सौ तथा 'कुवलयानंद' में एक सौ बीस अलंकार दिए गए हैं। यह दोष आचार्य दंडी में भी है, यद्यपि उन्होंने बहुत पहले इस अनंत भेद-निरूपण का विरोध किया था। परवर्ती आचार्यों को इस क्षेत्र में परिश्रम करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। आनंदवर्धन के पश्चात् इन आचार्यों के लिए अलंकारों की सूक्ष्मताओं की मीमांसा करने के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रीय विषय न रहा।

जहाँ तक अर्थालंकारों के लक्षणाश्रित जातिभेद-निरूपण का संबंध है, दंडी ने सभी अलंकारों के दो भेद किए हैं, अर्थात्, स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। वामन ने आरंभ में ही औपम्य को जातिभेद-निरूपण का आधार बनाने का प्रयत्न किया, रुद्रट ने व्यवस्थित रूप में वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के आधार पर अलंकारों का जातिभेद प्रस्तुत किया।[1] मम्मट के जातिभेद-निरूपण का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। रुय्यक ने (1) औपम्य, (2) विरोध, (3) शृंखला, (4) न्याय, (5) गूढ़ार्थप्रतीति तथा (6) संसृष्टि अथवा संकर के आधार पर जातिभेद-विवेचन किया है। विद्याधर तथा विश्वनाथ ने अधिकांश में इसी जातिभेद का अनुसरण किया है, किंतु उन्होंने न्याय के तीन भेद कर दिए हैं, अर्थात् तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय तथा लोक-न्याय। विद्यानाथ ने औपम्य (अथवा सादृश्य) के स्थान पर साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है तथा अध्यवसाय और विशेषण-वैचित्र्य को जातिभेद का दो अन्य आधार बताया है। संभवतः

---

1. iii. 9. ऊपर देखिए, पृ० 59.

इनमें से जातिभेद का कोई भी आधार शुद्ध रूप में शास्त्रीय नहीं है, क्योंकि इनमें सादृश्य, विरोध अथवा सामीप्य-जैसे मुख्य मनोवैज्ञानिक तत्वों को गूढ़ार्थ-प्रतीति अथवा अपह्नव-जैसे शब्दाश्रित जातिभेद के साथ दिया गया है।

काव्यालंकार की सामान्य संकल्पना में भी विकास हुआ। यह सच है कि एक सीमा तक प्रत्येक अलंकार, किसी भी अलंकार-सिद्धांत के अंतर्गत, अलंकार के अनुरूप होता है, किन्तु परवर्ती आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अलंकार में कुछ और विषमता भी होती है। प्रत्येक काव्य-प्रबंध का अपना विशिष्ट सौंदर्य होता है, जिसे वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति कहा जाता है। यह वैचित्र्य कविप्रतिभा अथवा कवि-कौशल पर निर्भर रहता है और उसी से अलंकार की भी सिद्धि होती है और उसे विशिष्टता प्राप्त होती है। अलंकार-मात्र-विषयक ग्रंथ में इस मत का कोई स्थान नहीं है, और इसी मत को लेकर अलंकार-सिद्धांत को केवल जातिभेद के विवेचन पर आश्रित अलंकार-सिद्धांत कहना ठीक नहीं है। संभवतः आदिकाल में इस सिद्धांत के अंतर्गत बाह्य शोभाकरों का ही विवेचन था, किंतु नवीन चिंतन-तत्वों के समावेश के कारण इस समस्या में कुछ जटिलता आ गई। सबसे पहले आचार्य कुंतक ने इन तत्वों का प्रतिपादन किया था। रुय्यक, जयरथ तथा अन्य आचार्यों ने पृथक्-पृथक् अलंकारों के क्षेत्र में इस नवीन मीमांसा की व्याख्या की। तत्संबंधी विकास की चर्चा यथास्थान आगे की जाएगी।

अध्याय 13

दंडी तथा वामन

(रीति-मार्ग)

1

दंडी

कालक्रमानुसार दंडी, भामह के पश्चात् आते हैं और वामन, जो दंडी के पश्चात् हुए हैं, भामह के टीकाकार उद्भट समकालीन थे, किंतु काव्यविद्या में जिस रीतिमार्ग का प्रतिपादन डंडी और वामन ने किया, संभवतः उसकी परंपरा भामह से भी प्राचीन है। भामह ने वैदर्भी तथा गौडी के परस्पर भेद पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इस परस्पर भेद का सर्वप्रथम उल्लेख बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) ने किया है। उनके कथनानुसार गौड लेखक अक्षराडंबर के कारण बदनाम हो चुके थे। दंडी ने भी गौड-मार्ग की निंदा करते हुए इस बात का उल्लेख किया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय अर्थों में मार्ग अथवा रीति शब्द बहुत प्राचीन नहीं है, फिर भी स्वयं दंडी तथा वामन के कथनानुसार इसी प्रकार कुछ सिद्धांत, जिसका प्रतिपादन अपनी रचनाओं में उन्होंने किया है, परंपरागत रूप में विद्यमान था। उन्होंने प्राचीन अज्ञात व्याख्याताओं के तत्संबंधी मत को निर्दिष्ट करने के अतिरिक्त कहीं-कहीं उनके उद्धरण भी दिए हैं।[1] रीति को काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग माननेवाले आचार्यों के मत को यदि रीति-मत का आविर्भाव स्वतंत्र रूप से हुआ और इसका विकास भी पृथक्-रूप में हुआ था। रीति-मत, दीर्घकाल तक, क्रमशः रस, अलंकार अथवा ध्वनि के समर्थक अन्य काव्य-सिद्धांतों का सहवर्ती रहा।

हम पहले यह कह आए हैं कि दंडी किसी हद तक अलंकार-सिद्धांतों से प्रभावित थे, अतएव उनका मत, भामह के अलंकार-सिद्धांत तथा वामन के रीति-सिद्धांत के बीच का है। इनमें संदेह नहीं कि जहाँ तक सिद्धांत का संबंध है, उनका मत स्पष्टतः वामन के मत के अधिक समीप है। वामन के ग्रंथ में

---

1. यथा वामन i.2, 11, 12-13, 3, 15, 21; iii. 1, 9, 25, iv. 1.7 इत्यादि की टीका।

रीति-सिद्धांत पूर्ण शास्त्रीय रूप में विकसित प्रतीत होता है, उसमें उद्भट के विपक्षी अलंकार-सिद्धांत-जैसी अस्पष्टता अथवा अनिश्चितता दृष्टिगोचर नहीं होती। वामन ने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत को संक्षिप्त सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी इस मीमांसा का मूल्य कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि सबसे पहले उन्होंने ही रीति के एक निश्चित सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। ध्वनिकार से पहले काव्यविद्या पर निश्चित रूप में वामन का बड़ा प्रभाव रहा है।

जहाँ तक काव्य-विषयक सामान्य बातों का संबंध है[1] दंडी तथा भामह के विचारों में अधिक भिन्नता नहीं है। काव्यशरीर, अथवा शब्द तथा अर्थ के अलंकरण के संबंध में उनके विचार एक ही हैं। उनका काव्य का सर्ग-बंध इत्यादि का जातिभेद-निरूपण भी लगभग समान ही है।[2] जैसा कि पहले बताया गया है, उल्लेखनीय भेद केवल कथा तथा आख्यायिका के विषय में ही है। दंडी ने उनके एकांतिक भेद को स्वीकार नहीं किया है।[3] काव्य के रूपाश्रित तीन भेद, अर्थात् गद्य, पद्य तथा मिश्र किए गए हैं। भाषा के अनुसार उसके संस्कृत, प्राकृत,

---

1. दंडी के 'काव्यादर्श' में तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः (1) मार्ग-विभाग (2) अर्थालंकार, तथा (3) शब्दालंकार एवं दोषसंबंधित विषयों की चर्चा है। मद्रास सं० में अंतिम विषय अलग से चौथे अध्याय में दिया गया है।

2. पद्य के अंतर्गत दंडी ने सर्गबंध (महाकाव्य), मुक्तक, कुलक (पांच श्लोक) कोश (विभिन्न लेखकों के विविध श्लोक) का तथा संघात (एक ही लेखक के विविध श्लोक) का तथा गद्य के अंतर्गत कथा, आख्यायिका तथा चंपू का उल्लेख किया है। वामन ने गद्य तथा पद्य, दोनों के दो विभाग किए हैं—निबद्ध तथा अनिबद्ध। उनके कथनानुसार पद्य के अनेक रूप अथवा भेद हैं, किन्तु गद्य को उन्होंने तीन भागों में विभक्त किया है, अर्थात् वृत्त गंधि, चूर्ण (दीर्घ-समास से मुक्त तथा मधुर शब्दों से युक्त), तथा उत्कलिका-प्राय, जो चूर्ण का विपरीत होता है (1.3.21-26)।

3. हेमचन्द्र ने कथा के इन भेदों का उल्लेख किया है—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, बृहत्कथा, खंड-कथा, सकला, कथा तथा उपकथा (पृ० 338 इत्यादि)। आनंदवर्धन ने भी अंतिम तीन भेदों को स्वीकार किया है और अभिनव ने उनके लक्षण दिए हैं। अग्निपुराण 337-20 में कथानिका की परिभाषा दी गई है।

अपभ्रंश [1] तथा मिश्र[2] चार भेद हैं। भामह ने उक्त दोनों विभाजनों में 'मिश्र' का ही कहीं उल्लेख नहीं किया है। विभाजन के इन दो सिद्धांतों को मिला देने पर काव्य के चार जातिभेद किए जा सकते हैं, अर्थात् संस्कृत में सर्गबंध (महाकाव्य), प्राकृत में स्कंधक, अपभ्रंश में ओसर तथा मिश्र भाषाओं में नाटक। यहाँ इन सब भेदों की सविस्तर चर्चा आवश्यक नहीं है। अध्याय 1 के श्लोक 39 में काव्य के प्राचीन भेद 'श्रव्य' तथा 'प्रेक्ष्य' का भी उल्लेख है,[3] किंतु सामान्यत: नाट्य-प्रबंधों को लक्षित करनेवाले 'प्रेक्ष्य-काव्य' के विषय में दंडी ने तत्संबंधी विशिष्ट ग्रंथों को निर्दिष्ट किया है।

उपर्युक्त विषयों का निरूपण ही काव्यविद्या का मुख्य विषय रहा है। मत अथवा परंपरा-निरपेक्ष, अधिकांश लेखकों ने अपने-अपने ग्रंथ में न्यूनाधिक इन्हीं बातों को दोहराया है। वामन ने भी अपने ग्रंथ के आरंभिक अध्यायों में, काव्य-विशेष, अर्थात् काव्य के जातिभेद, काव्यांग तथा काव्य-अधिकारी, विषयों का निरूपण किया है, यद्यपि रुद्रट ने भिन्न काव्य-मत का अनुसरण किया है, तथापि उन्होंने अपने ग्रंथ के दो अध्यायों (1 तथा 16) में काव्यविद्या के इन सामान्य विषयों का निरूपण किया है।

क्योंकि दंडी ने अपने ग्रंथ में अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया है, अतएव अलंकार-मत से उनकी सहानुभूति होना स्वाभाविक है। अलंकार-सिद्धांत के अनुसार उनका भी यही मत है कि अच्छा काव्य अलंकार नामक शोभाकरों से

---

1. भामह का 'अपभ्रंश' शब्द से क्या तात्पर्य है, यह ज्ञात नहीं, किंतु दंडी ने इस शब्द का निश्चित अर्थ बताते हुए शास्त्र से भिन्न, काव्य में इसे आभीर इत्यादि लोगों की भाषा कहा है। शास्त्र में संस्कृतेतर सभी भाषाओं को अपभ्रंश से लक्षित किया गया है। नमिसाधु का सूत्रवत् कथन है—"प्राकृतमेव अपभ्रंशः।' हेमचंद्र ने अपभ्रंश का एक अन्य भेद, ग्राम्यापभ्रंश बताया है। भरत के नाट्यशास्त्र xvii. 49 से इसकी तुलना कीजिए। वहाँ स्पष्ट रूप में बताया गया है कि अपभ्रंश एक 'देश-भाषा' न होकर एक 'जाति-भाषा' है। आभीर इस देश में प्राचीन काल से रह रहे हैं, पतंजलि i. 252 में आभीरों का उल्लेख किया गया है। देखिए, इंडियन एंटिक्वेरी, 1918, पृ० 26।
2. काव्य के मिश्र भेद को स्पष्ट रूप में 'नाटकादि तु मिश्रकं' कहा गया है, किंतु इसका तात्पर्य यदि मिश्र भाषा से है, तो यह संभवत: वही है, जिसे अब मिश्रित संस्कृत कहा जाता है।
3. हेमचंद्र ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है, उन्होंने प्रेक्ष्य काव्य के 'पाठ्य' तथा 'गेय' दो भेद बताए हैं।

सुशोभित होना चाहिए। किंतु महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि सभी प्राचीन आचार्यों की तरह दंडी ने भी शोभाकर सिद्धांत का समर्थन किया है, तथापि जहाँ तक शोभाकर साधनों का संबंध है, उनके विचार अन्य आचार्यों से भिन्न हैं। उनका कथन है कि काव्य-मार्ग केवल अलंकारों पर आश्रित है (उन्होंने गुणों को अलंकार नाम से भी निर्दिष्ट किया है)। ये केवल काव्य-गुण, काव्य-शैलियों अथवा मार्गों के मूलभूत तत्व हैं। गुणों की सिद्धि ही काव्य की निष्पत्ति होती है। वास्तव में दंडी मार्ग, जो अधिकांश रूप में वामन के रीति-सिद्धांत के समान है,[1] तथा उसके अंगों अर्थात् गुणों पर अधिक बल दिया है। यही दंडी के ग्रंथ की विशेषता है। अलंकार-सिद्धांत में इन गुणों का कुछ भी महत्व नहीं है। अतएव दंडी ने रीति-मत के सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन किया है। यद्यपि वामन की तरह दंडी ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं कहा है, तथापि उन्होंने इसके साहित्यिक मूल्य को निस्संदेह विशेष महत्व दिया है। यह सच है कि दंडी ने अपने ग्रंथ में कहीं भी रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किंतु पद्धति अथवा शैली का द्योतक, मार्ग शब्द का प्रयोग (i. 9, 40, 42, 67, 75, 101) रीति शब्द का पर्याय माना जा सकता है। उन्होंने काव्य की सामान्य परिभाषा करते हुए काव्य, अथवा काव्य-शरीर को 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' कहा है (i. 10)। इसीलिए सबसे पहले उन्होंने उपयुक्त विचारों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति अथवा शास्त्रीय शब्द, मार्ग अथवा रीति से लक्षित, शब्द तथा अर्थ के उचित काव्यात्मक विन्यास की चर्चा की है। उनका कथन है कि भाषा का मार्ग विचित्र है, (विचित्र-मार्ग, *i.* 9 तथा i. 40), अर्थात् अभिव्यक्ति के अनेक रूप होते हैं। सूक्ष्म भेद के कारण प्रत्येक मार्ग अन्य मार्ग से भिन्न होता है (i. 40), इस प्रकार अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग हो सकते हैं। दंडी ने इन मार्गों के मोटे तौर से दो स्पष्ट भेद किए हैं—'वैदर्भ' तथा 'गौड'। प्रकट रूप में उनके संपूर्ण ग्रंथ में इन्हीं मार्गों का निरूपण किया गया है। उक्त मार्ग भेद दंडी का अपना नहीं है, अपितु किसी प्रामाणिक परंपरा से उद्धृत किया गया प्रतीत होता है, भरत ने काव्य गुणों का तो उल्लेख किया है, मार्ग अथवा रीति का नहीं। भामह ने काव्य के दो भेदों[2] (तथा गणों) का विवेचन अवश्य किया है, किंतु उसमें कुछ अंतर है। उक्त दो मार्गों में दंडी ने वैदर्भ-मार्ग को

1. iii. 1, 12 में वामन ने मार्ग शब्द का भी प्रयोग किया है।
2. भामह ने मार्ग अथवा रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने काव्य के दो भेदों, वैदर्भ तथा गौड, को दो विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित बताया है। भामह के पूर्ववर्ती कवि बाण का कथन है कि विभिन्न प्रदेशों में

श्रेष्ठ कहा है। उनके कथनानुसार दस काव्य-गुणों के मधुर संयोजक से वैदर्भ-मार्ग की प्रतिपत्ति होती है; गौड-मार्ग वैदर्भ के ठीक विपरीत है।

जिन दस काव्य-गुणों को वैदर्भ मार्ग का 'प्राण' कहा गया है और गौड-मार्ग में जिनका अभाव रहता है[1], वे अच्छे काव्य-प्रबंध के लिए आवश्यक हैं। दंडी ने इन्हें इस प्रकार गिनवाया है—

(1) श्लेष —श्लिष्ट शब्दावली, इसका विपर्यय शिथिल है।

(2) प्रसाद —स्पष्टार्थता, व्युत्पन्न इसका विपर्यय है।

(3) समता—वैषम्य इसका विपर्यय है।

(4) माधर्य —मधुरता; माधुर्य में श्रुत्यनुप्रास[2] तथा अग्राम्यत्त्व[3], अर्थात्

विभिन्न काव्य शोभाकर अथवा रूप प्रचलित हैं (हर्षचरित, i. 7)। दंडी का यह कथन कि गौड लेखक, शब्दाडंबर तथा विशिष्ट काव्य-गुणों को श्रेष्ठ मानते हैं, बाण के उपयुक्त कथन के अनुरूप है। वामन के कथनानुसार, रीतियों का नाम प्रदेशों के नाम पर पड़ा। उन प्रदेशों में प्रचलित काव्य-शैलियों का अनुभवाश्रित विश्लेषण किया गया था। जहाँ तक काव्य-गुणों तथा माधुर्य का संबंध है, भामह ने उनका उल्लेख रीतियों से पृथक् किया है। माधुर्य तथा प्रसाद गुणों में समासों का अभाव होता है, किंतु ओज गुण में समास विशेषतया विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार ये काव्य-गुण रुद्रट की काव्य-रीतियों के अनुरूप हैं। भरत ने अच्छे काव्य के दस आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है, रीति के गुणों का नहीं।

1. आचार्य दंडी का कथन है—'एषां (अर्थात दस गुणों का) विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड-वर्त्मनि।' उनके मत से ऐसा लक्षित होता है कि सामान्यतः गौड-मार्ग में विपर्यय होते हैं, दस गुण नहीं होते। 'प्रायः' शब्द महत्वपूर्ण है। प्राचीन टीकाकारों ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है, तरुणवाचस्पति—'प्रायः शब्दः अर्थव्यक्त्यौदार्यसमाध्यादयो गुणा उभयसाधारण इति दर्शयति'। हृदयंगम—'प्रायो ग्रहणं साकल्यनिवृत्त्यर्थं, तेन अर्थव्यक्त्यौदार्यसमाधिगुणा उभयमार्गतुल्य इति गम्यते।' अतएव, कुछ गुण दोनों मार्गों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं।

2. कंठ, तालु, मूर्धा, दंत इत्यादि स्थानों से बोले जानेवाले समस्थानिक अक्षरों के समान शब्द-विन्यास को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। इस प्रकार श्रुत्यनुप्रास वर्णानुप्रास से भिन्न होता है। अनुप्रास के असंख्य भेद हैं। भोज ने (ii. 71 इत्यादि) छह मुख्य भेदों, अर्थात् श्रुति, वृति, वर्ण, पद, नाम-द्विरुक्ति, तथा लाट पर आश्रित अनुप्रास का सूक्ष्म भेद-निरूपण किया गया है।

3. इस परिभाषा के अंतर्गत 'ग्राम्यत्व' तथा 'रस' शब्दों का अर्थ आगे अध्याय iv में दिया गया है।

वाग्-रस तथा वस्तु-रस विद्यमान होता है। माधुर्य का विपर्यय नहीं दिया गया है, किंतु श्रुत्यनुप्रास का 'उल्वण-वर्णावृत्ति' (i. 35)[1] तथा अग्राम्यत्व का विपर्यय 'ग्राम्यत्व' है। दोनों मार्गों में ग्राम्यत्व की निंदा की गई है।

(5) सुकुमारता—सुकुमार शब्दावली, 'निष्ठुर' अथवा 'दीप्त'[2] इसका विपर्यय है।

(6) अर्थव्यक्ति—(यह गुण दोनों मार्गों में समान रूप से स्वीकार किया गया है, इसका विपर्यय है 'नेयत्व' अथवा 'नेयार्थत्व', जिसे दोनों मार्गों ने अस्वीकार किया है)।

(7) उदारत्व—(दोनों मार्गों में मान्य)।

(8) ओज—समस्त पदों का प्रयोग (ओज दोनों मार्गों में समान रूप से मान्य है, वैदर्भ में गद्य को अधिक सरल रखने का प्रयत्न किया जाता है, किंतु गौडीय गद्य तथा पद्य, दोनों में ही ओज का प्राधान्य है, विशेषतया पद्य में दीर्घ समासों का अधिक प्रचलन है।)

(9) कांति, अर्थात् अस्वाभाविकता, अतिशय अथवा विषमता का अभाव। अत्युक्ति इसका विपर्यय है।

(10) समाधि, अर्थात् रूपकाश्रित अभिव्यक्ति (समाधि गुण दोनों मार्गों में मान्य है)।

काव्य-शैलियों के गुणों का उपर्युक्त विवरण, भरत के तत्संबंधी विवेचन से बहुत भिन्न है[3]। यह विवरण न तो व्यापक ही है, और न ही तर्कसंगत। उदाहरणार्थ, अर्थव्यक्ति को प्रसाद के अंतर्गत लिया जा सकता है। उदारत्व तथा कांति की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। दंडी के कथनानुसार इन दोनों का व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार, विशिष्ट शब्द-विन्यास पर आश्रित माधुर्य को एक सूक्ष्म गुण कहा गया है, किंतु इसकी परिभाषा संभव

---

1. वी० राघवन् ने (श्रृंगार-प्र, खंड 2, पृ० 283) इसका अर्थ 'अत्यधिक-उल्वण अनुप्रास' किया है। दंडी तथा वामन के गुणों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्लेषण के संबंध में राघवन् के इसी ग्रंथ के पृ० 283-299 देखिए।

2. दीप्ति से दंडी का तात्पर्य है कृच्छ्रोदय, अर्थात् उच्चारण करने में कठिन।

3. ऊपर देखिए, पृ० 12-15।

नहीं है ।[1] समाधि में भी इसी प्रकार का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्वीकार किया गया है । इसकी परिभाषा के कारण समाधि को रूपक इत्यादि अलंकारों से भिन्न कहना कठिन है (अर्थात् समाधि, रूपक इत्यादि अलंकारों के समान ही है), क्योंकि रूपक में भी उपमान अथवा उसके गुण का अन्य वस्तु पर आरोप होता है । यह संभव है कि दंडी के मत के अनुसार, समाधि-गुण तथा रूपक-अलंकार में परस्पर भेद यह होता है कि गुण (समाधि) में किसी वस्तु के केवल गुण (धर्म) अथवा कर्म का दूसरी वस्तु पर आरोप किया जाता है, जबकि अलंकार में कोई एक धर्मी अन्य धर्मी का स्थान ले लेता है, अथवा नया अथवा एक अन्य धर्म, वर्त्तमान धर्म का स्थान ले लेता है । किंतु आरोप की यह प्रक्रिया वास्तव में आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, जो लक्षणा पर ही आश्रित होता है । वामन के मत में दंडी का समाधि-गुण, 'वक्रोक्ति' अलंकार है, क्योंकि वक्रोक्ति भी समान गुणधर्म के कारण उसी प्रकार के आरोप पर आश्रित होता है ।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि दंडी ने कुछ गुणों को शब्दाश्रित, कुछ को अर्थाश्रित तथा कुछ को शब्द तथा अर्थ, दोनों पर आश्रित कहा है । माधुर्य तथा सुकुमारता मुख्यतः शब्द-गुण हैं । वे विशिष्ट अक्षरों पर आश्रित होते हैं । माधुर्य में शब्दानुप्रास होता है तथा सुकुमारता में सुकुमार अक्षरों का प्रयोग होता है । क्योंकि माधुर्य में ग्राम्यता को लक्षित करनेवाली पदावली का प्रयोग वर्जित है, इसलिए इसे निश्चित रूप में शब्दगुणों नहीं माना जा सकता । दंडी ने अपने परवर्ती आचार्य, वामन, के समान शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों में विशिष्ट भेद नहीं किया है, किंतु जैसा कि उनकी परिभाषाओं से लक्षित होता है, उन्होंने कुछ गुणों, यथा श्लेष, समता, सुकुमारता अथवा ओज को, जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने भी निर्दिष्ट किया है, शब्द-गुण ही माना है । ये सभी गुण शब्दाश्रित होते हैं, और इसी प्रकार माधुर्य इत्यादि गुणों को शब्दार्थ गुण माना है । संभवतः दंडी को इस भेद-निरूपण की अशुद्धता का भान था, फलस्वरूप उनका यह कथन है (i. 101-102) कि गुण-संबंधी मतंवय होते हुए भी, प्रबंध अथवा कलात्मक ग्रंथ के भावात्मक मूल्य के विषय में विभिन्न लेखकों में मतभेद की सदैव संभावना है ।

---

1. दंडी की व्याख्या के अनुसार माधुर्य, शब्द-गुण (i. 53 में उदाहृत) तथा अर्थ-गुण (i. 64 में उदाहृत) दोनों हैं, यद्यपि उन्होंने इनका परस्पर भेद नहीं बताया है (किंतु, (i. 68) के अंतर्गत 'विभक्त' शब्द से तुलना कीजिए) ।

दो विपक्षी मार्गों में संबंधित गुणों के विवेचन के पश्चात् दंडी ने दूसरे अध्याय में अलंकारों का निरूपण किया है। यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि दंडी ने अलंकार शब्द को काव्य के शोभाकारक के सामान्य अर्थ में प्रस्तुत किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते', (ii. 1)। इस निरूपण के अंतर्गत दोनों प्रकार के शोभाकर, गुण तथा अलंकार, सम्मिलित कर लिए गए हैं। पहले अध्याय में वैदर्भ मार्ग के सारभूत गुणों से संबंधित अपने कथन को निर्दिष्ट करते हुए, दंडी ने दूसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में उन गुणों को 'अलंकार' कहा है तथा अलंकारों को 'साधारणमलंकारजातम्' कहा है। अथवा, दूसरे शब्दों में, काव्यात्मक अलंकार दोनों मार्गों में समान होते हैं (साधारण), किंतु गुण-रूपी अलंकार केवल वैदर्भ मार्ग में ही होते हैं। काव्यात्मक अलंकारों के निरूपण के आरंभ में ही दंडी ने इस प्रकार कहा है—(ii. 3) :

'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
साधारणमलंकारजातमद्य प्रदर्श्यते ।।

"मार्गों के विभागार्थ कुछ अलंकारों का पहले कथन किया जा चुका है (पिछले अध्याय में), अब साधारण अलंकारों (जो दोनों मार्गों में साधारण हैं) की चर्चा की जाएगी।" तरुणवाचस्पति ने इस श्लोक पर टीका करते हुए ठीक ही कहा है[1]—"पहले श्लेष इत्यादि दस गुणों का उल्लेख किया गया है। यदि यह कहा जाय कि ये गुण, अलंकार किस प्रकार हैं, तो यह कहा जा सकता है कि अलंकार में शोभाकरत्व लक्षण होता है, क्योंकि ऐसा ही लक्षण गुणों का भी होता है, अतएव गुण भी अलंकार हैं। आचार्यों ने गुणों को वास्तव में अलंकार कहा है। अतएव श्लेषादि गुणात्मज अलंकार मार्ग-प्रभेद प्रदर्शनार्थ बताए गए थे। अब दोनों मार्गों में साधारण अलंकारों का विवेचन किया जाएगा।" यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि दंडी ने 'अलंक्रिया' शब्द को इसी सामान्य अर्थ में तीसरे अध्याय के श्लोक 137 (अथवा मद्रास सं० के चौथे अध्याय के श्लोक

---

1. "पूर्वं श्लेषादयो दश गुणा इत्युक्तम्। कथं तेऽलंकारा उच्यंते इति चेत्, शोभाकरत्वं हि अलंकार-लक्षणं, तल्लक्षणयोगात् तेप्यलंकारा,..........गुणा अलंकार एवं इत्याचार्याः..........ततः श्लेषादयो गुणात्मकालंकाराः पूर्वं मार्गप्रभेदप्रदर्शनाय उक्ताः, इदानीं तु मार्ग-द्वयसाधारण अलंकारा उच्यंते।"

14) में प्रयुक्त किया है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे प्रतीत होता है कि दंडी ने (जैसा कि वामन इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने माना है) गुण तथा अलंकार में किसी मूल भेद का निरूपण नहीं किया है, बल्कि अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में लेते हुए प्रकट रूप में दोनों को अलकार ही माना है। सुंदर काव्य-शैली में गुणों का महत्त्वपूर्ण तथा मुख्य स्थान रहता है, अलंकार अच्छे या बुरे दोनों ही प्रकार के, उस शैली के गौण अंश होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि दंडी का इन दोनों शब्दों का प्रयोग भ्रमास्पद नहीं है। उन्होंने गुण शब्द को केवल शैली की काव्यात्मक श्रेष्ठता के लिए (i. 42, 76, 81, 100) तथा अलंकार शब्द को परंपरागत रूढ़ अर्थ में काव्यात्मक अलंकारों के लिए ही प्रयुक्त किया है (ii. 7, 116, 214, 220 268, 300, 340, 359; iii. 141; ii. 237, 287, 367 में अलंकारता)। इस प्रकार, यद्यपि उन्होंने रीति-मत के अंतर्गत गुण तथा अलंकार का भेद-निरूपण नहीं किया है, किंतु उनके परस्पर भेद का पूर्वसंकेत अवश्य किया है।

दंडी ने दूसरे तथा तीसरे अध्याय में गौण अलंकारों, अर्थात् काव्यात्मक अलंकारों का निरूपण किया है। इन अध्यायों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की चर्चा है। उन्होंने इनके परस्पर भेद का प्रत्यक्ष रूप में कथन नहीं किया है, किंतु यह भेद उनके निरूपण से परिलक्षित होता है। उनके कथनानुसार यमक इत्यादि शब्दालंकार मधुर नहीं होते (नैकांत-मधुरम्)। किंतु अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य, भामह की अपेक्षा उन्होंने इनका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, भामह ने प्रहेलिका[1] को केवल एक श्लोक में निपटा दिया है, किंतु दंडी ने (iii. 96-124) इसकी सोदाहरण सूक्ष्म मीमांसा करते हुए इसके सोलह भेदों का वर्णन किया है। दंडी ने यमक की सविस्तर

---

1. दंडी से पूर्व बाण ने कुछ प्रहेलिका-भेदों का उल्लेख किया है। भामह के एक अस्पष्ट श्लोक में कहा गया है कि अनेकार्थक यमकयुक्त प्रहेलिका का परिश्रम-साध्य प्रबंध होता है, रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' में भी प्रहेलिका के यही लक्षण दिए गए हैं। दंडी ने प्रहेलिका के सोलह भेदों का उल्लेख किया है। दंडी की तरह रुद्रट ने भी प्रहेलिका तथा चित्रबंधों का कुछ विस्तार से विवेचन किया है, किंतु वामन ने इन्हें छोड़ दिया है। बाण तथा माघ ने कुछ चित्रबंधों का उल्लेख किया है। आनंदवर्धन ने चित्रकाव्य नाम से लक्षित करते हुए इनकी निंदा की है। परवर्ती काव्य-विद्या में इनका महत्त्व घट गया। धर्मदास सूरि के 'विदग्ध-मुख-मंडन' जैसे विशिष्ट ग्रंथों में इन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है (1:3-84)

चर्चा की है, तथा गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र नामक क्लिष्ट अलंकारों के परिभाषाओं-सहित उदाहरण दिए हैं।

पर दंडी ने अर्थालंकारों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया है। अध्याय 2 के श्लोक 4-7 में उन्होंने केवल पैंतीस अलंकारों के नाम गिनाए हैं।[1] भामह तथा वामन के विपरीत, दंडी के निरूपण में यह विशेषता है कि उन्होंने इन अलंकारों के बहुत से उपभेदों का उल्लेख किया है; उपमा का उदाहरण विशेष रूप में उल्लेखनीय है। दंडी ने उपमा के बत्तीस उपभेद बताए हैं, परवर्ती लेखकों ने इनमें से कम से कम छह उपभेदों को स्वतंत्र अलंकारों के रूप में स्वीकार किया है। उद्‌भट से भी पहले दंडी ने, अन्य अलंकारों में विशिष्ट सौंदर्य-वर्धक के रूप में श्लेष को निर्दिष्ट किया है (ii. 362)। वे भामह से इस बात में सहमत हैं कि सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति होना अनिवार्य है (ii. 220)। दंडी ने केवल एक बार 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है; स्वभावोक्ति को छोड़कर उन्होंने 'वक्रोक्ति' शब्द को सामूहिक रूप में सभी अलंकारों को लक्षित करने के लिए प्रयुक्त किया है। दंडी के कथनानुसार (जैसा कि ii. 362 में सूचित किया गया है), सभी अलंकारों के दो भेद किए जा सकते हैं, स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति को उन्होंने आद्य अथवा मुख्य अलंकार (आद्या अलंकृति) कहा है। स्वभावोक्ति से उनका तात्पर्य किसी वस्तु के जातिवाचक वर्णन, अथवा किसी क्रिया, गुण अथवा द्रव्य के सामान्य तथा प्रत्यक्ष वर्णन से है।[2] इस प्रकार की स्वभावोक्ति में प्रकट रूप से किसी परिश्रमसाध्य अभिव्यक्ति-वैचित्र्य का समावेश नहीं होता, अतएव स्वभावोक्ति, सामूहिक रूप में वक्रोक्ति पर आश्रित अन्य सभी अलंकारों

---

1. अलंकारों का विवेचन-क्रम इस प्रकार है—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (अथवा लव), यथासंख्य (अथवा संख्यान अथवा क्रम), प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीष, संकीर्ण तथा भाविक। अध्याय 2 के श्लोक 4-7, जिनमें अलंकारों की प्राक्-सूची दी गई है, को प्रक्षिप्तांश कहा गया है, किंतु दूसरे अध्याय में अलंकार-विवेचन मुख्यतः उक्त सूची के अनुरूप ही है।

2. इन शब्दों का अर्थ व्याकरण के संदर्भ में ही अभिप्रेत है, दर्शनशास्त्रीय संदर्भ में नहीं।

से भिन्न होता है।[1] दंडी ने पहली बार आवृत्ति, लेश (व्याजोक्ति अथवा व्याजस्तुति), सूक्ष्म तथा हेतु नामक अलंकारों की परिभाषा की है। उद्भट ने हेतु को अपने काव्यलिंग अलंकार में सम्मिलित किया है। दंडी ने अनन्वय तथा ससंदेह की परिभाषा न देकर उन्हें क्रमशः असाधारणोपमा तथा संशयोपमा कहा है तथा उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को क्रमशः रूपक तथा उत्प्रेक्षा के अंतर्गत माना है। भामह की तरह उन्होंने भी वार्त्ता अलंकार का उल्लेख किया है (i. 85)। भट्टि ने प्रकट रूप में वार्त्ता का उदाहरण तो दिया है, किंतु परवर्ती अलंकार-साहित्य में इसका लोप हो गया, संभवतः इसे स्वभावोक्ति के अंतर्गत ही मान लिया गया। दंडी ने प्रतिवस्तूपमा का स्वतंत्र अलंकार के रूप में कहीं उल्लेख न करके उसे उपमा का ही भेद कहा है; उनका समाहित अलंकार, उद्भट तथा वामन के समाहित से भिन्न है। इन कुछ उदाहरणों से सूचित होता है कि दंडी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य की अपेक्षा अपने ग्रंथ में कई नवीन विचारों को प्रस्तुत किया है। आविष्कारक प्रतिभा, अभिव्यक्ति, स्पष्टता तथा विशिष्ट वैदग्ध्य गुणों से युक्त दंडी ने न केवल अनेक पूर्ववर्ती विचारों में संशोधन किया, बल्कि उन्हें एक नवीन रूप भी दिया।

यहाँ रीति-मत में प्रवर्तित गुण-सिद्धांत के प्रतिरूप, दोष सिद्धांत की संक्षिप्त रूप में समीक्षा करना समीचीन रहेगा। भरत का अनुसरण करते हुए, दंडी ने काव्य के दस दोषों का उल्लेख किया है (iii. 125 इत्यादि, अथवा मद्रास सं० में अध्याय 4) किंतु उनकी दोष-परिभाषाएँ अधिकांशतः भरत से भिन्न हैं। उनके नाम तथा उनका सार-तत्व भरत की उपर्युक्त दोष-सूची से अभिन्न है,[2] एकमात्र अपवाद ग्यारहवाँ दोष, अर्थात्, न्याय-दोष है, जिसे भामह ने तो मान्यता दी है, किंतु दंडी ने अविवेच्य मानते हुए उसकी चर्चा को व्यर्थ बताया

---

1. दंडी के टीकाकारों ने इसी व्याख्या का समर्थन किया है (देखिए मद्रास सं० पृ० 201-2)। 'वक्रोक्ति-जीवित', द्वितीय सं० की भूमिका के पृ० xiv इत्यादि पर इस विषय की चर्चा की जा चुकी है। ऊपर देखिए, पृ० 45 इत्यादि।

2. ऊपर देखिए, पृ० 10-12. Sb. der preuss Akad xxiv. 1922, पृ० 222-3 में जेकबी का लेख देखिए। काव्य-दोषों के विषय में दंडी के मतावलोकन के लिए वी० राघवन् के 'शृंगारप्रकाश' भाग 2, पृ० 234 इत्यादि देखिए।

है और उसे सर्वथा अस्वीकार किया है। किंतु दंडी ने इस दोष के छह उपभेद भामह के अनुसार ही दिए हैं। भामह ने जिन काव्य-दोषों का अपनी दूसरी पुस्तक में उल्लेख किया है, वे सामान्यतः वही दोष (अथवा गुणों के विपर्यय) हैं जिनका, दंडी के कथनानुसार, वैदर्भ-मार्ग में अभाव होता है तथा जो सामान्यतः गौड-मार्ग के लक्षण होते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि दंडी ने स्पष्ट रूप में इनमें से कुछ गुण-विपर्ययों का उल्लेख किया है; वे इस प्रकार हैं—

(1) श्लेष का विपर्यय, शिथिल;

(2) प्रसाद का विपर्यय, व्युत्पन्न;

(3) समता का विपर्यय, वैषम्य;

(4) सुकुमारता का विपर्यय, दीप्त;

(5) कांति का विपर्यय, अत्युक्ति;

(6) अर्थव्यक्ति का विपर्यय, नेयत्व; तथा

(7) माधुर्य का विपर्यय अनाम।

भामह के दस काव्य-दोषों के स्थान पर दंडी ने इन सात काव्य-दोषों का उल्लेख किया है; किंतु दंडी के कथनानुसार उदारत्व तथा समाधि (और संभवतः ओज) नामक गुणों के विपर्यय नहीं होते, क्योंकि ये दोनों गुण दोनों मार्गों में समान हैं। उन्होंने उपमा-दोषों की व्यवस्थित रूप में चर्चा नहीं की है।

सबसे पहले भरत ने यह प्रश्न उठाया था कि काव्य में दोषों का अस्तित्व निश्चित रूप में होता है अथवा वे केवल गुणों के ही विपर्यय होते हैं। दंडी ने इस समस्या का कहीं विवेचन नहीं किया है। भरत के कथनानुसार गुण केवल दोषाभाव की नकारात्मक अवस्था को ही परिलक्षित करते हैं; अर्थात् काव्य में दोषों का निश्चित रूप में अस्तित्व रहता है, दोषों का अस्तित्व ही गुणों के अस्तित्व को परिलक्षित करता है। दंडी के तत्संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भामह का अनुसरण करते हुए, चौथे अध्याय में बाह्य दोषों को निश्चित तत्वों के रूप में ही निर्दिष्ट किया है तथा काव्य के वास्तविक दोषों को वैदर्भ मार्ग के कुछ गुणों के विपर्ययों तथा गौड़-मार्ग के निश्चित लक्षणों के रूप में ही निर्दिष्ट किया है। दो प्रतिपक्षी काव्य-शैलियों के परस्पर भेद का आश्रय लेकर उन्होंने इस विवाद से छुटकारा पाने की कोशिश की है और तथाकथित गुणों को वैदर्भ-मार्ग के लक्षण तथा कुछ तथाकथित दोषों को गौड़-मार्ग के लक्षण बताया है। इधर वामन ने रीति के स्पष्ट सिद्धांत के अनुरूप, भरत के तत्सम्बन्धी मत का विरोध करते हुए गुणों को निश्चित काव्य-तत्व, तथा

दोषों को गुणों का विपर्यय कहा है, जैसा कि स्वय गुणों से परिलक्षित होता है (गुणविपर्ययात्मनो दोषाः, अर्थतस्तदवगमः)। वामन ने यह भी कहा है कि दोषों का निरूपण पृथक् किया जाना चाहिए, ताकि उन्हें भली-भाँति समझा जा सके। उन्होंने इसीलिए दोषों के चार भेद किए हैं—(1) पद-दोष, (2) पदार्थ-दोष, (3) वाक्य-दोष, तथा (4) वाक्यार्थ दोष।[1]

---

1. रुद्रट ने गुणों तथा दोषों को पृथक्-पृथक् तत्वों के रूप में स्वीकार करते हुए एक और ही सिद्धांत के अनुसार दोनों की संख्या तथा उनका जाति-भेद-निरूपण किया है। शब्द तथा अर्थ को काव्य के दो अंग मानते हुए उन्होंने (1) शब्द-दोषों तथा (2) अर्थ-दोषों के रूप में दोषों के दो जाति-भेद बताए हैं। पहली दोष-जाति में ग्यारह दोष हैं, अर्थात् (1) पद-दोष, यथा असमर्थ, अप्रतीक विसंधि, विपरीत-कल्पना, ग्राम्य, अव्युत्पन्न तथा देश्य (7 भेद), (2) वाक्य-दोष, यथा संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ तथा अलंकार (4 भेद)। दूसरी दोष-जाति में चार उपमा-दोषों के अतिरिक्त नौ दोष हैं, यथा अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाध्यत् असंबद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वत, तथा अतिमात्र। रुद्रट ने केवल चार उपमा-दोष ही माने हैं (ii. 24), अर्थात्, सामान्यशब्द-भेद, वैषम्य, असम्भव, तथा अप्रसिद्धि, किंतु भामह ने सात उपमा-दोषों का उल्लेख किया है। (रुद्रट के गुण तथा दोष-संबंधी सामान्य मत के विषय में क्रमशः वी० राघवन का 'श्रृंगार-प्रकाश' भाग 2, पृ० 302 इत्यादि तथा पृ० 239 इत्यादि का अवलोकन कीजिए)। भामह तथा दंडी की तरह रुद्रट का भी यही मत है कि स्थिति-परिवर्त्तन के कारण दोष भी गुण हो जाते हैं। ध्वनि के आचार्यों के आगमन के पश्चात् (गुणों की तरह) दोष, प्रबन्धगत काव्य-रस के आश्रित माने जाने लगे और रस की निष्पत्ति में सहायक अथवा बाधक होना ही उनका लक्षण बताया गया। दोष-सिद्धांत तथा उसके विपर्यय अथवा विपक्षी, गुण-सिद्धांत का विवेचन केवल रस के दृष्टिकोण से ही किया जाने लगा। गुण तथा दोष निरपेक्ष तत्व नहीं रहे, बल्कि उन्हें रस-निष्पत्ति के सापेक्ष लक्षणों के रूप में, अथवा लक्षणाभाव के रूप में स्वीकार किया गया, रस का निरूपण करते हुए इन आचार्यों ने गुणों तथा दोषों को औचित्य-सापेक्ष बताया। दोषों को सामान्यतः 'रसापकर्षक' कहा गया (विश्वनाथ), किंतु विशिष्ट रस-दोषों के भी लक्षण दिए गए तथा उनका निरूपण किया गया। इस प्रश्न का कि दोष, नित्य अथवा अनित्य हैं, (भामह तथा रुद्रट भी इस प्रश्न की चर्चा कर चुके हैं) समाधान इस प्रकार किया गया कि रस-निष्पत्ति में बाधक होने के बदले यदि दोष रस-निष्पत्ति में सहायक हो तो वह भी कभी-कभी गुण हो जाता है। मम्मट तथा अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने पद, वाक्य तथा अर्थ-दोषों के भेद को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने रस-दोषों तथा अलंकार-दोषों का भी उल्लेख किया है। गुणों तथा दोषों के विषय में परवर्ती आचार्यों का यही मत रहा है

2

वामन

दंडी के ग्रंथ की अपेक्षा वामन के ग्रंथ[1] में उपर्युक्त विषयों का अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत निरूपण किया गया है। वास्तव में दंडी के ग्रंथ में जो विषय अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित प्रतीत होते हैं, वामन के ग्रंथ में उन्हें पूर्णतः विकसित रूप में प्रस्तुत किया गया है, अतएव वामन को रीति-मत का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कहा जा सकता है। वामन को काव्य-विधा का प्रथम आचार्य कहा गया है, जिन्होंने ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन से पूर्व, काव्य के एक स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से इस ग्रंथ में कुछ दोष हैं, किंतु कुछ अंशों में यह ग्रंथ अद्वितीय एवं बहुमूल्य है।

काव्य की आत्मा क्या है, आचार्य वामन ने सबसे पहले इस समस्या का बड़े व्यवस्थित रूप में विवेचन किया है। वामन के पूर्ववर्ती लेखकों ने काव्य-शरीर को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया था और इसलिए उन्होंने इस समस्या पर विचार नहीं किया। वामन ने स्पष्ट रूप में कहा है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है (i. 2. 6)। इस आलंकारिक वर्णन की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है (i. 1. 1. की टीका में) कि शब्द तथा अर्थ काव्य के

कि गुणों तथा दोषों के अपने-अपने निश्चित अर्थ होते हैं, यद्यपि यह सच है कि कुछ दोष गुणाभाव तथा कुछ गुण दोषाभाव की अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। दंडी ने चौथे अध्याय में पृथक् रूप से दस ऐसे दोषों का उल्लेख किया है, जो उनके किसी भी गुण के विपर्यय नहीं हैं।

1. प्राचीन सूत्रबद्ध-ग्रंथ-लेखकों में यह प्रथा रही है कि जिन्होंने अपने ग्रंथों को पहले अध्यायों में विभक्त किया है और तत्पश्चात् प्रत्येक अध्याय के अंतर्गत कई अधिकरण दिए हैं। वामन ने इस क्रम के विपरीत, अपने ग्रंथ को पाँच अधिकरणों में विभक्त किया है। प्रत्येक अधिकरण में दो अध्याय हैं (किंतु पहले तथा चौथे अधिकरण में तीन-तीन अध्याय हैं)। इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथ में पाँच अधिकरण तथा बारह अध्याय हैं। अधिकरणों में विषयक्रम इस प्रकार है—(1) शरीर : इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य के अधिकारी, रीति तथा उसके उपभेद, गौण सहायक तथा काव्य-भेदों का निरूपण है, (2) दोष-दर्शन : इसमें प्रबंध-दोषों की चर्चा की गई है, (3) गुण-विवेचन, (4) आलंकारिक : इसमें काव्याश्रित अलंकारों का स्वरूप-निरूपण तथा उदाहरण हैं, (5) प्रायोगिक : इसमें काव्य-प्रयोग का औचित्य, शब्द-शुद्धि (भामह के ग्रंथ के अंतिम अध्याय के अनुसार) इत्यादि विषयों की चर्चा है।

शरीर हैं तथा रीति उसकी आत्मा है ।[1] रीति का लक्षण उन्होंने 'विशिष्ट पद-रचना' बताया है। यह विशिष्ट पद-रचना प्रबंध के विशिष्ट गुणों के आश्रित रहती है। उदाहरण के लिए वामन की प्रस्तावित तीन रीतियों में वैदर्भी में सभी दस गुण होते हैं, गौड़ी में ओज तथा कांति का आधिक्य रहता है तथा पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण होते हैं। वामन ने रीतियों के परस्पर भेदों का इसी प्रकार विवेचन किया है। इन तीन रीतियों में काव्य इस प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं में चित्र प्रतिष्ठित होता है (i. 2. 13 की टीका)। वैदर्भी रीति का स्पष्ट रूप में समर्थन किया गया है, क्योंकि इसमें सभी गुण होते हैं, और प्रत्येक रीति की अपनी-अपनी विशिष्टता है, इसलिए वामन के कथनानुसार, वैदर्भी की सिद्धि के लिए अन्य दो निकृष्ट रीतियों का अभ्यास करना निरर्थक है। वामन की युक्ति है कि अतत्व का अभ्यास करने-वाले को तत्व की सिद्धि नहीं होती। सन के सूत्र बुनने का अभ्यास करनेवाला रेशम के सूत्र बुनने में वैचित्र्य प्राप्त नहीं करता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीन प्रकार की काव्य-रीतियों में वैदर्भी रीति ही पूर्ण अथवा आदर्श रीति है, क्योंकि इसमें सभी काव्यगुणों का समावेश रहता है, जबकि अन्य दो रीतियों में कुछ विशेष गुणों का ही आधिक्य होता है। गौड़ी में ओज तथा कांति-गुणों पर बल दिया गया है, तथा पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य-गुणों पर, गौड़ी शब्दाडंबर में लुप्त हो जाती है तो पांचाली शब्द-विस्तार में। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न रीतियों के नाम देशविशेष पर रखे गए हैं। वामन ने स्पष्ट ही कहा है (i. 2. 10) कि विशेष प्रदेश के कवियों की रचनाओं में विशेष काव्यगुणों के प्रचलन के कारण ही ये नाम रखे गए थे।[2] संभवतः काव्याभिव्यक्ति के विशिष्ट प्रादेशिक रूपों के वस्तुनिष्ठ

---

1. वामन के कथनानुसार गुण तथा अलंकार से अलंकृत शब्द तथा अर्थ ही काव्य है, किंतु भक्त्यार्थ में काव्य शब्द तथा अर्थ मात्र का भी वाचक है। काव्य-शरीर से अन्यत्र (i. 3. 10) उनका तात्पर्य इतिवृत्त अथवा काव्य की विषयवस्तु से है। वामन के प्रथम अधिकरण का शीर्षक शारीर है, किंतु i. 2. 6. की टीका में उन्होंने कहा है कि शारीर शब्द का अर्थ सूत्र में काव्य शब्द के अनुसार ही करना चाहिए, अर्थात् शब्द तथा अर्थमय काव्य ही शरीर है तथा रीति उसकी आत्मा है। रीति के विषय के इतिहास के लिए राघवन के 'सम कान्सेप्ट्स' पृ० 131-72, प्रकाश लाहिरी के 'कान्सेप्ट्स ऑफ़ रीति ऐंड गुण', ढाका विश्वविद्यालय, 1937 का अवलोकन कीजिए।

2. "विदर्भ-गौड-पांचालेषु तत्रत्यैः
कविभिर्यथा-स्वरूपमुपलब्धत्वाद् तत्समाख्या,
न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।"

विश्लेषण के फलस्वरूप ही रीतिमत के विशिष्ट रीति-सिद्धांत का जन्म हुआ। इस शास्त्र के अनुभवजन्य होने का यह एक और प्रमाण है।[1]

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द यद्यपि बहुधा रीति शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, वास्तव में यह शब्द रीति का उपयुक्त पर्याय नहीं है। 'स्टाइल' शब्द में एक स्पष्ट व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन रहता है। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने अर्थ-तत्व को स्वीकार किया है, तथापि गुणों के उपयुक्त संयोग अथवा शब्द तथा अर्थ के विन्यास पर आश्रित वक्ष्यमाण अर्थ के वस्तुनिष्ठ सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही वास्तव में रीति है। इन गुणों के लक्षणों का स्पष्ट रूप में विवेचन किया गया है। यह निस्संदेह स्वीकार किया गया है कि उपयुक्त अर्थ की अभिव्यक्ति उपयुक्त शब्द से की जानी चाहिए; अथवा शब्द का प्रयोग अर्थानुसार होना चाहिए। भरत ने इससे भी एक पग आगे बढ़कर कहा है कि रूपक में अभिव्यक्ति पात्र के गुण तथा प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए। जैसा कि पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत में 'स्टाइल' अथवा शैली को सामान्यतः काव्यात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में माना जाता है, रीति इस प्रकार की शैली नहीं है; रीति तो न्यूनाधिक निश्चित रूढ़ काव्य-गुणों के सुसंयोग से उत्पन्न काव्य-सौंदर्य की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। निस्सन्देह, ये गुण, पद-रचना तथा अर्थ, दोनों में ही परिलक्षित होते हैं, किंतु ये व्यक्तिनिष्ठ तत्व, अनिर्वचनीय व्यक्तित्व पर आश्रित

---

1. उपयुक्त सामग्री के अभाव के कारण यह निश्चित करना कि गौडी तथा वैदर्भी रीतियों के परस्पर भेद का पहली बार निरूपण कब किया गया, असंभव है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बाण ने विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न शैलियों के प्रचलन की बात कही है; कुछ लोगों ने शब्द को महत्त्व दिया, कुछ ने अर्थ को और कुछ ने कल्पना शक्ति के प्रदर्शन को। संभवतः दंडी के समय में शैली-भेद पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। जेकबी ('महाराष्ट्री', पृ० xv) ने यह सुझाव दिया है कि प्राचीन तथा आलंकारिक गौडी के विरोध-स्वरूप अपेक्षाकृत सरल वैदर्भी रीति का विकास हुआ (दंडी ने गौडी की निंदा की है)। हाल की 'सप्तशती' (5वीं शती ई०) में तत्संबंधी उल्लेख के अनुसार संभवतः तीसरी शती ई० में इसका जन्म हुआ था। इसके विपरीत यह युक्ति दी जा सकती है कि अपेक्षाकृत प्राचीन तथा सरल वैदर्भी के विपरीत गौडी शैली काव्य में जटिलता के विकास अथवा काव्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति को लक्षित करती है। परवर्ती संस्कृत काव्य में यह ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती ही गई। तुलना कीजिए, कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृ० 50।

शैली-सौंदर्य का पर्याय नहीं हो सकते। यदि हम शैली के एक अर्वाचीन मीमांसक[1] के शब्द को स्वीकार कर लें तो यह कह सकते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने, शास्त्रीय विधान के रूप में शैली-गत प्रतिभा को स्वीकार किया है, किंतु 'शैली-गत-आत्मा' को नहीं; 'शैलीगत-आत्मा' अव्यक्त होती है; इसलिए आचार्यों ने काव्य की आत्मा का निरूपण न करके उसे मीमांस्य ही रहने दिया।

अतएव, वामन का कथन है कि रीति के निष्पादक गुण काव्य के लिए आवश्यक हैं; रीति काव्य की आत्मा है। इस पर 'एकावली' के लेखक ने आपत्ति की है (पृ० 51) कि एक ओर तो गुणों को काव्य के मुख्य तत्वों के रूप में 'उपस्कार्य' कहा गया है; और दूसरी ओर गुणों को काव्य का 'उपस्कारक' कहा गया है; ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। यह एक सैद्धांतिक विवादमात्र है; इसमें कोई तत्व की बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि गुणों का लक्ष्य 'शब्दार्थयोर्धर्माः' बताया गया है; किंतु टीकाकार के कथनानुसार यह शब्द का लौकिक प्रयोग है, क्योंकि गुण यथार्थतः रीति-निष्ठ ही होते हैं (गुणा वस्तुतो रीति-निष्ठा अपि, उपचारच्छंद-धर्मा इत्युक्तं, पृ० 69 बनारस सं०)। रीति को 'गुणात्मा' कहा गया है। इस पर यह आपत्ति की गई है कि गुणों का स्वयं कोई पृथक् अस्तित्व नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य वामन का उत्तर है कि सहृदय द्वारा गुणों का अस्तित्व सिद्ध है (संवेद्यत्वात्, iii. 1. 26; इसकी टीका इस प्रकार है—सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्), प्रत्येक पाठ में ये गुण विद्यमान नहीं होते, अपितु विशिष्ट लक्षणों के अस्तित्व अथवा अभाव पर ही आश्रित होते हैं (iii. 2. 28 तथा वृत्ति)।

दंडी की तरह वामन ने भी गुणों की संख्या दस बताई है, भरत के समय से लेकर यही संख्या प्रामाणिक मान ली गई प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में वामन ने गुणों का शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों के रूप में भेद-निरूपण करते हुए उनकी संख्या दुगुनी कर दी है और प्रत्येक गुण के शब्द तथा अर्थ पर आश्रित

---

1. वाल्टर पेटर के 'एप्रिसिएशन्ज' नामक ग्रंथ में 'स्टाइल' विषय पर निबन्ध। राघवन ने ('सम कान्सेप्ट्स' पृ० 140) हमारे उपर्युक्त मत का विरोध किया है; इस सम्बन्ध में डेमिट्रियस अथवा अरस्तू के विचारों को उद्धृत करने से कुछ लाभ नहीं; क्योंकि यहाँ चर्चाधीन विषय यूरोपीय श्रेणीगत साहित्य नहीं है, बल्कि वाल्टर पेटर अथवा बेनेडोट क्रोस के अर्वाचीन साहित्य से सम्बन्धित विचारों की चर्चा है। कुंतक ने काव्य को 'कविस्वभाव' अथवा 'कवि-प्रतिभा' पर आश्रित कहा है। स्वयं राघवन ने इस मत को स्वीकार किया है।

दो भेद किए है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक गुण के दो प्रकार हैं और शास्त्रीय रूप में उनका परस्पर भेद वाचक अथवा वाक्य से निर्दिष्ट होता है। वामन ने सबसे पहले क्रमशः शब्द तथा अर्थ पर आश्रित गुणों का निश्चित रूप में वर्गीकरण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि वामन द्वारा विशिष्ट गुणों के स्पष्ट भेद-निरूपण के कारण भरत तथा दंडी के तत्सम्बन्धी लक्षणों में जो अस्पष्टता थी, वह दूर हो गई। यद्यपि कुछ गुणों के स्वरूप अथवा लक्षणों के विषय में वामन तथा पूर्ववर्ती आचार्यों में बहुत भिन्नता है, तथापि उन्होंने समान अथवा सजाति गुणों का बड़ी सावधानी से भेद-निरूपण किया है। निस्सन्देह मुख्य रूप में वामन ने दंडी के न्यूनाधिक अव्यवस्थित सिद्धांत का विकास किया है, किंतु जहाँ तक गुणों के लक्षणों का संबंध है, वे एक दूसरे ही रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, अतएव यह माना जा सकता है कि वामन के तत्संबंधी विचारों का स्रोत दंडी न होकर अन्यत्र है, क्योंकि उन्होंने अपने विवेचन की पुष्टि में अज्ञात स्रोत से श्लोक उद्धृत किए हैं (यथा iii. 1. 9. 25. 2. 15 इत्यादि की टीका में)।

वामन के गुणों को इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

शब्द-गुण	अर्थ-गुण
(1) ओज (गाढ़बंधत्व, यहाँ बंध=पदरचना, iii. 1, 4)	(1) ओज (अर्थस्य प्रौढ़िः)
(2) प्रसाद (शैथिल्य)	(2) प्रसाद (अर्थवैमल्य), अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार, अनुपयोगी परिवर्जनात्।
(3) श्लेष (मसृणत्वं, यस्मिन्सति बहून्यपि पदान्येकवद् भासंते)।	(3) श्लेष (घटना) —अनेकार्थघटना।
(4) समता (मार्गाभेदः, येन मार्गेणोपक्रमस्तस्यात्यागः)।	(4) समता (प्रक्रमाभेदः)।
(5) समाधि (आरोहावरोह-क्रम)।	(5) समाधि (अर्थदृष्टिः समाधिकारणत्वात्)।
(6) माधुर्य (पृथक्-पदत्व), समासदैर्घ्यनिवृत्ति।	(6) माधुर्य उक्ति (वैचित्र्य)
(7) सौकुमार्य (अजरठत्व)	(7) सौकुमार्य (अपारुष्य)

(8) उदारता (यस्मिन्सति नृत्यंतीव पदानि) अर्थात् पद-विच्छेदात् ? (8) उदारता (अग्राम्यत्व)

(9) अर्थव्यक्ति (झटिति-अर्थ-प्रतिपत्ति हेतुत्व)। (9) अर्थव्यक्ति (वस्तुस्वभाव-स्फुटत्व)।

(10) कांति (औज्ज्वल्य)। (10) कांति (दीप्त-रसत्व)।

गुणों की उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना (गणना) से यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन के तत्संबंधी विवेचन तथा भरत अथवा दंडी में निरूपण में पर्याप्त अंतर है। उदाहरण के लिए, वामन का ओज दंडी के श्लेष के अनुरूप है तथा दंडी के माधुर्य गुण के दो भेद कर दिए गए हैं, पृथक्-पदत्व तथा अग्राम्यत्व। वाम्न ने अर्थ-गुण कांति में रस-सिद्धांत को समाविष्ट कर लिया है (भरत के कांति गुण से इसकी तुलना कीजिए) और इस प्रकार इस गुण को काव्य के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है, किंतु दंडी ने इसे काव्य का एक गौण अलंकार माना है। दंडी ने वामन के अर्थ-गुण अर्थ-व्यक्ति को स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण माना है। किंतु यह द्रष्टव्य है कि वामन का गुण-निरूपण दंडी के तत्संबंधी विवेचन से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होते हुए भी संतोषजनक नहीं है। गुणों का बाह्य तथा आभ्यंतरिक, शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित वर्गीकरण कुछ-कुछ पंडिताऊ होने के कारण आपत्तिजनक है और इसलिए परवर्ती आचार्यों ने इसका विरोध किया है।[1] कहीं-कहीं भेद-विवेचन युक्तिसंगत नहीं है। ऐसा संदेह होता है। कि केवल समानता के लिए प्रत्येक प्रकार के दस गुणों के दो भेद किए गए हैं। जहाँ तक विशिष्ट गुणों का सम्बन्ध है, सम्भवतः स्वयं वामन को अपने तत्सम्बन्धी लक्षणों के दोष ज्ञात थे, यद्यपि उन्होंने किसी रूढ़ परम्परा के अनुसार ही दस गुणों की व्याख्या की थी। उदाहरणार्थ, वामन का शब्द-गुण प्रसाद उनके ओज-गुण का ही विपर्यय है। वामन ने स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि प्रसाद-गुण तभी होता है, जब वह ओज गुण के साथ रहता है; कि प्रसाद स्वयं कोई गुण नहीं है; पृथक् रूप में विद्यमान होने पर प्रसाद स्पष्ट रूप में एक दोष ही होता है। इस प्रकार के दो विरोधी गुणों का एकत्र संयोग नहीं हो सकता, यदि यह आपत्ति की जाए तो उसके प्रति वामन का उत्तर है कि इस प्रकार का संयोग

---

1. यथा मम्मट, अध्याय 8; हेमचंद्र, पृ० 195-200; माणिक्यचंद्र, पृ० 191 इत्यादि, जगन्नाथ, पृ० 69 इत्यादि।

तो साधारण है। मम्मट ने वामन के श्लेष गुण को एक पृथक् अथवा स्वतंत्र गुण नहीं माना है, क्योंकि यह ओज का ही एक विशिष्ट रूप है। इसी प्रकार परवर्ती आचार्यों ने सौकुमार्य गुण को भी स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि यह निष्ठुर दोष का उसी प्रकार विपर्यय है, जिस प्रकार वामन का उदारता गुण ग्राम्यत्व का विपर्यय है। वामन का अर्थ-गुण समाधि, दंडी के समाधि से भिन्न है, किंतु यह कोई गुण नहीं है। समाधि का लक्षण है—दिष्ट अथवा मूल अर्थ की प्रतिपत्ति; किंतु यह गुण तो प्रत्येक काव्य-प्रबंध में विद्यमान रहता है; और फिर ऐसा कौन-सा काव्य है, जिसकी अर्थ-प्रतिपत्ति न हो सके ? मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने वामन के गुण-विषयक निरूपण पर इसी प्रकार की आपत्तियाँ की हैं। उनके मतानुसार गुणों का इस प्रकार तथा इतनी संख्या में भेद-निरूपण करना अनावश्यक है। उन्होंने काव्य-गुणों को प्रबंधगत मुख्य रस के शोभाकरों के रूप में स्वीकार करते हुए मनोवैज्ञानिक आधार पर उनके तीन मुख्य जातिभेद किए हैं, वे हैं ओज, प्रसाद तथा माधुर्य।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रीति-सिद्धांत में कुछ गुणों से वह काम लिया गया है, जो अन्य सिद्धांतों में काव्यात्मक अलंकारों से लिया गया है। वामन का अर्थ-गुण कांति, अलंकार-सिद्धांत के रसवत्-जैसे अलंकारों के अनुरूप है;[1] तथा किन्हीं स्थलों पर दंडी का समाधि गुण, रूपक तथा सजातीय अलंकारों का पर्याय हो सकता है। वामन का अर्थ-गुण अर्थ-व्यक्ति दंडी का स्वभावोक्ति अलंकार ही है; और हेमचंद्र के कथनानुसार, दंडी का कांति गुण केवल अतिशयोक्ति अलंकार की सीमा को ही परिलक्षित करता है (सेयमतिशयोक्तेर्यंत्रणा, न पुनर्गुणांतरम्)। अलंकार-सिद्धांत के परवर्त्ती आचार्यों ने भामह के वक्रोक्ति अलंकार के आधार पर किस प्रकार 'उक्ति-वैचित्र्य' को सभी प्रकार की आलंकारिक अभिव्यक्ति के मूल सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया, यह आगे बताया जाएगा; किंतु वामन ने अर्थ-गुण माधुर्य का जो लक्षण बताया है, उसके अनुसार उक्ति-वैचित्र्य एक गुण ही है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे तथा हेमचंद्र (पृ० 195-200) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 191 इत्यादि) की गुणविषयक विस्तृत समीक्षा से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि रीति-मत के आचार्यों, विशेषतया दंडी तथा वामन के मतानुयायियों में गुणों के लक्षणों तथा उनके जाति-भेद-निरूपण के विषय में बड़ा

1. वामन ने इसी कारण अलंकार के रूप में रसवत् का लक्षण नहीं दिया है।

मतभेद है; उनका गुण-स्वरूप-निरूपण विवादास्पद है। इसके विपरीत, भरत के गुण-लक्षण दंडी अथवा वामन के गुण-लक्षणों के अनुरूप नहीं हैं। उदाहरणार्थ, भरत के ओज गुण का लक्षण ओजपूर्ण समस्त पद प्रयोग है, जो दंडी के ओज गुण के अनुरूप है, किंतु हेमचंद्र के कथनानुसार निम्नकोटि के अथवा घृणास्पद विषय का ओजस्वी वर्णन ही ओज है। भरत का प्रसाद गुण, जो दंडी के समाधि के अनुरूप है, केवल आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक रूप है, जिसे वामन ने वक्रोक्ति अलंकार के अपने विचित्र लक्षण के अंतर्गत समाविष्ट किया है, परवर्ती आचार्यों ने इसे लक्षणा अथवा उपचार नाम से निर्दिष्ट किया है। भरत के उदार गुण तथा वामन के उदारता में बड़ा अंतर है। भरत के उदार में रसों तथा भावों का समावेश है, किंतु वामन के उदारता में नहीं है, यह गुण आंशिक रूप में वामन के अर्थ-गुण कांति के अनुरूप है। इस प्रकार की अल्प-त्रुटियों के बावजूद, ऐसा प्रतीत होता है कि वामन ने भरत के गुण-सिद्धांत का पूर्ण रूप में विस्तार किया है। इस विषय में, विशिष्ट गुणों के स्वरूप-विवेचन में प्राचीन आचार्यों में परस्पर मतभेद होना स्वाभाविक ही था। उनके सूक्ष्म विवेचन के बावजूद सिद्धांत अस्पष्ट तथा असंतोषजनक ही रहा। इसका कारण यह था कि आद्य आचार्यों ने अल्पसंख्यक जातियों का समुचित सीमा में ही प्रबंधगत सभी काव्य-गुणों को निर्धारित करने का निष्फल प्रयत्न किया था। इन काव्य-गुणों की व्याख्या करने में उन्होने बड़ी कुशलता दिखाई, किंतु इस विषय में वे पूर्णतया एकमत न हो सकें, यह स्वाभाविक ही था।

गुण-सिद्धांत की समीक्षा करते हुए हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने मंगल नामक एक आचार्य के मत का उल्लेख किया है।[1] ऐसा कहा गया है कि मंगल का ओज गुण का लक्षण भरत के लक्षण के अनुरूप है तथा वामन की तरह मंगल का भी यही कथन हैं कि दंडी ने ओज को गौडी रीति का विशिष्ट गुण कहा है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि यह गुण तो सभी रीतियो में साधारण रूप से विद्यमान रहता है। राजशेखर ही एक अन्य आचार्य हैं, जिन्होने मंगल का उल्लेख किया है। उन्होंने मंगल के कुछ मतों का उल्लेख किया है, जो अधिकांश रूप में वामन के तत्संबंधी विचारों के अनुरूप हैं। राजशेखर ने पृ० 14 पर मंगल की एक उक्ति को उद्धृत किया है, जो किंचिद् भिन्न रूप में वामन i.2.1 में मिलती है। राजशेखर के इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मंगल

---

1. **स्वयं वामन ने कुछ ऐसे अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें विभिन्न शब्द-गुणों के प्राचीन लक्षण दिए गए हैं (iii. 1, 25 की व्याख्या में)।**

यदि वामन के पूर्ववर्ती नहीं थे तो यह सम्भव है कि वह वामन-मत के ही अनुयायी थे। इसमें सम्देह नहीं कि वामन द्वारा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किए जाने से पूर्व यह सिद्धांत विद्यमान था। वामन ने उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप बहुत-से लोग इस सिद्धांत के समर्थक बन गए। यही कारण है कि राजशेखर, हेमचंद्र तथा जयरथ-जैसे परवर्ती विख्यात लेखकों ने वामनीय मत के उद्धरणों का उसी प्रकार सादर उल्लेख किया है, जिस प्रकार उन्होंने वामन के समकालीन तथा प्रतिपक्षी, उद्भट के मतानुयायी, औद्भटों के उद्धरणों का उल्लेख किया है।

गुण-विवेचन के पश्चात् वामन ने काव्य के गौण तत्त्वों के रूप में अलंकारों की चर्चा की है। वामन ने सबसे पहले गुणों तथा अलंकारों के परस्पर भेद का निश्चित रूप से विवेचन किया है, भामह ने इस विषय पर कुछ ध्यान नहीं दिया। दंडी ने उनके परस्पर भेद को स्वीकार नहीं किया, और ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट ने उनमें कोई भेद ही नहीं माना है।[1] निस्सन्देह, वामन ने आरंभ में ही कहा है कि काव्य में अलंकार ग्राह्य है, किंतु अलंकार से उनका अर्थ अथवा तात्पर्य सीमित काव्याश्रित अलंकार से नहीं, बल्कि मुख्यतः काव्यगत सौंदर्य से है (काव्य ग्राह्यमलंकारात्, सौंदर्यमलंकारः)। वामन ने यह भी कहा है कि अलंकार शब्द कारण-व्युत्पत्ति से ही उपमादि काव्याश्रित अलंकारों में प्रयुक्त होता है (अलंकृतिरलंकारः, कारणव्युत्पत्या पुनरलंकार-शब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते)। इस विषय में वामन ने प्रकट रूप से दंडी के तत्सम्बन्धी मत की पुष्टि की है, किंतु उन्होंने अलंकारों के अस्तित्व को आवश्यक नहीं माना है। वामन के मतानुसार, सौंदर्य के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है (यहाँ सौंदर्य, अलंकार का व्यापक अर्थ है)। वामन ने सौंदर्य का लक्षण नहीं दिया है, किन्हीं अंशों में सौंदर्य अविवेच्य भी है।[2] रीति तथा रीति के अंग अर्थात् गुण, इस काव्य-सौंदर्य का निष्पत्ति में अनिवार्य होते हैं, काव्याश्रित अलंकार गौण सहायक के रूप में इस सौंदर्य का परिवर्धन करते हैं। काव्य के शास्त्रीय सिद्धांत के अंतर्गत गुणों तथा अलंकारों का क्या स्थान है और उनमें परस्पर क्या भेद है, दंडी ने इसका संकेत मात्र ही किया था, किंतु वामन ने सबसे

---

1. 'ध्वन्यालोक' में गुण तथा अलंकार के परस्पर भेद की स्थापना की गई है।
2. वामन ने केवल यही कहा है कि दोषों के परिहार तथा गुणों एवं अलंकारों के प्रयोग से इस सौंदर्य की निष्पत्ति होती है (स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्)।

पहले इस विषय का पूर्ण रूप से विवेचन किया है (iii. 1. 1-3)। क्योंकि गुण, रीति के आवश्यक अंग हैं, अतएव उनका लक्षण काव्य-शोभाकर बताया गया है (काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्माः)—दंडी ने गुण तथा अलंकार, दोनों को काव्य-शोभाकर कहा है—किंतु अलंकार ऐसे शोभाकर हैं, जो विद्यमान शोभा अथवा सौंदर्य का परिवर्धन करते हैं (तदतिशयहेतवः)। गुण नित्य कहे गए हैं, इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार अनित्य हैं (पुनरलंकारा अनित्या इति गम्यते एवं, कामधेनु टीका, पृ० 71) क्योंकि अलंकारों के बिना काव्य में शोभा का अस्तित्व सम्भव है, किंतु गुणों के बिना शोभा की उपपत्ति नहीं हो सकती (तैर्विना काव्य-शोभानुपपत्तेः)। दूसरे शब्दों में, गुणों का काव्य से समवाय सम्बन्ध है (देखिए, कामधेनु, (iii.1. 4 की टीका) तथा अलंकार का संयोग सम्बन्ध है। संयोग-सम्बन्ध केवल आनुषंगिक बताया गया है, जबकि समवाय-सम्बन्ध, अभिन्न अथवा नित्य-सम्बन्ध होता है।[1] आलंकारिक भाषा में, गुण, काव्य की आत्मा (अर्थात् रीति) पर आश्रित होती है, जबकि अलंकार केवल काव्य के शरीर (अर्थात् शब्द तथा अर्थ) पर आश्रित होता है। गुण के बिना अलंकार, अपने आप में काव्य का शोभाकर नहीं बन पाता, किंतु अलंकार के बिना गुण, काव्य का निरपेक्ष शोभाकर हो सकता है। तथापि वामन ने काव्य के एक अंग के रूप में अलंकार के अस्तित्व का तथा अलंकार-युक्त काव्य का समर्थन किया है आनंदवधन ने भी इस प्रकार के अलंकाराश्रित काव्य को स्वीकार तो किया। किंतु उसका ठीक तरह विवेचन नहीं किया है। आनंदवर्धन के मतानुयायी, रुय्यक ने ही इस विषय का विशद विवेचन किया है, किंतु इसकी प्रेरणा उन्हें वक्रोक्तिजीवितकार से ही प्राप्त हुई है।

काव्याश्रित अलंकारों के निरूपण की साधारण रूपरेखा तथा विशिष्ट अलंकारों के लक्षण, कुछ अंशों में, वामन के अपने ही हैं। वामन ही एक ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने अलंकारों की न्यूनतम संख्या का निरूपण किया है।[2]

---

1. मम्मट ने viii. 470 पर इस पर आलोचना की। उनका कथन है कि ओज-जैसे गुणों तथा अनुप्रास और उपमा-जैसे अलंकारों की समवाय-स्थिति होती है।

2. निरूपण-क्रम इस प्रकार है—यमक, अनुप्रास, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, ससंदेह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक,

उन्होंने केवल दो प्रकार के शब्दालंकार; अर्थात् यमक तथा अनुप्रास स्वीकार किए हैं। अर्थालंकार, के विषय में उनका सामान्य कथन है कि सभी अलंकार उपमा-गर्भित होते हैं, उपमा-सापेक्ष होने के कारण उन्हें सामूहिक रूप से 'उपमाप्रपंच' नाम दिया गया है।[1] अन्य अलंकारों में उपमा का महत्त्व भामह के समय से ही स्वीकार कर लिया गया था, फलस्वरूप, संस्कृत अलंकार-शास्त्र के अधिकतर ग्रंथों के आरंभ में ही उपमा को सदैव प्रमुख स्थान दिया जाता रहा है।[2] परवर्ती लेखकों ने जिन अलंकारों को सामूहिक रूप से 'सादृश्यमूल' अथवा 'औपम्य-गर्भ' कहा है वे उपमा-मूलक ही हैं, किंतु वामन ने सभी अलंकारों को उपमाश्रित अथवा उपमानउपमेयाश्रित मानकर उनका निरूपण किया है। इस मूल अभ्युपगम के कारण वामन ने अलंकारों के जो लक्षण दिए हैं, वे अन्य लेखकों से बहुत भिन्न हैं, उन्होंने पर्यायोक्त, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म-जैसे अलंकारों को अलंकार न मानते हुए उनके लक्षण नहीं किए हैं। उन्होंने वक्रोक्ति अलंकार को आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक प्रकार कहा है। वामन का विशेषोक्ति जगन्नाथ के रूपक के अनुरूप है तथा आक्षेप अलंकार कुछ परवर्ती लेखकों के प्रतीप अथवा समासोक्ति के अनुरूप है। वामन के कथनानुसार, स्वधर्म आरोपणार्थ, समानगुण वस्तु द्वारा एक वस्तु का गोपन, अपह्नुति अलंकार होना है, दूसरे शब्दों में, उपमेय के गुण धर्म का निषेध होकर उसके स्थान पर उपमान का प्रतिष्ठापन कर दिया जाता है। दंडी का कथन है कि किसी वस्तु का पहले निषेध तथा उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु का आगम एक ऐसा अलंकार है, जिसका औपम्याश्रित होना आवश्यक नहीं है, दंडी के इस मत का अनुसरण करते हुए कुछ परवर्ती

अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित तथा संसृष्टि (उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव-सहित) —संसृष्टि-रहित 30 अलंकार।

1. टीकाकार की व्याख्या इस प्रकार है—
प्रतिवस्तु-प्रमुखानामलंकाराणामुपमागर्भत्वादुपमाप्रपंच इति व्यपदेशः कृतः (iv. 3.1 की टीका)।

2. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणालंकार-बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा, रुय्यक पृ० 273. सादृश्यविच्छित्ति-विशेष रूपक-दीपिकाद्यनेकालंकार-बीजतयोपमायाः प्रथमं निरूपणम्। मल्लिनाथ, पृ० 195. यद्यपि सभी अलंकारों में उपमा का होना आवश्यक नहीं है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वामन ने केवल उन्हीं अलंकारों को स्वीकार किया है. जो उपमाश्रित है, क्योंकि उपमा से वे और भी सुंदर हो जाते हैं।

लेखकों (यथा, विश्वनाथ) ने अपह्नुति का एक दूसरा भेद भी बताया है, जिसमें कोई भी गम्यमान औपम्य नहीं होता हैं।[1]

3

रीति-मत के प्रमुख आचार्यों के विचारों की संक्षिप्त चर्चा से यह सूचित होता है कि कई अंशों में अलंकार-सिद्धांत की अपेक्षा रीति-सिद्धांत में बड़ी प्रगति हुई है। इन दोनों सिद्धांतों में कई विषय तो साधारण हैं; किंतु शास्त्रीय अथवा दार्शनिक प्रकार के नीरस ग्रंथों से सर्वथा भिन्न, काव्य के लक्षण के रूप में, रीति-मत में रीति-सिद्धांत का स्पष्ट शब्दों में स्वरूप-निरूपण किया गया तथा सबसे पहले, काव्य-सौंदर्य क्या है, इस समस्या (भामह के वक्रोक्ति-सिद्धांत में इस समस्या का संकेतमात्र ही किया गया है) को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त इसका विवेचन भी किया गया, और इस प्रकार विच्छित्ति-(अथवा उक्तिवैचित्र्य) सिद्धांत का पूर्व-संकेत किया गया, जिसका आचार्य कुंतक तथा अलंकार-सिद्धांत के अन्य समर्थकों ने बाद में विकास किया था। ध्वनिकार ने पहली बार काव्य के वास्तविक स्वरूप के लिए रीति-मत की अप्रत्यक्ष रूप में प्रशंसा की है। यद्यपि यह निरूपण स्पष्ट नहीं है; किंतु ध्वनिकार रीति के विचित्र सिद्धांत से सहमत नहीं है। अलंकार-मत की अपेक्षा रीति-मत में काव्य के आवश्यक लक्षणों के अंतर्गत रस को भी मान्यता दी गई है (कांति में अर्थगुण के रूप में)। वामन रूपक के पक्षपाती थे, उन्होंने रूपक को प्रबंध का उत्तम रूप मानते हुए उसे काव्य के अन्य रूपों का स्रोत भी माना है (i. 3. 30-32)। क्योंकि रस-सिद्धांत के आचार्य रूपक में रस के मौलिक महत्त्व का निरूपण कर चुके थे, इसलिए वामन ने भी रस के महत्त्व का अनुभव करते हुए उसे काव्य का एक आवश्यक लक्षण मान लिया (iii. 2, 15 तथा वृत्ति)। संभवतः उन्होंने अपने काव्य के लक्षण को इसलिए इतना व्यापक बनाया, ताकि उसके अंतर्गत ऐसा काव्य भी आ सके, जिसमें रस का परिपाक नहीं होता। 'काव्य-शोभा', जिसे संभवतः उन्होंने दंडी से उद्धृत किया है (ii. 1) अथवा उसका पर्याय, सौंदर्य, सभी प्रकार के काव्य का चरम निकष है; वामन के मतानुसार काव्य का यह सौंदर्य-सिद्धांत तत्संबंधी सामान्य बुद्धि के अनुरूप है, मुख्यतः तथाकथित काव्य-गुणों के प्रयोग से दोष-मुक्त तथा आनुषंगिक रूप से काव्य के शोभावर्धक अलंकारों से युक्त, सुव्यवस्थित काव्य-शैली से ही उक्त सौंदर्य की निष्पत्ति होती है।

---

1. इसकी उद्योत से तुलना कीजिए, चंद्रोरकर सं०, पृ० 39।

यद्यपि वामन ने रीति-सिद्धांत को बड़े युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया और उनके मतानुयायियों ने इसका समर्थन भी किया, तथापि यह सिद्धांत बहुत प्रभावशाली न हो सका; इसका अस्तित्व अपेक्षाकृत अल्पकालीन ही रहा।[1] इसमें सन्देह नहीं कि रस तथा अलंकार के सिद्धांतों की तरह परवर्ती काव्य-सिद्धांत रीति से प्रभावित रहे, किंतु वामन के पश्चात् परवर्ती लेखकों में किसी ने भी रीति का समर्थन नहीं किया, और न ही इसे किसी आचार्य ने निर्विवाद रूप में स्वीकार किया। आनंदवर्धन के समय से रीति के सामान्य सिद्धांत की निंदा तथा कटु आलोचना की जाने लगी और रीति को काव्य-स्वरूप का अत्यन्त भोंडा निरूपण बताया गया। अर्वाचीनतम मत के प्रमुख आचार्य मम्मट ने रीति का बड़ी कुशलता से विरोध करते हुए वामन के मुख्य विचारों का निराकरण किया है।

यह द्रष्टव्य है कि परवर्ती आचार्यों ने रीति मत के कुछ मोटे-मोटे सिद्धांतों को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी है। काव्य-विद्या में रीति अथवा शैली का महत्त्व निश्चित रूप में प्रतिष्ठित तो हो गया, किंतु इसमें भारी परिवर्तन किए गए। ध्वनि-मत ने इसे रस-ध्वनि के निष्पादक के रूप में स्वीकार कर लिया, ध्वनि-निष्पत्ति के लिए शब्द अथवा अक्षर-विन्यास को ही रीति का मुख्य लक्षण मान लिया गया।[2] इस परिवर्तन के कारण रीतियों के भेद-विवेचन की चर्चा के महत्व में कमी हो जाना स्वाभाविक था। वामन की तीन रीतियों को 'ध्वन्यालोक' के लेखकों ने अपने तीन गुणों का पर्याय मान लिया, किंतु परिवर्ती आचार्य रीति के सिद्धांत में थोड़ी-बहुत रुचि लेते ही रहे। ऐसे लेखक, जिन्होंने रीति-मत अथवा ध्वनि-मत में से किसी का भी समर्थन नहीं किया है, उन्होंने भी इस विषय पर काफी ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों के अतिरिक्त लाटी का भी उल्लेख किया है, यद्यपि रीति से रुद्रट का तात्पर्य समस्त पदावली का निश्चित प्रयोग है। अग्निपुराण में इस चतुर्धा भेद-निरूपण को स्वीकार

---

1. वामन के एक टीकाकार, सहदेव, का कथन है कि वामन के ग्रन्थ का प्रचलन नहीं रहा तथा भट्ट मुकुल ने वामन के ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त करके वामन की परम्परा का पुनरुद्धार किया था (!)। गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में 'काव्य-मीमांसा' सं० के पृ० 5 पर टिप्पणी देखिए।
2. वर्ण-संघटना, धर्मत्व, आनन्दवर्धन, पृ० 5, अध्याय 2, श्लोक 8-11 भी देखिए।

किया गया है, किंतु रीति-भेद, वाक्य के छोटे अथवा बड़े होने के अतिरिक्त सौकुमार्य गुण तथा आलंकारिक उपचार के आधिक्य पर भी आश्रित रहता है। भोज ने अग्नि-पुराण की चार प्रकार की रीतियों में दो और रीतियों, अर्थात् मागधी तथा अवंतिका का उल्लेख करके रीतियों की संख्या में और भी वृद्धि कर दी। मागधी शैली, वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्ती शैली है तथा अवंतिका केवल खंड-रीति, अर्थात् विकृत अथवा अपूर्ण रीति है। राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रंथ में वामन की ही तीन रीतियों का उल्लेख किया है, किंतु अपनी 'कर्पूरमंजरी' में उसने 'वच्छोमि' (वत्सगुल्म से)[1], 'माअही' (मागधी) तथा 'पंचालिआ' (पांचाली) नामक तीन रीतियों का उल्लेख किया है। ज्येष्ठ वाग्भट ने केवल दो रीतियों, पांचाली तथा लाटीया का उल्लेख किया है। पांचाली में कुछ समस्त पद होते हैं, किंतु लाटीया में नहीं। किन्तु कनिष्ठ वाग्भट ने वामन की तीन रीतियों को स्वीकार करते हुए, माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के आधार पर उनका वर्गीकरण अथवा रूप-भेद किया है। मम्मट के समय से इन्हीं तीन गुणों को प्रामाणिक माना गया था। ध्वनिकार ने इस विषय की चर्चा नहीं की है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन ने उद्भट की तीन वृत्तियों तथा वामन की तीन रीतियों को समक्षेत्रीय कहा है, इस सम्बन्ध में मम्मट का कथन इस प्रकार है—'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पांचाल्याख्या रीतयो मताः'।[2]

---

1. विदर्भ में, वास्तव में यह वैदर्भी ही है।
2. किंतु सैद्धांतिक रूप से वृत्ति तथा रीति के परस्पर भेद भी सदैव स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ में वृत्तियाँ, नाट्य-प्रबन्ध की विभिन्न शैलियाँ थीं (भरत iii. 25), उद्भट ने उन्हें अनुप्रास के भेद माना है (i. 4 इत्यादि)। क्योंकि विभिन्न रसों के निष्पादक (अभिनवगुप्त के कथनानुसार, 'लोचन' पृ० 5-6), उपयुक्त विचारों की अभिव्यक्ति, विशिष्ट अक्षरसंघटना अर्थात् अनुप्रास पर ही निर्भर होती है; अतएव, रुय्यक का कथन है—'वृत्तिस्तु रस-विषयो व्यापारः, तद्वती पुनर्वर्णरचनेह वृत्तिः,' पृ० 20-21. इसके विपरीत, अधिकांशतः, प्रबन्ध के विभिन्न गुणों का वस्तुनिष्ठ समंजन ही रीति है, यद्यपि इसमें अर्थ को भी महत्त्व प्राप्त है। अक्षर-संघटना से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव तथा उस संघटना का निर्दिश्यमान अर्थ ही वृत्ति का विषय होता है। एक ही रीति अनेक वृत्तियों का कारण हो सकती है और विभिन्न रीतियों में एक ही वृत्ति हो सकती है, यद्यपि आचार्यों ने समानता रखने के लिए प्रत्येक रीति की पृथक् वृत्ति निर्दिष्ट की है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट रूप में नाट्य-वृत्ति तथा काव्य-वृत्ति के

अभिनवगुप्त के मत में (पृष्ठ 6) वामन की तीन रीतियां गुणों के विशिष्ट संयोग से क्रमशः उदात्त, कोमल तथा मध्यवर्ती विषयों को परिलक्षित करती हैं, किंतु इन रीतियों तथा उद्‌भव की वृत्तियों का गुणों तथा अलंकारों से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। अतएव रीति की अपेक्षा गुणों तथा अलंकारों पर अधिक ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वामन के मतानुसार वे रीति के ही अंग हैं। रीति को केवल रस की निष्पत्ति में सहायक विशिष्ट पदविन्यास अथवा वर्ण-संघटन के रूप में ही स्वीकार किया गया है। सामान्य अलंकारात्मक कल्पना के अनुसार रीति का रस से वही संबंध है, जो शरीर का आत्मा से है (पद-संघटना रीतिसंस्थाविशेषवत् । उपकर्त्री रसादीनाम्, विश्वनाथ ix)। इसका तात्पर्य यह है कि गुण तथा अलंकार रीति के पोषक न होकर रस के पोषक हैं, क्योंकि परवर्ती काव्य-सिद्धांतों में रस को काव्य के एक मूल अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि आनंदवर्धन के मतानुसार (पश्चात्) गुणों को प्रबन्ध में रस के (रीति के नहीं, जैसा कि वामन ने कहा है) अभिन्न अंग तथा उत्कर्षहेतु मान लिया गया है (अंगिनो रसस्य उत्कर्षहेवतः अचल स्थितयो गुणाः, मम्मट, vii. 1)। इसके विपरीत, काव्याश्रित अलंकार केवल काव्य शक्ति, अर्थात् शब्द तथा अर्थ के गुणधर्म होते हैं[1] और आनुषंगिक रूप में रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं (वही viii. 2)। काव्य-सौंदर्य

परस्पर भेद का उल्लेख किया है, उनका कथन है कि नाट्य-वृत्ति अर्थाश्रित होती है तथा काव्य-वृत्ति पर आश्रित होती है—'वाच्याश्रया यो व्यवहारस्ता एताः कौशिकाद्यावृत्तयः, वाचकाश्रयश्चोपनागरिकाद्याः।' प्रबन्धगत रसादि तात्पर्य से वे नाट्य तथा काव्य की शोभा को बढ़ाती हैं—'वृत्तयो हि रसादि-तात्पर्येण सन्निविष्टः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहति' पृ० 182. राजशेखर ने (काव्यमीमांसा, पृ० 9) एक लघूक्ति में इनके परस्पर भेद को व्यक्त किया है, यद्यपि उनका कथन शुद्ध नहीं है—'तत्र वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलास-विन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यास-क्रमो रीतिः। वृत्ति के विषय की सामान्य चर्चा के लिए राघवन का 'सम कान्सेप्ट्स' पृ० 182-93 तथा 'शृंगार प्रकाश' पृ० 196-215 देखिए।

1. जैसा कि आगे बताया जाएगा, मम्मट ने गुण को रस का अंग माना है. यदि गुणों को शब्द तथा अर्थ का अंग कहा जाता है तो यह केवल उपचार कथन ही है (उपचारेण), किंतु जगन्नाथ ने (पृ० 33-35) वामन के प्राचीन मत को आधार मानकर उक्त कथन का विरोध किया है और कहा है कि यह प्रयोग अलंकाराश्रित नहीं है।

के विषय में वामन के मत को स्वतः सिद्ध माना गया है, किंतु परवर्ती काव्य सिद्धांतों में यह मत, सभी प्रकार की आलंकारिक अभिव्यक्ति में निहित, विच्छित्ति, वैचित्र्य अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति से निर्दिष्ट कुछ परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि काव्य का सामान्य सिद्धांत, रीति के उपर्युक्त तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों से अवश्य सम्पन्न हुआ, तथापि रीति के मूल सिद्धांतों को पूर्ण रूप में मान्यता प्राप्त न हो सकी। रीति-मत ध्वनिकार का प्रतिस्पर्धी भी न हो सका, क्योंकि वामन ने केवल औपचारिक दृष्टिकोण से ही काव्य का विवेचन किया, किंतु ध्वनिकार ने काव्य की अन्तरात्मा का विवेचन किया। इस मत के अन्तर्गत रीति का न्यूनाधिक वस्तुनिष्ठ लक्षण, काव्य के परम सिद्धांत के अन्वेषण के लिए पर्याप्त नहीं था। इस विषय में विश्वनाथ ने ध्वनिकार तथा आनन्द-वर्धन के मतानुसार रीति को एक प्रकार का औपचारिक विन्यास तथा अंगों का विशिष्ट संघटन बताते हुए उक्त आपत्ति को लक्षित किया है। जिसे काव्य की आत्मा कहा गया है, वह रीति से सर्वथा भिन्न है।[1] यद्यपि अनेक प्रकार की शैलियों अथवा रीतियों का विश्लेषण विचक्षणता का द्योतक है, किंतु जैसा कि स्वयं दंडी ने बहुत पहले ही स्वीकार किया है (i. 101-2) सभी प्रकार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को पृथक्-पृथक् नाम देना, उनका जाति-भेद-विवेचन करना तथा उनके निश्चित गुण-धर्म बताना असम्भव-प्राय था। रीति-मत में वैदर्भी, गौडी तथा अन्य प्रकार की शैलियों के परस्पर भेद-निरूपण (अनुभवजन्य तथ्यों के सिवा) का ईर्ष्यास्पद तथा निरर्थक प्रत्यन किया गया, इसलिए इसकी आलोचना तथा विरोध होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इन शैलियों के वास्तविक रूप में मतभेद रहना अनिवार्य था। इसी प्रकार, न्यूनाधिक औपचारिक विश्लेषण के आधार पर सभी काव्य-गुणों तथा काव्यदोषों को निश्चित सीमाओं में रूढ़ कर देने का प्रयत्न युक्तिसंगत न हो सका। मम्मट ने गुणों के सूक्ष्म भेद-निरूपण अथवा अधिकाधिक संख्या में उनके भेद-विवेचन का निश्चित रूप में विरोध किया तथा (आनन्दवर्धन के मतानुसार, पृ० 79 इत्यादि) काव्य-रस के परम अंगों के रूप में उनकी संख्या घटाकर

1. यत्तु वामनेनोक्तं—रीतिरात्मा काव्यस्य इति, तन्न, रीतेः संघटनाविशेषत्वात्, संघटनायाश्चावयवसंस्थान-रूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्, पृ० 18, दुर्गाप्रसाद सं०, 1915 (यह द्रष्टव्य है कि विश्वनाथ ने रीति को वहां संघटना का एक प्रकार कहा है)।

केवल तीन कर दी—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। काव्य के अन्य सूक्ष्मतर सिद्धांतों के अन्वेषण के हेतु, सभी प्रकार के काव्यों को रूढ़ रीतियों तथा गुणों में ढाल देने का प्रत्यन अंततोगत्वा त्यागना ही पड़ा। इस प्रकार का एक सिद्धांत, काव्य-लक्षित रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया। रूपकाश्रित रस-सिद्धांत की मीमांसा पहले ही की जा चुकी थी। ध्वनि के आचार्यों ने काव्य के एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्यबोधक आधार के रूप में उक्त रूपकाश्रित रस-सिद्धांत का प्रयोग किया। अगले कुछ अध्यायों में इसी विषय पर चर्चा की जाएगी।

अध्याय : 14

लोल्लट इत्यादि

(रस-सिद्धांत)

1

एक ओर काव्यविधा के प्राचीन मतों में अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का विकास हुआ तो दूसरी ओर कई ऐसे लेखक भी हुए, जिन्होंने भरत के मतानुसार नाट्याश्रित रस के विषय का विवेचन तथा भरत के तत्सम्बन्धी बहुविवेचित सूत्र की व्याख्या की।[1] नाट्याश्रित होने के कारण उनकी व्याख्या उस समय तक यथार्थ रूप में काव्यविधा के क्षेत्र से बाहर थी, क्योंकि काव्यविधा में अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का ही प्राधान्य था। ध्वनिकार तथा उसके मतानुयायियों ने काव्यविधा में रस के सिद्धांत का समावेश किया। उनके पहले काव्यविधा में रस के सौंदर्यात्मक महत्त्व का किसी ने अनुभव नहीं किया था। इस अवधि में नाट्याश्रित रस के सिद्धांत में अनेक रसात्मक सिद्धांतों की मीमांसा के फलस्वरूप नाटक के एक अंग के नाते रस को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। इसी प्रकार रस के सिद्धांत ने, कुछ अंशों में काव्यविधा के प्राचीन सिद्धांतों को प्रभावित किया। काव्यविधा के ये सिद्धांत प्राचीन काल में रस-सिद्धांत से अछूते नहीं थे। अलंकार अथवा रीति के सामान्य सिद्धांतों में वास्तव में रस को स्थान प्राप्त था, यद्यपि उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया गया था।

इस विषय पर भामह तथा दंडी के विचारों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। भामह ने अलंकार अथवा वक्रोक्ति को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग कहा है। संभवतः उन्हें काव्य में रस की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान नहीं था; केवल रसवत् अलंकार के लक्षण में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख किया

1. ऊपर देखिए, पृ० 21. सूत्र इस प्रकार है—विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः।

गया है। भामह के कथनानुसार रसवत् में रसों का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए (रसवद् दर्शित-स्पष्ट-शृंगारादिरसम्, iii. 6)। इस प्रकार भामह के सिद्धांत में केवल एक विशिष्ट अलंकार के अंतर्गत समावेश होने के कारण रस को बहुत गौण स्थान दिया गया है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह को शृंगार इत्यादि नाट्याश्रित रसों का ज्ञान था, किंतु उनके समय में रसों की उत्पत्ति तथा उनकी शक्ति से सम्बन्धित चिंतन का आरंभ नहीं हुआ था। इस विषय के परवर्ती लेखकों ने जिस बाहुल्य से 'विभाव', 'अनुभाव' इत्यादि शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है, भामह ने, दंडी की तरह, उनके प्रयोग को आवश्यक नहीं समझा। भामह के मतानुसार काव्य में रस का अस्तित्व अनिवार्य नहीं है, किंतु कभी-कभी किसी अलंकार द्वारा भी रस को लक्षित किया जा सकता है। निस्सन्देह अपने ग्रन्थ के अध्याय i, श्लोक 21 में भामह ने यह कहा है कि महाकाव्य में सभी रसों का पृथक्-पृथक् वर्णन होना चाहिए और अध्याय v के श्लोक 3 में उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य-रस द्वारा शास्त्रों की रूक्षता का निराकरण होता है। रुद्रट ने भी इस मत का समर्थन किया है (xii., 1-2)। संभवतः इसी कथन से प्रेरित होकर अभिनव-गुप्त ने शास्त्र को 'प्रभु-सम्मित' तथा काव्य को 'जाया-सम्मित' कहा है। संभवतः 'काव्य-रस' शब्द यहाँ अशास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यदि अभिनवगुप्त के मतानुसार (—लोचन, पृ० 182) इस शब्द को शास्त्रीय अर्थ में ग्रहण कर भी लिया जाए तो इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती लेखकों ने रस को काव्य का बाह्य शोभाकार ही माना है[2], यद्यपि नाटक में सभी रसों की निष्पत्ति हो सकती है। (i. 21)

रस की मान्यता के विषय में न्यूनाधिक यही कथन दंडी पर भी लागू होता

---

1. वक्रोक्ति पर भामह के मुख्य श्लोक ((ii. 85) 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो' पर टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने रस-विषयक अपने विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है तथा इस श्लोक में 'विभाव्यते' शब्द की शास्त्रीय रूप में इस प्रकार व्याख्या की है—प्रमदोद्यानैर्विभावतां नीयते, विशेषण च भाव्यते, रसमयीक्रियते इति—उन्होंने प्रकट रूप में भामह की वक्रोक्ति का अर्थ यह लगाया है कि वक्रोक्ति द्वारा काव्यार्थ रसानुकूल हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रीय अर्थ में 'विभाव्यते' शब्द के प्रयोग से भामह का तात्पर्य यह है कि रस तथा अलंकार दोनों का उद्भव वक्रोक्ति से हुआ है।
2. दंडी ii. 292 से भी इसी प्रकार का भेद-विवेचन लक्षित होता है; रस के दो अर्थ किए जा सकते हैं (आगे देखिए) :—(1) काव्य-रस अथवा काव्य-

है; किंतु भामह की अपेक्षा दंडी को रस के महत्त्व का अधिक ज्ञान था। भामह की तरह दंडी ने रसवत् इत्यादि अलंकारों में रसों के सन्निवेश को स्वीकार किया है, अन्यथा उनके सिद्धांतों में रस को कहीं स्थान प्राप्त न हो सकता था। यह कहा जा सकता है[1] कि दंडी ने रीति के एक आवश्यक गुण, अर्थात् माधुर्य, के अंतर्गत रस को महत्त्व दिया है। माधुर्य का लक्षण इस प्रकार है····शब्द तथा वस्तु में रस की स्थिति (वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थिति, i. 51), किंतु अध्याय 2 के श्लोक 292 में दंडी ने माधुर्य गुण में रस शब्द से अग्राम्यत्व को ही लक्षित किया है[2], उन्होंने शास्त्रीय अर्थ में रस को स्वीकार नहीं किया।[3]

दंडी के मतानुसार (i. 51-7) माधुर्य-गुण के दो रूप हो सकते हैं। वाग्रस तथा वस्तु-रस। वाग्-रस में श्रुत्यनुप्रास रहता है[4] तथा वस्तु-रस में अग्राम्यत्व होता है। हेमचंद्र ने वाक् अथवा वस्तु पर आश्रित दंडी के माधुर्य गुण में रस की व्याख्या इस प्रकार की है (पृ० 198) 'श्रुति वर्णानुप्रासाभ्यां वाग्रस········

रस से उद्भूत सौंदर्य-सुख, तथा (2) नाट्य-रस के शास्त्रीय अर्थ में रस। यह द्रष्टव्य है कि प्राचीन श्रेणी-काव्य में संभवतः (माघ को छोड़कर) रस शब्द का नाट्य-रस के अर्थ में प्रयोग अत्यन्त विरल है। यह काव्य-रस, सार रूप में भामह के 'वक्रोक्ति' से बहुत भिन्न नहीं है, क्योंकि संभवतः, वह सामान्य उक्ति से भिन्न, एक प्रकार की उदात्त अभिव्यक्ति ही है। प्राचीन श्रेणीगत साहित्य में रस शब्द को अशास्त्रीय अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए, दंडी के 'रसवत्' तथा 'रसावह' इत्यादि शब्दों में भी यही अर्थ अपेक्षित है।

1. देखिए, जेकबी, ZDMG lvi. 1902, पृ० 401 पा० टि०।

2. वास्तव में, साधारण अर्थ में ग्राम्य शब्द प्राकृत अथवा असभ्य का द्योतक नहीं है, यद्यपि दंडी ने अश्लील को भी ग्राम्य ही माना है। ग्राम्य शब्द, अभिजात अथवा सभ्य के विपरीत, 'निम्न', 'गंवारू', 'लौकिक' का द्योतक है।

3. इस विषय पर 'हृदयंगम' टीका में अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है—'माधुर्य-गुणा प्रदर्शितः शब्दार्थयोरग्राम्यतया जातो रसो वाक्यस्य भवति, अलंकारतया निर्दिष्टं रसवत्वमष्टरसायत्तम्' (पृ० 167)। अंतिम अंश में ऐसा कहा गया है कि दंडी ने रसवत् इत्यादि रसाश्रित अलंकारों के प्रकरण में ही आठ प्रकार के नाट्याश्रित रसों को स्वीकार किया है। अध्याय 1 के श्लोक 64 में दंडी ने अग्राम्य अर्थ को रसावह कहा है।

4. ऊपर देखिए पृ० 74, पा० टि० 2. दंडी ने इस सन्दर्भ में (i. 52) अनुप्रास को इसी अर्थ में रसावह कहा है।

अग्राम्याभिधेयतया तु वस्तु-रसः ।[1] इस प्रकार दंडी के माधुर्य-गुण में रस का विशिष्ट अर्थ है, इसलिए वह रस-सिद्धांत के अंतर्गत शास्त्रीय नाट्याश्रित रस से भिन्न है ।[2]

किंतु यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार भरत तथा उनके मतानुयायियों ने रस-विचार का विवेचन किया था, दंडी उससे सर्वथा अनभिज्ञ थे। दंडी का कथन है। (i. 18) कि महाकाव्य में रस तथा भाव अवश्य होना चाहिए। भामह का भी यही मत है (i. 21)। जिस प्रकार दंडी ने रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी अलंकारों का विवेचन किया है (ii. 280-87), उससे यह स्पष्ट रूप में सिद्ध होता है कि उन्हें शास्त्रीय आठ रसों का ज्ञान था। उन्होंने इन सब का नामोल्लेख किया है। इनमें से चार रसों, अर्थात् शृंगार, रौद्र, वीर तथा करुण, को चर्चाधीन अलंकारों के अंग के रूप में उदाहृत किया है। यदि अभिनवगुप्त के कथन को स्वीकार कर लें[3] तब दंडी तथा भट्ट लोल्लट का रस-विषयक मत समान ही है (भट्ट लोल्लट के मत पर आगे चर्चा की जाएगी)। उनके मतानुसार

---

1. माणिक्यचंद्र इस व्याख्या से सहमत हैं—'श्रुति-वर्णानुप्रासाभ्यां वाग-रसः, अग्राम्यतया तु वस्तु-रसः, इत्थं रसो द्वेधा (पृ० 189, आनंदाश्रम सं०)।

2. अध्याय 3 के श्लोक 149 (अथवा अध्याय iv. 26, मद्रास सं०) में रस शब्द का ऐसा ही अशास्त्रीय प्रयोग है (दंडी ने उसकी व्याख्या नहीं की है, किंतु इस स्थल पर व्याख्या की है)। तरुणवाचस्पति ने उक्त श्लोक में 'गिरां रसः' (वाग्रसः) की व्याख्या 'साधुत्वं' से ही की है। अर्वाचीन टीकाकारों ने, निस्संदेह रस-विषयक अपने विचारों से भ्रांत होकर दंडी ने भी, उन्हीं विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है। दंडी ने कहीं भी रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा है, किंतु i. 10 पर टीका करते हुए हेमचंद्र ने इसी बात को दंडी से कहलवाना चाहा है। i. 62 में अर्थ-रस विशिष्ट रूप में 'अग्राम्यता' को ही लक्षित करता है।

3. नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय की टीका। हेमचंद्र ने पृ० 57 इत्यादि पर आंशिक रूप में इसका उद्धरण किया है। रस-विषयक सिद्धांतों से, जिनका विवेचन आगे किया गया है, संबंधित भरत के 'रस-सूत्र' पर अभिनव की बहुमूल्य टीका 'सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली कमेमोरेशन वाल्यूम' (ओरिएंटालिया, खंड iii. 1922) के अंतर्गत सुशील कुमार डे के लेख 'थियोरी ऑफ़ रस' के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई है। इस अध्याय में उक्त लेख का काफी उपयोग किया गया है। लेख के पृष्ठों की संख्या देते हुए 'भरत पर अभिनव की टीका' के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। सुशीलकुमार डे के 'सम प्राब्लम्स्' पृ० 219-35 के अंतर्गत इस लेख का पुनर्मुद्रण हुआ है।

रस की निष्पत्ति विभावों तथा अनुभावों के कारण ही होती है। दंडी के तत्संबंधी विवेचन की अपर्याप्तता के कारण इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु यह माना जा सकता है कि दंडी ने रति अथवा क्रोध इत्यादि स्थायी भावों से ही शृंगार अथवा रौद्र इत्यादि रसों की निष्पत्ति को स्वीकार किया है। रसवत् अलंकार के विषय में दंडी ने कहा है कि उसमें रस-निष्पत्ति का लक्षण होना चाहिए। इसी प्रकार के एक अलंकार में शृंगार-निष्पत्ति का उदाहरण देते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा है—'रतिः शृंगारता गता। रूपबाहुल्य योगेन' (ii. 281)। इसी प्रकार क्रोध से रौद्र की उत्पत्ति का कथन करते हुए उन्होंने कहा है—'इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः' (ii. 283)। किंतु इन अलंकारों के अंतर्गत रस गौण रूप में होते हुए अलंकार का ही शोभाकारक होता है (अलंकारतया स्मृतम्), अथवा रस की निष्पत्ति रस के लिए नहीं होती, अपितु अभिव्यंजना की शोभा-वृद्धि के लिए होती है। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि दंडी ने एक सीमा तक रस तथा भाव को स्वीकार किया है, किंतु अपने सिद्धांत के अंतर्गत वे इसे शब्द अथवा अर्थ के शोभाकारक के रूप में ही स्थान दे पाए थे। यदि ऐसा मान लिया जाय कि इन प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रंथों में वस्तुनिष्ठ रस का ही प्रतिपादन किया है, तो अलंकार तथा रीति में रस को गौण स्थान मिलने का संभवतः यही कारण था।

यद्यपि वामन ने अन्य पक्षों में दंडी के सिद्धांत का परिमार्जन किया है, तथापि रस के विषय में उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सभी काव्याश्रित अलंकारों को आलंकारिक मात्रा मानते हुए रसवत् अलंकार का लक्षण नहीं दिया, किंतु काव्य के एक नित्य लक्षण के रूप में रस को अर्थ-गुण कांति के अंतर्गत स्वीकार किया है। इसका लक्षण है 'अर्थ-गुण, जिसे रस-दीप्ति युक्त होना चाहिए' (दीप्ति-रसत्वं कांतिः, iii. 2, 15)। संभवतः एक गुण के अंतर्गत रस का समावेश करने का संकेत भरत के कांति गुण के लक्षण से, अथवा प्रत्यक्षतः उसी के उदार-गुण के विशिष्ट लक्षण से प्राप्त हुआ, किंतु इतना स्पष्ट है कि दंडी तथा भामह की अपेक्षा वामन का रस-विषयक विवेचन निश्चित रूप में प्रगति का सूचक है। उन्होंने तो रस को केवल एक अनावश्यक अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया था।

उद्भट ने इस विषय में मुख्यतः भामह का मतानुसरण करते हुए रस को रसवत्-जैसे अलंकारों का अंग माना है। जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी 1897, के अंतर्गत जेकब द्वारा प्रकाशित उद्भट के पाठ में, पृ० 847 पर निम्नलिखित श्लोक है—

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्-रूपतया यतः ।
कथ्यते तद् रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ।।

इस श्लोक में प्रकट रूप में रस को काव्य की आत्मा कहा गया है, यद्यपि उसके आधार पर किसी सौंदर्यात्मक सिद्धांत का प्रतिष्ठापन नहीं किया गया। किंतु यह श्लोक अपने संदर्भ में ठीक नहीं बैठता।[1] निर्णय-सागर प्रेस द्वारा मुद्रित पाठ में यह श्लोक नहीं है, यद्यपि प्रतीहारेंदुराज की संलग्न टीका के पृ० 77 पर 'तदाहुः' शब्द के साथ उद्धरण के रूप में इसका उल्लेख है। जेकब के पाठ से भ्रांत होकर जेकबी यही मान बैठा[2] कि उद्भट ही पहले लेखक हैं, जिन्होंने काव्य की आत्मा क्या है, इस विषय पर विवेचन किया तथा रस को ही काव्य की आत्मा कहा।

इतना स्पष्ट है कि चर्चाधीन श्लोक उद्भट का नहीं है। यह न तो अपने संदर्भ, न उद्भट के सामान्य सिद्धांत और न ही उद्भट के रसवत् के लक्षण से संगत है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उद्भट को रस के किसी सिद्धांत तथा तत्सम्बन्धी शास्त्रीय पक्षों का ज्ञान था, जो उनके द्वारा विभाव, स्थायी, संचारी (iv. 4) तथा अनुभाव (iv. 2) जैसे शब्दों के प्रयोग तथा भरत के अनुसार आठ रूढ़ नाट्य-रसों तथा नवें रस, अर्थात् शांत रस, के नामोल्लेख से सिद्ध होता है। उद्भट ने रसवत्-जैसे अलंकार के शोभाकर के रूप में इन सब बातों पर विचार किया है।[3] रस का अपना कोई महत्त्व नहीं है। विशिष्ट

1. यह श्लोक (vi. 17) काव्यलिंग अलंकार (vi. 16) के पश्चात् दिया गया है। इस अलंकार के लक्षण-निरूपण के पश्चात् उसका उदाहरण अपेक्षित था, जो उक्त श्लोक के पश्चात् अगले श्लोक (vi. 18) में दिया गया है। यदि जेकब के पाठ को प्रामाणिक मान लिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि 'रसाद्यधिष्ठितं, श्लोक (vi. 17), काव्यलिंग के लक्षण तथा उसके उदाहरण के बीच में बरबस घुसा दिया गया है। वास्तव में, यह श्लोक काव्यलिंग पर प्रतीहारेंदुराज की टीका में है, किंतु सम्पादक ने गलती से इसे उद्भट के पाठ में मिला लिया है।

2. ZDMG 1902, पृ० 396.

3. उद्भट द्वारा दिए गए रसवत् इत्यादि के लक्षण भामह तथा दंडी के लक्षणों से भिन्न हैं। उन्होंने समाहित नामक एक नए अलंकार को भी स्वीकार किया है। उसके मतानुसार प्रेयस् शृंगार जैसे भाव तक ही सीमित रहता है, उसमें रस की निष्पत्ति नहीं होती। रसवत् में स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अनुभाव के द्वारा रसों की पूर्ण निष्पत्ति लक्षित होती है। उर्जस्वी, अनौचित्यप्रवृत्त रस अथवा भाव को लक्षित करता है। यह परवर्ती लेखकों के रसाभास के अनुरूप है। रस, भाव अथवा उसके आभास का समाहत हो जाना, समाहित का लक्षण है।

अलंकार का शोभावर्द्धक होना ही रस का लक्षण है। अतएव, प्रतीहारेंदुराज का कथन है कि उद्भट ने, रस तथा भाव का क्या लक्षण है तथा काव्य की आत्मा के रूप में उनका क्या महत्त्व है, इस विषय को अतिप्रासंगिक तथा अप्रासंगिक समझते हुए अछूता रहने दिया है।[1]

इसके विपरीत, रुद्रट संभवतः प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने अपने काव्य-विधा के निरूपण में रस के विषय का स्पष्ट रूप में समावेश करते हुए चार अध्यायों में इसकी चर्चा की है। अपने ग्रन्थ के आरंभ में उन्होंने सरस काव्यों की रचना से अनन्त यश प्राप्त करनेवाले कवियों की प्रशंसा की है। बारहवें अध्याय में उन्होंने भरत के आठ रूढ़ रसों के अतिरिक्त प्रेयस् तथा शांत के साथ दस रसों का उल्लेख किया है[2] तथा इसी सन्दर्भ में नायक तथा नायिका के लक्षणों-सहित शृंगार का वर्णन किया है, अगले दो अध्यायों में शृंगार के दो भेदों, संभोग तथा विप्रलंभ तथा तत्सम्बन्धी विषयों का निरूपण है। तत्पश्चात् एक लघु अध्याय में शृंगार के प्रत्येक भेद के अनुकूल रीति का स्वरूप-निरूपण किया गया है।[3] काव्य के अंग के रूप में रुद्रट ने रस को क्या महत्त्व दिया है, यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि

---

1. संभवतः उद्भट ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर एक टीका लिखी थी, जैसा कि उद्भट द्वारा नाट्यशास्त्र के iv. 15 के एक पाद के उद्धरण (iv. 5, यह कहना सन्देहास्पद है कि यह उद्भट का कारिका श्लोक है) तथा विभाव इत्यादि शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग से सूचित होता है। उन्हें भरत के पाठ का ज्ञान था। किंतु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि उद्भट भरत के मतानुयायी थे। इसके विपरीत, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से, उद्भट, भामह के मत के निःसंदिग्ध अनुयायी थे।

2. यदि उद्भट का iv. 5 कारिका-श्लोक है (और प्रतीहारेंदुराज की टीका से उद्भट के पाठ में गलती से इसका प्रक्षेप नहीं किया गया है) तब उद्भट ही प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने भरत के आठ रसों में शांत रस को स्थान दिया है। भामह, दंडी तथा उद्भट का प्रेयस् अलंकार ही सम्भवतः रुद्रट के प्रेयस् रस को लक्षित करता है। xii. 4 में, जैसा कि नमिसाधु ने ठीक ही कहा है, उद्भट ने भरत को आचार्य शब्द से निर्दिष्ट किया है।

3. जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रुद्रट ने समास प्रयोग के संदर्भ में ही रीति के लक्षणों का विवेचन किया है। प्रेयस्, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के लिए उन्होंने वैदर्भी तथा पांचाली रीतियों को तथा रौद्र के लिए लाटीया तथा गौडीया रीतियों को निर्दिष्ट किया है। अवशिष्ट रसों के लिए कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है। उन्होंने इसी संदर्भ में औचित्य शब्द का प्रयोग करके औचित्य सिद्धांत का मार्गदर्शन किया। सबसे पहले आनन्दवर्धन ने रस-निरूपण के सम्बन्ध में इसी औचित्य के आधार पर अपने औचित्य-सिद्धांत का विवेचन किया था।

उन्होंने तत्सम्बन्धी सैद्धांतिक पदों को बिल्कुल अछूता ही रहने दिया है। ग्रन्थ के सोलह में से केवल चार अध्यायों में रस का सैद्धांतिक के बदले विवरणात्मक विवेचन है। शेष ग्रन्थ में काव्यात्मक अलंकारों का सविस्तर निरूपण है। रुद्रट ने अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया है। पाठकों के लिए सरस काव्य की रचना के विषय में उनका कथन है (xi., 1) कि वे लोग, जो रसास्वादन करते हैं, किंतु शास्त्र से डरते हैं, उन्हें सरस काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग का उपदेश देना सरल है। उनके मतानुसार, काव्य को सरस बनाने का मुख्य उद्देश्य यही है। रुद्रट ने शब्द तथा अर्थ को काव्य के दो अंग कहा है। उनके अनुसार काव्यात्मक अलंकार इन्हीं अंगों के शोभाकर होते हैं; किंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि उनके सिद्धांत में रस का समावेश किस प्रकार हुआ। इससे यह सन्देह हो सकता है कि उनके ग्रन्थ के अंतर्गत रस-विषयक अध्याय प्रक्षिप्त अंश हैं, यद्यपि वे उनके सामान्य सिद्धांत के अंतर्गत नहीं हैं। सिद्धांत पक्ष के दृष्टिकोण से रुद्रट का रस-मत से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अलंकार-मत के ही समर्थक हैं और इस प्रकार वे रुद्रभट्ट से भिन्न हैं। रुद्रभट्ट के सिद्धांत का मुख्य विषय रस-विषयक ही है। रुय्यक तथा जयरथ के साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है। रुय्यक का कथन है[1] कि रुद्रट ने अलंकार पर, जिसमें रस-सहित ध्वनि के तीन भेद भी सम्मिलित हैं, विशेष बल दिया है। रस तथा भाव को परिलक्षित करनेवाले रसवत् इत्यादि अलंकार अभिधार्थ के शोभाकरों के रूप में स्वीकार किए गए हैं।[2]

ध्वनि सिद्धांत के आचार्यों से पूर्व काव्यविधा के प्राचीन लेखकों ने काव्य के बाह्यांग, अर्थात् काव्य-शरीर की मीमांसा करने में ही स्वयं को कृतार्थ समझा। उन्होंने काव्य के आभ्यंतरिक सौंदर्यात्मक सिद्धांत अर्थात् काव्य की आत्मा क्या है, इस समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने काव्यात्मा

---

1. काव्यमाला सं०, पृ० 5. समुद्रबंध इससे सहमत हैं।

2. रुद्रट के xii. 2 पर टीका करते हुए नमिसाधु का कथन है कि लेखक के मतानुसार, शब्द तथा अर्थ काव्य का शरीर, काव्यात्मक अलंकार, कृत्रिम अलंकारों के समान तथा रस, बल तथा सौंदर्य इत्यादि सहज गुणों के समान होता है (रसास्तु सौंदर्यादय इव सहजा गुणाः)। किंतु रुद्रट के ग्रन्थ में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे उनके पूर्वोक्त मत की पुष्टि होती हो, विशेषतया जबकि रुद्रट के काव्य-निरूपण में अलंकारों का बड़ा महत्त्व है। उनको काव्य का केवल कृत्रिम अलंकार कहना उनके मत के विरुद्ध है। ऊपर देखिए, पृ० 56-57.

का, जैसा कि कुछ परवर्ती लेखकों ने कहा है, रस नामक मनोवैज्ञानिक तत्त्व से तादात्म्य भी नहीं किया। निस्सन्देह, रीति को काव्य की आत्मा कहकर वामन ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है; किंतु वामन के मतानुसार, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीति, काव्यात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यंजना न होकर निश्चित काव्य-गुणों के समुचित प्रयोग से निष्पन्न वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति है। अतएव, प्राचीन लेखकों ने अलंकार अथवा रीति को अत्यधिक महत्त्व दिया। काव्य में इन्हें यथेष्ट लाभप्रद समझा गया। यद्यपि उन्होंने काव्य के सभी रूपों में सौंदर्य, जिसे संस्कृत साहित्य में रस नाम से लक्षित किया गया है, की अनिवार्यता को स्वीकार किया, तथापि वे काव्य के बाह्यांग शोभाकर के सिद्धांत से उसका साहचर्य स्थापित न कर सके। उन्होंने रस को काव्यात्मक अलंकारों का एक अंग कहा तथा भाषा के न्यूनाधिक एक शोभाकर के रूप में ही उसका विवेचन किया; अथवा रीति-गुण के एक अंग के रूप में ही उन्होंने रस का निरूपण किया। उनके पास रस को मान्यता प्रदान करने की और कोई विधि नहीं थी। यही कारण है कि ध्वनिकार ने (iii. 52) काव्य-स्वरूप-निरूपण के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धांतों को अपरिपक्व तथा अपर्याप्त बताते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, जिसमें रस-ध्वनि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

2

प्राचीन काव्य सिद्धांत के अंतर्गत रस को आनुषंगिक स्थान दिए जाने का कारण यह था कि भरत के नाटकाश्रित रस-निरूपण को प्रामाणिकता मिल चुकी थी। इस विषय के अनेक टीकाकारों तथा लेखकों ने रस का सविस्तर विवेचन किया था। प्राचीन आचार्यों का उससे एक सीमा तक प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भरत के रस-विषयक सूत्र[1] की अस्पष्टता के कारण उनके मतानुयायियों को बड़ा परिश्रम करना पड़ा और फलस्वरूप उसकी यथार्थ व्याख्या के विषय में बड़ा मतभेद हो गया। क्योंकि प्रत्येक लेखक ने अपने ही दृष्टिकोण से इस सूत्र की व्याख्या की, इसलिए रस

---

1. अर्थात्, विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः (ऊपर देखिए, पृ० 21); संयोग तथा निष्पत्ति शब्दों की विभिन्न व्याख्या के आधार पर विभिन्न सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की गई है। इन दो शब्दों की अस्पष्टता के अतिरिक्त यह द्रष्टव्य है कि स्थायी अथवा स्थायि-भाव शब्दों का इस सूत्र में अभाव है।

के अनेक सिद्धांतों का जन्म हुआ। लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त के नामों से संबंधित इस प्रकार के रस-विषयक, चार सिद्धांत विद्यमान हैं; किंतु जगन्नाथ ने (रसगंगाधर, पृ० 28) आठ विभिन्न मतों का उल्लेख किया है।

संभवतः भट्ट लोल्लट इसी प्रकार के एक प्राचीनतम टीकाकार थे। दुर्भाग्यवश उनका ग्रंथ लुप्त हो चुका है। भरत के नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त की टीका के अंतर्गत उनके मत की संक्षिप्त समीक्षा की अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती।[1] लोल्लट के मत पर चर्चा करनेवाले सभी परवर्ती लेखकों ने भी अभिनवगुप्त की टीका के उन अंशों का न्यूनाधिक उद्धरण ही किया है।[2] एक विपक्षी आलोचक की इस संक्षिप्त व्याख्या से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरत के सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट ने विभाव को रस का प्रत्यक्ष कारण कहा है, जिससे रस एक अनुकार्य अथवा उत्पाद्य वन जाता है। भरत के निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति अथवा पुष्टि करना चाहिए। राम-जैसे पात्रों में उपलब्ध रस, अभिनेता के ही कारण होता है, जो कि रूप, वेशभूषा तथा अभिनय द्वारा पात्र का अनुकरण करते हुए दर्शकों को मंत्रमुग्ध करता है। मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने लोल्लट के उक्त मत को और भी स्पष्ट कर दिया है। उनका कथन है कि स्थायीभाव का राम-जैसे नायक से साक्षात् संवंध होता है (मुख्यतया वृत्या साक्षात् संवंधेन) किंतु, मूल पात्र के कुशल अनुकरण के कारण अभिनेता में इस भाव का अस्तित्व रहता है। प्रकट रूप में इसी अनुकरण के कारण दर्शक मंत्रमुग्ध होते हैं। अतएव, रस का अस्तित्व नायक में ही होता है, किंतु आपत्ति यह है कि नायक की मानसिक स्थिति का अभिनेता पर कैसे आरोपण किया जा सकता है और दर्शक उस मनोभाव से

---

1. हेमचंद्र (पृ० 57-66) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 40 इत्यादि, आनंदाश्रम सं०) ने अभिनव द्वारा की गई लोल्लट, शंकुक तथा भट्ट नायक की मतसमीक्षा का विस्तृत उद्धरण किया है। मम्मट तथा परवर्ती सभी लेखकों ने भी ऐसा ही किया है। अभिनव की टीका का यह अंश 'थ्योरी ऑफ रस' (सुशील कुमार डे के 'सम प्राब्लम्स ऑफ संस्कृत पोएटिक्स', कलकत्ता, 1959 में पुनर्मुद्रित) पर उपर्युक्त लेख के अंतर्गत दिया गया है। अतएव, यहाँ उसका विस्तृत उल्लेख नहीं है।

2. उदाहरणार्थ, देखिए, मम्मट अध्याय iv, हेमचंद्र पृ० 57, विद्याधर पर मल्लिनाथ की टीका, पृ० 85, मम्मट पर गोविंद की टीका, पृ० 63 इत्यादि।

कैसे प्रभावित हो सकता है, जबकि अभिनेता में उसका अभाव रहता है, यह स्पष्ट नहीं है। अभिनेता द्वारा अनुकरण किए गए मनोभाव के ज्ञान मात्र से मूल मनोभाव, की लेशमात्र भी निष्पत्ति नहीं होती और न ही दर्शक की मनस्तुष्टि होती है, अन्यथा काव्य से भिन्न, लौकिक शृंगारादि के दर्शनमात्र से ही मनस्तुष्टि हो सकती थी।[1] यह भी कहा गया है कि लोल्लट के इस कार्य-कारण सिद्धांत में विभाव इत्यादि की तथा रस के परस्पर संबध की संतोष-जनक व्याख्या नहीं हो सकी है। कारक-हेतु के नष्ट हो जाने पर भी कार्य का भाव हो सकता है, किंतु रस, विभावों के प्रदर्शन में ही सीमित होता है, उनका अभाव ही रस का अभाव होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रस को एक लौकिक कार्य नहीं कहा जा सकता।[2] इसके अतिरिक्त कार्य और कारण समकालीन नहीं हो सकते। यदि रस को कारण माना जाय तो रस का आस्वादन, जैसा कि वास्तव में होता है, विभावों का समकालीन नहीं हो सकता। अतएव, विश्वनाथ ने कहा है (पृ० 86) कि—यदि विभाव-ज्ञान कारण है और रस कार्य है, तब रसास्वादन के समय विभावों का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य और उसके कारण की प्रतिपत्ति युगपद् नहीं होती। चंदनलेप के स्पर्श का ज्ञान तथा तत्कृत सुखानुभव युगपद् नहीं हो सकते, भले ही उनका आनंतर्य कितना ही कम हो।

इस विषय के अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक शंकुक ने, जिनका अभिनवगुप्त इत्यादि ने उल्लेख किया है,[3] उत्पत्तिवादियों की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। ऐसा कहा गया है कि उत्पत्तिवादियों ने अपने विशिष्ट सिद्धांत में मीमांसा-दर्शन का अनुसरण किया है। लोल्लट ने दर्शक के मनोभावानुभव के रूप में रस का विवेचन नहीं किया है। इसके विपरीत, शंकुक के मतानुसार, रस की उत्पत्ति कार्य के रूप में नहीं होती, अपितु दर्शक द्वारा उसका अनुभव अथवा अनुमान किया जाता है और दर्शक उस अनुभव का ही रस के रूप में आस्वादन करता है। कुशल अभिनय द्वारा, विभाव इत्यादि के माध्यम से, अभिनेता में ही

1. गोविंद ने लोल्लट के मत की आलोचना इस प्रकार की है— तदवेशल सामा-जिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभव-विरोधात् न च तद्ज्ञानमेव चमत्कार-हेतुः, लौकिक-शृंगारादि-दर्शननापि चमत्कार-प्रसंगात् (काव्य-माला सं०, 1912, पृ० 63)।
2. गोविंद, पृ० 69, मल्लिनाथ, पृ० 87, 93-94.
3. जैसा कि ऊपर पृ० 109 की पाद-टिप्पणी 1 में निर्दिष्ट किया गया है, मम्मट इत्यादि के ग्रंथों में शंकुक के मत का उल्लेख है।

नायक के स्थायी भाव का अनुमान कर लिया जाता है (यद्यपि अभिनेता में उस भाव का वास्तव में अभाव होता है), ताकि नायक के मनोभाव के अभेद भाव का आभास हो सके।[1] वस्तु-सौंदर्य के कारण, दर्शक इस प्रकार अनुमान किए गए भाव का अनुभव करता है, जिससे उस भाव की विलक्षणता और भी बढ़ जाती है।[2] फलस्वरूप दर्शक के मन में आस्वादस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे रस कहते हैं। अतएव, रस की निष्पत्ति एक तर्कसंगत अनुभव है। भरत के सूत्र में निष्पत्ति शब्द की व्याख्या अनुमिति से की गई है। विभाव का रस से वही सम्बन्ध है, जो अनुमापक अथवा गमक का अनुमाप्य अथवा गम्य से है। साध्य तथा साधन संबंध से अनुमित भाव, सामान्य अनुमित वस्तु से भिन्न होता है, क्योंकि भाव का अनुमान विभाव से संबंधित होने के कारण ही होता है। विभाव कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं माने जाते। इस प्रकार के ज्ञान को चित्र-तुरगन्याय-आश्रित कहा गया है, जो सम्यक् ('वह राम है'), मिथ्या (पहले कहा जाता है 'वह राम है,' तत्पश्चात् उसका निषेध कर दिया जाता है, 'वह राम नहीं है'), संशय ('वह राम हो सकता है अथवा नहीं') तथा सादृश्य ज्ञान ('वह राम सदृश है') से भिन्न है।[3] परवर्ती मत में इस सिद्धांत की निंदा इसलिए की गई है (जैसा कि संक्षिप्त रूप में गोविंद ने कहा है[4]) कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा चमत्कार उत्पन्न होता है, वैसा अनुमिति से नहीं होता। यह एक लोकप्रसिद्ध तथ्य है, जिसकी इस सिद्धांत में अवहेलना की गई है। यह भी कहा गया है कि ज्ञान-प्राप्ति के सामान्य साधनों द्वारा रस की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकाल के राम-जैसे नायक के भाव का प्रत्यक्ष ज्ञान वर्त्तमान ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[5] ध्वनि-सिद्धांत के संदर्भ में अनुमान-सिद्धांत

---

1. रामाद्यभेद-भावितेन नटे तत्प्रकाशितैरेव विभावादिभिरनुमितः। मल्लिनाथ, पृ० 85.
2. वस्तुसौंदर्यबलाद् रसनीयत्वेन स्थायिनामन्यानुमेयवैलक्षण्यात्; गोविंद, पृ० 65 यह सर्वथा मम्मट की व्याख्या ही है।
3. मम्मट तथा अभिनव (पृ० 241) ने इसकी व्याख्या इसी प्रकार की है। हेमचन्द्र ने उनकी व्याख्या को विशद रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—न चात्र नर्तक एवं सुखीति प्रतिपत्तिः, नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद् वा न वायमिति, न चापि तत् सदृशमिति, किंतु सम्यग्मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी राम असावयमिति प्रतीतिरस्ति (पृ० 59)।
4. प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने मानाभावः, पृ० 65.
5. विद्याधर, पृ० 94.

की सविस्तर आलोचना की गई है, क्योंकि यह विषय रस-ध्वनि के अन्तर्गत है। सिद्धांत के इस पक्ष का विवेचन यथा-स्थान किया जायगा। इस सिद्धांत के निराकरण में यह तर्क दिया गया है कि विभाव, स्थायीभाव की सिद्धि का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि विभाव और स्थायी का परस्पर सम्बन्ध साधन और साध्य के परस्पर सम्बन्ध से भिन्न होता है। विभाव व्यंजक मात्र ही होते हैं।

अतएव, लोल्लट तथा शंकुक के मतानुसार विभाव न तो रस के कारक-हेतु होते हैं और न ही ज्ञापक-हेतु। शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को छोड़कर, लोल्लट के अनुसार, दर्शक कुशल नट अथवा अभिनेता में नायक की ही मानसिक स्थिति का आरोप अनुमान करता है और इस आरोपित मनोभाव की प्रतिपत्ति के फलस्वरूप उसके मन में उसी प्रकार का रसोत्पादक भाव उत्पन्न होता है। शंकुक का मत है कि कुशल नट अथवा अभिनेता नायक का इतना अच्छा अनुकरण करता है कि दर्शक उसे नायक से अभिन्न समझता है और इस आभास के फलस्वरूप वह अपने मन में नायक के वास्तविक मनोभाव का अनुमान कर लेता है, क्योंकि वह अभिनय के विशिष्ट सौंदर्य से प्रभावित होता है। इन दोनों ही सिद्धांतों में एक कठिनाई रह जाती है। वह यह है कि यदि रस वस्तुनिष्ठ होने के कारण उत्पाद्य अथवा अनुमेय है तो इससे दर्शक के मन में एक व्यक्ति-निष्ठ आस्वाद्य भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है, जबकि दर्शक में विभाव इत्यादि का अभाव माना जाता है? इसके विपरीत, यदि यह कहा जाए कि दर्शक में भी रस का भाव होता है तो यह प्रश्न रह जाता है कि विशिष्ट नायक (जैसे—राम, जो कि दर्शक से भिन्न अथवा श्रेष्ठ हैं) के विशिष्ट मनोभाव का आस्वादन अथवा उसकी प्रतिपत्ति दर्शक के अपने व्यक्तिगत मनोभाव के रूप में कैसे हो सकती है? भट्टनायक ने इन आक्षेपों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है।[1] अभिनवगुप्त ने अपने '—लोचन' (पृ० 67-68) में इनकी इस प्रकार व्याख्या की है: 'रस को यदि परगत कहा जाए तब उसकी ताटस्थ्य स्थिति हो जाती है, अर्थात् व्यक्ति स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता। राम इत्यादि चरितमय काव्य में रस स्वगत नहीं होता। यदि रस को स्वगत मान लिया जाय, तब

1. भट्टतौत ने भी शंकुक के मत पर आपत्ति की है। अभिनव ने (उन्हें 'अस्मदुपाध्याय माघ' सम्बोधित करते हुए) एक स्थल पर उनके मत का सार संग्रह किया है, जिसे हेमचन्द्र ने भट्टतौत के प्रकरण में पृ० 52 पर अधिकांशतः उद्धृत किया है। माणिक्यचंद्र पृ० 43 भी देखिए। उन्होंने भी तौतसम्बन्धी अभिनव की व्याख्या का उद्धरण किया है।

रस की स्वयं में, अर्थात् व्यक्ति में, उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। किंतु यह अयुक्त है, क्योंकि दर्शक में विभाव का अभाव रहता है। यदि ऐसा कहा जाए कि वासना-विकास का हेतु साधारण कांतत्व, विभाव के रूप में प्रयुक्त होता है तो देवता-वर्णन इत्यादि में इसका कैसे प्रयोग हो सकता है ? स्व-कांता-स्मरण संवेद्यता में बाधाकर नहीं होता। अलोक-सामान्य रामादि के समुद्र-सेतु-बंधादि विभाव, दर्शक के मन में साधारण कैसे हो सकते हैं ? राम के उत्साहादि का स्मरण नहीं होता, क्योंकि अपना उत्साह उसके अनुरूप नहीं होता। शब्द से अर्थात् काव्य से रस की प्रतिपत्ति होने पर भी रस का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि नायक-मिथुन के प्रत्यक्ष प्रेक्षण से भी हो सकता था। यदि यह कहा जाय कि रस की उत्पत्ति होती है, तब दुःखांत काव्य में अप्रवृत्ति हो जायगी, क्योंकि करुण रस के अभिनय से उसे दुःख का ही अनुभव होगा।[1]

भट्ट नायक ने इन पूर्ववर्ती सिद्धांतों का निराकरण करते हुए भोग नामक एक विशिष्ट सिद्धांत की स्थापना करने का यत्न किया है। भोग में रस का आस्वादन संभव हो सकता है। उसका कथन है (मम्मट इत्यादि की व्याख्या के अनुसार) कि (1) कार्य के रूप में रस उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अवास्तविक कारक (अर्थात् विभाव) से वास्तविक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (2) रस अनुमेय नहीं है, क्योंकि वास्तविक नायक (यथा, राम) का दर्शन के समक्ष अस्तित्व नहीं होता, अतएव उसके भाव का भी अस्तित्व नहीं होता और जिसका अस्तित्व नहीं होता, उसका अनुमान तथा स्मृति भी नहीं हो सकती (न तत्वतो रामस्य स्मृतिः, अनुपलब्धत्वात्)। न ही रस किसी शक्ति-रूप की अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा होता, तो उत्पाद्य भाव एक बार विकसित हो जाने पर अपने-अपने स्थान पर विभिन्न मात्रा में विद्यमान रहेगा और फलस्वरूप रस की एकात्मकता का प्रतिषेध हो जायगा। इसके अतिरिक्त, रस की उत्पत्ति स्वयं में होती है अथवा अन्य व्यक्ति

1. रसो यदि पर-गततया प्रतीयते, तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्व-गतत्वेन रामादि-चरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनिरसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात् सा चायुक्ता, सामाजिक प्रत्यविभावत्वात्। कांतात्वं साधारणं वासना-विकास-हेतु विभावनायां प्रयोजकं चेत्, देवता-वर्णनादौ तदपि कथम् ? न च स्वकांतास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोक-सामान्यानां च रामादीनां ये समुद्र-सेतु-बंधादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भवेयुः ? न चोत्साहादि-मात्रं स्मर्यते, अननुरूपत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः, प्रत्यक्षादिव नायकमिथुन-प्रतिपत्तौ। उत्पत्ति-पक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्, तन्न।

में होती है, यह समस्या भी रह जाती है। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए भट्टनायक (अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार) का कथन है कि भोज्य-भोजक के परस्पर संबंध के आधार पर रस का आस्वादन विभावापेक्ष होता है। इस मत[1] के अंतर्गत शब्द की तीन शक्तियाँ बताई गई हैं—अभिधा (जिसे मीमांसकों तथा व्याकरणाचार्यों ने पहले से ही स्वीकार किया है), भावकत्व तथा भोजकत्व। इसी प्रकार काव्य की भी अपनी तीन शक्तियाँ कही गई हैं—अभिधा शक्ति, भावकत्व शक्ति तथा भोजकत्व शक्ति। अभिधा शक्ति शब्द के केवल अभिधार्थ की ही द्योतक नहीं है, वरन् उसमें लक्षणा भी शामिल है (अभिधा लक्षणैव)।[2] प्राचीन चिंतन में शब्द की जिन दो शक्तियों, अर्थात् अभिधा तथा लक्षणा, का विवेचन किया गया था, वे उक्त अभिधा में सम्मिलित हैं। संभवतः आशय यह है कि भट्टनायक के मतानुसार अभिधा शक्ति रसाश्रित शक्ति के आलंकारिक महत्व को भी परिलक्षित करती है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है, प्रकट रूप में 'भावकत्व' (अथवा 'रस-भावना') का विवेचन भरतकृत 'भाव' के सामान्य निरूपण के आधार पर ही किया गया है। भावकत्व का अर्थ है ऐसी भावकत्व शक्ति, जिसके द्वारा विशिष्ट धर्मनिरपेक्ष विभावों तथा स्थायी भाव का सामान्य बोध हो सके। उदाहरण के लिए, सीता 'विभाव' की प्रतिपत्ति इस भावकत्व शक्ति द्वारा विशिष्ट व्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु एक सामान्य स्त्री के रूप में ही होती है, तथा स्थायी भाव (यहाँ सीता के प्रति राम का स्नेह) वस्तु अथवा कारक (कर्त्ता) निरपेक्ष सामान्य स्नेह का ही द्योतक है। इस प्रकार, दर्शक को विभाव तथा स्थायीभाव का सामान्य रूप में बोध हो सकता है। रस में इस प्रकार भावकत्व शक्ति आ जाने के पश्चात् उसमें भोजकत्व शक्ति आ जाती है। भोजकत्व शक्ति द्वारा विभावोसहित स्थायी भाव का इसी सामान्य रूप में आस्वादन होता है। सांख्याचार्यों की भाषा में, जिसका इन सैद्धांतिकों ने उपयोग किया है, इस भोजकत्व को प्रवुद्ध, पूर्ण तथा आनंदमय ज्ञान के आस्वादन के

---

1. अभिनव ने नाट्यशास्त्र की टीका पृ० 244—'लोचन', पृ० 68, मम्मट ने अध्याय iv., हेमचंद्र ने पृ० 61 इत्यादि पर तथा गोविंद ने पृ० 66 पर भट्टनायक के मत का उल्लेख करते हुए उनकी आलोचना की है।

2. चिंतामणि (जर्नल ऑफ ओरिएंटल रिसर्च, 1927, पृ० 275, पा० टि०) ने 'अभिधाविलक्षणैव' पाठ ग्रहण किया है। उनका कहना है कि क्योंकि भट्टनायक मीमांसक थे, इसलिए वे लक्षणा को अभिधा में शामिल नहीं कर सकते थे। त्रिवेदी (एकावली, पृ० 425) ने हमारा पाठ 'अभिधा लक्षणैव' ही स्वीकार किया है।

समान कहा गया है, जिसकी अनुभूति मनुष्य-गत सत्व-गुण क आधिक्य के कारण होती है। यह अनुभूति, व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण लौकिक सुखानुभूति से भिन्न होती है। भोजकत्व को दो प्रकार के ज्ञान, 'अनुभव' तथा 'स्मरण' से भिन्न बताया गया है। मन का विद्रवण, व्याप्ति, तथा विस्तार इसके लक्षण हैं। इसीलिए 'इसे ब्रह्मास्वाद-सचिव' समान कहा गया है। अतएव, भट्टनायक के मतानुसार, अभिधा तथा भावकत्व की शक्ति से काव्य तथा रूपक में सामान्य रूप से स्थायीभाव ही रस होता है। इस रस की अनुभूति भोग नामक आनन्दमय विधि से होती है। व्यक्तिनिरपेक्ष तथा अलौकिक आस्वाद्य स्थिति प्राप्त कर लेने पर इस रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।

यह द्रष्टव्य है कि विभिन्न रस-सिद्धांत, रूपक तथा काव्याश्रित होते हुए भी भारतीय दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों से सामान्यतः प्रभावित रहे हैं। लोल्लट स्पष्ट रूप में मीमांसक हैं। उनके मतानुसार शब्द का अभिधार्थ बहुत व्यापक होता है। अभिधा द्वारा रस के रूप में सभी प्रकार के लक्षित अथवा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसके विपरीत, शंकुक नैयायिक हैं। उन्होंने अनुमान द्वारा रस को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि तर्काश्रित अनुमान द्वारा अभिधार्थ से लक्षित रस की निष्पत्ति हो सकती है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अनुमित भाव का ज्ञान, सामान्य अथवा लौकिक अनुमिति से भिन्न होता है, क्योंकि भाव की प्रतिपत्ति भाव के विलक्षण सौंदर्य से होती है। इस दिशा में भट्टनायक का मत और भी अधिक विकास का परिचायक है। उनके सिद्धांत के अन्तर्गत रस का वस्तुनिष्ठ के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठ विवेचन किया गया है तथा दर्शक के स्वगत अनुभव के रूप में रस की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त, यह भी सिद्ध होता है कि भट्टनायक ने अपने विशिष्ट भोग सिद्धांत में अधिकांशतः सांख्य-शास्त्र का अनुकरण किया है।

यहाँ सांख्य मनोविज्ञान अथवा तत्वमीमांसा का सविस्तर विवेचन आवश्यक नहीं है, किंतु काव्य-संकलपना तथा उससे उत्पन्न कलात्मक सुख पर सांख्य के मुख्य सिद्धांतों के प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है।[1] सांख्य में विकास का प्रयोजन भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति है। काव्य में रस का भोक्ता ब्रह्मवेत्ता के समान है, किंतु सौंदर्यात्मक भाव, दार्शनिक भाव से भिन्न है। सौंदर्यात्मक भाव वास्तव में,

---

1. प्रोसिडिंग्ज एंड ट्रांजैक्शन्ज ऑफ दि फर्स्ट ओरिएंटल कान्फरेंस', पूना, खंड 2, 'इंडियन एस्थेटिक्स' शीर्षक के अन्तर्गत एम० हिरियन्ना ने इस विषय पर कुछ विस्तार से चर्चा की है।

'संवित्' (अथवा 'चित्-स्वभाव') अर्थात् निर्लिप्त विशुद्ध चिंतन का भाव होता है, जिसका फल 'विश्रांति' है, किंतु दार्शनिक भाव में सुख-दुख तथा अहंकार की पूर्ण विरक्ति होती है, क्योंकि वेत्ता, अपनी बुद्धि के ऊपर उठकर व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाता है। दोनों दशाओं में सात्विक गुण के आधिक्य के कारण ही ऐसा होता है, किंतु आध्यात्मिक भाव में बुद्धि के सहज सात्विक गुण को विकृत करनेवाली वासनाओं की अहंकारात्मक प्रवृत्तियों का निवारण हो जाता है तथा वास्तविक वेत्ता, प्रकृति तथा पुरुष के अपृथकत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप इंद्रियज्ञान से ऊपर उठ जाता है। सौंदर्यात्मक भाव में इस प्रकार की पूर्ण विरक्ति संभव नहीं है। काव्य-जगत्, काल्पनिक होने के कारण, सामान्य जगत् से भिन्न है। इसमें अहंकारात्मक वासनाओं का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि काव्य-वस्तु विषय से कोई विशिष्ट वस्तु लक्षित नहीं होती। काव्य-वस्तु अथवा विषय सर्वथा व्यक्ति-निरपेक्ष होता है। इस प्रकार के व्यक्ति-निरपेक्ष काव्य द्वारा दर्शक अनुरक्ति-जन्य दुःख से मुक्ति प्राप्त करता है, किंतु इस साधन द्वारा सामान्य जगत से केवल क्षणिक मुक्ति ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति के समान दर्शक भी अपनी बुद्धि का सर्वथा अतिक्रमण नहीं कर सकता। काव्यास्वादन के तीन सोपानों से, जिनके माध्यम से सौंदर्यात्मक रस की अनुभूति होती है, यह सूचित होता है कि अभिधार्थ ज्ञान का महत्त्व केवल इतना ही है कि उसके द्वारा विशिष्ट वस्तु-निरपेक्ष सामान्य कल्पनाओं का बोध हो सकता है। यह सामान्यीकरण 'भावकत्व' के माध्यम से होता है, जिसके फलस्वरूप भावों को जागृत करनेवाले कारक तथा स्वयं भाव भी व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाते हैं। कल्पनात्मक काव्य रचना से 'भोग' का आविर्भाव होता है, जो सुख की अवस्था का द्योतक तथा प्राकृतावस्था से भिन्न होता है, क्योंकि प्राकृतावस्था सदैव सुखावह नहीं होती। भोग आध्यात्मिक भाव से भिन्न होता है, क्योंकि आध्यात्मिक भाव सुख-दुःख निरपेक्ष होता है।

3

भट्टनायक के सिद्धांत की किंचित् विस्तृत आलोचना की गई है। इस आलोचना से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धांत पूर्ववर्ती सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली रहा। निस्संदेह अभिनवगुप्त का सिद्धांत भी इससे प्रभावित था। ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के नवीन सौंदर्य-सिद्धांत की व्याख्या का श्रेय अभिनवगुप्त को ही प्राप्त है।

ध्वनिकार की रस-ध्वनि तथा रस की व्याख्या नाट्याश्रित रस-मत से बहुत प्रभावित प्रतीत होती है। भरत का कथन है कि आठ में से किसी एक अथवा अधिक रस का विकास करना ही रूपक का प्रयोजन है। इसलिए काव्यात्मक सिद्धांतों के विवेचन से भी पहले नाट्यकला के लिए उपयोगी मानव-भावों का सविस्तर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया था। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रक्रम तथा अहं की एक विशिष्ट अवस्था के बोध को लक्षित करनेवाले परम मानसिक अनुभव अर्थात् रस के विषय पर भरत के टीकाकारों तथा अनुयायियों ने ध्वनिकार तथा उनके पश्चात् आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त से पहले, भरत के तत्संबंधी मत की व्याख्या की। पूर्ववर्ती रूपक तथा नाट्य-सिद्धांत की रसविषयक कल्पना का काव्य तथा काव्य-सिद्धांत में अनुप्रयोग होना स्वाभाविक ही था। सरल काव्य का भावपूर्ण काव्य में संक्रमण हो जाने के पश्चात् आचार्यों ने काव्य के एक आवश्यक अंग के रूप में रस का प्रतिष्ठापन किया। आनंदवर्धन ने इस विषय में स्पष्ट ही कहा है (पृ० 81)--'एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबंधन भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।' दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भरत तथा अन्य नाट्याचार्यों की स्थापनाएँ काव्य में इस प्रकार उपलब्ध हुईं और इन्होंने काव्य-विचार का पूर्णतया संस्कार कर दिया।[1] अभिनवगुप्त ने साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें भरत के नाट्यशास्त्र तथा उनके मतानुयायियों की रचनाओं का भी ज्ञान था अतएव, इस दिशा में एक पग आगे बढ़कर उन्होंने कहा है—नाट्यात् समुदयरूपाद् रसः, रससमुदयो हि नाट्यम्, न नाट्य एव च रसः काव्योऽपि-नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थः।" इन आचार्यों ने ऐसा अनुभव किया कि नाट्यविद्या के समान काव्य के किसी भी सिद्धांत में भावों, अनुभावों तथा रसों की अवहेलना नहीं की जा सकती। काव्य में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है। रस की निष्पत्ति जैसे रूपक का प्रयोजन है, वैसे ही काव्य का भी प्रयोजन है। कालांतर में उस भाव तथा कल्पना पर बल दिया जाने लगा, जिसका हमलोगों तक संप्रेषण करने में कवि सफल होता है। प्राचीन लेखकों ने जिस बाह्य व्यंजना को इतना महत्त्व दिया था, उसे अब केवल काव्यात्मक भाव की अभिव्यक्ति का साधन मात्र ही माना जाने लगा है।

---

1. रुद्रभट्ट ने भी कहा है (1·5) कि भरत इत्यादि आचार्य नाट्याश्रित रस का पहले ही विवेचन कर चुके हैं, मेरा प्रयोजन तो काव्याश्रित रस का निरूपण करना है। एम० लिंडेनो के 'रसलेहरे' पृ० 2 से तुलना कीजिए।

पूर्ववर्ती आचार्यों का रस-विषयक विवेचन स्पष्ट रूप में अपूर्ण रहा है। अभिनवगुप्त द्वारा उसकी आलोचना उचित ही है, किंतु रस-सिद्धांत की इस प्रकार व्याख्या की गई कि न केवल उसकी त्रुटियाँ ही दूर कर दी गईं, अपितु नवीन मत ने जिस ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्त्तन किया, उसमें भी रस को यथा-योग्य स्थान प्राप्त हो गया। यहाँ ध्वनि-सिद्धांत की विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है, उसपर यथास्थान विचार किया जायगा, किंतु विवेचन तारतम्य तथा सुविधार्थ ध्वनि-सिद्धांत में रस का किस प्रकार समावेश कर लिया गया, यह बताना अपेक्षित है। ध्वनि-मत में काव्य के आवश्यक अंगों के विश्लेषण के फलस्वरूप यह अनुभव किया गया कि सुन्दर काव्यांश के दो अंग किए जा सकते हैं। पहला काव्य का वाच्य अथवा अभिधार्थ होता है, दूसरा वाच्य न होकर पाठक अथवा श्रोता की कल्पना पर आश्रित होता है। ऐसा अवाच्य अथवा लक्षित अंग, स्पष्ट रूप में वाच्य से संबद्ध होता है तथा एक विशिष्ट व्यंजना-प्रक्रम से उसका विकास होता है। इसे ही काव्य की 'आत्मा' कहा गया है। अवाच्य ही को काव्य की आत्मा कह दिया गया, यह बात वैयाकरणों तथा आचार्यों को कुछ अटपटी लगी। इसके विपरीत, औचित्यवश, शब्द की अपेक्षा संकेत तथा लक्षण के माध्यम से अर्थ-व्यक्ति के लिए उपयुक्त सांकेतिक भाषा का किसी-न-किसी रूप में सदैव प्रयोग किया जाता रहा है और कवि अपने विचारों को न्यूनाधिक रूपकात्मक अथवा आलंकारिक भाषा में व्यक्त करने के पक्षपाती रहे हैं। किंतु लक्ष्यार्थ काव्य अलंकारात्मक मात्र काव्य से कुछ भिन्न होता है। वामन ने स्पष्ट रूप में इस बात को स्वीकार किया था और अलंकार तथा रीति-मतों के अंतर्गत इसे बड़ा महत्त्व दिया गया था। अलंकार अथवा रूपकाश्रित अर्थ कितना भी प्रच्छन्न क्यों न हो, वाक्य ही माना जाता है, किंतु लक्षितार्थ सदैव अवाच्य रहता है और इसलिए गोपनीयता के कारण अपेक्षाकृत अधिक सौंदर्यवर्धक होता है। जैसा कि इस मत में प्रतिपादित किया गया है, इस अवाच्य अर्थ की उत्पत्ति शब्द तथा उसके अर्थ की विशिष्ट लक्षणा शक्ति के कारण होती है।

शब्द अथवा अर्थ की लक्षणा शक्ति के कारण अवाच्य अर्थ एक अवाच्य अथवा अनुक्त वस्तु अथवा अनुक्त अलंकार हो सकता है, किंतु अधिकांशतः यह रस ही होता है, जो प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य होता है। अतएव, ध्वनि-मत में भावों तथा रसों को अवाच्य मानकर रस को ध्वनि-सिद्धांत के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया

गया है।[1] जैसा कि आचार्य दंडी का मत था, यह अनुभव किया गया कि सुंदर कल्पना को सुंदर शब्द-परिधान में विभूषित कर देना मात्र ही काव्य नहीं है, काव्य में भावों तथा अनुभावों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किंतु भाव तथा अनुभाव स्वयं अवाच्य होते हैं। भाव को नाम तो दिया जा सकता है, किंतु नाम देने मात्र से भाव की व्यंजना अथवा विकास नहीं हो जाता। भावों को लक्षित ही किया जा सकता है। कवि प्रत्यक्ष रूप में केवल विभावों का ही वर्णन कर सकता है, किंतु इन वाच्य विभावों का लौकिक रूप से भिन्न, काव्यजगत् में विभावकत्व अथवा साधारणीकरण होना आवश्यक है। कवि इन्हीं विभावों की सहायता से, शब्द तथा अर्थ में निहित लक्षण शक्ति के द्वारा हम में आत्मा की एक ऐसी अलौकिक अवस्था जाग्रत करता है, जिसमें भाव का आस्वादन संभव हो जाता है। यह सत्य है कि कवि जिस विभाव का वर्णन करता है, उसी के भाव की अनुभूति नहीं करवा सकता; उदाहरणार्थ, राम की; किंतु वह विभाव की प्रतिमूर्त्ति को अवश्य जाग्रत कर सकता है, जो अंशतः विभाव के समान हो जा सकती है। काव्य तथा रूपक में इस प्रकार के भाव की अनुभूति ही पाठक की आत्मा की रसास्वादन-अवस्था है। शब्द अथवा अर्थ में निहित केवल लक्षणा शक्ति के द्वारा इस अवस्था का ज्ञान हो सकता है।

ध्वनि-मत के व्याख्याताओं ने रस-सिद्धांत को एक नई दिशा प्रदान की है। जिस प्रकार उन्होंने भरत के रस-विषयक मुख्य सूत्र की व्याख्या की है, उसके अनुसार व्यंग्य तथा व्यंजक के संबंध के द्वारा स्थायी भाव का विभावों के साथ संयोग रस को लक्षित करता है, अतएव भरत के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्ति' ही होना चाहिए।

लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की प्रत्यक्ष परंपरा में जिस प्रकार इस मत के अंतर्गत रस-सिद्धांत की व्याख्या की गई है, उसे मम्मट इत्यादि आचार्यों ने अभिनवगुप्त के नाम से संबद्ध किया है।[2] भट्टनायक के सिद्धांत पर टिप्पणी करते हुए अभिनव ने कहा है कि प्रमाणाभाव के कारण 'भावकत्व' तथा 'भोगीकरण' नामक दो शक्तियों को स्वीकार कर लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'रसव्यंजना' तथा उसकी चरम अवस्था, अर्थात् 'आस्वाद' में उक्त दोनों शक्तियाँ

---

1. स्वयं आनंदवर्धन ने कहा है (ध्वन्या० पृ० 163) कि मेरा प्रयोजन केवल ध्वनि की स्थापना ही नहीं, अपितु यह सिद्ध करना भी है कि ध्वनि, रस के अनुरूप है।
2. आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के सामान्य सैद्धांतिक पक्षों में परस्पर कुछ भेद है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

पहले से ही अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान होती हैं। भरत की उक्ति 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः' का यह अर्थ है कि काव्यार्थ को बुद्धिगम्य बनाने के साधन के रूप में सभी 'भावों' में 'भावकत्व'-क्षमता निहित होती है। यहाँ 'अर्थ' शब्द रसास्वादन के मुख्य अर्थ का सूचक है। अतएव, दोनों प्रकार के भाव, अर्थात् स्थायी तथा व्यभिचारि, इस अंतर्निहित भावकत्व शक्ति के द्वारा काव्य के विशिष्ट आस्वाद्य अर्थ का उत्पादन करते हैं। इस अर्थ की प्रतिपत्ति सामान्य अथवा व्यक्तिनिरपेक्ष रूप में होती है। इस प्रकार, स्थायी भाव को रस का 'भावक' अथवा 'निष्पादक' कहा जा सकता है और यह तथाकथित 'भावकत्व', अभिनव के मतानुसार, शब्द तथा अर्थ की लक्षणा शक्ति द्वारा रस-विकास के प्रयोजन के लिए गुण तथा अलंकार के समुचित परिग्रह पर अवलंबित है (समुचित-गुणालंकारपरिग्रहात्मकम्)। अभिनव ने इस प्रकार 'भावना' अथवा 'भावकत्व' को आंशिक रूप में स्वीकार तो किया है, किंतु इनकी व्याख्या में कुछ भिन्नता की है। उन्होंने तत्पश्चात्, भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित 'भोग' अथवा 'भोगीकरण' नामक दो शक्तियों की चर्चा की है। उनका कथन है कि रस की 'प्रतीति' के अतिरिक्त 'भोग' नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि 'भोग' आस्वादन का ही सूचक है तो वह रस शब्द से लक्षित हो जाता है, एक नया नाम देने से क्या लाभ है? अभिनव का मत है कि भट्टनायक का 'भोग', 'रति' इत्यादि स्थायी भावों पर आश्रित तथा काव्य की लक्षणा शक्ति के कारण, 'रसास्वाद' ही है। इसलिए, भोग ध्वन्यात्मक ही है, इसे एक पृथक् शक्ति नहीं माना जा सकता (भोगीकरण-व्यापारश्च काव्यात्मकरसविषयो ध्वननात्मैव)।

अभिनवगुप्त का कथन है कि रस की यह 'प्रतीति', लक्षणा शक्ति द्वारा रस की अभिव्यक्ति के कारण होती है। इसी 'प्रतीति', को 'रसना', 'आस्वाद' अथवा 'चर्वणा' अवस्था कहा गया है। अभिव्यक्ति स्वयं रस की नहीं होती, अपितु रस के आस्वाद की होती है। विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति न होकर पाठक के मानस-पटल पर सौंदर्यात्मक आस्वादन की स्वगत अवस्था के रूप में उस भाव की छाया पड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार का रसास्वादन ज्ञानात्मक होता है, किंतु इस ज्ञान की प्रतिपत्ति लौकिक साधनों से नहीं होती, क्योंकि इस ज्ञान के कारक अथवा साधन (अर्थात् 'विभाव') लौकिक नहीं होते।[1] यद्यपि ये तीन कारक रस की निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं और इनके

1. यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि करुण, बीभत्स तथा भयानक-जैसे करुणात्मक, बीभत्सात्मक तथा भयानक रस भी आस्वाद्य बताए गए हैं।

बिना रस का अस्तित्व नहीं हो सकता, तथापि रस को एक सामान्य कार्य नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में कार्य-कारण सिद्धांत लागू नहीं होता, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि काव्य के अलौकिक क्षेत्र में कार्य-कारण संबंध के स्थान पर पाठक के मानस अथवा आत्मा को रसानुभूति में सक्षम, कल्पनात्मक संबंध-क्रम की स्थापना हो जाती है। निष्पादित रस का 'विभावों' से तादात्म्य नहीं हो

रस का आस्वादन एक ऐसा अलौकिक आनंद कहा गया है, जो व्यक्ति-निरपेक्ष होने के अतिरिक्त, स्वगत अथवा अहंकारात्मक वासनाओं के आधिक्य से उद्भूत लौकिक सुख-दुःख से भिन्न होता है। मन रस में इतना तल्लीन हो जाता है कि उस अवस्था में शोक अथवा भय के आस्वादन से दुःख का अनुभव नहीं होता और यदि कुछ होता भी है तो यह सुखात्मक दुःख का अनुभव होता है। सामान्य अनुभव से भी इस बात की पुष्टि होती है, क्योंकि रंगमंच पर शोक के अभिनय के प्रति दर्शक यही कहता है कि मैंने उसका आस्वादन किया है। अतएव, अभिनवगुप्त का कथन है—'सामाजिकानां हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्'। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार कहा है (iii. 6-7 तथा वृत्ति) कि लोक में जिन वस्तुओं को सुख तथा दुःख का कारण बताया गया है (यथा, सीता-वनवास), वही वस्तुएँ काव्य तथा रूपक के क्षेत्र में, व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाने के कारण 'अलौकिक विभाग' इत्यादि के रूप में मान ली जाती हैं और उनसे सुख की उसी प्रकार अनुभूति होती है, जिस प्रकार सुरत में दंत-दंश इत्यादि से होती है। यदि वास्तव में ही दुःख का अनुभव होता हो तो फिर काव्य तथा रूपक में कोई भी प्रवृत्त न हो (किंच तेषु यदि दुःखं न कोऽपि स्यात तदुन्मुखः)। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि अश्रुपात इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि काव्य में सुख की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि पाठक के अश्रुपात का कारण दुःख नहीं होता, रसानुभूति होती है। इस विषय में जगन्नाथ का कथन बड़ा रोचक है। उनका कहना है (पृ० 26) कि अश्रुपात इत्यादि सुखानुभव के वैशिष्ट्य के कारण होती है, दुःखानुभव के कारण नहीं होता। अतएव, इष्ट देव की स्तुति के श्रवण मात्र से भक्त के नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। इस अवस्था में दुःख का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। काव्य में काव्य से उत्पन्न विरागात्मक शक्ति इतनी प्रबल होती है कि उसके फलस्वरूप शोक इत्यादि अशुभ वस्तुओं से व्यक्ति-निरपेक्ष सुख की ही उत्पत्ति होती है। व्यक्ति-निरपेक्ष अथवा आदर्शात्मक कलापूर्ण रचनाओं के इस सुखात्मक रसास्वादन को लौकिक अनुभव से भिन्न मानना ही उचित है। 'नाट्य-दर्पण' में प्रतिपादित एक अन्य सिद्धांत में कहा गया है कि इस रस में शोक का पुट रहता है। अपने 'शृंगार-प्रकाश' में भोज ने इस प्रकार कहा है—'रसा हि सुख-दुःखावस्थारूपाः।' देखिए राघवन् का 'नंबर ऑफ रसाज्' (अड्यार 1040), पृ० 155.

सकता, क्योंकि विभावों की अनुभूति रस से पृथक् नहीं होती, अपितु सब कुछ सहज तथा अविभाज्य, रस ही प्रतीत होता है। आस्वादन की अवस्था में रस के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अलंकार विद्या के आचार्यों ने इस अवस्था की व्याख्या करते हुए इसे आसव के सदृश बताया है। काली मिर्च, गुड़, कपूर इत्यादि द्रव्यों को मिलाकर प्रपाक (पेय) तैयार किया जाता है, किंतु इस प्रपानक का स्वाद इसके प्रत्येक घटक से भिन्न होता है। परिणाम-स्वरूप स्वाद में ऐसी एकात्मकता होती है कि प्रपानक में प्रयुक्त घटकों का लेशमात्र भी पता नहीं चलता।

अभिनवगुप्त ने इससे भी एक पग आगे बढ़कर कहा है कि लौकिक कारणों (यथा, नारी, उद्यान इत्यादि) से अनुमानित स्थायी भाव सूक्ष्म वासनाओं के रूप में, सहृदय दर्शकों के हृदय में विद्यमान रहता है। आचार्यों ने तो पहले से ही वासनाओं के अस्तित्व को स्वीकार किया है। काव्य-पाठ करते समय अथवा नाटक देखते समय, वासना के रूप में विद्यमान यह स्थायी भाव, प्रत्यक्ष 'विभाव' इत्यादि से लक्षित होता है। काव्य और रूपक से इन विभावों को 'लौकिक' कारण न कहकर 'विभाव' इत्यादि नाम से लक्षित किया जाता है। इन विभावों का विशिष्ट संबंध निरपेक्ष, सामान्य रूप में ही स्वीकार किया जाता है। अतएव, पाठक के मानस में 'विभावों' का साधारणीकरण हो जाता है अथवा विभाव उसके मानस में व्यक्तिनिरपेक्ष रूप में ही विद्यमान रहते हैं। यह साधारणीकरण, जैसा कि भट्टनायक का मत था, भावकत्व शक्ति के द्वारा नहीं होता, अपितु काव्य में यह साधारणीकरण सामान्यतः शब्द तथा अर्थ की लक्षणा शक्ति द्वारा तथा विशेषतः गुण तथा अलंकार के कुशल प्रयोग द्वारा होता है और रूपक में कुशल अभिनय द्वारा होता है। इसी प्रकार, रस के हेतु (कारण), स्थायी भाव[1] का भी साधारणीकरण हो जाता है, क्योंकि

---

1. इसे स्थायी इसलिए कहा गया है कि अन्य सभी भावों के समान अस्थायी होते हुए भी, वासना अथवा संस्कार के रूप में, इसकी छाप न्यूनाधिक स्थायी होती है, रस की प्रतीति होने पर स्थायी भाव की निष्पत्ति होती है। तुलना कीजिए, 'प्रभा', पृ० 61—'अंतःकरण प्रवृत्ति-रूपस्य रत्यादेराशुविनाशत्वेऽपि संस्कारात्मना चिरकाल-स्थायित्वाद् रस-प्रतीतिकाल-मनुसंधानाच्च स्थायित्वम्।' किंतु संभवतः आरंभ में इसे स्थायी इसलिए कहा गया था, क्योंकि यह प्रबंध का स्थायी भाव अथवा स्थायी रस होता है तथा कोई भी सजातीय अथवा विरोधी भाव इसका परिहार नहीं कर सकता। अन्य भाव इसकी पुष्टि ही करते हैं। किंतु 'स्थायी' स्वयं

वासना के रूप में इसका बीज पाठक के मन में पहले से ही विद्यमान होता है। स्थायी भाव तथा विभाव इत्यादि के साधारणीकृत अभिनय के सौंदर्य के कारण देश-काल की सीमाएँ दूर हो जाती हैं। भाव के साधारण हो जाने का अर्थ यह भी है कि वह किसी व्यक्तिविशेष को लक्षित न करके पाठक सामान्य को परिलक्षित करता है। फलस्वरूप व्यक्तिविशेष भी उसका आस्वादन करता हुआ यही समझता है कि इसका आस्वादन केवल मैं ही नहीं करता, अपितु सभी सहृदय इसका आस्वादन करते हैं। दर्शक अथवा पाठक के मन में इस स्वगत रसास्वादन को काव्य तथा रूपक में रस कहा गया है।

शास्त्रीय सूक्ष्मताओं से रहित, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मन में पूर्वानुभूत वासनाएँ अथवा पूर्व-जन्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। काव्य में समान वस्तु के वर्णन से उन संस्कारों का उद्दीपन हो जाता है। भाव के सामाजिक होने के कारण हमारा भी उसी भाव से तादात्म्य हो जाता है और हम स्वयं को उसी अवस्था में विद्यमान होने की कल्पना कर लेते हैं। यह द्रष्टव्य है कि इन आचार्यों ने 'वासना' तथा 'साधारण' अथवा 'साधारणीकरण' को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति को रति भाव का अनुभव नहीं है, न उसमें रति की वासना का अस्तित्व है और न ही उसे मानवीय भावों का ज्ञान है, वह व्यक्ति रस का आस्वादन नहीं कर सकता। 'वासना' को 'नैसर्गिकी' बताया गया है, पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण हमारे मन में वासना का अस्तित्व रहता है, किंतु स्वाध्याय तथा अनुभव से भी 'वासना' की प्राप्ति हो सकती है। काव्य विधा के आचार्यों ने नीरस वैयाकरणों तथा प्राचीन मीमांसकों की निर्दयतापूर्ण (कड़ी) आलोचना की है। इस प्रकार के लोग रसास्वादन नहीं कर सकते। इन आचार्यों का एकमत कथन है कि 'रसिक' ही रस का आस्वादन कर सकता है। रस, नायक अथवा अभिनेता पर आश्रित कोई वस्तुनिष्ठ पदार्थ नहीं है, अपितु एक स्वगत अवस्था है। उसका सौंदर्यात्मिक आस्वादन पाठक की अपनी क्षमता पर निर्भर है। अतएव, समालोचक, रसिक अथवा सहृदय को काव्य की सूक्ष्म कल्पना के अनुरूप सुसंस्कृत, अनुभवी होने के अतिरिक्त सौंदर्य-सिद्धांत का ज्ञाता होना आवश्यक है। इस विषय में अभिनव-

---

'रस' नहीं है, इसका 'व्यक्ति विशिष्ट' तथा 'विभावादि-मेलक' तथा फलस्वरूप 'चर्वणोपयोगी' अथवा आस्वाद्य होना आवश्यक है, गोविंद, पृ० 62. रस की परम आस्वाद्य अवस्था 'स्थायी' तथा 'विभाव' के संसर्ग से मुक्त होती है।

गुप्त का कथन है—'अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः'। उन्होंने ऐसे सहृदय का वर्णन इस प्रकार किया है ('लोचन', पृ० 11)—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय-संवादभाजः सहृदयाः।"

यहाँ यह कहा जा सकता है कि रस' की इस सूक्ष्म कल्पना को पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत की शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। व्युत्पत्ति के आधार पर रस शब्द के 'फ्लेवर', 'रेलिश', 'गस्टेशन,' 'टेस्ट,' 'गेशमक' अथवा 'सेव्यूर' पर्याय बनाए गए हैं, किंतु इनमें से कोई भी पर्याय पर्याप्त नहीं है। एक सरल शब्द 'मूड' अथवा जेकोबी द्वारा प्रयुक्त 'स्टीमुंग' (Stimmung) शब्द संभवतः रस का निकटतम पर्याय है, किंतु यूरोपीय समीक्षा-सिद्धांतों में रस के सदृश कोई कल्पना नहीं है। प्रयुक्त किए गए अधिकतर पर्यायों के अपने-अपने सूक्ष्म अर्थ हैं और इसलिए उन्हें यथार्थ रूप में रस के पर्याय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'टेस्ट' अथवा 'रेलिश' शब्द शब्दशः तो ठीक है, किंतु सौंदर्यात्मक मूल्यांकन, अर्थात् 'अच्छा या बुरा' टेस्ट का वाचक नहीं हो सकता अपितु भोजन चखने के समान अर्थ का ही सूचक हो सकता है। तथापि, रस के इस व्यावहारिक अथवा यथार्थ वर्णन के कारण रस को निम्न शारीरिक कोटि का सुख कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कलात्मक सुख को लौकिक सुख से श्रेष्ठ, लगभग आध्यात्मिक आनन्द के समान कहा गया है।

अभिनवगुप्त के कथनानुसार, इस विशिष्ट मानसिक व्यवस्था, अर्थात् रस-निष्पत्ति, शब्द तथा अर्थ में निहित 'व्यंजना' शक्ति के कारण होती है। परवर्ती आचार्यों ने इस समस्या का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने यह बताने का परिश्रम किया है कि व्यंजना शक्ति दर्शनशास्त्रियों तथा वैयाकरणों द्वारा बताए गए प्रमाणों अर्थात् अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मरण से बाहर है। इन शास्त्रीय सूक्ष्मताओं का उचित स्थान 'व्यंजना-वृत्ति' के अन्तर्गत है। यहाँ इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि अभिनवगुप्त ने इस 'अभिव्यक्ति' को 'चर्वणा' का पर्याय मानते हुए 'वीतविघ्न-प्रतीति' कहा है। जगन्नाथ तथा 'काव्यप्रदीप' पर 'प्रभा' नामक टीका के लेखक ने 'व्यक्ति' को 'भग्नावरण चित्' कहा है। इन दो शब्दों से रस के अर्वाचीन सिद्धांत का वेदांत से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'अभिधा' के निवारण तथा 'काम' एवं 'कर्म' के त्याग के फलस्वरूप विरक्ति की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य हो जाता है और इस तादात्म्य से आनन्द की

प्रतिपत्ति अथवा अनुभूति होती है। वेदांत में मोक्ष की अवस्था कोई उत्पाद्य वस्तु नहीं, अपितु विघ्नकारकों के निवारण से ही उसका आविर्भाव होता है। 'अभिव्यक्ति' से परिलक्षित रस की निष्पत्ति, मोक्ष के सदृश ही है। 'अभिव्यक्ति' किसी नवीन वस्तु के आविर्भाव को लक्षित नहीं करती, अपितु पहले विद्यमान वस्तु की प्रतिपत्ति को ही लक्षित करती है। 'ब्रह्मास्वाद' को 'रसास्वाद' के समान बताया गया है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में अहंकारात्मक मनोवृत्तियों के निग्रह के फलस्वरूप तादात्म्य की अनुभूति होती है और उस तादात्म्य में पृथकत्व निमज्जित हो जाते हैं। 'रसास्वाद' की अवस्था में ऐसा तब होता है, जब दर्शक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान काव्यात्मक रस का उद्दीपन होता है तथा काव्य-रचना के विभाव इत्यादि की अर्थाश्रित अथवा साधारणीकृत (अथवा सामाजिक) शक्ति के कारण उसके मानस में सभी अहंकारात्मक वासनाओं का अपसारण हो जाता है। इन 'विभावों' को इसीलिए 'विघ्नापसारक' कहा गया है। अतएव, व्यक्तिसापेक्ष, सांसारिक अथवा लौकिक सुख से भिन्न तथा ज्ञात सामान्य साधनों से अनधिगम्य होने के कारण रसास्वाद अलौकिक होता है। रसास्वाद, तत्वतः 'आस्वाद', 'चर्वणा', अथवा 'रसना' मूलक ही है, किंतु यह एक ऐसा आस्वाद है कि इसमें रस के कारकों का न होकर, केवल रस का ही ज्ञान होता है। अतएव, रसास्वाद को एक ऐसी मानसिक अवस्था कहा गया है कि जिसमें रस के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता (विगलित-वेद्यांतर), अथवा ब्रह्मचिंतन में लीन मन की ऐसी अवस्था के समान है, जो 'वेद्यांतर-स्पर्श-शून्य' होती है। इसका कोई साक्ष्य अथवा अभिधान नहीं है और क्योंकि इसकी प्रतीति में ही इसका भाव है, अतएव इसका अलग से बोध नहीं करवाया जा सकता। अथवा, दूसरे शब्दों में, रसास्वाद की प्रतीति ही रसास्वाद का ज्ञान है। सहृदय द्वारा इसका आस्वादन ही इसके अस्तित्व का एकमात्र साक्ष्य है (सकल-सहृदय-हृदय-संवेदनसाक्षिक); और ऐसा सहृदय जो इस रस का आस्वादन कर पाता है, उस योगी के समान है, जो अपने संचित पुण्यों के फलस्वरूप इसके योग्य हो पाता है (पुण्यवंतः प्रमिण्वंति योगिवद् रससंततिम्)।[1]

---

1. अतएव कलात्मक भाव लौकिक भाव से भिन्न होते हुए अपेक्षाकृत दार्शनिक भाव से अधिक समान हैं। किंतु व्यक्ति, कला के द्वारा अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध अथवा व्यावहारिक अथवा लौकिक प्रवृत्तियों का निग्रह करके लौकिक दुःख से केवल क्षणिक मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है तथा इसी माध्यम से लोक-साधारण के स्थान पर एक अन्य लोक अर्थात् काव्य-लोक में विचरण करता हुआ विश्रांति लाभ करता है। यह शुद्ध आनन्द तथा निरपेक्ष 'संवित्'

ध्वनि-मत में रस-सिद्धांत को जैसा अन्तिम रूप दिया गया है, उसी की सामान्य रूपरेखा ऊपर दी गई है। धनन्जय से लेकर जगन्नाथ तक सभी परवर्ती आचार्यों ने न्यूनाधिक इसी नवीन व्याख्या को स्वीकार करते हुए इसका सविस्तर विवेचन करने का प्रयत्न किया है। महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करने का प्रयत्न किया था, किंतु उन्होंने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है और कहा है कि इस विषय में मेरे तथा ध्वनिकार के मत में कोई अन्तर नहीं है।[1] अन्तर केवल रस को अभिव्यक्त करनेवाली आदर्श अथवा श्रेष्ठ शक्ति के विषय में है। इस प्रकार ध्वनि के आचार्यों ने मानसिक अनुभव के रूप में रस की व्याख्या करने के अतिरिक्त ध्वनि के नवीन सिद्धांत में इस सौंदर्यात्मक रसास्वादन के भाव का भी समावेश कर लिया और काव्य तथा रूपक दोनों में इसका प्रयोग किया। इसी समय से यथार्थ रूप में रस-वाद का प्रबलतर ध्वनि-वाद में विलयन आरंभ हो गया। सम्प्रति ध्वनि-मत पर विचार किया जायगा। रस-सिद्धांत में आगे चलकर क्या विकास हुआ, इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

●

का भाव है, वास्तविक बोध का नहीं है। वास्तविक बोध तो उसी वेत्ता को प्राप्त होता है, जो ऐन्द्रिय ज्ञान तथा सुख-दुख, दोनों से पूर्णतया ऊपर उठ जाता है। इस भाव को अनेक नाम दिए गए हैं—चमत्कार-निर्वेश, रचना, आस्वाद, भोग, सम्पत्ति, लय तथा विश्रांति। इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धांत को दार्शनिक पुट दिया गया है। रस में 'चमत्कार' विषय के लिए सुशीलकुमार डे की 'वक्रोक्ति-जीवित' (द्वि० सं० 1928) की भूमिका, पृ० xxxvi, पा० टि० 33 तथा जगन्नाथ के प्रकरण (अध्याय 7) में आगे देखिए। राघवन् का 'सम कान्सेप्ट्स' पृ० 268-71 भी देखिए।

1. काव्यस्यात्मनि संगिनी (अंगिनि ?) रसादि-रूपे न कस्यचिद् विमतिः, पृ० 2।

अध्याय : 15

ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन

ध्वनि-सिद्धांत

काव्यविधा के अन्य मतों की तरह ध्वनिमत का आदि रूप अतीत के अंधकार में विलीन है, किंतु ध्वनिकार के स्मारक श्लोकों में ध्यनि का समुचित सिद्धांत, पहली बार स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है। ध्वनिकार का समय ज्ञात नहीं है, किंतु वे अपने टीकाकार आनंदवर्धन के समय से बहुत अधिक पूर्व के नहीं हो सकते। यह भी संभव है कि स्वयं ध्वनिकार ने एक अधिक प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया हो। ध्वनिकार स्वयं रस, अलंकार तथा रीति के किसी सिद्धांत से परिचित थे, इस बात को उक्त अनुमान के पक्ष अथवा विपक्ष में निर्दिष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि इन सिद्धांतों के जन्म के विषय में कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती और इस बात का भी कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है कि ध्वनिकार को भरत, भामह अथवा दंडी के विशिष्ट सिद्धांतों का ज्ञान था। इन सिद्धांतों के विकास का ऐतिहासिक युग इन्हीं आचार्यों के समय से आरंभ हुआ माना जाता है। स्वयं 'ध्वन्यालोक' के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि 'ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।' यह सिद्धांत प्राचीन आचार्यों ने परंपरागत रूप में स्वीकार किया है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः)। यदि ध्वनिकार के इस कथन को स्वीकार कर लिया जाए तो यह बताना कठिन हो जाएगा कि रस-सिद्धांत से एक सीमा तक प्रभावित होनेवाले काव्यविधा के भामह, दंडी अथवा वामन-जैसे प्राचीन आचार्य ध्वनि-सिद्धांत से सर्वथा अछूते कैसे रह गए। इसके विपरीत यह कहना सुगम होगा कि 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' के सिद्धांत के प्रवर्तक-मत में ही शक्ति के रूप में 'व्यंजना' का विकास हुआ था, क्योंकि आनंदवर्धन के पूर्ववर्ती दर्शन-शास्त्रियों अथवा वैयाकरणों की रचनाओं में इस शक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। भामह,[1] वामन (iv. 3, 8) तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार के

---

1. ऊपर देखिए अध्याय 2, पृ० 49 इत्यादि।

'व्यंग्यार्थ' की चर्चा की है और वे सामान्य रूप में इससे परिचित प्रतीत होते हैं, किंतु उन्होंने 'व्यंजना', अथवा 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया है। जैसा कि प्रकट रूप में ध्वनिकार के कथन से प्रतीत होता है, यदि ये शब्द इतने प्रचलित अथवा प्रसिद्ध होते तो संभवतः उन्होंने इनका प्रयोग किया होता। अन्य मतों ने ध्वनि को मान्यता प्रदान नहीं की, यह कोई महत्त्व-पूर्ण तर्क नहीं है। इसकी अनेक प्रकार से युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है। यह प्रसिद्ध है कि दर्शनशास्त्रियों ने 'व्यंजना' को अद्वितीय व्यापार के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया[1] और आलंकारिकों द्वारा इसका समर्थन किए जाने के पश्चात् भी उन्होंने इसे एक अन्य मान्यताप्राप्त शक्ति 'अन्यथा-सिद्ध' ही कहा। अतएव प्राचीन वैयाकरणों अथवा दर्शनशास्त्रियों द्वारा 'व्यंजना' की सर्वथा अवहेलना कोई विस्मयजनक बात नहीं है। काव्य-विधा के प्राचीन आचार्यों ने 'ध्वनि' का कहीं प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यह हो सकता है कि संभवतः स्वयं ध्वनिकार, जिन्होंने इस सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रवर्त्तन किया था, इन आचार्यों के समकालीन थे। यदि ध्वनिकार और उनके टीकाकार आनंदवर्धन में पर्याप्त समय की छूट देना अपेक्षित हो, तो उन्हें इन आचार्यों के अधिक पश्चात् हुआ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त आनंदवर्धन की वृत्ति में पुनरावृत्तिस्वरूप दिए गए श्लोकों से लक्षित मध्यवर्त्ती विवेचन के लिए भी समय की छूट देनी पड़ेगी।[2] इस अनुमान को यदि स्वीकार न भी किया जाए तो भी ध्वनिकार ने स्वयं इस प्रकार की अमान्यता को उपर्युक्त श्लोक से वस्तुतः समझाया है। वास्तव में यह अमान्यता अर्ध-मान्यता ही है, क्योंकि उनके कथन से प्रतीत होता है कि इन प्राचीन आचार्यों को ध्वनि का ज्ञान था, किंतु वे इसका स्वरूप न समझ पाए और गुण-दोष देखे बिना अपने-अपने दृष्टिकोण से ही उन्होंने ध्वनि का सरल रूप में ही अवलोकन किया। कुछ आचार्यों ने इसे काव्य के अन्य अंगों में समाविष्ट समझा, कुछ ने तो इसे अनवगम्य माना और कुछ अन्य आचार्यों (जैसे कविमनोरथ, जिनका आनंदवर्धन ने उल्लेख किया है) ने इसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। इसमें संदेह नहीं कि इस कथन से ध्वनिकार का

---

1. **देखिए, जैकोबी,** ZDMG, lvi, 1920, **पृ०** 397, **पादटिप्पणी** 2 **तथा पृ०** 378 **पादटिप्पणी** 1.
2. **देखिए खंड** 1, **पृ०** 100 **तथा बुलेटिन ऑफ़ दि स्कूल ऑफ ओरिएंटल स्टडीज्** i. 4, 1920, **पृ०** 7-8.

उद्देश्य यह था कि मैं किसी सर्वथा नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ और दूसरा यह था कि इससे उन्हें कुछ प्राचीन आचार्यों के ध्वनि के प्रति अस्पष्ट मत (वास्तविक अथवा काल्पनिक) का साक्ष्य प्राप्त हो गया, तथापि यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के विषय में स्पष्ट रूप में कुछ नहीं कहा है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें किसी भी प्रकार के 'व्यंग्यार्थ' का ज्ञान नहीं था।

यह एक विचित्र बात है कि ध्वनिकार के ग्रंथ-जैसी रचना बिना किसी पूर्व वृत्तांत के एकाएक प्रकट हो गई। संभवतः उनके सिद्धांत के प्राचीन रूप, जिनसे उनके प्रत्यक्ष जन्म तथा विकास का पता चल सकता, या तो लेखनीबद्ध नहीं किए गए थे अथवा कालांतर में उनका लोप हो गया था। इन कारिकाओं में इस सिद्धांत का प्रथम बार निरूपण किया गया है और यह निरूपण अपेक्षाकृत पूर्ण रूप में ही है। इस सिद्धांत की रूप-रेखा व्यवस्थित होते हुए भी उसमें परिवर्द्धन के लिए पर्याप्त अवकाश है, किंतु किसी महत्त्वपूर्ण अथवा मौलिक परिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं है। इस सिद्धांत के प्राचीन अस्तित्व के विषय में ध्वनिकार के 'समाम्नातपूर्वः' की व्याख्या में आनंदवर्धन के 'परंपरा' शब्द पर अभिनवगुप्त की टिप्पणी का संभवतः यही आशय है। अभिनव का कथन है (पृ० 3) कि पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने विशिष्ट पुस्तकों में इनका विवेचन किए बिना अविच्छिन्न प्रवाह में इसका कथन किया है (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं, विनापि विशिष्ट-पुस्तकेषु विवेचनात्)। यह सत्य है कि मुकुल ने (पृ० 21) कुछ सहृदयों द्वारा वर्णित ध्वनि के एक नूतन सिद्धांत का उल्लेख किया है (सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य)[1] कि लक्षणा शक्ति से ध्वनि की प्रतिपत्ति नहीं होती तथा कुशाग्र बुद्धि से ही इसका निरूपण हो सकता है (एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रया बुद्ध्या निरूपणीयं···इत्यलमतिप्रसंगेन), संभवतः यहाँ मुकुल का तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप में ध्वनिकार से है, जिन्होंने कदाचित् पहली बार अपने स्मारक श्लोकों में प्रचलित परंपरा को एक व्यवस्थित रूप दिया, अथवा

1. यहाँ 'सहृदय' शब्द ध्वनिकार के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नहीं माना जा सकता (देखिए खंड 1, पृ० 98 इत्यादि)। इसे ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्त्तक की उपाधि भी नहीं कहा जा सकता। अधिकांश स्थलों पर इसका जैसा प्रयोग किया गया है, यह शब्द सामान्यतः नवीन सिद्धांत की स्थापना करनेवाले समालोचकों अथवा सहृदयों को अथवा विशिष्टतः ध्वनिकार अथवा आनंदवर्धन को ही निर्दिष्ट करता है। अलंकार साहित्य में इस शब्द का इससे अधिक अर्थ लगाने की आवश्यकता नहीं है। संभवतः यह शब्द प्रत्यक्षतः आनंदवर्धन का ही बाचक है, जो मुकुल के पिता कल्लट के समकालीन थे (देखिए खंड 1, पृ० 70.)।

आनंदवर्धन से है, जिन्हें सिद्धांत को पूर्णतया एक नवीन तथा व्यवस्थित रूप देने का श्रेय प्राप्त है।

ध्वनिकार से भी पहले किसी-न-किसी रूप में ध्वनि-सिद्धांत की परंपरा का अस्तित्व था, इस अनुमान की इस बात से भी पुष्टि होती है कि जहाँ तक इस सिद्धांत के सार-रूप का संबंध है, इसे प्राचीन वैयाकरणों से ग्रंथों तथा उनकी शब्द-विषयक अर्ध-दार्शनिक मीमांसा से भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में अभिव्यक्ति के एक सिद्धांत के रूप में, व्यंजना-सिद्धांत को प्राचीन वैयाकरणों ने मान्यता नहीं दी, किंतु इस सिद्धांत के समर्थक आचार्य स्वयं को एक सर्वथा नवीन सिद्धांत के प्रवर्तक नहीं कहलाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने यह कहकर कि हमारा सिद्धांत आपके ही प्राचीन 'स्फोट' सिद्धांत के सदृश है, वैयाकरणों का साक्ष्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। हम यह पहले ही बता चुके हैं[1] कि काव्यविधा पर प्राचीनतर व्याकरण-शास्त्र का बहुत प्रभाव रहा है, और स्वयं आनंदवर्धन ने बड़ी सावधानी से कहा है कि जिस सिद्धांत का मैंने प्रतिपादन किया है, वह वैयाकरणों के सिद्धांतों पर ही आधारित है। सबसे पहले उन्होंने ही 'स्फोट' को व्यक्त करनेवाले श्रूयमाण वर्ण के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है।[2] इस अंश पर अभिनवगुप्त की टीका में संभवतः अति-प्रसंग दोष आ गया है, उन्होंने 'वाक्यपदीय' के साक्ष्य पर 'स्फोट' सिद्धांत के सभी पक्षों का सविस्तर विवेचन किया है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि काव्यविधा के आचार्यों के सम्मुख, ध्वनि-सिद्धांत का निरूपण करते समय स्फोट का सिद्धांत अवश्य विद्यमान था। 'स्फोट' को नव्यप्लेटो-वादियों के 'लोगॅस' के समान कहा गया है और प्रायः 'एक्सप्रेशन', 'कान्सेप्ट' अथवा 'आइडिया' शब्दों

---

1. देखिए खंड 1. पृ० 7-8।

2. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यहरंति। तथैवान्येस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः (पृ० 47-8)। इस पर 'लोचन' का अवलोकन कीजिए। इससे भी तुलना कीजिए—परिनिश्चित-निरपभ्रंशशब्द-ब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिंत्यते (पृ० 199)। जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं, इस अंतिम अंश में वेदांत की ओर निर्देश नहीं है, अपितु व्याकरण-दर्शनशास्त्र-मूलक शब्द-ब्रह्म के सिद्धांत को ही निर्दिष्ट किया गया है। इस अंश पर ZDMG. vii, 19.3, पृ० 56 पा० टि० 1 में जैकोबी का नोट देखिए।

से इसका अनुवाद किया गया है, किंतु इनमें से कोई भी शब्द इसके वास्तविक स्वरूप का वाचक नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया, और वैयाकरणों ने इसे मान भी लिया, कि शब्द का अपना एक आदिरूप होता है। स्फोट यथार्थ में शब्द का आदिरूप नहीं है, किंतु इसे शब्द के वर्ण-समुदाय की ध्वनि कहा जा सकता है, जिससे शब्द के अंगों अर्थात् वर्णों के अतिरिक्त उसके अर्थ का भी बोध होता है। स्फोट में शब्द के वर्णों के पौर्वापर्य के अनुसार ध्वनि नहीं होती, अपितु उन वर्णों की ध्वनियाँ अथवा उन्हीं के समान कुछ वस्तुओं का अविभाज्य रूप में सम्मिश्रण हो जाता है। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसकी पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ कुछ अंशों में स्फोट के विशिष्ट ध्वनिक्रम में भी परिलक्षित होती हैं। अंतिम ध्वनि का लोप हो जाने पर, इन सब ध्वनियों से परिलक्षित स्फोट की प्रतीति हो जाती है और इस प्रकार अर्थ-बोध हो जाता है। अतएव, पृथक्-पृथक् वर्णों की ध्वनि से भिन्न, शब्द-ध्वनि का समुदाय ही स्फोट है।

इस कुछ-कुछ रहस्यमूलक कल्पना से संकेत पाकर आलंकारिकों ने सादृश्य के आधार पर ध्वनि के सिद्धांत का विकास किया। उनका कथन है कि काव्य के अनेक वाच्य भाग अथवा खंड अवाच्य गंभीर अर्थ से व्यंजक होते हैं; यह अर्थक्रम साररूप में अभिधार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न होता है। इसी अर्थ को काव्य में 'ध्वनि' अथवा 'व्यंग्य-अर्थ' कहा गया है। जैसा कि आनंदवर्धन का कथन है, वैयाकरणों ने कहीं-कहीं स्वयं 'ध्वनि' शब्द को स्फोट के व्यंजक शब्द अथवा वर्णों के लिए प्रयुक्त किया है। इस संबंध में आचार्य मम्मट की टिप्पणी यथास्थान है। ध्वनि के लक्षण-निरूपण पर अपनी वृत्ति (1·4) में उन्होंने कहा है कि वैयाकरणों के मतानुसार ध्वनि वह शब्द है, जिससे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति हो, क्योंकि स्फोट से ही शब्द के अर्थ का बोध होता है। अन्य आचार्यों (मम्मट के अनुसार काव्यविद्याविषयक ध्वनि सिद्धांत के आचार्य) ने इससे एक पग आगे बढ़कर, वाच्यार्थ के स्थान पर एक और ही अर्थ को लक्षित करने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ध्वनि शब्द प्रयुक्त किया है। वस्तुतः इन दोनों सिद्धांतों का परस्पर कोई विशेष संबंध नहीं है, आलंकारिकों को वास्तव में अपनी व्यंजना-शक्ति के लिए किसी प्रमाण अथवा साक्ष्य की आवश्यकता थी और व्याकरण के महान् आचार्यों ने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत में भी इसी प्रकार का विधान है, क्योंकि शब्द के वर्ण सार्थक को हो व्यक्त करते हैं। अतएव,

कालंकारिकों को सादृश्य के आधार पर यह कहने का मौका मिल गया कि हमें भी 'प्रथमे विट्ठांसो' अर्थात् वैयाकरणों का साक्ष्य प्राप्त है। उन्होंने इसी आधार पर अपने 'व्यंजना-सिद्धांत' की स्थापना की। यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि 'व्यंजना' शब्द से लक्षित 'अभिव्यक्ति' का विचार, जैसा कि पहले बताया जा चुका है[1], भारतीय मीमांसा में कोई नवीन विचार नहीं। व्यंजना से किसी नवीन वस्तु का कथन लक्षित नहीं होता, अपितु पहले से ही विद्यमान की अभिव्यक्ति लक्षित होती है। जैसा कि भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रसिद्ध उदाहरण है, व्यंजना से अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है, जिस प्रकार दीप के प्रकाश से पहले से ही विद्यमान पात्र की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि ध्वनि की सामान्य कल्पना इस प्रकार के अर्थ रहस्यमूलक विचार-प्रवाह से आप्लावित है, तथापि आनंदवर्धन ने स्पष्ट कहा है (पृ० 232-4) कि जैसा प्रायः समझा जाता है, उनके विपरीत, ध्वनि कोई रहस्यमय कल्पना नहीं है। इसका स्वरूप-निरूपण भली प्रकार किया जा सकता है और इसे समझाया जा सकता है। ध्वनि का खंडन करनेवाले मतों से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है। कपिल (मुनि) ने 'अनाख्येय' कहकर 'स्फोट' के सिद्धांत का दर्शनशास्त्र से बहिष्कार कर दिया था।

यद्यपि इस सिद्धांत ने थोड़े से परिवर्तन के साथ शब्द के स्वरूप तथा शक्ति के विषय में वैयाकरणों के तत्संबंधी विश्लेषण (चिंतन) को स्वीकार किया तथा स्फोट-सिद्धांत के सादृश्य पर ध्वनि की स्थापना की, फिर भी वास्तव में ध्वनि-मत का अभिव्यक्ति-सिद्धांत आरंभ से ही स्वतंत्र था। इस मत के अंतर्गत 'व्यंजना' तथा 'व्यंग्यार्थ' से प्रतिपादित शक्ति का पूर्ववर्ती मीमांसात्मक साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। किंतु ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन का मिश्रित ग्रंथ काव्यविद्या के अन्य मतों से प्रभावित है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ध्वनिकार नहीं तो आनंदवर्धन, भरत, भामह, उद्भट तथा वामन के मतों से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं। आनंदवर्धन ने इनमें से अधिकांश आचार्यों का प्रत्यक्ष रूप में नामोल्लेख किया है। किसी-न-किसी रूप में रस, अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का ज्ञान तो ध्वनिकार को भी अवश्य रहा होगा। 'ध्वन्यालोक' के दो प्रतिपाद्य विषय (प्रयोजन) हैं—(1) ध्वनि-सिद्धांत की स्थापना करना और सिद्ध करना कि काव्यविद्या के प्राचीन तथा समकालीन सिद्धांतों से ध्वनि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तथा

1. देखिए खंड 1, पृ० 10।

(2) ध्वनि से उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन करने के दृष्टिकोण से रस, अलंकार, रीति, गुण तथा दोषविषयक विद्यमान विचारों की समालोचना तथा दोनों के संश्लेषण से काव्यविद्या के एक पूर्ण तथा व्यवस्थित सिद्धांत का विकास करना। 'ध्वन्यालोक' के इन दोनों प्रयोजनों में इस सीमा तक सफलता मिली कि लगभग सभी परवर्ती आचार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप में ध्वनि के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया और ऐसे सभी सिद्धांतों को, जो आनन्दवर्धन के पश्चात् प्रकाश में आए और आचार्य मम्मट जिनके प्रथम तथा प्रमुख प्रतिनिधि रहे, वास्तव में स्वतंत्र मतों के रूप में स्वीकार नहीं किया और न ही उन्हें रस, अलंकार अथवा रीति के प्राचीन मतों से सम्बद्ध किया जा सकता है। वास्तव में ये सिद्धांत एक नवीन सौंदर्यात्मक व्याप्त सिद्धांत के रूप हैं, जिनमें इन सभी मतों के विचारों का समाहार करके एकरसता स्थापित की गई है। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में सबसे पहले इस नवीन समन्वय की रूपरेखा देकर इस सिद्धांत का सुदृढ़ शिलान्यास किया।

अभिव्यक्ति-सिद्धांत पर आधारित ध्वनि-मत में प्रथमतः शब्द की शक्ति तथा शब्द के अर्थ के विषय में व्याकरणात्मक तथा दार्शनिक समस्याओं का विवेचन है; अथवा, दूसरे शब्दों में, शब्द तथा अभिधार्थ के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन है। वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसक पहले ही यह निर्धारित कर चुके थे कि जिस शक्ति से शब्द के मुख्य अथवा शक्य अर्थ का बोध हो वह अभिधा है, इसका रूढ़ अर्थ 'संकेतित अर्थ' है। अभिधा शक्ति से 'गौ' शब्द से गौ का बोध होता है। अभिधा, शब्द की वह शक्ति है, जिससे बिना किसी अन्य शक्ति की बाधा के शब्द के रूढ़ अथवा संकेतित अर्थ का ही बोध हो। इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है, यही 'संकेत' है, और लोक-व्यवहार से सिद्ध होता है (अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः शक्तिग्राहकः समयः)। यह शक्ति 'ईश्वरेच्छा' अथवा 'इच्छामात्र' (अर्थात् मानव इच्छा) है, यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना अनावश्यक है, किंतु 'संकेत' के विषय में वैयाकरणों, नैयायिकों, सौगतों तथा मीमांसकों के अपने-अपने सिद्धांत हैं। वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए काव्यविद्या के आचार्यों ने कहा[1] है कि संकेत, जाति, द्रव्य, गुण अथवा क्रिया पर आश्रित होता है।

---

1. मुकुल तथा मम्मट ('शब्द व्यापार', पृ० 2) दोनों का कथन है कि आलंकारिकों का यह मत 'महाभाष्य' (कीलहार्न सं० पृ० 19, i. 20) के अन्तर्गत 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' सूत्र पर आधारित है।

जब 'अभिधेयार्थं' अथवा मुख्यार्थ में बाधा होती है, तब 'लक्षणा' शक्ति का बोध होता है और रूढ़ि अथवा 'प्रयोजन' द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ ऐसा कहा जा सकता है, 'देश मुदित है', किंतु देश तो स्वयं मुदित नहीं हो सकता, यहाँ अभिप्रेतार्थ है कि देश के लोग मुदित हो रहे हैं, खुशियाँ मना रहे हैं। जैसा कि बाद के विश्लेषण (व्याख्या) से सूचित होता है, यह शक्ति वास्तव में अर्थ-व्यापार के कारण है, किंतु शब्दाश्रित होने के कारण यह 'आरोपित-शब्दव्यापार' ही है। अर्थात् (जैसा कि अन्य आचार्यों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है), पहले शब्द होता है, तब उसका 'वाच्यार्थं' होता है, तत्पश्चात् लक्षणा शक्ति के कारण व्याच्यार्थ से ही सम्बन्धित 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति होती है। अतएव, 'लक्ष्यार्थ' 'सांतर' होता है, अभिधा के समान 'निरंतर' नहीं होता, क्योंकि उसके मध्य में वाच्यार्थ आ जाता है; जब अभिधार्थ अथवा मुख्यार्थ बाधित होता है, तभी 'लक्षणा' का उपयोग किया जाता है, इसीलिए अभिधार्थ पर आश्रित होने के कारण लक्षणा 'अर्थ-निष्ठ' होती है।[1] अतएव, 'लक्षणा' के लिए तीन अनिवार्य बातों का होना आवश्यक है, अर्थात् अभिधार्थ अथवा मुख्यार्थ का बाधित्व, संकेतित अर्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा लक्षणा के प्रयोग का प्रयोजन। जिस प्रकार अभिधा व्यावहारिक संकेत के आश्रित होती है, उसी प्रकार लक्षणा इन तीन बातों पर आधारित विशिष्ट संकेत अथवा रूढ़ि के आश्रित होती है। क्योंकि मुख्यार्थ के बिना लक्ष्यार्थ अथवा आरोपितार्थ संभव ही नहीं है, इसलिए कभी-कभी लक्ष्यार्थ को अभिधा की पूँछ कहा गया है (अभिधापुच्छभूता)। वस्तुतः, जैसा कि पहले बताया जा चुका है[2], भट्टनायक जैसे आचार्यों ने लक्षणा को अभिधा के अन्तर्गत ही माना है, क्योंकि लक्षणा को अभिधा का ही एक रूप कहा गया है।

व्युत्पत्तिमूलक होने के कारण, विभिन्न ग्रन्थों में लक्षणा तथा अभिधा के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। आलंकारिकों के 'लक्षणा'-विषयक विवेचन के अनुरूप 'न्यायसूत्र' में एक शब्द अन्य शब्द के लिए किन-किन गौण अथवा आरोपित अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है, इसकी पूरी सूची दी गई है (ii. 2. 63.); किंतु मुकुल ने भर्तृमित्र

---

1. शक्त्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः, वस्तुतोऽर्थ-निष्ठ एवेत्यर्थः, तदुक्तं 'सांतरार्थनिष्ठः' इति,....प्रतीप, निर्णयसागर प्रेस सं० 1912, पृ० 27.

2. ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 114.

के साक्ष्य का उल्लेख किया है,[1] जिन्होंने एक श्लोक में इन अर्थों के पाँच जाति-भेद किए हैं, अर्थात् संबंध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग। व्यावहारिक प्रयोग के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—'पीन (स्थूलकाय) देवदत्त दिन में नहीं खाता' (पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते); 'यह बालक सिंह है' (सिंहो माणवकः); 'गंगा पर घोष' (गंगायां घोषः); 'यह मूर्ख बृहस्पति है' (बृहस्पतिरयं मूर्खः) तथा 'महासमर में आप शत्रुघ्न हैं' (महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्)। इन विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताओं अथवा लक्षणा के सूक्ष्म रूप-भेदों का अधिक विवेचन करना अनावश्यक है, किंतु यह द्रष्टव्य है कि एक वस्तु के गुण-धर्म अथवा कार्य का काल्पनिक रूप से अन्य वस्तु पर आरोप पर आश्रित रूपक तथा रूपकमूलक अलंकार 'लक्षणा' अथवा लक्ष्यार्थ पर ही निर्भर होते हैं। ऐसा कहा गया है कि रूपकात्मक आरोपितार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से विशिष्ट सौंदर्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि विवक्षित लक्ष्यार्थ अथवा आरोपितार्थ में कवि का विशिष्ट प्रयोजन, प्रत्यक्ष रूप में लक्षित किए बिना, अथवा लक्षित किए बिना ही, निष्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं, 'युवावस्था जीवन का वसंत है', तो प्रत्यक्ष रूप में बिना व्यक्त किए इससे हमारा तात्पर्य वसंतकालीन सौंदर्य, शक्ति अथवा उपभोग से है। 'प्रयोजन' के अलक्षित अथवा अवाच्य होने पर भी उसकी प्रतीति होती है। अतएव, जैसा कि आगे बताया जायगा, अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की तीसरी शक्ति 'व्यंजना' को जिससे अवाच्यार्थ का बोध होता है, स्वीकार करने का यह भी एक कारण है।

किंतु कुछ लेखकों की एक ऐसी भी श्रेणी है, जिसने 'तात्पर्य' नामक शब्द

---

1. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० 17. लेखक का नाम दिए बिना इस श्लोक को मम्मट के 'शब्दव्यापार', पृ० 8, 'कामधेनु' पृ० 133 तथा अन्य अनेक ग्रंथों में उद्धृत किया गया है। अभिनवगुप्त ('लोचन' पृ० 56) ने इस श्लोक को निर्दिष्ट करते हुए इन पाँच जातिभेदों पर चर्चा की है। मुकुल भट्ट के ग्रंथ में गद्यमय वृत्तिसहित 15 कारिकाएँ हैं। शब्द तथा उसके अर्थ-व्यापार का सिद्धांत क्या हो, इस ग्रंथ का विवेचन-विषय है। इसमें लक्षणा को अभिधा के अंतर्गत ही माना गया है, क्योंकि इसके कथनानुसार अभिधा शक्ति के दो रूप होते हैं: प्रत्यक्ष तथा परोक्ष और इन दोनों से ही शब्द के अर्थ का बोध होता है। मुकुल ने केवल अभिधा पर ही विचार किया है, किंतु मम्मट ने अपने 'शब्दव्यापार-परिचय' में शब्द की तीन विभिन्न शक्तियों की स्थापना की है, तीसरी शक्ति 'ध्वनि' है।

की एक अन्य शक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वाक्य के संपूर्ण अर्थ के रूप में, वाक्यगत शब्दों के परस्पर अन्वय की प्रतीति तात्पर्य के कारण ही होती है। तात्पर्य से अनेक शब्दों के परस्पर संबद्ध अर्थ का बोध होता है, इसलिए यह एक ही शब्द के अर्थ की बोधक अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न होता है। तात्पर्यार्थ की प्रतीति अथवा अभिव्यक्ति शब्द से नहीं होती, अपितु संपूर्ण वाक्य से होती है, इसलिए यह पृथक्-पृथक् शब्दों से वाक्य अथवा लक्षित अर्थ से भिन्न होता है। इस मत के अनुसार, शब्दों में पदार्थों को लक्षित करने की शक्ति तो होती है, किंतु उनसे पदार्थों के परस्पर संबंध अर्थात् अन्वय का बोध नहीं होता। अन्वय का बोध शब्दों के अर्थ से नहीं होता, अपितु 'योग्यता', 'सन्निधि' तथा 'आकांक्षा' पर आश्रित परस्पर संबंध से होता है। इस प्रकार अन्वय के बोध से 'तात्पर्य' नामक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। मम्मट ने इन अभिहितान्वयवादियों के मत की व्याख्या इस प्रकार की है (ii. 1, वृत्ति)[1]—"आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिवश, पदार्थों के वक्ष्यमाण स्वरूप-समन्वय से तात्पर्य नामक अर्थ की प्रतीति होती है। इस अर्थ का अपना विशिष्ट रूप होता है, जो अपदार्थ होने पर भी वाक्यार्थ होता है। अभिहितान्वयवादियों का यही मत है।" मीमांसकों के एक अन्य मत, अन्विताभिधानवादियों ने इस सिद्धांत का खंडन किया है। उनके मतानुसार 'तात्पर्य' सदृश एक अन्य शक्ति का प्रतिपादन अनावश्यक है। उनका यह कथन है कि शब्द वस्तुओं को ही लक्षित नहीं करते, अपितु उनके अन्वय को भी लक्षित करते हैं। अथवा, दूसरे शब्दों में, शब्द अपने अर्थ को सामान्यतः लक्षित नहीं करते, समन्वय रूप में ही करते हैं। उदाहरणार्थ, व्यावहारिक जगत में हमें अर्थ का बोध पहले वाक्य से ही होता है। शब्दों से अर्थ का बोध निरपेक्ष (पूर्ण) रूप में नहीं होता, अपितु सापेक्ष रूप में ही होता है, अर्थात् उनके समन्वय अथवा परस्पर संबंध से ही होता है। यथोचित परिवर्त्तन-सहित यह सिद्धांत बार्कले के 'अमूर्त अर्थ' के निषेध का स्मारक है।

ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तकों ने इस प्रकार की कोई सूक्ष्म मीमांसा नहीं की है, किंतु अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने इस मत को स्वीकार किया है। यद्यपि मम्मट के समय से अधिकतर आचार्यों ने शब्द-शक्ति के प्रारंभिक विश्लेषण से ही

---

1. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादीनां मतम्।

ग्रंथारंभ किया है (मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में तथा पृथक् रूप से अपने 'शब्दव्यापारपरिचय' में इन समस्याओं का विवेचन किया है)। अप्पय्य के 'वृत्ति-वार्तिक' नामक ग्रंथ के समान कुछ परवर्ती ग्रंथों में विशेष रूप से इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। आनंदवर्धन के समय से सभी आचार्यों ने एक नियम के समान 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' को स्वीकार किया है, किंतु पृथक् शक्ति के रूप में वे 'तात्पर्य' के विषय में एकमत नहीं हैं। उन्होंने तात्पर्य को 'व्यंजना वृत्ति' में ही समाहित माना है। ध्वनि-मत में इसे तीसरी तथा सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में स्थापित किया गया है। काव्य में ध्वनि का सिद्धांत इसी शक्ति पर आधारित है। सामान्यत: 'व्यंजना' को शब्द की वह शक्ति अथवा वह अर्थ कहा गया है, जो अन्य दो शक्तियों अर्थात् 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' से व्यक्त नहीं हो पाता। अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों के कारण शब्दों में विचार अथवा कल्पना का बोध होता है। वाक्य में शब्दों के विन्यास से जिस शक्ति द्वारा वाक्य के पूर्ण अर्थ का बोध होता है, उसे 'तात्पर्य' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य शक्ति प्रतिपादित की गई, जिसके द्वारा एक विशिष्ट अर्थ, अर्थात् 'व्यंग्यार्थ' का बोध होता है। यह 'व्यंग्यार्थ' साधारण अर्थ के कारण होते हुए भी उससे भिन्न होता है।[1] सभी उत्तम काव्यों अर्थात् ध्वनि-काव्यों[2] में इस प्रकार के अर्थ का होना आवश्यक माना गया है। इस अर्थ की प्रतीति इस मत द्वारा प्रतिपादित 'व्यंजनावृत्ति' के कारण ही होती है।

'व्यंजना' का अलग से प्रतिपादन करना आश्यक है, अथवा उसे 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' शक्तियों तथा 'अनुमान'-सदृश शास्त्रीय प्रमाणों में ही समाहित मान लिया जाए, इस प्रश्न को लेकर तीव्र विवाद हुआ है। जयरथ ने एक

---

1. इन्हीं तीन शक्तियों के कारण शब्द (अथवा उसके अर्थ) को क्रमशः वाचक, लक्षक तथा व्यंजक कहा जाता है और फलस्वरूप अर्थ को भी क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

2. 'ध्वनि' शब्द को प्रायः 'व्यंग्यार्थ' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है (तुलना कीजिए, हेमचंद्र, पृ० 26)। कभी-कभी गलती से इसे 'व्यंजना' के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में 'व्यंजना' तो वह प्रक्रम है, जिससे 'व्यंग्यार्थ' की निष्पत्ति होती है। 'ध्वनि-काव्य' को वह नाम इस लिए दिया गया है, क्योंकि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के आधिक्य के कारण इस काव्य में श्रेष्ठ व्यंग्यार्थ ही ध्वनित होता है। विश्वनाथ ने (पृ० 198) व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थेऽध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमकाव्यम्।

श्लोक उद्धृत किया है (पृ० 9), जिसमें व्यंजना की बारह प्रकार से भिन्न-भिन्न व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है, अथवा व्याख्या की गई है, किंतु मोटे तौर से आनंदवर्धन तथा उनके मतानुयायियों का अनुसरण करते हुए वहाँ मुख्य-मुख्य प्रस्तावित व्याख्याएँ ही द्रष्टव्य हैं। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम श्लोक में इन परस्पर विरोधी मतों के तीन वर्ग किए गए हैं। पहला वर्ग अभाववादियों का है। उनके अनुसार काव्य में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। दूसरे विरोधी मत का यह कथन है कि यह वाणी का विषय ही नहीं है (केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्), यह केवल सहृदय-हृदय-संवेद्य है (सहृदयहृदयसंवेद्यं,—आनंद, पृ० 10)। एक तीसरा मत है जिसमें अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-सदृश शास्त्रीय शक्तियों अथवा 'अनुमान'-सदृश प्रमाणों से इसकी उत्पत्ति बताई गई है। इन तीनों मतों में दो विभिन्न बातों का कथन है—एक में तो ध्वनि का सर्वथा अभाव बताया गया है तथा 'व्यंजना' को अनावश्यक कहा गया है, दूसरे में ध्वनि को स्वीकार तो किया गया है, किंतु 'व्यंजना' को अनावश्यक बताया गया है, क्योंकि सामान्य शास्त्रीय शब्द-शक्तियों से ही पर्याप्त रूप में 'व्यंजना' का बोध हो जाता है।

अभाववादियों का खंडन करते हुए एक पुराना तर्क दिया गया है कि जो अवगम्य नहीं है अर्थात् जिसका बोध नहीं हो सकता, उसका अभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अर्थात् उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की विशुद्ध तार्किक आपत्तियों को यदि अलग रखा जाए, तो 'व्यंग्यार्थ' के प्रतिपादन में यह कहा गया है कि पहले तो, वस्तुतः सत्य होने के कारण, सौंदर्यमूलक समीक्षा तथा अनुभव के आधार पर व्यंग्यार्थ के अस्तित्व को निश्चित रूप में सिद्ध किया जा सकता है, दूसरे, काव्य के कुछ ऐसे अंग (यथा 'रस') भी हैं, जिनका बोध अभिधा, लक्षणा, अनुमान-सदृश प्रमाणों से भलीभाँति सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके पश्चात् ऐसे मतों की चर्चा की गई है, जिनमें 'व्यंग्यार्थ' की कल्पना को स्वीकार तो किया गया है, किंतु इस प्रकार की एक पृथक् तथा अशास्त्रीय वृत्ति, अर्थात् 'व्यंजना', को अनावश्यक कहा गया है, क्योंकि उसे शब्द तथा अर्थ की अन्य वृत्तियों में ही समाहित किया गया है। उदाहरणार्थ, कुछ मीमांसकों का कथन है कि अभिधावृत्ति से ही तथाकथित लक्ष्यार्थ का बोध हो सकता है। इस विषय में दीर्घव्यापारवादियों[1] का कथन है कि जिस प्रकार एक बलवान्

1. कहीं-कहीं इस मत को लोल्लट का मत कहा गया है, किंतु इस प्रश्न पर खंड 1, पृ० 35-6 का अवलोकन करें।

व्यक्ति द्वारा छोड़ा गया एक ही तीर वेग रूपी एक ही प्रहार से शत्रु के कवच को बींधकर उसके शरीर को भी बींध जाता है और उसके प्राण हर लेता है, उसी प्रकार सुकवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द, केवल मात्र अभिधा शक्ति द्वारा शब्द के अर्थ तथा उसके अन्वय का बोध करवाता है, जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इस रुचिकर वर्णन का सारांश यह है कि अभिधा की शक्ति बहुत व्यापक होती है। 'संकेतित अर्थ' का बोध करवाना ही उसका एकमात्र प्रयोजन है, यह ठीक नहीं; शब्द के श्रवण के पश्चात् वह किसी भी अर्थ की प्रतीति करवाने में समर्थ है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि अभिधा में 'वस्तु', 'अलंकार' अथवा 'रस' का बोध करवाने की क्षमता नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय मत के अनुसार, वाच्यार्थ का बोध करवाने के पश्चात्, अभिधा का कार्य समाप्त हो जाता है, और रस इत्यादि तो संकेतमात्र के विषय नहीं हैं। रस के अंगों, अर्थात् विभावों का जिनसे रस की निष्पत्ति होती है, अभिधान स्वयं रस का अभिधान नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि रस की प्रतीति अभिधान मात्र से नहीं होती, अपितु, स्वगत आनन्द की अनुभूति से होती है, जिसका विकास केवल लक्षित ही किया जा सकता है। इन सब तथ्यों का समाधान तभी हो सकता है, जब कि हम 'दीर्घव्यापारवादियों' के समान अभिधा शक्ति को सर्वव्याप्त मान लें, किंतु इसके लिए साक्ष्य का अभाव है। अपितु, यदि अभिधा की शक्ति इतनी व्याप्त मान लें तो लक्षणा शक्ति की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि जिस अर्थ का बोध लक्षणा से होता है, वह अभिधा से भी हो सकता था।

अतएव, अभिधार्थ को संकेतबोधक ही मान सकते हैं। उसकी अनेकरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि विशिष्ट संकेतित अर्थ का बोध करवाने के पश्चात् उसका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत, अक्सर, वक्ता इत्यादि के भेद के कारण लक्ष्यार्थ में अनेकरूपता आ जाती है। अभिधार्थ, तथा लक्ष्यार्थ की परस्पर भिन्नता इस प्रकार बताई गई है—(1) रूप की दृष्टि से, कभी-कभी लक्ष्यार्थ, अभिधार्थ का निषेध अथवा विधि रूप हो सकता है, (2) स्थान की दृष्टि से, अभिधार्थ केवल शब्दाश्रित होता है, किंतु लक्ष्यार्थ शब्दों, उनके विन्यास अथवा स्थान, स्वयं शब्दों के वाच्यार्थ, उपसर्गों अथवा प्रत्ययों तथा वर्ण-विन्यास के आश्रित होता है, (3) प्रभाव की दृष्टि से, अभिधार्थ बोधकमात्र ही होता है, किंतु लक्ष्यार्थ विस्मयोत्पादक होता है, (4) वक्ता, श्रोता अथवा ज्ञाता-भेद के कारण भेद। जैसा कि कुछ नैयायिकों का कथन

हैं, यह कहना कि 'तात्पर्य' से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, अपर्याप्त बताया गया है, क्योंकि वाक्य में समन्वयाश्रित अर्थ का बोध करवा देने के पश्चात् तात्पर्य-शक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। उससे 'व्यंग्यार्थ' का बोध नहीं होता। व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति तो वाक्यार्थ के बोध के पश्चात् ही होती है।

केवल लक्षणा-वृत्ति से सूक्ष्म व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। तथापि, जो लोग लक्ष्यार्थ को ही व्यंग्यार्थ कहते हैं, उनसे यह प्रश्न किया गया है ('लोचन', पृ० 51) कि व्यंजना तथा लक्षणा के अभेद कथन से उनका अभिप्राय क्या है? (1) ये दोनों 'शक्तियाँ' (वृत्तियाँ) तादात्म्या अथवा तादूरूप्या हैं? (2) क्या लक्षणा, व्यंजना की निरंतर व्यावर्तकधर्मा है, अथवा (3) लक्षणा, विशेष-विशेष रूपों में व्यंजना की 'उपलक्षणा' अथवा तटस्थ लक्षणा है? ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने इस विषय पर सामान्य रूप से चर्चा की है (पृ० 50-9), किंतु अभिनवगुप्त ने इसका विवेचन कुछ विस्तार से किया है।

प्रथम मत, अर्थात् ध्वनि तथा 'भक्ति' (अर्थात् 'लक्षणा') के अभेद के विषय में ध्वनिकार का कथन है कि व्यंजना, लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं (i. 17)। वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है और यह उपचार-मात्र ही होता है (उपचारमात्रं तु भक्तिः, आनंद, पृ० 61), अथवा, जैसा कि अभिनवगुप्त का कथन है, लक्ष्यार्थ गुण-वृत्ति पर आश्रित होता है अर्थात् यह शब्द के गौण प्रयोग पर निर्भर करता है। इसके विपरीत, व्यंग्यार्थ, विशिष्टधर्मी होते हुए भी, वाच्यार्थ को पूर्णतया बाधित नहीं करता। परवर्ती आचार्यों[1] ने इसकी और अधिक व्याख्या करते हुए कहा है कि व्यंग्यार्थ, केवल रूढ़ गुण-वृत्ति अथवा विशिष्ट प्रयोजन पर आश्रित नहीं होता। यदि यह कहा जाए कि 'गंगा पर घोष' (गंगायां घोषः) जैसे वाक्य में स्थान की शीतलता तथा पवित्रता का अभिप्रेत प्रयोजन, व्यंग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ है, तब वास्तविक लक्ष्यार्थ 'तट', 'गंगा' शब्द का मुख्यार्थ हो जाएगा, (क्योंकि 'तट' का अभिप्रेतार्थ तथा गौणार्थ, दोनों ही लक्ष्यार्थ नहीं हो सकते) और 'तट' के अर्थ में बाधा उपस्थित हो जाएगी, क्योंकि मुख्यार्थ अथवा अभिधार्थ के बाधित हुए बिना लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव, पहले प्रयोजन को लक्षित करने के लिए हमें एक और लक्षित प्रयोजन को स्वीकार करना पड़ेगा (क्योंकि प्रयोजन को माने बिना

1. यथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पृ० 247-4?0।

लक्षणा का अस्तित्व ही नहीं हो सकता) और दूसरे लक्षितार्थ के लिए तीसरा प्रयोजन स्वीकार करना पड़ेगा, और इसी प्रकार यावदनंत प्रयोजन स्वीकार करने पड़ेंगे। वास्तव में, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रयोजन तो अवाच्य ही रहता है। यदि यह अवाच्य रहता है, तब इसका बोध कैसे होता है? इसके लिए मानना पड़ेगा कि प्रयोजन 'व्यंजित' होता है। यह भी बताया जा चुका है कि व्यंजना, वक्ता, श्रोता इत्यादि परिस्थिति-भेद पर आश्रित होती है। स्थानाश्रित भेद भी होता है। लक्ष्यार्थ अथवा लक्षणा केवल शब्दाश्रित ही होती है, किंतु व्यंजना, शब्द, वर्ण, शब्दार्थ तथा शैली पर आश्रित होती है। इसके अतिरिक्त मम्मट का कथन है कि व्यंजना को लक्षणा-सहित अभिधा का सहधर्मी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यंजना का भाव तो बिना किसी अभिधा के, वर्णमात्र से ही, होता देखा गया है।

लक्षणा, व्यंजना की व्यावर्तक-धर्मी है, इस कथन पर आश्रित दूसरे मत में ध्वनिकार ने अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष सिद्ध किया है। यह एक मीमांसात्मक आपत्ति है तथा ध्वनि के समर्थकों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना के निरूपण पर आधारित है, क्योंकि आनंदवर्धन तथा उनके टीकाकार, दोनों ने यह सिद्ध किया है कि कभी-कभी व्यंजना की अपेक्षा लक्षणा की शक्ति अथवा क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उदाहरणार्थ लक्षणा के प्रयोजन में वैचित्र्य न होने पर 'व्यंजना' को स्वीकार नहीं किया जाता, इसके विपरीत, 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' के क्षेत्र में लक्षणा के लिए स्थान है, क्योंकि यहाँ व्यंजना प्रत्यक्षतः लक्षणाश्रित होती है।

व्यंजना-वृत्ति के प्राचीनतम तथा तीव्रतम आलोचकों में 'अनुमान'-वादियों का नाम भी है। स्वयं आनंदवर्धन ने इनके विचार का कुछ विस्तार से खंडन किया है। परवर्ती साहित्य में महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' अनुमानवादियों का एक प्रतिनिधि ग्रंथ है। अनुमान से ही अभिधार्थ का बोध हो सकता है, यही सिद्ध करना इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है। अधिकांश में इस प्रकार के विवाद मीमांसा-मूलक हैं। वस्तुतः काव्यविद्या से इनका कोई संबंध नहीं है। महिमभट्ट के सिद्धांत की चर्चा यथास्थान की जाएगी, यहाँ इस सिद्धांत की आनंदवर्धनकालीन सामान्य रूपरेखा देना तथा इसके खंडनार्थ दिए गए तर्कों पर विचार करना ही पर्याप्त रहेगा।

आनंदवर्धन द्वारा इस मत के खंडन (पृ० 201 इत्यादि) से प्रतीत होता है; कि इस मत का प्रतिपादित सिद्धांत यह था कि अवाच्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ की

प्रतोति तर्कसंगत निष्कर्ष के अभिप्राय की प्रतीति से भिन्न नहीं होती और व्यंग्य-व्यंजक भाव लिंग-लिंगी भाव ही होता है (व्यंग्य-प्रतीतिलिंगप्रतीतिरेवेति लिंग लिंगि-भाव एवं तेषां, व्यंग्यव्यंजकभावो नापरः कश्चित्)। इस मत को मानने का एक कारण यह भी बताया गया है कि स्वयं ध्वनि-मत में व्यंजना को वक्ता के अभिप्राय के आश्रित माना गया है और वह अभिप्राय सदैव न्यायसंगत है। तथापि, आनंदवर्धन का कथन है कि इससे मेरे सिद्धांत में कुछ अंतर नहीं पड़ता। उनके कथनानुसार शब्दों के दो विभिन्न रूप होते हैं, 'अनुमेय' तथा 'प्रतिपाद्य'। अनुमेय, विवक्षामूलक होता है। इसमें शब्द करने अथवा शब्द से किसी अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा रहती है। शब्द करने की इच्छा सभी प्राणियों का समान धर्म है, इसलिए वह वाणी का विषय नहीं है। शब्द का 'प्रतिपाद्य' रूप इससे भिन्न है। पतिपाद्य रूप स्वयं अर्थरूप होता है, जो कि वक्ता की अर्थ-प्रतिपादन की इच्छा का विषय होता है (प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थ-प्रतिपादनसमीहाविषयीकृतः)। प्रतिपाद्य 'वाच्य' भी हो सकता है, 'व्यंग्य' भी। कभी तो वक्ता अभिधा से ही अपने विचार का प्रतिपादन करना चाहता है (विवक्षा) और कभी वह अपने विचार का प्रतिपादन इस प्रकार करना चाहता है कि उसका बोध प्रत्यक्ष रूप में शब्दों से नहीं होता। आनंदवर्धन के कथनानुसार इस अवाच्यार्थ बोध अनुमान के रूप में नहीं हो सकता, अपितु किसी अन्य कृत्रिम अथवा स्वाभाविक संबंध से ही हो सकता है। लिंग के रूप में शब्दों से यह बोध हो जाता है कि अवाच्यार्थ ही अभिप्रेतार्थ है, किंतु वे स्वयं अवाच्यार्थ के बोधक नहीं हो सकते (विवक्षा-विषयत्वं हि शब्दैर्लिंगतया प्रतीयते, न तु स्वरूपम्)। यदि विपरीत पक्ष का समर्थन किया जाए, तब प्रत्येक अर्थ के तर्क-साध्य हो सकने के कारण अनुमान-साध्य निष्कर्ष की तरह अर्थ की सत्यता अथवा मिथ्यात्व में कोई विवाद नहीं रहेगा (यदि हि लिंगतया शब्दानां व्यवहारः स्यात्, तच्छब्दार्थे सम्यन्मिथ्यात्वादि-विवादा न प्रवर्तेरन्)। वक्ता के अभिप्रेतार्थ के रूप में ही अवाच्यार्थ, सामान्य अनुमान हो सकता है, किंतु स्वयं अभिप्राय का वास्तविक अर्थ, अवाच्य होने पर, व्यंजना-जैसी शक्ति के कारण ही प्रतिपादित हो सकता है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति तथा अनुमान का विषय नहीं है।

इस प्रकार के विरोधी मतों की चर्चा करने तथा काव्य में व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना शक्ति का प्रतिष्ठापन करने के पश्चात् इस मत के विशिष्ट सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। इसे व्यंजना, ध्वनन, गमन अथवा प्रत्यायन भी

कहा गया है। व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' नाम दिया गया है और ध्वनि के आधिक्य को काव्य की आत्मा कहा गया है।[1] ध्वनि-आश्रित काव्य के तीन जाति-भेद कहे गए हैं। इस प्रकार के श्रेष्ठ काव्य को विशिष्ट रूप से 'ध्वनि-काव्य' नाम दिया गया है। वाच्यार्थ का गौण होना तथा व्यंग्यार्थ का प्राधान्य ऐसे काव्य का लक्षण है। ध्वनिकार ने इसकी व्याख्या इन शब्दों में की है (i. 13)—जहाँ (वाच्य) शब्द अथवा अर्थ गुणीभूत होकर (अवाच्य अथवा प्रतीयमान) अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।[2] ऐसा काव्य श्रेष्ठ ध्वनि-आश्रित काव्य होता है, इसीलिए इसे 'ध्वनि-काव्य' कहा गया है।[3] काव्य का दूसरा जातिभेद, जिसमें ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर गौण होता है, 'गुणीभूत-व्यंग्यकाव्य' कहा गया है।[4] गुणीभूत होने का अर्थ यह है कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ के समान अथवा उससे कम होती है। स्वयं 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त संकेत के अनुसार व्यंग्यार्थ की दृष्टि के इसके आठ सूक्ष्म भेद बताए गए हैं, जो तर्कसंगत नहीं हैं—(1) गौण, (2) उच्चारण अथवा संकेत-आश्रित, (3) वाच्यार्थपूर्ति का

---

1. किंतु अध्याय 1 श्लोक 2, जिसमें इस मत का प्रतिपादन किया गया है, का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है 'सहृदयों द्वारा श्लाघ्य जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके 'वाच्य' तथा 'प्रतीयमान', दो भेद बताए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि 'अर्थ' स्वयं काव्य की आत्मा है, तथा इसमें इसके अन्य भेदों के साथ 'वाच्य' भी सम्मिलित है। अतएव, ध्वनिकार का प्रत्यक्ष रूप में यह कथन है कि वाच्यार्थ भी काव्य की आत्मा है, यद्यपि, जैसे कि विश्वनाथ ने इस पर आपत्ति की है, यह उनके ग्रंथ के पहले ही श्लोक में प्रतिपादित कथन के विरुद्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन आचार्यों की परंपरा के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। अभिनवगुप्त ने परस्पर विरोधी इन दो उक्तियों का समाधान करने के निमित्त कहा है कि i.2 में ध्वनिकार का आशय वास्तव में, 'वाच्य' तथा प्रतीयमान' अर्थ का भेद-निरूपण करना है; दोनों ही काव्य की आत्मा हैं, यह अभिप्राय नहीं है। यह आपत्ति सचमुच ही आवश्यकता से अधिक सूक्ष्म है। यह सिद्ध करना नितांत सरल है कि सिद्धांत की मीमांसा में सर्वत्र ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया है।

2. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ मुपसर्जनीकृतस्वार्थो।
   व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
   यहाँ 'तमर्थं' से अभिप्राय एक पहले श्लोक, अर्थात् i.4 में दिए गए 'अर्थ' शब्द की व्याख्या से है।

3. ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के लिए पृ० 137 पादटिप्पणी 2 देखिए।

4. ध्वन्यालोक, 3-35।

गुणीभूत, (4) संदिग्ध प्राधान्य, (5) समान प्राधान्य, (6) अस्पष्ट, (7) अगुप्त, अथवा (8) चारुता रहित। ऐसा काव्य, जिसमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव होता है, काव्य का तृतीय तथा निकृष्टतम प्रकार है। केवल 'शब्दचित्र' अथवा 'अर्थ-चित्र' होना इसका लक्षण है, अतएव इस प्रकार के काव्य को चित्र-काव्य कहा गया है।[1] चित्र-काव्य के अंतर्गत इस प्रकार के सभी काव्य आ जाते हैं, जो शब्द-सौंदर्य अथवा चित्रमय वर्णन अथवा इस प्रकार के यंत्रवत् साधनों से कर्णप्रिय होने के कारण श्लाघ्य माने जाते हैं। काव्य के इसी भेद के अंतर्गत ऐसे अलंकार-निबंध भी आते हैं, जिनमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव रहता है और जो केवल 'वैचित्र्य' के कारण पसंद किए जाते हैं। आनंदवर्धन ने ऐसे निबंधों को 'वाग्विकल्प' कहा है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट कर दिया है कि 'चित्रकाव्य' को काव्य कहना उचित नहीं है, यह तो काव्य की अनुकृति अथवा नकल है (काव्यानुकारः), क्योंकि वास्तव में ध्वनि के बिना काव्य हो ही नहीं सकता। तथापि उन्होंने इस प्रकार के निबंधों को काव्य के वर्ग में स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वास्तव में निरंकुश कवियों ने इस प्रकार की निबंध रचना की है, जो व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि के विकास के प्रयोजन से रहित है, उसमें शब्द तथा अर्थमूलक चारुता ही एकमात्र उद्देश्य रहा है।

काव्य के तीन भेदों का स्वरूप-निरूपण बड़ी सूक्ष्म रीति से किया गया है। प्रत्येक भेद को सूत्रबद्ध करना तथा उसका सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण करना ही इस विवेचन का एकमात्र उद्देश्य प्रतीत होता है, किंतु इसके साथ-ही-साथ, शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण से सभी तथ्यों का यथोचित विवेचन करने तथा काव्य में ध्वनि के मुख्य सिद्धान्त के अनुरूप सभी विभिन्न मतों के तत्संबंधी विचारों का संश्लेषण करने का प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है। अत्यधिक सैद्धांतिक तथ्य-अवहेलना अथवा तथ्यविरुद्ध विवेचन इत्यादि के

---

1. आनंदवर्धन ने चित्रकाव्य का इस प्रकार वर्णन किया है—'रस भावादितात्पर्य-रहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचकवैचित्र्य-मात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदवभासते तच्चित्रम्' (पृ० 220)। अभिनव-गुप्त ने विभिन्न रूपों में इस शब्द की व्युत्पत्ति का कथन किया है—'विस्मयकृद्वृत्तादिवशात्——काव्यानुकारित्वाद् वा चित्रं; आलेख्यमात्रत्वाद् वा, कलामात्रत्वाद् वा' (पृ० 34)। आनंदवर्धन के मत के प्रति आदर सूचित करते हुए मम्मट ने चित्र को काव्य का तृतीय तथा निकृष्टतम भेद बताया है, किंतु विश्वनाथ ने चित्र को काव्य मानने से ही इन्कार किया है।

दोषारोपण के प्रति यह मत सर्वत्र सतर्क प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस मत के आचार्यों ने अपने सिद्धांत को व्यापक रूप दिया, ताकि उसमें सभी परंपरागत विचारों को यथोचित स्थान मिल सके। यहाँ ध्वनि-सिद्धांत का सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण अनपेक्ष्य है। ध्वन्यात्मक काव्य के पाँच हजार तीन सौ पचपन उपभेदों[1] का विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इस विस्तृत उपभेद-विवेचन का संभव उद्देश्य पृथक्-पृथक् जातिभेद-निरूपण नहीं है, अपितु विभिन्न गुण-धर्म अथवा स्थानाश्रित रूप-विवेचन ही है। ध्वनि-मत में काव्यविद्या के पूर्वसंचित सिद्धांतों, यथा रस, रीति, गुण, दोष तथा अलंकार की, ध्वनि के दृष्टिकोण के वर्गभेद अथवा जातिभेद के आधार पर किस प्रकार व्याख्या की गई है और किस प्रकार उन्हें ध्वनि के व्याप्त सिद्धांत में समाहित कर लिया गया है, इस पर विचार किया जाएगा।

सत्काव्य, अर्थात् ध्वनि काव्य के दो बृहद् वर्ग बताए गए हैं, 'अविवक्षित वाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य'। ये दोनों नाम भोंड़े[2] होते हुए भी दोनों वर्गों के लक्षणों के सूचक हैं। 'अविवक्षित-वाच्य' में वाच्यार्थ अभिप्रेत नहीं होता; 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में वाच्यार्थ, अभिप्रेतार्थ तो निश्चित रूप में होता है, किंतु वास्तव में वह वाच्य से भिन्न, अथवा अवाच्यार्थ होता है। अविवक्षित वाच्य, लक्षणामूलक होता है, जिसे कवि, अवाच्य का बोध करवाने के प्रयोजन से ही प्रयुक्त करता है। इस प्रकार के प्रयोग में शब्द तथा वाक्य अभिधार्थ के स्थान पर आरोपित अर्थ का बोध करवाते हैं। इस प्रकार का काव्यात्मक अर्थारोहण ही, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सामान्य आलंकारिक अभिव्यक्ति का आधार है। अलंकार तथा रीति-मत में इसे बहुत महत्व दिया गया है और इस का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। दंडी ने 'समाधि-गुण' में तथा वामन ने 'वक्रोक्ति' नामक विशिष्ट

---

1. यह संख्या विश्वनाथ ने दी है। विद्यानाथ ने अपने 'प्रतापरुद्रीय' नामक ग्रंथ में ध्वनि के शुद्ध उपभेदों की संख्या 1326 बताई है, मिश्र उपभेदों के साथ कुल मिलाकर उन्होंने 5340 की संख्या का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि के संभव उपभेदों की संख्या 7420 आंकी है। उनका कहना है कि यदि अलंकारों के असंख्य भेदों को स्वीकार कर लिया जाए तो ध्वनि के असंख्य उपभेद हो सकते हैं।

2. महिमभट्ट ने इन दोनों शब्दों की आलोचना की है। उनका कथन है कि पहला शब्द 'भक्ति' अथवा 'लक्षणा' का ही सूचक है और दूसरा शब्द विरोधार्थक है (अर्थात् यदि वस्तु 'विवक्षित' अथवा 'प्रधान' है तो वह 'अन्यपर' नहीं हो सकती)।

अलंकार के अंतर्गत मानते हुए इसका निरूपण किया है। अतएव, अर्थारोपण की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ध्वनि के आचार्यों ने सत्काव्य के एक मुख्य भेद में इसे मान्यता प्रदान की और अपने नवीन सिद्धांत में इसे यथोचित तथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

ध्वनिकाव्य का दूसरा भेद, अर्थात् 'विवक्षितान्यपरवाच्य', जिसमें वाच्य अभिप्रेत तो होता है, किंतु वह अवाच्य में परिवर्तित हो जाता है, अभिधा-मूलक होता है। इसमें काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग, रस भी समाहित होता है। रस-मत में नाट्याश्रित रस की मीमांसा पहले ही हो चुकी थी। काव्य के इस भेद के दो संभव उपभेदों का उल्लेख किया गया है—(1) 'असंलक्ष्यक्रम', अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ-क्रम असंलक्ष्य होता है, अथवा जहाँ वाच्य अभिधार्थ से व्यंग्यार्थ का असंलक्ष्य रूप में बोध होता है, और (2) 'संलक्ष्य क्रम', जहाँ व्यंग्यार्थ बोध का क्रम संलक्ष्य होता है। रसात्मक तथा भावात्मक ध्वनि 'असंलक्ष्यक्रम' वर्ग के अंतर्गत आती है, क्योंकि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये भावात्मक अवस्थाएँ केवल इसी प्रकार व्यक्त की जा सकती हैं। 'संलक्ष्यक्रम' वर्ग के अंतर्गत वस्तुध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि है, जो क्रमशः शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों के आश्रित होती है। इस प्रकार, शब्द अथवा उसके अर्थ अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों की ध्वनि शक्ति के द्वारा अवाच्य का बोध होता है। अवाच्य, कोई वस्तु अथवा पदार्थ अथवा एक कल्पनामूलक भाव हो सकता है, जिसे एक काव्यात्मक अलंकार का रूप दिया जा सकता है, किंतु अधिकांश स्थलों पर—काव्य में इनका प्रधान महत्त्व है। प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य रस अथवा भाव ऐसा होता है, जिसे एक सुन्दर शब्द अथवा उसके अर्थ से ध्वनित ही किया जा सकता है। हम यह पहले ही बता चुके हैं[1] कि कवि, रस के निष्पादक तीन कारकों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव का अधिकाधिक प्रत्यक्ष रूप में बोध करवा सकता है अथवा उनकी अभिव्यक्ति कर सकता है; वह रस की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि रस तो अवाच्य होता है। अधिक-से-अधिक हम रस को नाम दे सकते हैं, उसे रति, शोक अथवा क्रोध नाम से लक्षित कर सकते हैं, किंतु काव्य में रस के अभिधान मात्र से पाठक द्वारा रस की अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि रस की निष्पत्ति तो एक स्वगत मानसिक अवस्था होती है। अतएव, रस के इन कारकों के अभिधान अथवा वर्णन से कवि रस को ध्वनित ही करता है। दूसरे शब्दों में वह रस के प्रतिबिंब का विकास करता है, जिसे

---

1. ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 119.

पाठक अपने ही मानस की एक विशिष्ट अवस्था के रूप में अनुभव करता है।[1] अतएव, विभाव इत्यादि वाच्य कारक, रस के व्यंजक ही होते हैं और रस व्यंग्य होता है। इसमें संदेह नहीं कि व्यंग्य का निष्पादन 'वाच्यार्थापेक्ष' होता है तथा वाच्यार्थ, व्यंजित करनेवाले कारकों का अभिधार्थ होता है, किंतु वाच्यार्थ के कार्य के रूप में व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। वह तो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है। अभिधा को 'असंलक्ष्यप्रक्रम' कहा गया है, क्योंकि विभिन्न कारकों द्वारा व्यंजित रस के बोध में एक प्रक्रम होता है, किंतु रसानुभूति की शीघ्रता के कारण इस प्रक्रम का बोध नहीं हो पाता। यह प्रक्रम जैसा कि एक लेखक ने सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है, एक दूसरे के ऊपर रखे गए सौ कमल-पत्रों के युगपद् वेधन के समान होता है। काव्यात्मक रस अथवा भाव का आस्वादन करते समय हम उसमें इतने तल्लीन होते हैं कि हमें उसके व्यंजक प्रक्रम का बोध नहीं हो पाता। यह सूक्ष्म ध्वनि 'असंलक्ष्यप्रक्रम' ही है।

सत्काव्य अर्थात् ध्वनिकाव्य, जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, के अतिरिक्त एक द्वितीय श्रेणी का भी काव्य है, जिसे 'गुणीभूतव्यंग्य काव्य' कहा गया है। इसमें वाच्यार्थ को पुष्ट अथवा अलंकृत करने के हेतु अवाच्यार्थ गौण रहता है। इसमें अलंकार तथा रीति-मत के पूर्ववर्ती सिद्धांतों का समावेश किया जा सकता था। इन मतों में व्यंग्यार्थ को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी गई थी, किंतु व्यंग्यार्थ का बोध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कुछ वाच्य काव्यात्मक अलंकारों के आश्रित ही स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए 'समासोक्ति' के अंतर्गत व्यंजित वस्तु के बोध को स्वीकार किया गया है, 'दीपक' के एक अन्य व्यंजित अलंकार तथा 'रसवत्' में व्यंजित रस को मान्यता दी गई है। किंतु इन सब स्थलों पर वाच्यार्थ का ही प्राधान्य अभिप्रेत है। विशिष्ट अलंकार की श्रीवृद्धि उसी से होती है। व्यंग्यार्थ उसकी पुष्टि अथवा शोभावृद्धि के लिए ही होता है। उदाहरण के लिए, बहुविवेचित 'रसवत्' अलंकार में, जिसे प्राचीन काव्यविद्या में मान्यता दी गई थी और जिसके द्वारा प्राचीन सिद्धांतों में रस

---

1. अभिनव की व्याख्या के अनुसार (ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 121 इत्यादि) कलापूर्ण निबंधों के सामाजिक अथवा साधारणीकृत होने के कारण, पाठक अभिनीत अथवा वर्णित भावों की अनुभूति कर पाता है; मानवीय भावों के सामान्य होने के कारण पाठक इन सामाजिक भावों का स्वगत भावों के रूप में ही अनुभव करता है, क्योंकि वासनाओं अथवा संस्कारों के रूप में ये भाव उसके मानस में ही विद्यमान रहते हैं।

का समावेश हो सका था, रसों तथा भावों का उद्दीपन रस तथा भाव की निष्पत्ति के निमित्त नहीं होता, अपितु वाच्य की शोभावृद्धि के लिए ही माना गया है। किंतु इससे रस के मूलभूत महत्त्व को उचित स्थान प्राप्त न हो सका। इस विषय का पुनर्निरीक्षण अवश्यंभावी था। ध्वनि के आचार्यों ने ऐसे काव्य को, जिसमें रस प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित न होकर गौण रूप में ही रहता है, अस्वीकार नहीं किया, अपितु उसे समीचीन ही बताया और अपने काव्यविषयक वर्गीकरण में उसे दूसरा स्थान दिया। इस प्रकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थल जिसका पूर्ववर्ती आचार्यों ने विवेचन किया है, वह है, जहाँ किसी वस्तु के अवाच्य होने पर भी उसका बोध होता है। अनेक ऐसे काव्यात्मक अलंकारों में ऐसा होता है, जो अपनी चारुता के लिए अपने ही सदृश किसी अन्य अलंकार पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, वामन के मतानुसार, उपमा अलंकार सभी अलंकारों में समाहित होता है। भामह का कथन है (यहाँ आचार्य दंडी भी अधिकांश रूप में उनसे सहमत हैं), चारुता के लिए सभी अलंकारों में 'अतिशयोक्ति' का भाव आवश्यक है। उनके कथनानुसार, वक्रोक्ति में (अलंकार के अर्थ में) अतिशयोक्ति का भाव होना आवश्यक है। उद्भट ने प्रत्यक्ष रूप में कुछ अलंकारों में विद्यमान श्लेष का ऐसा ही लक्षण बताया है। क्योंकि उपमा अतिशयोक्ति तथा श्लेष[1] भिन्न-भिन्न अलंकार हैं, अतएव अवाच्य अथवा व्यंग्य के रूप में अन्य अलंकारों में भी उनका भाव हो सकता है। क्योंकि यहाँ वाच्य अलंकार की ही प्रधानता होती है और अवाच्य केवल उसकी शोभावृद्धि के लिए होता है, इसलिए ध्वनि के आचार्यों के मतानुसार, ध्वनि के इन रूपों को काव्य के द्वितीय वर्ग में रखना समीचीन है। तृतीय वर्ग में ध्वनिकाव्य के ऐसे रूप हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव रहता है तथा चारुता केवल प्रत्यक्ष अभिधार्थ के किसी विशिष्ट रूप पर ही आश्रित होती है। उदाहरण के लिए, ऐसे काव्यालंकार जिनमें अभिव्यक्ति-वैचित्र्य ही एकमात्र वैशिष्ट्य होता है।

इस प्रकार ध्वनि अथवा अवाच्य के तीन विभिन्न रूप हैं—(1) वस्तु-ध्वनि, (2) अलंकार-ध्वनि, तथा (3) रस ध्वनि। जहाँ विशिष्ट वस्तु अथवा अर्थ (वस्तु-आश्रित) व्यंजित होता है, वहाँ वस्तु-ध्वनि होती है। जहाँ कल्पना-मूलक (वस्तु-भिन्न) व्यंजित अर्थ, शब्दों से व्यक्त किए जाने पर काव्यात्मक

---

1. तथापि ऐसा कहा गया है कि उद्भट के मतानुसार अन्य अलंकारों में श्लेष का भाव, अपने प्राधान्य के कारण स्वयं उस अलंकार की प्रतिपत्ति को नष्ट कर देता है।

अलंकार का रूप ले ले, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। तथा जहाँ कोई रस अथवा भाव प्रधान होता है तथा प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य होने के कारण उसे व्यंजित ही किया जा सकता है, वहाँ रस-ध्वनि होती है। अतएव, ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार काव्य के तीन प्रकार हैं, वस्तु (अथवा अर्थ) प्रतिपादक, कल्पना-अथवा अलंकार-प्रतिपादक तथा रस-प्रतिपादक। अभिनवगुप्त का कथन है[1] कि कारिकाओं में प्रत्यक्ष रूप में इस सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किंतु जैसा कि आनन्दवर्धन ने अपनी वृत्ति में इसका विवेचन किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है।[2]

यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन दोनों ने रस-ध्वनि को विशेष महत्व दिया है। यद्यपि चित्रकाव्य, अथवा निम्नतम कोटि का काव्य रस-ध्वनि से सर्वथा विहीन है, तथापि काव्य के मूल्यांकन में रस-ध्वनि को सबसे महत्त्वपूर्ण निकष माना गया। निस्सन्देह, सम्पूर्ण सिद्धांत के अन्तर्गत अलंकार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि को भी, जिसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी और कवियों ने जिसका प्रयोग किया है, स्थान मिलना उचित ही है; किंतु मुख्या समस्या (जिसका सूक्ष्म विवेचन किया गया है) यह है कि निबंध रस की अभिव्यक्ति में किस प्रकार सहायक हो सकती है, क्योंकि (जैसा कि बारंबार कहा गया है), शब्द तथा अर्थाश्रित निबन्ध की रचना में रस-ध्वनि ही कवि का पथ-प्रदर्शक सिद्धांत होना चाहिए, अलंकार अथवा वर्णन मात्र नहीं। पृ० 148 [3]। दूसरे शब्दों में रस एक ऐसा आकर्षक केंद्र है, जिसकी ओर काव्य के प्रत्येक अंग—रीति, गुण, दोष तथा अलंकार—का घूमना आवश्यक है। काव्य में भाव को अधिक महत्त्व दिए जाने के कारण-रस-ध्वनि को अन्य प्रकार की सभी ध्वनियों से श्रेष्ठ माना गया। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में ऐसा कहा गया है कि अवाच्य, प्रत्यक्ष रूप में अपने तीनों ही रूपों में, अंगी होता है और उसी के आश्रित होने पर

---

1. "यस्तु व्याचष्टे—'व्यंग्यानां वस्त्वलंकाररसाणां मुखेन' इति, स एवं प्रष्टव्यः—"एतत्तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं, वृत्तिकारेण तु दर्शितम्" लोचन पृ० 123.

2. यथा—"स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकारा-रसादयश्चेति अनेक-प्रकारप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते," पृ० 15.

3. अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबंधनम्, पृ० 181, परिपाकवतां कवीनां रसादि-तात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते, पृ० 221.

गुणों तथा अलंकारों का महत्त्व सापेक्ष होता है। किंतु आनन्दवर्धन ने इन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंगों की व्याख्या रसादि के विशेष सन्दर्भ में ही की है (रसादिलक्षणं)[1] और ध्वनिकार ने स्वयं एक अन्य स्थान पर शब्द, वर्ण, वाक्य-संघटना तथा रीति के गुण-दोष का विवेचन किया है। इसी विषय को लेकर 'औचित्य' सिद्धांत का विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त, ध्वनिकार ने यह भी कहा है कि 'गुणीभूत-व्यंग्य' प्रकार के काव्य में यदि रस-विकास की प्रवृत्ति हो तो यह भी ध्वनि-काव्य हो सकता है (iii. 41)। अपने रस-विषयक उत्साह के कारण आनन्दवर्धन ने अनेक स्थलों पर यहाँ तक कह दिया है कि वास्तव में नाट्य के अतिरिक्त काव्य की आत्मा भी रस ही है।[2]

रस-सिद्धांत में से इस प्रकार के उद्धरण से—स्वयं आनन्दवर्धन के कथनानुसार, भरत इत्यादि द्वारा नाट्य में रस का पहले से ही प्रतिष्ठापन किया जा चुका था—ध्वनि-सिद्धांत को मूल रूप में महत्त्वपूर्ण सौंदर्यात्मक वस्तु की प्राप्ति हुई। नाट्य-कला में तो इसे पहले से ही मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, किंतु काव्य-कला में अभी पूर्ण रूप में इसका प्रतिष्ठापन नहीं हुआ था। इस अर्थ में ध्वनि-सिद्धांत को रस-सिद्धांत का विस्तारित रूप कहा गया है। किंतु वास्तव में यह एक विस्तारित रूप न होकर एक पुनर्व्यवस्थापन ही था। ध्वनि के आचार्यों ने यद्यपि रस को बहुत महत्त्व दिया है, तथापि उन्होंने इसे काव्य में अवाच्य का केवल 'एक' अंग माना है। कम-से-कम सैद्धांतिक एकरूपता के दृष्टिकोण से न तो ध्वनिकार और न ही आनन्दवर्धन स्पष्ट रूप में ऐसा कह सके कि रस ही काव्य का एकमात्र प्रयोजन है, क्योंकि कहीं-कहीं अवाच्यार्थ, वस्तु अथवा अलंकार भी हो सकता है, यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनकी विचारधारा की प्रवृत्ति इसी दिशा को लक्षित करती है और सम्भवतः परवर्ती आचार्यों ने उसी से प्रभावित होकर यह निर्धारित किया कि रस ही काव्य की एकमात्र आत्मा अथवा तत्व है। ध्वनि-सिद्धांत के

---

1. 'रसादि' शब्द का अर्थ, अंगी के रूप में रस, भाव इत्यादि होना चाहिए, किंतु प्रत्येक स्थान पर 'आदि' शब्द 'व्यंग्यार्थं' के अन्य दो रूपों, अर्थात् 'वस्तु' तथा 'अलंकार' का ही वाचक माना जाना चाहिए। वस्तु तथा अलंकार भी रस के समान अंगी हैं, संदर्भ में इस प्रकार की व्याख्या अभिप्रेत है, यह सन्देहास्पद है।

2. रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवभूतः, पृ० 182; ऊपर पृ० 149. की पादटिप्पणी 3 के उद्धरणों का भी अवलोकन कीजिए।

प्रवर्तकों ने, प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो परोक्ष रूप में, रस को जो महत्त्व दिया, उसे अभिनवगुप्त ने अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। उन्होंने सैद्धांतिक मीमांसा को अधिक महत्त्व नहीं दिया। इस विषय पर आगे चर्चा की जाएगी। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि स्वयं अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर स्पष्टतया रस को वास्तव में काव्य की आत्मा कहा है और, यह मानते हुए कि अवाच्य, वस्तु अथवा अलंकार के रूप में भी हो सकता है, उन्होंने यह कहा है कि ध्वनि के इन दो रूपों का पर्यवसान रस-ध्वनि में ही होता है।[1] यह आगे बताया जाएगा कि संभवतः इसी मत से प्रभावित होकर विश्वनाथ ने अपने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि केवल रस ही काव्य की एकमात्र आत्मा है, किंतु जिन कारणों से ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने स्पष्ट रूप में ऐसा कहना उचित नहीं समझा, उनका, जैसा कि जगन्नाथ द्वारा विश्वनाथ के मत की आलोचना से प्रतीत होता है, सरलता से निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत के विकास को और अधिक मान्यता नहीं दी गई।

संभवतः ध्वनिकार का विचार यह था कि काव्य की कल्पना इतनी व्यापक होनी चाहिए कि उसमें काव्य के उन रूपों को भी स्थान मिले, जिनमें रस का विकास नहीं होता अथवा आंशिक रूप में ही विकास होता है, यद्यपि वास्तव में रस का पक्षपाती होने के कारण उनके विचार इससे कुछ भिन्न मत को भी लक्षित करते हैं। विश्वनाथ-जैसे आचार्यों ने उसी के आधार पर आवश्यक तर्कसंगत निष्कर्ष निकाला है। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि तथ्यों के साथ न्याय करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। इन आचार्यों ने अपनी धारणा के अनुसार काव्य के आदर्शों तथा काव्य के वास्तविक तथ्यों को प्रतिष्ठापन किया है। काव्य के कुछ रूपों में 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वे इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकते थे, यद्यपि वे इस बात को समझते थे कि अधिकांशतः रस ही एक महत्त्वपूर्ण मापदंड है। उनके अनुभवाश्रित विश्लेषण का एक उदाहरण यह है कि उन्होंने काव्यात्मक भाषा के सूक्ष्म विश्लेषण के फलस्वरूप सभी संभव रूपों तथा स्थलों को ध्यान में रखते हुए अवाच्य के पाँच सहस्त्र से अधिक विभिन्न रूपों का विवेचन किया है। तथ्यों के प्रति इस प्रकार की निष्ठा के कारण ही

---

1. "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते," पृ० 27. काव्य की आत्मा के विषय में ध्वनिकार के कथन की व्याख्या में आनंदवर्धन के 'उचित' शब्द पर टिप्पणी में उन्होंने लगभग ऐसा ही विचार व्यक्त किया है—"उचित-शब्देन रसविषयमेव औचित्यं भवतीति दर्शयन्रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति," पृ० 13.

उन्होंने पूर्ववर्ती चिंतन के सौंदर्यात्मक विचारों की अवहेलना की। यद्यपि इन विचारों से संपूर्ण समस्या का समाधान नहीं हो सकता था, तथापि रस, रीति, गुण, दोष तथा अलंकार विषयक विषयों का परीक्षण आवश्यक था। नवीन सिद्धांत को व्यापक रूप में प्रतिष्ठित करने से पहले उसमें उनका स्थान निर्धारित करना अपेक्षित था। इसमें संदेह नहीं कि सजातीय नाट्यकला के समान काव्य-कला में भी रस के प्राचीन तत्त्व को पूर्णतया महत्त्वपूर्ण स्थान दिए जाने से इस मत को यशःप्राप्ति हुई, किंतु साथ-ही-साथ अपने व्यापक सिद्धांत में इस मत के काव्य के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों को भी एकरूपता देने का प्रयत्न किया गया।

रीति की आवश्यकता रस-ध्वनि सापेक्ष है। इसी प्रयोजन के हेतु इसे सापेक्ष मान्यता दी गई है। तो भी, ध्वनि के आचार्यों ने रीति के अनुपयोगी भेद-निरूपण को अनावश्यक कहा है (iii. 52, वृत्ति),[1] आनंदवर्धन ने रीति का स्वरूप-निरूपण नहीं किया है, किंतु अभिनव के कथनानुसार, रीति, गुणों के अंतर्गत ही पर्यवसायित है (रीतेर्हि गुणेष्वेव पर्यवसायिता)।[2] निबंध के रस

---

1. प्रकाशित पाठ में इस श्लोक की संख्या अशुद्ध है। यह संख्या (iii. 4) होनी चाहिए। चौथे सं० (1935) में संख्या ठीक दी गई है।

2. अभिनव का कथन है (पृ० 231)—यदाह—'विशेषोगुणात्मा' (वामन i. 2-3) गुणाश्च रस-पर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग् गुणनिरूपणे 'श्रृंगार एव मधुरः' (ध्वन्या, ii. 8, पृ० 79) इत्यत्रेति। वामन ने कहा है कि रीति केवल 'विशिष्ट पद-रचना' है और गुणों के कारण ही पद-रचना की विशिष्टता होती है। गुणों के स्वरूप के अनुरूप रीति का स्वरूप होता है। ध्वनिकार ने ii. 8 इत्यादि में तीन गुणों, अर्थात्, माधुर्य (श्रृंगार में), ओज (रौद्र में) तथा प्रसाद (सभी रसों में) से रस की निष्पत्ति का विवेचन किया है। गुण विषयक उनका कथन रीति पर भी लागू होता है। उसे पृथक् नहीं लेना चाहिए। मोटे तौर से, उनके तीन गुण, वामन की तीन रीतियों के अनुरूप हैं। आनंदवर्धन ने गुणों को 'संघटना-धर्मत्व' कहा है (पृ० 5), किंतु संभवतः इससे तो उद्भट का मत ही व्यक्त होता है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार (पृ० 134) उन्होंने गुणों को 'संघटना धर्माः' कहा है। मम्मट के समान संभवतः उनका भी यही मत है कि विशिष्ट वर्णविन्यास अथवा शब्दविन्यास से विशिष्ट रस का विकास होता है। (देखिए ii.8 इत्यादि)। निस्संदेह iii. 5 इत्यादि में ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन दोनों ने गुणों के संदर्भ में 'संघटना' का उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने संघटना को समास की दीर्घता अथवा लघुता के आश्रित कहा है (जो रुद्रट द्वारा बताए गए रीति के लक्षण के अनुरूप हैं)। संघटना की उपयुक्तता अंततो-

विकास में सहायक होना ही गुणों का एकमात्र कार्य है, और इस दृष्टिकोण से, जैसा कि सम्प्रति बताया जाएगा, गुणों का सूक्ष्म भेद-विवेचन अत्यावश्यक है। आनन्दवर्धन ने केवल तीन गुणों को स्वीकार किया था, जो मोटे तौर से वामन की तीन रीतियों के अनुरूप हैं।[1] गुणों तथा अलंकारों (क्योंकि अलंकार भी काव्य के शोभाकारक होते हैं) के परस्पर भेद को अधिक स्पष्ट कर देने से गुणों का रस से परस्पर सम्बन्ध और भी स्पष्ट कर दिया गया है। अध्याय 2 के श्लोक 7 पर अपनी वृत्ति में आनन्दवर्धन ी उक्ति की व्याख्या करते हुए परवर्ती आचार्यों ने कहा है कि गुण, रस के अविभाज्य (अभिन्न) लक्षण हैं।[2] रस के बिना गुणों का अस्तित्व नहीं हो सकता। गुणों के 'रसधर्मत्व', 'रसाव्य भिचारिस्थितित्व' तथा 'रसोपकारकत्व' लक्षण कहे गए हैं। यदि कहीं गुणों को शब्द तथा अर्थाश्रित कहा गया है तो यह 'उपचार' मात्र ही है, और 'शब्द-गुण' तथा 'अर्थ-गुण' का प्राचीन भेद-निरूपण इसी अर्थ में स्वीकार करना चाहिए। इसके विपरीत, अलंकार निश्चित रूप में शब्द तथा अर्थाश्रित ही होते हैं और उनके माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में रस की श्रीवृद्धि करते हैं। मम्मट ने उनका स्वरूप-निरूपण इस प्रकार किया है—अनुप्रास, उपमा इत्यादि वे अलंकार हैं, जो अंगों (अर्थात् शब्द तथा अर्थ) के माध्यम से कभी-कभी इस प्रकार उपकार करते हैं, जिस प्रकार हार इत्यादि (मनुष्य की आत्मा

गत्वा रस की निष्पत्ति, वक्ता तथा विषय पर आश्रित है। यह समस्या, रस-नियम तथा वाच्य अथवा विषय-नियम तथा वक्ता-नियम से विशेष रूप में सम्बद्ध होने के कारण तथा जहाँ तक शब्द-वर्ण तथा वाक्य-विन्यास का सम्बन्ध है, औचित्य सिद्धांत के रूप में परिणत हो जाती है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप में कहा है (पृ० 135) कि गुण संघटना-स्वरूप नहीं हैं (न गुणाः संघटना स्वरूपाः) और न ही वे संघटनाश्रित हैं (न च संघटनाश्रया गुणाः), इसके विपरीत संघटना गुणाश्रित होती है। देखिए, सुशील कुमार डे का 'सम प्राब्लम्ज', पृ० 91-94।

1. उद्भट ने अपनी 'वृत्तियों' के भी इसी प्रकार के कार्य निर्धारित किए हैं। देखिए, पृ० 142 तथा पृ० 5-6 पर अभिनव की टिप्पणी।
2. आनन्दवर्धन का कथन है (ii. 7 वृत्ति)—'गुण', रसादि के रूप में 'अंगी' के अर्थ के आश्रित होते हैं। ये भी वाच्य शब्द तथा अर्थ के रूप में 'अंग' पर आश्रित होने से अलंकार माने गए हैं। गुण, वीरता इत्यादि गुणों के समान हैं तथा अलंकार वलय-जैसे आभूषणों के समान है। गुण का रस से सम्बन्ध सूचित करने के लिए मम्मट ने 'अचल-स्थिति' (गोविंद ने इसकी 'अपृथक्स्थिति' व्याख्या की है) शब्द का प्रयोग किया है।

का उपकार करते हैं) ।[1] वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है[2]—'अलंकार वे हैं, जो अंगों, अर्थात् वाचक तथा वाच्य के अतिशय के माध्यम से मुख्य रस की इस प्रकार सहायता करते हैं, जैसे हार इत्यादि शरीर के कण्ठ इत्यादि अंगों को अलंकृत करके आत्मा को सुशोभित करते हैं। जहाँ रस का अभाव होता है, वहाँ इनसे केवल उक्ति-वैचित्र्य का निष्पादन होता है। कहीं-कहीं रस के विद्यमान होने पर भी वे उसका उपकार (विकास) नहीं करते।' अतएव, वाच्य शब्द तथा अर्थ के शोभाकार होने के कारण तथा केवल गौण रूप में रस की श्रीवृद्धि करने के कारण अलंकारों का रस से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। केवल उक्तिवैचित्र्य के रूप में रस के बिना भी उनका अस्तित्व हो सकता है, और रस का भाव होने पर भी अलंकारों का होना नितांत आवश्यक नहीं है।[3]

अलंकार किन-किन अवस्थाओं में रस का सहायक हो सकता है, इस प्रश्न पर ध्वनिकार ने ii. 19-20 में चर्चा की है और इस प्रकार की चार सम्भव अवस्थाओं का उल्लेख किया है, (i) जहाँ कवि का प्रयोजन, इसे अंगी न मानकर रस का गौण अंग मानना होता है (तत्परत्वेन, नांगित्वेन), (2) जहाँ काल के अनुसार कवि इसका ग्रहण अथवा त्याग करता है (काले ग्रह-त्यागयोः) (3) जब कवि इसका अन्त तक निर्वाह नहीं करना चाहता, (नाति-निर्वाहे) तथा (4) निर्वाह होने पर भी यह गौण ही रह जाता है (निर्वाहेऽप्यंगत्वे)।[4]

---

1. उपकुर्वंति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

2. ये वाच्यवाचकलक्षणांगातिशयमुखेन मुख्यं रसं संभविनमुपकुर्वंति ते कंठाद्यांगानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालंकाराः। यत्र नास्ति रसो तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः, क्वचितु संतमपि नोपकुर्वन्ति।

3. इसकी व्याख्या इस टीका से की गई है—'गुणा रसं विना नावतिष्ठंते, गुणा रसमवश्यमुपकुर्वंति अलंकारास्त्वश्यं नोपकुर्वंति, गुणा रसधर्मा अतः साक्षाद् रसे तिष्ठंति, अलंकारास्तु न रसे साक्षाद् तिष्ठंति किंत्वंगद्वारेण।

4. अतएव, मम्मट के बहु-आलोचित काव्य-लक्षण-निरूपण में अलंकार को आनुषंगिक कहा गया है, अंगी नहीं। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर विश्वनाथ तथा जगन्नाथ द्वारा की गई आपत्ति समीचीन है, फिर भी चर्चाधीन विषय पर जगन्नाथ के विचार मम्मट से अधिक भिन्न नहीं हैं। मम्मट के लक्षण-निरूपण में 'वाक्यार्थीभूत रस' अथवा रस-

इस प्रकार अलंकार को अपेक्षाकृत गौण स्थान दिया जाना इसके महत्व की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का सूचक नहीं है, क्योंकि आनंदवर्धन ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि काव्यवृत्ति तो इसी के आश्रित है (काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्)। किंतु काव्य में केवल अंगी, जो अधिकांशतः रस का रूप होता है, के संदर्भ में ही अलंकार को मान्यता दी गई है। अन्य प्रकार के अलंकार, जिनसे रस की ध्वनि नहीं होती और इसीलिए काव्योचित नहीं हैं, आनंदवर्धन के मतानुसार, 'वाग्विकल्प' मात्र हैं, उन्हें चित्रकाव्य के अंतर्गत ही मानना चाहिए, और चित्रकाव्य काव्य नहीं है, अपितु काव्य की अनुकृति है, नकल है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने चित्रकाव्यों की उपेक्षा की है, क्योंकि उनके सिद्धांत में इसके लिए कोई स्थान नहीं था। किंतु कभी-कभी रस अथवा अवाच्य का विकास अथवा निष्पादन करने की अपेक्षा, अलंकार के रूप में केवल उक्तिवैचित्र्य को जन्म देना ही कवि का प्रयोजन होता है। आचार्य रुय्यक के समान ध्वनि के मतानुयायियों ने ध्वनिकार के अलंकार-विषयक विवेचन में इस कमी का अनुभव किया और काव्य के लिए इस प्रकार के अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कुंतक के अनुसार उनका विश्लेषण किया तथा इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।

गुण-लक्षण-निरूपण के संबंध में उपर्युक्त कथन के कारण गुणों का यावदनंत रूप-भेद-निरूपण अनावश्यक हो गया। इस विषय में मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने 'ध्वन्यालोक' को प्रमाण मानते हुए, भरत के समय से मान्यताप्राप्त दस गुणों में से केवल तीन गुणों अर्थात् माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को स्वीकार किया है। उन्होंने सूक्ष्म रूप में सिद्ध किया है कि ये दस गुण उपर्युक्त तीन गुणों में ही समाहित हैं अथवा दोषों के अभाव-मात्र को ही लक्षित करते हैं। उनमें से कुछ गुण तो निश्चित रूप में दोष ही हैं। वास्तव में इन तीनों गुणों के लक्षण इतने व्याप्त बताए गए हैं कि उनके अंतर्गत भरत, दंडी तथा वामन के दस में से अधिकांश गुण आ जाते हैं। उदाहरण के लिए मुख्यतः शृंगार, करुण तथा शांत के अंतर्गत माधुर्य गुण को सामान्यतः आह्लाद तथा द्रुति-कारण कहा गया है। वीर, रौद्र तथा वीभत्स में ओज गुण को विस्तार-

---

भिन्न 'व्यंग्यार्थ' (अप्रत्यक्ष रूप में उसमें विद्यमान हैं) का कहीं उल्लेख नहीं है, किंतु गुणों तथा दोषों का स्पष्ट उल्लेख है। लक्षण-निरूपण की ये विभिन्नताएँ पूर्ववर्ती मतों के ऐतिहासिक विकास के कारण हैं, इनसे मौलिक लक्षण-निरूण के प्रति कोई प्रयत्न सूचित नहीं होता। आगे देखिए, अध्याय 7।

कारण कहा गया है। सभी रसों में विद्यमान प्रसाद गुण को काठ में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान व्याप्ति-कारण कहा गया है। क्योंकि ये गुण निबंध के प्रधान रस से संबंधित हैं और विशिष्ट रस के ही उपयुक्त होते हैं, इसलिए गुणों का उपर्युक्त भेद-निरूपण, (विशिष्ट रस के विकास के हेतु) पाठक के मानस को प्रभावित करने की क्षमता के कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही किया गया है। वहाँ शब्द तथा अर्थ की संघटना पर आश्रित प्राचीन भेद-निरूपण अनपेक्ष्य है। इन तीन गुणों के व्याप्त लक्षणनिरूपण से यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के श्लेष, समाधि तथा औदार्य को ओज में तथा अर्थ-व्यक्ति को समाधि में समाहित किया जा सकता है। 'सौकुमार्य' तथा 'कांति' निश्चित रूप में क्रमशः 'पारुष्य' तथा 'ग्राम्यत्व' दोषों के विपर्यय हैं तथा शैली की 'समता' कहीं-कहीं निश्चित रूप में दोष हो सकती है।

गुणों के विषय में उक्त मत के अनुरूप ही काव्य-दोषों को रस तथा वाच्यार्थ के उपकर्षक ही माना गया है। अतएव, रस के संदर्भ में दोषों का गुणों के समान एक निश्चित महत्व है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि कुछ दोष 'गुणाभाव' तथा कुछ गुण 'दोषाभाव' की अवस्था को पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ 'पुनरुक्त' सामान्यतः एक दोष है, किंतु यदि इससे ध्वनित रस की चारुता का बोध हो तो यह गुण भी हो सकता है। नित्य तथा अनित्य दोष का भेद-निरूपण इसलिए किया गया है, क्योंकि इससे हम निबंध के लिए प्रत्येक अवस्था में अपकर्षक होनेवाली विशिष्ट संघटना के निवारण का साधारणीकरण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, ध्वनिकार का कथन है कि प्रधान रूप में शृंगार के ध्वनित होने पर 'श्रुतिकष्ट' जैसे दोष सर्वथा परिहार्य हैं, यद्यपि रौद्र-रस के संदर्भ में यह कोई दोष नहीं है।

वाच्य तथा अवाच्य अर्थ की मीमांसा के आधार पर काव्य के मूल्यांकन करने तथा वाच्य के अवाच्य को ही निकर्ष मानने की प्रवृति से गुणों तथा दोषों एवं पूर्ववर्ती मीमांसकों द्वारा मान्यताप्राप्त, किंतु फिर भी विवादास्पद अलंकारों के स्वरूप का एक नए ढंग से विवेचन किया गया। वाच्य शब्द तथा अर्थ काव्य का वस्त्र मात्र है, किंतु प्राचीन आचार्य काव्य के इस बहिरंग अथवा आनुषंगिक रूप से ही प्रभावित थे। उन्होंने वाच्य शब्द तथा अर्थ को ही महत्त्व दिया। गुण तथा दोष (तथाकथित रीति-सहित) तथा अलंकार वाच्य के ही शब्द अर्थाश्रित उक्ति-वैचित्र्य रूप हैं और उनका अस्तित्व इसी रूप

में स्वीकार किया गया है। अतएव, वे काव्य का प्रधान अंग नहीं हो सकते, क्योंकि अवाच्यार्थमूलक काव्य की आत्मा से उनका कोई संबंध नहीं है। साथ-ही-साथ उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। किंतु उन्हीं के माध्यम से अवाच्य की व्यंजना होती है। वाच्य शब्द तथा वाच्य अर्थ ही सूक्ष्म व्यंग्य अर्थ के व्यंजक होते हैं। अवाच्य का वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि अथवा रस-ध्वनि में भेद-निरूपण करते हुए आचार्यों ने प्रधान अवाच्य कारक के रूप में वस्तु, अलंकार तथा रस को काव्य के नित्य धर्म कहा। बहिरंग अभिव्यक्ति का महत्त्व इस अवाच्य अर्थ को निर्दिष्ट करना मात्र है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने यह भी अनुभव किया कि कवि द्वारा प्रतिपादित रस ही काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। रस को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि अलंकार तथा वस्तु उपेक्षास्पद हो गए। रसात्मक अनुभूति के माध्यम के रूप में काव्य को एक गंभीर अर्थ दिया गया। ध्वनि के आचार्यों द्वारा काव्य में रस-ध्वनि को महत्त्व दिए जाने से ही ऐसा हुआ।

यह एक नवीन सिद्धांत की संक्षिप्त रूप-रेखा है। इसमें सभी ज्ञात तत्वों तथा मतों के आधार पर काव्य के एक व्याप्त सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें श्रेष्ठ काव्य के मूलभूत तथा अनिवार्य सिद्धांत अर्थात् ध्वनि की सूक्ष्म मीमांसा की गई है, जिसके माध्यम से पाठक विभिन्न मार्गों से होता हुआ स्पष्ट रूप में वाच्य से अवाच्य तक पहुँच सकता है। अवाच्य तक पहुँचकर ही पाठक काव्य के वास्तविक अर्थ को जान पाता है और काव्य के अंतर्निहित रस का, जो वास्तव में अवाच्य है, आस्वादन कर पाता है। शब्द अथवा अर्थ का अलंकरण तथा संघटनात्मक काव्य-गुण अथवा शैली इसी पराकाष्ठा में सहायक होते हैं। इस संदर्भ में, जैसा कि कुछ अर्वाचीन रहस्यवादी काव्यों से लक्षित होता है, ध्वनि को एक सहज संकेत अथवा परम मौन अथवा एक ऐसी विशिष्ट विचार-शृंखला कहना गलत है, जिसके अनुसार अवाच्य में ही सभी वस्तुओं का भाव मानकर उन्हें अनिर्वचनीय कहा गया है। अवाच्य का वाच्य से घनिष्ठ संबंध है। वाच्य के बिना अवाच्य का भाव ही नहीं हो सकता। गूढ़ होने के कारण सहृदय व्यक्ति ही इसकी सूक्ष्मता का अवगमन कर सकता है। व्याकरण तथा शब्दकोष के वेत्ता अवाच्य को नहीं समझ सकते। सहृदय तथा काव्य में प्रवृत्ति तथा मर्मज्ञ ही अवाच्य को समझ सकते हैं। अवाच्य तो सहृदय का ही क्षेत्र है। गूढ़ शब्द तथा अर्थ के जटिल जाल को काटकर सौंदर्यात्मक सूक्ष्म अर्थ का—जिसमें सौंदर्य सुख वस्तु-विषयक सौंदर्य सुख में गुंफित होता है—आस्वादन करने में वही प्रवीण होता है।

ध्वनिमत में प्रतिपादित काव्यविद्या के उपर्युक्त सिद्धांत को आनंदवर्धन के पश्चाद्वर्ती सभी प्रसिद्ध आचार्यों ने शास्त्रीय रूप में स्वीकार किया है; यद्यपि इसके

सिद्धांत पक्ष में कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं । यत्र-तत्र एकाध आचार्य ने इस मत के खंडन करने का साहस किया है, किंतु उसे शास्त्र-विरुद्ध कहकर उपेक्षा तथा विस्मृति के गर्त में ढकेल दिया गया है । ध्वनि के पश्चात् वक्रोक्ति-जीवितकार तथा व्यक्ति-विवेककार के सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़ी कुशलता से किया गया, किंतु वे ध्वनि को अपदस्थ न कर सके और पुष्ट समर्थकों के अभाव के कारण स्वयमेव ह्रासोन्मुख होकर समाप्त हो गए । परवर्ती आचार्यों ने केवल खंडन करने के लिए ही इनकी चर्चा की है । जैसा कि अभिनवगुप्त इत्यादि के द्वारा उनके लुप्त ग्रंथ से दिए गए विस्तृत उद्धरणों से सूचित होता है, संभवत: भट्टनायक का विरोध अधिक प्रभावशाली था, किंतु उन्हें भी अधिक सफलता नहीं मिली । इसमें संदेह नहीं कि इन सब आचार्यों ने व्यंग्यार्थ की कल्पना को स्वीकार किया है, किंतु जब उन्होंने एक और ही ढंग से उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया तो उन्हें सुननेवाला कोई नहीं मिला । विश्वनाथ ने इस सिद्धांत को एकांतिक रूप देने का प्रयत्न किया, किंतु उन्हें भी सब का अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ । मम्मट के समान, सभी परवर्ती आचार्यों के परिश्रम का एकमात्र उद्देश्य ध्वनि के सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन करना तथा उसी के आधार पर काव्य-विद्या को एक प्रामाणिक रूप देना था । उन्होंने सिद्धांत में कोई वास्तविक परिवर्तन करने की अपेक्षा उसी की सूक्ष्म मीमांसा करने में अपनी कुशाग्र बुद्धि का व्यय किया । काव्यविद्या के विषय पर संस्कृत में 'ध्वन्यालोक' के समान प्रभावशाली अन्य कोई ग्रंथ नहीं है । पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रयोगात्मक चिंतन को प्रकाश में लाने का श्रेय 'ध्वन्यालोक' को ही है । सिद्धांत की उत्कृष्ट व्याख्या के कारण इसने सभी पूर्ववर्ती ग्रंथों को मात कर दिया । अद्यावधि आचार्य-परंपरा इसी ग्रंथ से प्रभावित है ।

अध्याय : 16

अभिनवगुप्त तथा प्रतिपक्षी सिद्धांत

1

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन के ग्रन्थ पर अपनी सुप्रसिद्ध टीका के अन्तर्गत ध्वनि-सिद्धांत की पांडित्यपूर्ण व्याख्या करने के कारण अभिनवगुप्त संस्कृत काव्यविद्या के एक ख्यातिप्राप्त आचार्य हैं। उनकी विदग्धता, उनकी प्रसिद्धि तथा अपने समय के चोटी के विद्वान् तथा दर्शन-विषयक लेखक होने के कारण उनके समर्थन से ध्वनि-सिद्धांत को बहुत बल मिला, जिसके फलस्वरूप परवर्ती काव्यविद्या के क्षेत्र में उनको ही एकमात्र सिद्धांत-प्रवर्तक के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। एक विषय को छोड़कर, जिसकी चर्चा सम्प्रति की जाएगी, उनका सिद्धांतपक्ष ध्वनि के प्रवर्तकों में भिन्न नहीं है। उनका स्थान उन सत्यनिष्ठ टीकाकारों के वर्ग में है, जो अपनी टीका में नवीन विचारों का समावेश करने की अपेक्षा सिद्धांत की व्याख्या करने में ही कृत-प्रतिज्ञ होते हैं। अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्य-शास्त्र' का भी गम्भीर अध्ययन किया और उसके विश्वकोशीय पाठ पर एक विस्तृत तथा विशद टीका लिखी। जैसा कि पहले बताया गया है,[1] नाट्य में रुचि रखने के कारण उन्होंने नाट्य के अतिरिक्त काव्याश्रित रस की उत्पत्ति तथा रस की शक्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धांतों का भी गम्भीर अध्ययन किया। मम्मट, हेमचंद्र इत्यादि आचार्यों ने स्पष्ट रूप में अभिनवगुप्त को रस-विषयक एक अत्यन्त अर्वाचीन तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के प्रतिपादन करने का श्रेय दिया है। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि ध्वनि-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'व्यक्ति' अथवा 'व्यंजना' का रस की अभिव्यक्ति पर भी प्रयोग किया जा सकता है और फलस्वरूप रस तथा ध्वनि का सहसंबंध स्थापित किया जा सकता है। उन्होंने रस का स्वरूप-निरूपण किया तथा काव्य-सिद्धांत में उसके स्थान का विवेचन किया। जिस विषय पर अनेक पूर्ववर्ती आचार्य माथा मारते रहे, उन्होंने उसकी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की।

---

1. देखिए अध्याय 4, पृ० 118.

काव्य में रस के महत्त्व का अनुभव करने के पश्चात् अभिनव ने ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन से भी एक पग आगे बढ़कर रस को काव्य के एकमात्र तत्त्व अथवा सौंदर्यात्मक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठापित किया। सभी परवर्ती आचार्य उनके मत से बहुत प्रभावित रहे हैं। 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने प्राचीन नाटक तथा नाट्य-सिद्धांत के आधार पर काव्य तथा काव्य-सिद्धांत में रस का समावेश किया था, किंतु जैसे-जैसे काव्य में भाव (जिसे रस-सिद्धांत में बहुत महत्त्व दिया गया है) को अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा, वैसे-ही-वैसे काव्य के अनिवार्य सौंदर्यात्मक आधार के रूप में रस का भी महत्त्व बढ़ गया। हम कह चुके हैं[1] कि अभिनव से पहले ध्वनि-मत के आचार्यों ने रस को अवाच्य का केवल अंग ही कहा है, और अवाच्य के वस्तु तथा अलंकाराश्रित अनेक रूप हो सकते हैं। निस्सन्देह उनके सिद्धांत में काव्यात्मक रस-ध्वनि को बहुत महत्त्व दिया गया है, किंतु ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन दोनों ने ध्वनि के अन्य रूपों को भी स्वीकार करना उचित समझा। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं किया। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि उन्होंने रस का पक्ष-समर्थन किया है, जिसके फलस्वरूप रस का अंगी होना सिद्ध हो जाता है, किंतु अपने सिद्धांत में तारतम्य बनाए रखने के कारण वे एकांतिक रूप में इसका पक्ष समर्थन नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनके काव्यविद्या के व्याप्त सिद्धांत में रसध्वनि अवाच्य के तीन रूपों में से केवल एक ही रूप है। उसका महत्त्व वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि के समान ही है। उन्हें यह मानना पड़ा कि निबन्ध में आकर्षण का केंद्र जैसा उसके रस में हो सकता है, वैसा उसकी वस्तु तथा अलंकार में भी हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इन सिद्धांत-पक्षीय तथ्यों को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उनके पूर्ववर्ती आचार्य इसी कारण से अपने अभिप्राय को स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर सके थे। उनके उद्देश्य मानकर उन्होंने उनके सिद्धांत को एक तर्कसंगत तथा अन्तिम रूप दिया और रस को काव्य का जीवन कहा (रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं)। उनके मत में रस के बिना काव्य हो ही नहीं सकता (न हि तच्छून्यं, अर्थात् रस-शून्य, काव्यं किंचिदस्ति, पृ० 65)। तथापि उन्होंने यह कहकर सैद्धांतिक दोष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वस्तु तथा अलंकार पर आश्रित ध्वनि के अन्य दो रूप, अंततोगत्वा रस-ध्वनि जो कि वस्तुतः काव्य की आत्मा है, में ही विलीन हो जाते हैं (रस एवं वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकार-ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते, पृ० 27)। निस्सन्देह परवर्ती आचार्य इस मत से बहुत प्रभावित हुए। यद्यपि

1. देखिए अध्याय 5, पृ० 150-51.

मम्मट ने बड़ी सावधानी से ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के सजग दृष्टिकोण का अनुसरण किया है, तथापि विश्वनाथ ने (अभिनवगुप्त के मतानुसार) उनके सिद्धांत को उनसे भी आगे विकसित करते हुए उसे एक अंतिम रूप दिया है और इस आधार पर अपने काव्य-सिद्धांत का निर्माण किया है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)। किंतु यह आगे बताया जाएगा कि जिन कारणों से ध्वनिकार तथा उनके टीकाकार ने इस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करना उचित नहीं समझा उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जगन्नाथ ने विश्वनाथ के मत की आलोचना करते हुए अधिकांशत: उनकी पुनरावृत्ति की है। सभी परवर्ती आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय रस-ध्वनि ही है। यद्यपि उन्होंने अभिनव के समान स्पष्ट रूप में नहीं कहा है कि वस्तु-तथा अलंकार-ध्वनि रस-ध्वनि में विलीन हो जाती हैं, फिर भी वे निश्चित रूप में रस-ध्वनि के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं।

आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित नवीन सिद्धांत के समर्थक अभिनवगुप्त का संक्षिप्त रूप में सामान्य सिद्धांत-पक्ष यही है। परवर्ती काव्य-मीमांसा में अंततोगत्वा इस सिद्धांत के विजयी होने का कारण सिद्धांत की अंतर्निहित श्रेष्ठता तथा आनंदवर्धन द्वारा इसके उत्तम रूप में प्रतिपादन के अतिरिक्त संभवत: यह भी है कि इसके पीछे अभिनव की व्याख्या तथा ख्याति भी थी। इस सिद्धांत के तत्कालीन अनुयायियों ने अभिनवगुप्त के एकांतिक पक्ष का अनुसरण करने की अपेक्षा आनंदवर्धन द्वारा अंतिम रूप में प्रतिपादित सिद्धांत का ही अनुसरण किया। आनंदवर्धन के समय में ध्वनि का सिद्धांत, जो स्वयं ही प्राचीन था, विजयी हुआ; किंतु आनंदवर्धन के समय में ही काव्य का न्यूनाधिक एक व्याप्त सिद्धांत भी विकसित हुआ, जिसमें पूर्ववर्ती चिंतन के विभिन्न रूपों तथा मान्यताप्राप्त विचारों की संचित निधि का समुचित रूप में समन्वय किया गया। एक अन्य काश्मीरी आचार्य मम्मट ने ध्वनि (विशेषतया रस-ध्वनि) केंद्रित इस सिद्धांत को सुव्यवस्थित रूप देकर उसे एक संक्षिप्त पाठ्यग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया। परवर्ती समय में इस सिद्धांत को एकमात्र शास्त्रीय कोटि में पहुँचाने में संभवत: मम्मट का प्रभाव अभिनवगुप्त से किसी तरह कम नहीं है। यह सिद्धांत, जिसे सुविधा के लिए हमने ध्वनि-सिद्धांत के नाम से लक्षित किया है, सभी पूर्ववर्ती मतों तथा सिद्धांतों को अपने में समाहित कर लेने के कारण सर्वश्रेष्ठ हो गया तथा काव्यध्वनि-पश्चात् अनेक अनुयायी आचार्यों ने इसकी बारीकियों का ही विवेचन किया। इस आचार्य-वर्ग के एक अत्यंत

अर्वाचीन लेखक जगन्नाथ का कथन उचित ही है कि 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने काव्य के आगामी लेखकों के अनुसरणार्थ सरणी अर्थात् मार्ग का व्यवस्थापन कर दिया (ध्वनिकृतां आलंकारिकसरणि-व्यवस्थापकत्वात्, पृ० 425)।

किंतु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि ध्वनि-सिद्धांत अथवा मत बिना किसी तीव्र विरोध के सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। ध्वनि के परवर्ती आनंदवर्धन के मतानुयायियों की चर्चा करने से पहले कुछ ऐसे प्रतिपक्षी आचार्यों की चर्चा करना आवश्यक है, जिन्होंने किसी अन्य विचारधारा का अनुसरण करते हुए उसका ही विकास किया है अथवा जिन्होंने नवीन सिद्धांत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। अन्य मतों के समर्थकों, यथा, प्रतीहारेंदुराज (पृ० 79 इत्यादि), जिन्होंने उद्‌भट के ग्रंथ पर टीका की है, अथवा गोपेंद्र तिप्पभूपाल ने (पृ० 72), जिन्होंने वामन के ग्रंथ पर टीका की है, प्राचीन परंपरा को ही निभाते हुए नवीन सिद्धांत की आलोचना की है। प्रतीहारेंदुराज के गुरु मुकुल ने इस प्रकार कहा है—

'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति········ एतच्च विद्वद्‌भिः कुशाग्रीयया बुद्धया निरूपणीयं, न तु झगित्येवासूयितव्यमित्यलमिति प्रसंगेन' (पृ० 2)।

किंतु वास्तव में कुछ चिंतनशील आचार्यों ने इसका भी तीव्र विरोध किया। उन्होंने प्राचीन विचारधारा के आधार पर ही ध्वनि-सिद्धांत की नवीन व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इनमें से अधिकतर आचार्य अभिनवगुप्त के समय के आसपास ही हुए हैं। ध्वन्यालोक के रचयिताओं के पश्चात् होने के कारण वे ध्वनि के सामान्य सिद्धांत से परिचित थे अथवा उन्होंने उसे स्वीकार भी किया, तथापि उन्होंने उसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करने का प्रयत्न किया। वे सब इस बात में सहमत हैं कि काव्याश्रित व्यंग्यार्थ की व्याख्या करने के लिए व्यंजनावृत्ति का प्रतिपादन करना अथवा उसे सिद्ध करना अनावश्यक है। उन्होंने प्राचीन परंपरा के आधार पर यह कहा है कि अनुमान इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों से वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है। इनमें से कोई भी आचार्य ऐसा नहीं है, जिसे ध्वनिकार ने 'अभाववादी' अर्थात् ध्वनि के भाव को माननेवाला, के नाम से लक्षित किया है, किंतु इन आचार्यों ने पहले से ही मान्यताप्राप्त प्रमाणों को आधार मानते हुए ध्वनि की व्याख्या करने

का यत्न किया है। इन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—भट्टनायक जो संभवतः अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती थे; कुंतक, जो संभवतः अभिनवगुप्त के समकालीन थे तथा महिमभट्ट, जो अभिनवगुप्त के कनिष्ठ समकालीन थे अथवा उनके एकदम पश्चात् हुए थे। इस संदर्भ में अग्निपुराण के अंतर्गत काव्य-विद्या के आचार्य द्वारा प्रतिपादित मत तथा भोज के मत पर भी चर्चा करना सुविधाजनक रहेगा। यह मत अनेक रूपों में आनंदवर्धन के काश्मीरी मत से भिन्न है तथा ध्वनि-सिद्धांत से सर्वथा पृथक्, अछूता है।

2

भट्टनायक

यह दुर्भाग्य की बात है कि भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' लुप्त हो चुका है। अभिनवगुप्त इत्यादि के ग्रंथों में दिए गए उद्धरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ग्रंथ भरत के 'नाट्यशास्त्र' की टीका न होकर एक गद्य-पद्य-बद्ध (अर्थात् श्लोकबद्ध कारिका तथा गद्यबद्ध वृत्ति) मौलिक ग्रंथ है, जो महिमभट्ट के परवर्ती ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' की शैली तथा उसी उद्देश्य से लिखा गया था। 'व्यक्तिविवेक' की तरह, काव्य के एक नए सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए नहीं तो कम-से-कम ध्वन्यालोक का खंडन करने तथा ध्वनि, विशेषतया रस-ध्वनि, की भिन्न रूप से व्याख्या के उद्देश्य से ही इसकी रचना की गई थी। कालांतर में जब महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत के खंडन करने का निश्चय किया तो उन्होंने अपने आक्षेप के आरंभ में बड़े गर्व से यह कहा कि मैंने 'दर्पण' (अनुमानतः 'हृदयदर्पण', जैसा कि उनके टीकाकार ने स्पष्ट किया है) का अवलोकन किए बिना ही अपने ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' की रचना की है।[1] अतएव 'हृदयदर्पण' स्पष्ट रूप में 'ध्वनिध्वंस' के उद्देश्य से

1. महिमभट्ट का यह कथन कि मैंने अपने ग्रंथ की रचना करते समय 'चंद्रिका' का भी, जो प्रत्यक्ष रूप में 'ध्वन्यालोक' पर एक प्रतिपक्षी टीका थी, अवलोकन नहीं किया, विचित्र बात है। संभवतः यह वही ग्रंथ है, जिसका अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में बारंबार उल्लेख करते हुए उसकी समालोचना की है और जो उनके कथनानुसार उनके एक पूर्वज द्वारा लिखा गया था। अभिनव के उल्लेखों तथा समालोचना से इस बात की भी पुष्टि होती है कि इस ग्रंथ में कई स्थानों पर 'ध्वन्यालोक' के पाठ की आलोचना की गई है। माणिक्यचंद्र तथा सोमेश्वर ने मम्मट के ग्रंथ पर अपनी टीकाओं में प्रत्यक्ष रूप में इसी 'चंद्रिका' का उल्लेख किया है। देखिए खंड 1, पृ० 94.

ही लिखा गया था। निस्संदेह, भट्टनायक, अभिनवगुप्त मम्मट इत्यादि द्वारा कथित चार आचार्यों में से हैं, जिन्होंने रस-विषयक भरत के मूल सूत्र की व्याख्या की है; किंतु केवल इसी आधार पर उन्हें 'नाट्यशास्त्र' का टीकाकार कहना युक्तियुक्त नहीं है।[1] इसके विपरीत, 'लोचन' में अभिनवगुप्त के उल्लेखों से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यक्तिविवेक' के समान 'ध्वन्यालोक' के पाठ तथा सिद्धांत की विस्तार से आलोचना करना ही 'हृदय-दर्पण' का विशिष्ट उद्देश्य था। इसके अंतर्गत रसविषयक विवेचन संभवतः काव्य तथा काव्याभिव्यक्ति के विषय में भट्टनायक के सामान्य मत की चर्चा के प्रसंगवश ही किया गया था।

---

1. हम इस प्रश्न पर पहले ही खंड 1, पृ० 38-39 पर चर्चा कर चुके हैं। 'अभिनवभारती' के अध्याय 1 में एक स्थल है, जिसे हम पहले भी निर्दिष्ट कर चुके हैं, जिससे सूचित होता है कि 'हृदयदर्पण', 'नाट्यशास्त्र' पर एक टीका थी ('भंडारकरक मेमोरेशन वाल्यूम', पृ० 390 पर 'प्राग्ध्वनि मत' विषय पर सोवानी का लेख तथा विपक्ष में जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी', 1909 पृ० 350-52 देखें)। भरत के i. 1 में 'ब्रह्मणा यदुदाहृत' की व्याख्या करते हुए वह स्थल इस प्रकार है—'भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतं कृतनिदर्शनं····तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानं हृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्।' इस स्थल का वास्तव में महत्त्व है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' के i. 1 पर किसी ग्रंथ में दी गई टिप्पणी को समुचित मानना कठिन है, जबकि वह ग्रंथ अनुमानतः 'नाट्यशास्त्र' की टीका नहीं है। किंतु अभिनव ने अपने 'लोचन' (पृ० 11, 12, 15, 19, 21, 27, 28, 29, 33, 63, 67 में भट्टनायक के ग्रंथ के जिन गद्यमय स्थलों तथा पद्यमय अंशों का उद्धरण तथा आलोचना की है, उक्त कथन उनके विरुद्ध प्रतीत होता है। भट्टनायक के ग्रंथ के इन स्थलों पर अधिकांशतः 'ध्वन्यालोक' की प्रत्यक्ष आलोचना की गई है। इन दोनों में से कोई भी बात संभव हो सकती है—(1) कि 'हृदयदर्पण' वास्तव में भरत के 'नाट्यशास्त्र' की एक टीका थी, जिससे भट्टनायक ने आनुषंगिक रूप से 'ध्वन्यालोक' की भी आलोचना की थी। किंतु इससे इस ग्रंथ में विद्यमान श्लोकों का स्पष्टीकरण नहीं होता, जिन्हें अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों ने उनके मत की व्याख्या करते हुए उनके ग्रंथ से उद्धृत किया है, अथवा (2) कि गद्य-पद्यबद्ध यह एक मौलिक रचना थी। इसमें भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' के विपक्ष में अपने मत का प्रतिपादन किया था। इसमें रस सिद्धांत तथा भरत के पठन से संबंधित चर्चा का होना ऐसी बात नहीं है, जिसका स्पष्टीकरण न हो सकता हो। संभवतः भट्टनायक ने अपने सामान्य सिद्धांत के प्रसंग में उनका विवेचन किया हो। यह स्पष्टीकरण अधिक संभव है। हमने पहले खंड में भी इस पर चर्चा की है।

इस समस्या का निश्चित रूप से समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि अभिनव इत्यादि के ग्रन्थों में उनके मत की केवल संक्षिप्त तथा आलोचनात्मक व्याख्या ही उपलब्ध है। काव्याश्रित रस की उत्पत्ति तथा शक्ति के विषय में भट्टनायक के मत पर कुछ चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।[1] यह बताया जा चुका है कि भट्टनायक ने 'रस-चर्वणा' को काव्य का जीवन अथवा आत्मा कहा है, किंतु रस के निष्पादक के रूप में वह व्यंजना की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।[2] सम्भवतः काव्य की आत्मा के रूप में जिस प्रकार उन्होंने रस-ध्वनि को अंगीकार किया है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को भी अंगीकार किया है (रस-ध्वनिस्तु तेनैवात्मयांगीकृतः, 'लोचन', पृ० 15); किंतु इस विषय पर अभिनवगुप्त के आक्षेप से यह सम्भव प्रतीत होता है कि उन्होंने वस्तुध्वनि को स्वीकार नहीं किया (किन्तु वस्तु-ध्वनि दूषयता रस-ध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनि-ध्वंसोऽयम् पृ० 20)। एक श्लोक में, जिसे अभिनव (पृ० 27), हेमचन्द्र (पृ० 4), माणिक्यचंद्र (पृ० 4) तथा जयरथ (पृ० 9) ने भट्टनायक-रचित कहा है, कहा गया है कि विभिन्न प्रकार के काव्य-निबन्धों में परस्पर भेद का कारण यह है कि शास्त्र में 'शब्द' का प्राधान्य होता है, आख्यान (सम्भवतः इतिहास) में 'अर्थ' प्रधान होता है, जबकि काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों 'गुणीभूत' (अथवा 'न्यग्भावित') होते हैं। एक अन्य स्थल पर अभिनव के अनुसार (पृ० 68) उनका कथन है कि शब्दाश्रित काव्य अन्य प्रकार के शब्दाश्रित निबन्धों से इसलिए भिन्न होता है, क्योंकि इसमें तीन तत्व अथवा शक्तियाँ रहती हैं। इनमें से 'अभिधा' वाच्यार्थाश्रित होती है, 'भावकत्व' रसाश्रित होता है तथा 'भोजकत्व' श्रोताश्रित होता है; इस प्रकार काव्य के तीन अंगों के तीन कार्य अथवा शक्तियाँ होती हैं। इनमें से यदि अभिधा को (अन्य दो शक्तियों से अलग) पृथक् रूप में लिया जाए तो उनका प्रश्न है, काव्यात्मक अलंकारों तथा शास्त्रोक्त सिद्धांतों में परस्पर क्या भेद रह जाता है? अथवा यदि पूर्वोक्त शक्तियों का भेद-निरूपण अलंकार की दृष्टि से तथा स्वतः

1. देखिए अध्याय 4, पृ० 113 इत्यादि।
2. अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्ति' सिद्धांत के विषय में भट्टनायक की आपत्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया ('लोचन', पृ० 68)—"यदि संभाव्य शृंगार को 'अभिव्यक्ति' से अभिव्यक्त माना जाए तो इसकी 'विषयार्जन-तारतम्य-प्रवृत्ति' हो जायगी, और इस प्रकार रस की एकात्मकता का विरोध हो जायगा। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कठिनाई भी कि रस की अभिव्यक्ति स्वगत होती है अथवा परगत, उत्पन्न हो जाएगी।"

अनपेक्ष्य है, अर्थात् महत्त्वपूर्ण नहीं है तो 'श्रुतिकष्ट' इत्यादि दोषों का निवारण क्यों किया जाए ? इन कारणों से, भट्टनायक के कथनानुसार, द्वितीय शक्ति अर्थात् 'भावकत्व' की उपपत्ति होती है, जिससे काव्य तथा काव्यगत विभावों का साधारणीकरण होता है। इसी शक्ति के कारण अभिधा, लक्षणा भी हो जाती है, अर्थात् अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ का रस के आधार पर एक गौण अथवा अलंकाराश्रित महत्त्व हो जाता है। इस प्रकार रस के भावित हो जाने पर रस का 'भोग' अर्थात् आस्वादन होता है, जिसे, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, सांख्य-शास्त्रियों के सिद्धांत के अनुसार भट्टनायक ने ब्रह्मचिंतन के समान, विरागात्मक चिंतन कहा है।

इस प्रकार, भट्टनायक ने रस की व्याख्या के हेतु काव्यगत अभिधा तथा भावकत्व के अतिरिक्त 'भोग' शक्ति का प्रतिपादन किया है। उनका अभिप्राय यह है कि रस, जिसे ध्वनि के आचार्यों ने काव्य की भावात्मक ध्वनि के रूप में अंगीकार किया है, 'स्वसंवेद्य' होता है, अतएव वह अनिर्वचनीय है। अथवा दूसरे शब्दों में भट्टनायक, ध्वनि-सिद्धांत के उन आलोचकों में से हैं जिन्होंने ध्वनिकार के कथनानुसार, ध्वनि के भाव को अस्वीकार तो नहीं किया है, किंतु उसे शब्द-विषय नहीं माना है (1.151)। एक श्लोक में जिसे अभिनव (पृ॰15, 11) तथा जयरथ (पृ॰ 9) ने भट्टनायक रचित कहा है, उन्होंने ध्वनि की 'काव्यरूपता'[1] को छोड़कर उसके 'काव्यांगत्व' का कथन किया है। इस कथन से यह सूचित होता है कि भट्टनायक ने ध्वनि को स्वीकार तो कर लिया, किंतु उनका उद्देश्य ध्वनि के आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या से भिन्न व्याख्या को प्रतिष्ठापित करना था। रुय्यक का मत है कि भट्टनायक ने 'व्यंग्यव्यापार 'को काव्य की आत्मा न मानकर 'काव्यांशत्व', अर्थात् उसे काव्य का एक अंश कहा है। व्यंग्यव्यापार कवि की प्रौढ़ोक्ति के कारण ही निष्पन्न होता है। इस अर्थ में कवि-कर्म (जयरथ के कथनानुसार, जैसा कि भट्टनायक ने 'व्यापार' शब्द से सूचित किया है), शब्द तथा अर्थ के गौण हो जाने के कारण काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग हो जाता है; इस दृष्टिकोण से भट्टनायक का सिद्धांत आचार्य कुंतक के सिद्धांत के समीप हो जाता है। कुंतक के मतानुसार काव्य में वक्रोक्ति 'कवि-कर्म' पर ही आश्रित है।

---

1. जैसा कि 'लोचन' पृ॰ 15 पर सूचित हस्तलिपि ग में दिया गया है, इस श्लोक में 'काव्यांगत्वं न रूपता' पाठ पढ़िए।

2
कुंतक

'वक्रोक्तिजीवित' के रचयिता, कुंतक का आशय ध्वनि-सिद्धांत पर आक्षेप करना अथवा उसका खंडन करना नहीं था। उन्होंने काव्य में 'व्यंग्यार्थ' को अंगीकार किया है, किंतु भामह की 'वक्रोक्ति' की परम्परा का पालन करते हुए उन्होंने स्वयं के एक 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का विकास किया है, जिसके कुछ अंशों में ध्वनि तथा रस-विषयक सभी तत्वों को समाहित कर लिया गया है। चिरकाल से उनका लगभग सम्पूर्ण अप्राप्त ग्रन्थ अभी-अभी प्राप्त हुआ है तथा इस ग्रन्थ के लेखक ने उसके एक अंश (अध्याय 1, 2 तथा 3 का एक अंश) को प्रकाशित करवाया है।[1] अब कुंतक के मत के विषय में परवर्ती साहित्य में दिए गए उद्धरणों पर निर्भर रहना आवश्यक नहीं है। अब उनका अपने ही कथनों से तत्सम्बन्धी जानकारी स्वतन्त्र रूप में प्राप्त हो सकती है।[2]

कुंतक का मुख्य सिद्धांत यह है कि वक्रोक्ति काव्य का 'जीवित' अर्थात् जीवन है, वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य 'विचित्र विन्यास-क्रम' है, जो शास्त्रादि-प्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' है। अतएव वक्रोक्ति में, काव्य-विशिष्ट 'वैचित्र्य' अथवा 'भंगी-भणिति' अथवा 'भणिति-प्रकार' के हेतु प्रसिद्ध अर्थात् प्रतिष्ठित लोक-शब्द व्यापार तथा सामान्य अर्थ में शब्द-प्रयोग की उपेक्षा की गई है। काव्यात्मक शब्द-प्रयोग इसी 'वक्रता' अथवा 'वक्रभाव' पर आधारित होता है। इस प्रकार यहाँ शास्त्रादि तथा काव्य के अतिरिक्त स्वभावात्मक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति का परस्पर भेद अभिप्रेत है।[3]

अतएव, कुंतक का मत यह है कि सालंकार शब्द तथा अर्थ ही काव्य है और यह अलंकार वक्रोक्ति ही है। तथाकथित शोभाकर, जिन्हें अलंकार कहा गया है, वक्रोक्ति के ही रूप हैं और उन्हें वक्रोक्ति की व्याप्त परिधि में समाहित किया जा सकता है। इसी प्रकार ध्वनि तथा रस भी वक्रोक्ति में आ जाते हैं। यह वक्रोक्ति एकमात्र अलंकार है, अतएव कुंतक के कथनानुसार, यह सामान्य कथन कि अलंकार काव्य का अंग है, उचित नहीं; क्योंकि इस कथन का अभिप्राय यह होगा कि अलंकार के अभाव में भी काव्य हो सकता है (i. 7, 11)।

---

1. कलकत्ता ओरिएंटल सीरीज, द्वितीय संशोधित तथा परिवर्धित सं० 2928. संभवतः मूल ग्रंथ में चार अध्याय थे। देखिए खंड 1, पृ० 118.
2. उपर्युक्त सं० की भूमिका में कुंतक के काव्य-सिद्धांत का वर्णन है; विस्तृत उद्धरणों के लिए उसी का अवलोकन करें।
3. ऊपर देखिए, अध्याय 2, पृ० 45-46·

इसके पश्चात् वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए कुंतक ने कहा है कि कवि-कौशल के कारण हम वक्रोक्ति से चमत्कृत होते हैं, अतएव वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभंगी-भणिति' कहा गया है।[1] अन्ततोगत्वा वक्रोक्ति कवि की 'प्रतिभा' अथवा उसके 'कौशल' अथवा उसकी कल्पना शक्ति के, जिसे 'कविव्यापार' अथवा 'कविकर्म' कहा गया है, आश्रित होती है। कुंतक ने इस 'कविव्यापार' का, जो काव्य का परम कारण है, यथार्थ स्वरूप नहीं बताया है। संभवतः उन्हें यह ज्ञात था कि इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, किंतु उन्होंने इसका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है और वर्ण, पद-पूर्वार्द्ध तथा पद-परार्ध, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्ध के आश्रित छह विभिन्न क्षेत्रों में इसका भेद-निरूपण किया है। पहले अध्याय के भूमिका खंड को छोड़कर उन्होंने लगभग अपने सम्पूर्ण ग्रंथ में 'कविव्यापारवक्रता' के इन भेदों का लक्षण-निरूपण, भेद-निरूपण तथा उदाहरण दिए हैं, काव्यात्मक शब्द के यही विभिन्न रूप हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि कुंतक ने केवल 'स्वभावोक्ति' पर आश्रित निबन्ध को काव्य नहीं माना है। उनके अनुसार ऐसा काव्य वैचित्र्य-विहीन सामान्य शब्द-जाल मात्र होता है; फलस्वरूप उन्होंने भामह

---

1. 'विदग्ध' शब्द 'विद्वान्' शब्द से विपरीत सुकाव्य में पारंगत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है; 'ध्वन्यालोक' में अनेक बार 'विदग्ध-विद्वत्-परिषद्' को प्रभावित करने का उल्लेख है (पृ० 201, 239)। 'काव्यमीमांसा' पृ० 46 पर अवंति-सुन्दरी के इस कथन का उल्लेख है 'विदग्धभणितिभंगी निवेद्यं वस्तुतो रूपं न नियतस्वभावम्'। आनन्दवर्धन ने पृ० 243 पर 'वैचित्र्य' की चर्चा करते हुए 'भणिति-कृतं वैचित्र्यमात्रम्' शब्दों का प्रयोग किया है। अभिनव ने कहा है कि 'उपमा-विच्छित्ति' (उपमा-विच्छित्ति-प्रकाराणामसंख्यत्वात् लोचन, पृ० 5) के असंख्य प्रकार होते हैं। उन्होंने इसे 'चारुत्व' के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया है (पृ० 8)। आनन्दवर्धन द्वारा पृ० 130 पर उद्धृत श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-सिद्धांतों में इस अर्थ में प्रयुक्त 'विच्छित्ति' शब्द वस्त्र तथा शारीरिक श्रृंगार में असावधानी से लक्षित स्त्री-सुलभ सौंदर्य को लक्षित करने के लिए समान रूप में प्रयुक्त 'विच्छित्त' शब्द के सदृश ही है (नाट्यशास्त्र 22. 16)। इस विषय पर हरिचंद शास्त्री का 'L'art poetique de l' Inde' पृ० 64-65 देखिए। 'ध्वन्यालोक' के पृ० 139-241 में 'भंगी' शब्द अभिव्यक्ति-भंगिमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'विच्छित्ति' शब्द का ही वाचक है।

के इस कथन को कि 'वक्रोक्तिवैचित्र्य' में एक प्रकार के 'अतिशय' का भाव रहता है, विकसित किया है। इस अतिशय को यदि भामह की 'अतिशयोक्ति' के 'लोकातिक्रांतगोचरता' के अर्थ में लिया जाए तो इसका अभिप्राय अभिव्यक्ति की 'लोकोत्तर' चारुता होगा। यह 'लोकोत्तरता', जिसका भाव रसास्वादन में विद्यमान रहता है,[1] 'वक्रोक्ति' में भी अभिप्रेत है। इस विषय में कुंतक रस के आचार्यों के मुख्य सिद्धांत से सहमत प्रतीत होते हैं। कुंतक का यह भी मत है कि इस लोकोत्तर वैचित्र्य का परम निकष सहृदय का 'तद्विदाह्लाद' है। सहृदय का जो महत्त्व रस-सिद्धांत अथवा सामान्य काव्य-सिद्धांतों में है, वैसा ही यहाँ भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न सिद्धांतों के व्याख्याता अंत में एक ही मापदंड अथवा निकष के निकट पहुँच गए हैं, यद्यपि उनकी विचार-वीथियाँ अपनी-अपनी हैं और वे इस बात में सहमत हैं कि अंततोगत्वा वैचित्र्य अथवा चमत्कार (अलंकार अथवा रसाश्रित) सहृदय के आस्वादन पर ही निर्भर होता है।

इस प्रकार भामह के अलंकार-सिद्धांत को एक नया मोड़ दिया गया। अथवा अलंकार-सिद्धांत में जिस मत को अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त किया गया है, कुंतक ने व्यवस्थित रूप में उसका विश्लेषण करके उसे एक तर्कसंगत अंतिम रूप दिया।[2] यद्यपि उनका मुख्य सिद्धांत एकांतिक है तथा उनका नाम भी विचित्र-सा है, तथापि उनके ग्रंथ का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार-सिद्धांत को व्यवस्थित रूप देकर अद्वितीय तथा मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। ध्वनि के आचार्यों ने अलंकारों को 'वाग्विकल्प' मात्र कहकर ठुकरा दिया अथवा उन्हें काव्य के अवाच्य अंश के शोभावर्धक के रूप में ही स्वीकार किया। उन्होंने अलंकार तथा रस के रूप में काव्य के प्रधान अंश, ध्वनि के परस्पर संबंध का कथन किया है; किंतु ऐसे स्थल भी हो सकते हैं, जहाँ कवि का अभिप्राय रस अथवा अवाच्य को किसी भी रूप में विकसित करना नहीं होता, अपितु वाच्य अलंकार के रूप में चमत्कार उत्पन्न करना होता है। ऐसे अवसर पर, 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं का विचार है कि ऐसे सभी अलंकार, जिनमें अवाच्य अंश होने के कारण विशिष्ट चारुता का गुण विद्यमान रहता है, 'गुणीभूतव्यंग्य' के वर्ग में आते हैं। यदि अलंकार में अवाच्य अंश का भाव न हो तो ऐसे अलंकार

1. ऊपर देखिए, अध्याय iv.
2. कुंतक के 'वक्रोक्ति' सिद्धांत को प्राचीन अलंकार-सिद्धांत की एक शाखा कहा जा सकता है (अध्याय ii).

चित्राश्रित होते हैं, और उन्हें काव्य की निम्नतम श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसे उन्होंने 'चित्रकाव्य' से निर्दिष्ट करते हुए 'काव्यानुकृति' मात्र कहा है। अथवा दूसरे शब्दों में उन्होंने ऐसे अलंकारों को स्वीकार किया है, जिनमें अवाच्य का संबंध होने के कारण विशिष्ट चारुता रहती है, अतएव काव्य में उनका स्थान है। ऐसे अलंकारों को जिसमें अवाच्य का भाव नहीं होता, अथवा उनका अवाच्य में कोई संबंध नहीं होता, काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे शब्द के असंख्य भेद मात्र हैं। आनंदवर्धन ने कहा है— 'अनंता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एवं चालंकाराः।' इसके विपरीत कुंतक ने काव्य में ऐसे अलंकारों को 'अलंकारों के रूप में' स्थान दिया है और कहा है कि उनका यह महत्त्व अवाच्य से संबंधित होने अथवा न होने पर निर्भर नहीं है; क्योंकि यह महत्त्व तो उनके वैचित्र्य गुण के कारण है और स्वतःसिद्ध अथवा पर्याप्त है। वैचित्र्य अपने प्रभाव के लिए किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं है।

किंतु उन्होंने वैचित्र्य, विच्छित्ति अथवा वक्रता से युक्त अलंकार को ही अलंकार माना है, जो कि वक्रोक्ति का ही रूप है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अलंकार 'अभिधा-प्रकार-विशेष' हैं; उनका अवाच्य से संबंध होना अनपेक्ष्य है; किंतु इसके साथ-ही-साथ उन्होंने इनमें एक विशिष्ट अंतर को ही स्वीकार किया है, वह है उनकी अभिव्यक्ति की विशिष्ट वक्रता, जिससे वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति की उत्पत्ति होती है और जो 'कविप्रतिभानिर्वतित' रहती है। इस प्रकार, तथाकथित प्राचीन अलंकार, कविप्रतिभानिर्वतित चारुता अथवा वैचित्र्य गुण से युक्त होने पर ही अलंकार माने जा सकते हैं। ऐसे लक्षणों से युक्त अलंकार ही काव्यालंकार हो सकते हैं।[1] इस प्रकार कुंतक ने न केवल ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के सिद्धांत में विद्यमान एक विशिष्ट कमी को पूरा किया, अपितु अलंकार मात्र से विभिन्न काव्यालंकार का निरूपण करते हुए उसके अस्तित्व को सिद्ध किया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ध्वनि-सिद्धांत के परवर्ती अनुयायियों ने, जिनमें से अधिकांश के पश्चात्-ध्वनि-काव्यविद्याविषयक ग्रंथों

---

1. अतएव 'अलंकार' के स्थान पर 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऊपर देखिए, अध्याय 2, पृ० 69 निस्संदेह शास्त्रीय काव्य-विवेचन में ये शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं, किंतु अलंकारशास्त्र के ग्रंथ में अलंकार के काव्यात्मक वैचित्र्य का भाव सर्वथा छोड़ दिया गया। अतएव 'संस्कृत अलंकार' का अनुवाद 'संस्कृत रिटोरिक' करना अशुद्ध है। देखिए पृ० 392।

की रचना की है, कुंतक के विश्लेषण को अंगीकार करते हुए अलंकार के दो लक्षणों अर्थात् 'विच्छित्ति' तथा 'कविव्यापार' को काव्यालंकार के परम निकष स्वीकार किया। मम्मट ने कहा है कि जहाँ रस-ध्वनि का अभाव हो, वहाँ काव्यालंकार से केवल 'उक्तिवैचित्र्य' ही लक्षित होता है, और अलंकार तो स्वयं ही वैचित्र्य है (वैचित्र्यमलंकारा:)। यह आगे बताया जाएगा कि रुय्यक पहले आचार्य हैं, जिन्होंने कुंतक द्वारा प्रतिपादित अलंकार के मापदंड को स्वीकार करते हुए तदनुसार अलंकारों का पृथक्-पृथक् सूक्ष्म विवेचन तथा भेद-निरूपण किया है।

भामह की अपेक्षा कुंतक ने रीति पर अधिक बल दिया है और गुणों का अधिक सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण किया है। उन्हें दंडी तथा वामन-कृत मार्ग अथवा रीति के भेद-निरूपण का ज्ञान था, किंतु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार रीति देश-धर्माश्रित नहीं होती और विशिष्ट प्रदेश के नाम पर उसका नाम रखना भी ठीक नहीं है। ऐसा होने पर रीति के असंख्य भेद मानने पड़ेंगे, क्योंकि प्रदेश तो असंख्य हैं। रीतियों का उत्तम, मध्यम तथा अधम वर्गों में विभाजन भी बेकार है, क्योंकि केवल उत्तम रीति ही ग्राह्य है। तथाकथित मध्यम अथवा अधम को स्वीकार करने अथवा उनके विषय में नियम बनाने में कोई तुक नहीं है। कुंतक के मत में कवि-स्वभाव ही एकमात्र मापदंड है। रीतियों (कुंतक ने मार्ग शब्द का प्रयोग किया है) का वर्गीकरण कवियों की शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास-भेद के आधार पर होना चाहिए। एक कवि-वर्ग सौकुमार्य-लक्षणयुक्त निबंध-रचना में विशेप रूप से प्रवीण हो सकता है, अन्य वैचित्र्य में प्रवीण हो सकते हैं। उन्होंने निबंध के इन दो भेदों को दो सीमाओं के रूप में अंगीकार किया है। किंतु कुछ ऐसे भी कवि हो सकते हैं, जो मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहें तथा मिश्रित मार्ग के पक्ष में हों। सुकुमार मार्ग में कवि अपनी सहज शक्ति के कारण वस्तु-स्वभाव का निर्बाध वर्णन करने में समर्थ होता है, फलस्वरूप अपनी उक्ति की शोभा बढ़ाने में उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। विचित्र मार्ग में, जिसे सभी श्रेष्ठ कवियों ने ग्रहण किया है, वर्णन मुख्यत: अलंकारात्मक होता है तथा कवि-कौशल अधिक सूक्ष्म और कलापूर्ण होने के कारण आहार्य होता है। कुंतक के कथनानुसार इनमें से प्रत्येक मार्ग में चार-चार प्रकार के गुण होने चाहिए। गुणों के नाम तो समान हैं, किंतु उनका लक्षण-निरूपण भिन्न है। विचित्र मार्ग में माधुर्य (=कलापूर्ण संघटना तथा शैथिल्य का परिहार), प्रसाद (=सुंदर

शब्द तथा सरल वर्णविन्यासाश्रित स्पष्टता), लावण्य (=ह्रस्व तथा दीर्घ मात्राओं की संघटना पर आश्रित सौंदर्य) तथा आभिजात्य (=जो न अधिक कोमल हो और न ही अधिक कठोर हो) गुण होते हैं। सुकुमार मार्ग में माधुर्य (=समासों की अनधिकता के कारण मधुरता), प्रसाद (=स्पष्टता), लावण्य (=यथोचित वर्ण तथा शब्द संघटना पर आश्रित सौंदर्य) तथा आभिजात्य (=साम्य) गुण होने अभीष्ट हैं। मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का मार्ग, उभयात्मक है, उसमें उपर्युक्त दोनों मार्गों के गुण होते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त कुंतक ने औचित्य (i. 53-54) तथा सौभाग्य (i. 55-56) गुणों का भी कथन किया है। ये गुण तीनों मार्गों में समान रूप से रहते हैं। औचित्य में शब्द तथा अर्थ के औचित्य पर बल दिया गया है; निबंध-गत सभी वस्तुओं की निष्पत्ति के फलस्वरूप सौभाग्य गुण की उत्पत्ति होती है।[1]

कुंतक द्वारा काव्य में वक्रोक्ति के प्रतिपादित महत्व से सूचित होता है कि ध्वनि तथा रस के सभी रूप 'वक्रता' में इस प्रकार समाहित हैं, जिस प्रकार अनुप्रासाश्रित उद्भट की वृत्तियाँ तथा स्वयं 'अनुप्रास' तथा प्राचीन आचार्यों का 'यमक', वर्ण-विन्यास वक्रता के ही रूप हैं। आनंदवर्धन का अपना श्लोक 'ताल जअंति गुण' तथा 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' (अर्थात् ऐसी ध्वनि, जहाँ वाच्यार्थ का अर्थांतर-संक्रमण हो जाता है) के उदाहरणस्वरूप आनंद द्वारा उद्धृत श्लोक 'स्निग्धश्यामल-कांति०' जैसे उदाहरणों में ध्वनि की कल्पना आंशिक रूप में 'रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता' में समाहित है। ध्वनि के अन्य रूप 'उपचार-वक्रता' में आ जाते हैं। आनंद ने इसी संदर्भ में 'अत्यंततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' के उदाहरणस्वरूप 'गअणं च मत्तमेहं' श्लोक को उद्धृत किया है। कुंतक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'उपचार' को अत्यल्प सादृश्य के आधार पर दो अत्यंत भिन्न वस्तुओं के कल्पनामूलक अभेद के अर्थ में स्वीकार किया है। अतएव रूपक-जैसे अलंकारों में 'उपचार' का भाव रहता है; सामान्यतः रूपकाश्रित उक्ति 'उपचार' पर ही निर्भर है। इसका स्थान लक्षणा के व्याप्त क्षेत्र में है और ध्वनि के आचार्यों ने इसे लक्षणामूलध्वनि के अंतर्गत स्वीकार किया है।[2] अतएव कुंतक उन आचार्यों की श्रेणी में हैं, जो ध्वनि-

---

1. देखिए हरदत्त शर्मा कृत, कुंतक के गुण-विचार, पटना, 1933, पृ० 581-91.
2. रुय्यक ने इसीलिए कहा है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनि के सभी रूपों को 'उपचार-वक्रता' इत्यादि के अंतर्गत समाहित माना है (पृ० 8 तथा इस पर जयरथ की टिप्पणी)।

कार के कथनानुसार ध्वनि के भाव को अस्वीकार तो नहीं करते, किंतु उसे 'भाक्त' (भाक्तमाहुस्तमन्ये) अर्थात् लक्षणामूलक मानते हैं।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक रस-ध्वनि के विषय में यह स्पष्ट है कि कुंतक ने रस के स्थान पर वक्रोक्ति के अंगीत्व को स्वीकार करते हुए रस को वक्रोक्ति के ही कुछ रूपों में अंगीकार किया है। अपने ग्रंथ के तृतीय अध्याय में 'वाक्य-वक्रता' का विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त रसों द्वारा निष्पाद्य काव्य की चारुता-वृद्धि की चर्चा की है। इस प्रसंग में उन्होंने रसवत्, प्रेयस् इत्यादि अलंकारों की किंचिद् विस्तार से मीमांसा की है। प्राचीन आचार्यों ने इन अलंकारों में रस के भाव को स्वीकार किया था, किंतु अपने सिद्धांत में अलंकार के महत्त्व के सार्थक होने के कारण उन्होंने रस को स्वतंत्र रूप में मान्यता नहीं दी थी। रसवत् जैसे अलंकारों के माध्यम से उन्होंने परोक्ष रूप में अपने अलंकार सिद्धांत में रस का समावेश किया था। जब रस के सिद्धांत को इन मतों में यथोचित स्थान प्राप्त हो गया, तब इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता हुई कि रस, जो कि अंगी तथा स्वयं अलंकार्य अथवा उपकार्य है, रसवत्-जैसे अलंकारों में अलंकार अथवा उपकारक कैसे हो सकता है। ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने तदनुसार अपने 'गुणीभूतव्यंग्य' के अन्तर्गत, जिसमें ध्वनि (इस प्रसंग में रस-ध्वनि) वाच्यार्थ से गौण होती है, रसवत् इत्यादि को समाहित करने का प्रयत्न किया। असंलक्ष्य-क्रमध्वनि तथा रसवत् इत्यादि अलंकारों के परस्पर भेद के आधार पर इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया कि जब निबन्ध में रस प्रधान हो तथा निबन्ध की आत्मा के रूप में विद्यमान रहे, तब रस मुख्य रूप से ध्वनित अंग तथा अलंकार्य होता है, किंतु जब रस वाच्यार्थ से गौण होता है, तब 'अलकार' मात्र होता है (ध्वन्यालोक, ii. 4 इत्यादि)। 'प्रदीप' में इसी बात को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा गया है—'यत्र प्रधानं रसादिस्तत्र ध्वनिः यत्र त्वप्रधानं तत्रालंकार इति भावः।' इस दृष्टिकोण को उचित समझते हुए मम्मट ने रसवत् इत्यादि को अलंकार न मानते हुए 'गुणीभूत-व्यंग्य' काव्य का ही एक भेद कहा है।[1]

---

1. तथापि परवर्ती आचार्यों तथा टीकाकारों ने, जो प्राचीन आचार्यों के प्रामाणिक मत से विचलित न होना चाहते थे, सूक्ष्म व्याख्या द्वारा रसवत् की समस्या का अनेक प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में उन्होंने शाब्दिकता की रक्षा तो की है, किंतु उसके अर्थ में परिवर्तन कर दिया है। विश्वनाथ ने इसमें अधिकांश मतों की चर्चा की है।

कुंतक ने 'वस्तुवक्रता' के प्रसंग में रसवत् का विवेचन किया है। वस्तुवक्रता सहज तथा आहार्य दोनों प्रकार की होती है। रस का विकास प्रत्यक्ष रूप में आहार्य वस्तुवक्रता है, जिसे 'कविशक्तिव्युत्पत्तिपरिपाकप्रौढ' कहा गया है। उन्होंने भामह, दंडी तथा अन्य आचार्यों द्वारा किए गए 'रसवत्' के स्वरूपनिरूपण की आलोचना की है। उनका यह मत है कि रसवत् न तो 'दर्शित स्पष्ट-शृंगारादि-रस' है, न 'रसपेशलं' है, अपितु 'रसेन तुल्यं वर्तमानं' है, अतएव यह अलंकार नहीं, अपितु 'अलंकार्य' है। दूसरे शब्दों में, इन अवस्थाओं में रस का परिपाक रस के हेतु ही होता है, वाच्य शब्द तथा अर्थ के उपकार के प्रयोजन से नहीं। सिद्धांत पक्ष में यह मत अकाट्य नहीं है, तथापि यह इस बात को सूचित करता है कि अन्य परंपराओं के अनुयायी भी प्रथमतः ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित हुए थे। पूर्ववर्ती सिद्धांत में रस का स्थान गौण है, यह मानते हुए ध्वनिकार ने रस को काव्य के द्वितीय वर्ग में स्थान देकर इस समस्या का समाधान

एक मत के अनुसार रसवत् इत्यादि को रसोपकारक होने के कारण 'अलंकार' नाम देना, अलंकार शब्द का केवल भाक्त प्रयोग है, क्योंकि वास्तव में वे 'अलंकार' नहीं, किंतु प्राचीन आचार्यों के आदरार्थ उन्हें अलंकार मान लेना चाहिए (रसाद्युपकारमात्रेणेहालंकृति-व्यपदेशो भाक्तश्चिरंतनप्रसिद्ध्यंगीकार्य एव)। इन आचार्यों ने रसवत् तथा वास्तविक अलंकारों (यथा उपमा) के परस्पर भेद को स्वीकार किया है। एक अवस्था में रस एक अन्य रस का प्रत्यक्ष उपकारक होता है, दूसरी अवस्था में शब्द तथा अर्थ द्वारा रस का परोक्ष रूप में उपकार होता है। किंतु उन्होंने साथ-ही-साथ यह भी कहा है कि इन दोनों रूपों में एक समान लक्षण यह है कि स्वयं रस के गौण होने के कारण वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में रस का उपकार करते हैं। इस साम्य के कारण, अलंकार नाम, जिसका उपमा इत्यादि के प्रसंग में प्रयोग उचित है, अर्थभक्ति के कारण रसवत् के लिए भी प्रयुक्त किया गया है; यह प्रयोग प्राचीन तथा प्रामाणिक है, जिसे स्वीकार करना ही चाहिए। किंतु अन्य आचार्यों ने इस व्याख्या को अतिसूक्ष्म कहकर अस्वीकार किया है। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपकार पर आश्रित उपमा इत्यादि अलंकारों तथा रसवत् में परस्पर भेद है, किंतु यह भेद आनुषंगिक तथा नगण्य है। यथार्थ रूप में, सूक्ष्म भेद-निरूपण करने के बजाय दोनों को ही अलंकार कहना चाहिए। एक तीसरा दृष्टिकोण भी है। इसमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपकार के भेद को सर्वथा अस्वीकार किया गया है। इसके अनुसार, शब्द तथा अर्थ के माध्यम से रस के उपकारक होने का सामान्य लक्षण उपमा-जैसे अलंकारों की तरह रसवत् पर भी लागू होता है।

करने का प्रयत्न किया है, किंतु कुंतक ने इस विषय में अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह के मत को भी अस्वीकार करते हुए कहा कि यह ऐसा विषय है, जिसमें कवि को इस प्रकार की वक्रोक्ति को जन्म देने का अवसर प्राप्त हो जाता है, जिसमें रस मुख्य शोभावर्धक रूप से विच्छित्तिकारक होता है। किंतु उनके मतानुसार, रस का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रबंधवक्रता, अर्थात् संपूर्ण प्रबंध में वक्रता में होता है। ऐसी वक्रता मुख्यतः रम्य रस से ही उत्पन्न होती है (रसांतरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्)। किंतु ऐसा निरंतर रसोद्गार-गर्भित सौंदर्यनिर्वाह के कारण ही होता है, जिससे कवि की वाणी जीवित रहती है, कथामात्र से नहीं होता—

(निरंतर-रसोद्गारगर्भसौंदर्यनिर्वहाः ।
गिरः कवीनां जीवंति न कथामात्रमाश्रिताः ।।)

कुंतक ने ध्वन्यालोक के इस कथन तक को स्वीकार किया है कि महाभारत में प्रधान अथवा अंगी रस, शांत रस ही है और वही इसकी मुख्य शोभा है, यद्यपि उनके मत में अंत में कविप्रतिभा ही काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

4

महिमभट्ट

महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक', जिसके नाम से ही सूचित होता है कि इसमें 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं द्वारा प्रतिष्ठापित 'व्यक्ति' अथवा 'व्यंजना' के सिद्धांत का विवेचन है, के आरंभ में ही यह कहा है कि अनुमान प्रक्रम के अंतर्गत ध्वनि के सभी रूपों को प्रकाशित करना ही मेरा उद्देश्य है (अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्)। एतदर्थ उन्होंने ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के ग्रंथ तथा सिद्धांत का सविस्तर विवेचन किया है। ध्वन्यालोक i. 13 में दिए गए ध्वनि के स्वरूप की सूक्ष्म रीति से आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि यथार्थ में यह स्वरूप 'अनुमान' का होता है। उन्होंने (विशेषतः तृतीय अध्याय में) 'ध्वन्यालोक' में दिए गए अधिकांश उदाहरणों की चर्चा करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि ये वास्तव में अनुमान के ही उदाहरण हैं। वास्तव में उन्होंने सर्वत्र खंडनात्मक आलोचना द्वारा ध्वनि के आचार्य द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के स्वरूप को अपने 'काव्यानुमिति' के स्वरूप के समान सिद्ध करने का यत्न किया है। उनके कथनानुसार काव्यानुमिति वह

प्रक्रम है, जिसके द्वारा वाच्य से अर्थांतर का प्रकाश होता है अथवा संबंधित होने के कारण जहाँ अर्थ वाच्य से अनुमित होता है ("वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थांतरं प्रकाशयति। संबंधतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता।") पृ० 22.

अपने पक्ष में इसी बात को प्रधानता देने के कारण उन्होंने शब्द के केवल दो अर्थों को स्वीकार किया है—'वाच्य' तथा 'अनुमेय' में लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों समाहित हैं। इन दोनों के पृथक् भाव को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है (पृ० 7) कि अर्थ के दो भेद हैं, वाच्य तथा अनुमेय। वाच्य शब्दाश्रित होता है और वही शब्द का मुख्य अर्थ होता है……वाक्य से हेतु के रूप में जिस अर्थ का अनुमान किया जाता है, वह अनुमेय अर्थ होता है। अनुमेय के तीन भेद हैं, वस्तु, अलंकार तथा रस। वस्तु तथा अलंकार पर आश्रित अर्थ वाच्यार्थ भी हो सकता है, किंतु रसाश्रित अर्थ सदैव अनुमेय रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष रूप में महिमभट्ट ने वस्तु, अलंकार तथा रस के रूप में मान्यता-प्राप्त व्यंग्यार्थ को स्वीकार किया है, किंतु उनका कथन है कि इनका प्रकाश अथवा बोध व्यक्ति अथवा ध्वनि से नहीं होता, अपितु 'अनुमान' से होता है,[1] क्योंकि वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का परस्पर सबंध लिंगी का होता है (पृ० 12)।

महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक से उद्धृत अनेक उदाहरणों की मीमांसा करते हुए कहा है कि वास्तव में वाच्यार्थ से अवाच्यार्थ की व्यंजना नहीं होती, यद्यपि दोनों में अनुमान संभव है तथा होता भी है। जैसा कि स्वयं आनंदवर्धन ने अंगीकार किया है (पृ० 122) व्यक्ति विवक्षाश्रित होती है। जिस प्रकार अंध कक्ष में घट की अभिव्यक्ति करवानेवाले दीपक तथा घट की युगपद् अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विवक्षित वस्तु तथा अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति युगपद् होती है। ध्वनि के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के तीन अंगों अर्थात् वस्तु, अलंकार तथा रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं होती, क्योंकि उनका बोध उनको ध्वनित करनेवाले वाच्य के साथ-ही-साथ नहीं होता, अपितु तत्पश्चात् होता है। उदाहरणार्थ, विभावों यथा ध्वनित

1. 'ध्वन्यालोक' से उनके मतभेद का विषय केवल यही है। उनके कथनानुसार इसके अतिरिक्त उनका प्रायः कोई मतभेद नहीं है। (प्राणभूताध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता। यस्त्वन्यत्तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम्॥)

रस का मध्यांतर वास्तव में अत्यल्प होता है, इसीलिए ध्वनि के आचार्यों ने उसे असंलक्ष्य-क्रम कहा। इस अभिधान से ही सिद्ध होता है कि क्रम के भाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, अतएव वाच्य तथा अवाच्य में पूर्वापरता रहती ही है। अतएव उनमें परस्पर आधारवाक्य तथा उसके निष्कर्ष का संबंध है (पृ० 11 इत्यादि)। लक्ष्यार्थ के उदाहरण, यथा 'गौर्वाहीक:' में पहले यही बोध होता है कि 'गौ' तथा 'वाहीक' दोनों में तादात्म्य नहीं है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे समानधर्मी हैं। लक्ष्यार्थ का बोध यहाँ अनुमान से होता है (पृ० 24)। अतएव, अर्थ, अनुमान का आधार मात्र है, व्यंजक नहीं है। अनुमान का क्षेत्र बहुत व्याप्त है, ध्वनि तो इसी में समाहित है (तस्य, अर्थात् अनुमानस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्, पृ० 12)। शब्द को किसी अन्य वस्तु का व्यंजक नहीं माना जा सकता, उससे केवल उसके वाच्यार्थ का ही बोध होता है। क्योंकि अपने वाच्य अथवा मुख्यार्थ को व्यक्त करने के पश्चात् शब्द का कार्य समाप्त हो जाता है, अतएव लक्ष्यार्थ का अनुमान ही किया जा सकता है, किंतु अनुमान वाच्यार्थ से नहीं होता, अपितु लक्ष्यार्थ से ही हो सकता है। तब शब्द किसी गंभीर अर्थ की व्यंजना कैसे कर सकता है ! किंतु ऐसे शब्द, अपने वाच्यार्थ के माध्यम से 'अनुमापक' हो सकते हैं (पृ० 27 इत्यादि) ।

काव्य में अवाच्य के बोध का अनुमान-क्रम संभवतः सामान्य अनुमानक्रम ही है, जो व्याप्ति, लिंग तथा लिंगी पर आश्रित होता है। ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ लिंगी है तथा इसके व्यंजक, अर्थात् शब्द तथा अर्थ, प्रत्यक्षतः इसके लिंग हैं। 'व्याप्ति' का विनिश्चय तीन प्रकार से किया जाता है, अनुपलब्धि से, तादात्म्य से तथा तदुत्पत्ति से। महिमभट्ट के पक्ष के प्रत्युत्तर रूप में यह सिद्ध किया गया है कि अनुमान को सिद्ध करनेवाला इनमें से कोई भी साधन 'लिंग शब्दार्थों' तथा 'लिंगी ध्वनि' के मध्य व्याप्ति का प्रतिष्ठापन नहीं कर सकता। शब्द तथा अर्थ की अनुपलब्धि से ध्वनि के भाव की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि अनुपलब्धि से केवल किसी वस्तु के अभाव को लक्षित करनेवाले लिंगी की ही सिद्धि होती है। घट का अभाव उसकी अनुपलब्धि से सिद्ध होता है। किंतु यहाँ लिंगध्वनि किसी वस्तु के अभाव को परिलक्षित नहीं करती। अतएव हेतु में दोष है और शब्द तथा अर्थ की अनुपलब्धि से उनका अभाव ही सिद्ध होता है, ध्वनि का नहीं। इसके अतिरिक्त, ध्वनि तथा शब्द और अर्थ में कोई तादात्म्य नहीं हो सकता; क्योंकि व्यंजित अर्थ वाच्यार्थ से निश्चित

रूप में भिन्न होता है और वाच्य के गौण रहने पर ही उसका भलीभाँति बोध होता है। इसी प्रकार, यहाँ तदुत्पत्ति को भी स्थान नहीं है, क्योंकि शब्द तथा अर्थ की उत्पत्ति ध्वनि से होती है, ऐसा नहीं माना जा सकता। यह इसी प्रकार है, जैसे अग्नि के भाव को सिद्ध करनेवाला धूम, स्वयं अग्नि से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता।

विश्वनाथ ने अपने आक्षेप एक अन्य ही रूप में प्रस्तुत किए हैं। लिए के माध्यम से लिंगी का ज्ञान ही अनुमान है, यह पक्ष-सत्व, सपक्ष-सत्व तथा विपक्ष व्यावर्त्तत्व सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए, पक्ष-सत्व, यथा, सधूम, पर्वत पर तथा सपक्ष सत्व (यथा, रसोईघर में जहाँ अग्नि के भाव में कोई संदेह नहीं होता) धूम को देखकर, धूम लिंग द्वारा, लिंगी अग्नि का अनुमान कर लेते हैं, जिसका विपक्ष सत्व में भाव नहीं होता (यथा ऐसे स्थान, जहाँ अग्नि का अभाव निश्चित है)। किंतु इस अनुमान प्रणाली से वास्तव में वाच्य से ध्वनि अथवा अवाच्य की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि विश्वनाथ के कथनानुसार, कल्पनात्मक कृति का अनुमान से कोई संबंध नहीं है। उदाहरणार्थ यह श्लोक प्रस्तुत है—

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद् गृहे दास्यसि,
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
> एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलम्,
> नीरंध्रास्तनुमालिखंतु जरठच्छेदा नलग्रंथयः॥

'ऐ पड़ोसी, आप एक क्षण हमारे घर पर दृष्टिपात करेंगे ? इस शिशु का पिता प्रायः नीरस कूप का जल नहीं पीता। एकाकी होने पर भी मैं सत्वर ही यहाँ से तमालाकुल नदी-तट पर जा रही हूँ। सघन नलों की कठोर गाँठें मेरे शरीर को खुजाएँ।' यहाँ स्त्री के शरीर का नल-गांठों द्वारा खुजाया जाना तथा उसका नीरव नदी-तट पर एकाकी चले जाना, प्रिय समागम का लिंग माना जा सकता है, जो यहाँ ध्वनिति (लिंगी) होता है। किंतु ये तथा-कथित कारणों से अनित्य हैं, अर्थात् परिवर्तनशील हैं, यद्यपि ये अवाच्यार्थ की व्यंजना में सहायक होते हैं, क्योंकि एक स्त्री का अकेले नदी-तट पर जाना अथवा नल-गाँठों द्वारा खुजाया जाना, तर्क के दृष्टिकोण से प्रिय समागम का नित्य द्योतक नहीं है।

यह द्रष्टव्य है कि महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत के ऐसे आलोचकों के तर्कों का भी उपयोग किया है (पृ० 26), जिनके कथनानुसार ध्वनि का 'भक्ति' से

तादात्म्य है;[1] किंतु उन्होंने वाक्यार्थ की एकमात्र व्यापक शक्ति[2] का प्रतिपादन करनेवाले मीमांसकों तथा वक्रोक्तिजीवितकार के मतों का समान रूप में विरोध किया है। वक्रोक्तिजीवितकार के सिद्धांत के प्रति उनका विरोध, उनके अपने मत में प्रतिपादित रस के महत्त्व तथा ध्वनि की उपेक्षा पर अवलंबित होना सहज बात है। उनके मतानुसार, व्यंजना की चारुता के सन्दर्भ में लोकोत्तर प्रयोग के, जैसा कि कुंतक का कथन है, दो रूप हो सकते हैं, (1) औचित्य सिद्धांत के अनुसार,[3] अथवा (2) वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की व्यक्ति। यदि अभिप्राय पहले रूप से हो तो काव्य में रस के समर्थन के लिए बेकार है, क्योंकि कारकों की संघटना के औचित्य-सिद्धांत के बिना किसी रस-सिद्धांत का काम नहीं चल सकता, अर्थात् औचित्य-सिद्धांत तो प्रत्येक रस-सिद्धांत के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि दूसरे रूप को स्थान दिया जाए तो प्रच्छन्न अथवा परोक्ष रूप में ध्वनि को स्वीकार करना पड़ेगा।

निस्सन्देह, महिमभट्ट का ग्रन्थ तार्किक दृष्टिकोण से उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इसमें आलोचना की सूक्ष्मता तथा विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के पांडित्य के सर्वत्र दर्शन होते हैं, किन्तु इस ग्रन्थ का उद्देश्य शास्त्रार्थात्मक अथवा विवादात्मक है। इसमें किसी नवीन सिद्धांत को प्रतिपादित करने का कोई प्रयत्न नहीं है। महिमभट्ट में शास्त्रार्थवादी के सभी गुण थे। मुझे विरोध करना ही है, यह निश्चय करके उन्होंने अपने ग्रंथ की रचना की। यही विरोध-बुद्धि उनकी शक्ति तथा उनकी दुर्बलता का युगपद् कारण बन गई। अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् होने पर भी वे सामयिक एवं नगण्य

---

1. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 139 इत्यादि।
2. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 152 पा० टि० 2.।
3. महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श में औचित्य विचार पर विमर्श किया है (ध्वन्यालोक में भी इसका विवेचन किया जा चुका है)। उन्होंने काव्य में शब्द तथा अर्थ पर आश्रित अनौचित्य के दो भेद किए हैं: 'शब्द-विषयक' तथा 'अर्थविषयक'। रस की व्यंजना में विभाव इत्यादि का अनुचित प्रयोग शब्दविषयक है, जिसे 'अन्तरंग अनौचित्य' कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' में इसकी चर्चा की जा चुकी है। अर्थविषयक अनौचित्य को 'बहिरंग अनौचित्य' कहा गया है। मुख्यतः इसका सम्बन्ध पांच दोषों, अर्थात् विधेयाविमर्श (पृ० 37-58), प्रक्रम-भेद (पृ० 58-66, क्रमभेद (पृ० 66-69), पौनरुक्तत्क्य (पृ० 69-84) तथा वाच्यावचन (पृ० 84-109) से है। अगले अध्याय में औचित्य-समस्या पर विचार किया जाएगा।

समस्याओं से ऊपर न उठ सके। उनके विशिष्ट प्रतिपादन का मूल्य कुछ भी हो, उन्होंने काव्यविद्या की व्यापक किंतु सीमित समस्याओं पर कोई मौलिक विवेचन नहीं किया। सम्भवतः इसी कारण, तर्कपूर्ण तथा पांडित्यपूर्ण होते हुए भी उनके ग्रंथ में लोगों की रुचि अधिक समय तक नहीं रही। परवर्ती काल में उनका ग्रन्थ विस्मृत हो गया तथा निंदार्थ ही उसका नाम लिया जाने लगा। कुंतक के 'वक्रोक्ति-जीवित' की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि इसे ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के प्रबलतर सिद्धांत से टक्कर लेनी पड़ी थी। परवर्ती श्रेष्ठ आचार्य, ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के सिद्धांत से ही आकर्षित हुए, अतएव महिमभट्ट के सिद्धांत का पराभव अवश्यंभावी था। परवर्ती आचार्यों ने महिमभट्ट के 'अनुमान' सिद्धांत को, कुंतक के 'वक्रोक्ति' सिद्धांत की तरह, कभी उदारता से नहीं देखा। मम्मट के समय से लेकर लगभग सभी आचार्यों ने एकमत से 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित सिद्धांत को ही अंगीकार किया। महिमभट्ट तथा कुंतक के व्यंजना के नवीन सिद्धांत के मान्यता-प्राप्त अनुमान के आधार पर व्याख्या करने अथवा प्रतिष्ठा-प्राप्त सौंदर्य-सिद्धांत के नवीन मत के विरुद्ध भामह के प्राचीन पक्ष का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया; किंतु वे एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे थे।

3

भोज तथा अग्नि-पुराण

अग्नि-पुराण के अलंकार-खण्ड में प्रतिपादित मत में प्रत्यक्ष रूप से कई अंशों में प्राचीन सिद्धांत से भिन्न एक परम्परा का अनुसरण किया गया है। भोज ने अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में अपने ही ढंग से उक्त मत का विकास किया है।[1]

इस असिद्धप्रमाण पुराण की कोई निश्चित तिथि नहीं है। इसमें असंख्य विषयों की चर्चा की गई है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, निस्सन्देह इस ग्रंथ

1. इस अध्याय का अधिकांश पहले-पहल एक लेख के रूप में जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1923 पृ० 537-49 में छपा था। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के विषय में खंड 1 पृ० 89 इत्यादि तथा अग्निपुराण के विषय में खंड 1 पृ० 91 इत्यादि देखिए; वहाँ इनका विषय-विवरण दिया गया है।

का अलंकार खंड, मुख्यत: संकलन मात्र है। इसके लेखक ने जो स्वयं एक आचार्य नहीं थे, सभी सूत्रों से सामग्री का उद्धरण किया तथा मुख्य रूप में किसी भी विशिष्ट मत का अनुसरण न करते हुए उसे एक कामचलाऊ ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह बात इस ग्रंथ की मौलिकता, विवेचन की शिथिलता तथा विभिन्न प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत श्लोकों से भी पुष्ट होती है।

यदि अग्निपुराण के अलंकार खंड तथा सरस्वतीकंठाभरण का एक साथ अवलोकन किया जाए तो इन दोनों में कुछ समानताएँ परिलक्षित होती हैं। अग्निपुराण की सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इसमें ध्वनि-सिद्धांत का अभाव है, यद्यपि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार, 'आक्षेप' अलंकार के अंतर्गत आनुषंगिक रूप में ध्वनि को समाहित कर लिया गया है। (स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यंज्यते यत:, 344. 14)। प्रथम श्लोक (336. 1, भोज i.1) में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग है। इसमें कहा गया है कि वाङ्मय ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य-मय होता है (ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतं); किंतु प्रत्यक्ष रूप में यह 'स्फोट' के व्यंजक व्याकरणात्मक शब्द का द्योतक है, जिसे 'वाक्यपदीय' में भी इसी शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। तथापि इस ग्रंथ में अभिधा तथा लक्षणा को मान्यता दी गई है। दर्शनाचार्य तथा व्याकरणाचार्य इस विषय पर अपने मत को पहले ही व्यक्त कर चुके थे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ में भरत, भामह तथा दंडी के ग्रंथों के कुछ अंशों का उद्धरण अथवा समावेश है, तथापि मुख्य रूप से इसमें इनमें से किसी भी आचार्य के मत का अनुसरण नहीं किया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अग्निपुराण के एक श्लोक में जिसे विश्वनाथ ने अपने एकांतिक मत के पोषणार्थ उद्धृत किया है, वाग्वैदग्ध्य मात्र की तुलना में रस को काव्य की आत्मा कहा है (वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितं, 336.33)। इसके एक लंबे-चौड़े अध्याय में भरत के अनुसार 'रस' तथा 'भाव' का वर्णन तो है, किंतु इसमें न तो मुख्य रूप से किसी रस-सिद्धांत का विवेचन है, और न ही रसाश्रित किसी काव्य-सिद्धांत की मीमांसा है। रस की उत्पत्ति के विषय में एक विचित्र मत का प्रतिपादन है, जिसके अनुसार आनंद से अहंकार, अहंकार से अभिमान तथा अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। शृंगार, हास्य तथा अन्य रस रति के अन्य रूप हैं (338. 2-4)। भरत का अनुसरण करते हुए इसमें चार मुख्य रस स्वीकार किए गए हैं; अन्य पाँच का

उद्भव इन्हीं से होता है। यद्यपि अग्निपुराण में काव्य तथा रूपकाश्रित रस का महत्त्व है, तथापि इसे रस-सिद्धांत का समर्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें काव्य के इस मुख्य सिद्धांत के साथ अन्य काव्यांगों, यथा रीति, गुण तथा अलंकार के परस्पर संबंध का निरूपण नहीं किया गया है। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि अग्नि पुराण में प्राचीन आठ रसों तथा शांत को मिलाकर नौ रसों को मान्यता दी गई है, तथापि प्रधान स्थान शृंगार को ही दिया गया है। यह अग्निपुराण का एक अद्वितीय लक्षण है। भोज ने इस रस का पूर्ण रूप से विकास किया है। जैसा कि आगे बताया जाएगा, उन्होने अपने ग्रंथ 'शृंगार-प्रकाश' में शृंगार के अतिरिक्त किसी अन्य रस को अंगीकार ही नहीं किया है तथा अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' में उन्होंने प्रायः इसी महत्त्वपूर्ण रस का विवेचन किया।

इसके विपरीत, यद्यपि अग्निपुराण में रीति (अध्याय 339) तथा गुण (अध्याय 345) की चर्चा है, किंतु दंडी तथा वामन द्वारा प्रतिपादित रीति-मत का पालन नहीं किया गया है। दंडी ने रीति के, जिसे उन्होंने मार्ग कहा है, दो एकांतिक भेद बताए हैं, वैदर्भी तथा गौडी। वामन ने इनमें मध्यवर्ती भेद, पांचाली की वृद्धि की; किंतु इन दोनों आचार्यों के मतानुसार, यह भेद-निरूपण शैली अथवा रीति के गुणों के भाव अथवा अभाव पर आश्रित है। रुद्रट ने इस संख्या में लाटी को और जोड़ दिया है, किंतु रीति से उनका अभिप्राय लघु अथवा दीर्घ समास-प्रयोग पर आश्रित विशिष्ट वाक्य-संघटना से है। अग्निपुराण ने इस चतुर्धा वर्गीकरण को अंगीकार किया है, किंतु रीति-भेद को समास की लघुता अथवा दीर्घता पर आश्रित होने के अतिरिक्त सुकुमारता अथवा समता गुणों तथा उपचार के आश्रित भी माना है। दंडी (i. 42) तथा वामन (i. 2, 6-8) दोनों ने गुणों को मूलभूत लक्षण तथा रीति के लिए अनिवार्य बताते हुए उन्हें स्पष्टतया अलंकारों से भिन्न कहा है। दंडी के मतानुसार, अलंकार दोनों भागों के समान लक्षण हैं, तथा वामन के मतानुसार, अलंकार, गुणों द्वारा निष्पादित सौंदर्य की वृद्धि में केवल अनुषंगिक रूप से सहायक होते हैं। अग्निपुराण में दिए गए निरूपण के अनुसार गुणों का रीति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इनसे काव्य को महती शोभा प्राप्त होती है (यः काव्य महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः 345.3)। गुणों का यह स्वरूप-निरूपण अलंकारों से अधिक भिन्न नहीं है। उनका स्वरूप भी लगभग गुणों के समान ही बताया गया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारात् प्रचक्षते'

(341.17)।[1] यह सीधा, बिना समझे-बूझे दंडी 11-1 से उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ में गुण-भेद निरूपण निराला ही है। समान्यतः, गुणों के दो भेद हैं—शब्द-गुण और अर्थ-गुण। वामन ने इसी भेद-निरूपण को मान्यता दी है। अग्निपुराण में बड़ी बारीकी से काम लिया गया है (345.3 इत्यादि)। गुणों के दो प्रकार बताए गए हैं, वैशेषिक तथा सामान्य। वैशेषिक गुण निबंध के किसी विशिष्ट अंश अथवा खंड तक ही सीमित रहते हैं, सामान्य गुण निबंध के अनेक खंडों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। सामान्य गुण के तीन उपभेद हैं—शब्दाश्रित, अर्थाश्रित तथा शब्दार्थाश्रित। जहाँ तक हमें ज्ञात है, अग्निपुराण (तथ भोज) ने पहली बार इस त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकार किया है। इसके पश्चात्, गुणों का उल्लेख एक सर्वथा भिन्न प्रकार से किया गया है। वामन ने सब मिलाकर दस गुणों का उल्लेख किया है। प्रत्येक गुण शब्द-गुण भी है और अर्थगुण भी। अग्निपुराण के अनुसार, शब्दगुण सात हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सत्या तथा यौगिकी। अर्थगुण छह हैं—माधुर्य संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ी तथा सामयिकता। शब्दार्थ गुण छह हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्तता, पाक तथा राग। इनमें से कुछ गुणों का स्वरूप स्पष्ट नहीं है।[2] संविधान तथा यथासंख्य जैसे गुणों के कुछ लक्षण, अन्य आचार्यों के अनुसार, अलंकारों के समान हैं। यद्यपि दंडी के ओज गुण का प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख नहीं है, तथापि शब्द-गुण के निरूपण के अंतर्गत उसका कथन किया गया है (345.10 दंडी 1,80)।

इसी प्रकार, यह सिद्ध करना सरल है कि यह ग्रंथ भामह तथा उद्भट द्वारा प्रतिपादित अलंकार-मत से अधिक प्रभावित नहीं है। निस्संदेह, थोड़े से परिवर्त्तन के साथ, सामान्यतः दंडी के निरूपण का पालन करते हुए, शब्दालंकारों का विवेचन किया गया है,[3] किंतु अर्थालंकारों के विषय में प्राचीन भेद-

---

1. भोज ने इस श्लोक का भी उल्लेख किया है (अध्याय 5 पृ० 355); किंतु उन्होंने यह कहा है कि—'तत्र कॉव्यशोभाकरानित्यनन श्लेषोपमाविवब् गुणरसभावतदाभासप्रशमनादीनप्युपगृह्णाति।' यह स्पष्ट रूप में दंडी के मत पर टिप्पणी है।

2. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, x(1934) पृ० 776-79 में राघवन का 'अग्निपुराण में रीति तथा गुण' शीर्षक लेख देखिए। आनंदाश्रम सं० का मुद्रित पाठ अशुद्ध है। राघवन ने शुद्धियों तथा व्याख्याओं का सुझाव दिया है।

3. यह शब्दालंकार के नौ भेदों—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुंफन, वाकोवाक्य, अनुप्रास (यमक सहित), चित्र और दुष्कर (प्रहेलिका सहित) का समर्थन करता है।

निरूपण अथवा स्वरूप-निरूपण का यथार्थ रूप में पालन नहीं किया गया है। अग्निपुराण में अर्थालंकार के आठ भेद बताए गए हैं: स्वरूप (अथवा स्वभाव), सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु तथा सम (343. 2-3)। उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थांतरन्यास अलंकारों को पृथक् रूप में 'सादृश्य' के अंतर्गत लिया गया है तथा उपमा के अट्ठारह भेदों का भी उल्लेख है। इनमें दंडी की उपमा के अधिकांश उपभेद शामिल हैं (343.9 इत्यादि)। अग्निपुराण एक ऐसा प्राचीनतम ज्ञात ग्रंथ है, जिसमें उभयालंकारों पर एक पृथक् अध्याय दिया गया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने उभयालंकारों को अंगीकार नहीं किया है। इसमें उभयालंकारों के छह भेदों का उल्लेख है, अर्थात् प्रशस्ति, कांति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति (344.2)। अन्य आचार्यों ने इन्हीं में से कुछ का विवेचन गुणों के अंतर्गत किया है।[1] रीति तथा अलंकार-मत में की गई सूक्ष्म मीमांसा की तुलना में अग्निपुराण में गुणों तथा अलंकारों के परस्पर भेद को स्पष्ट नहीं किया गया है, उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप-निरूपण भद्दा तथा अव्यवस्थित प्रतीत होता है।

इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि-पुराण में साधारणतया काव्यविद्या के किसी भी प्राचीन मत का, जहाँ तक हमें उनका ज्ञान है, अनुपालन नहीं किया गया है, यद्यपि अपनी विश्वकोशीय प्रवृत्ति के अनुसार, किसी मुख्य सिद्धांत से अनुबद्ध करने का प्रयत्न किए बिना, इसमें विभिन्न मतों के विचारों, विवेचन-शैलियों तथा संपूर्ण श्लोकों को उद्धृत किया गया है। उदाहरणार्थ, इसमें दंडी द्वारा प्रतिपादित 'काव्यशरीर' के लक्षण (इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली) को उद्धृत तो किया है, किंतु उसमें 'काव्यं स्फुट-दलंकारं गुणवद् दोषवर्जितं' (337-6-7) शब्दों को जोड़ने का प्रयत्न उद्धरण मात्र ही लगता है; उनके स्वरूप की अधिक व्याख्या नहीं होती। गुणों अथवा

1. इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि यहाँ दंडी के समाधि गुण का लक्षणा-प्रसंग के अंतर्गत विवेचन किया गया है और दोनों में तादात्म्य स्थापित करने का संकेत भी है। इस पुराण में भामह तथा दंडी के विस्तृत उद्धरण हैं। उदाहरणार्थ, रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति तथा पर्यायोक्त अलंकारों के लक्षण (343.22; 344.15, 16, 18, 17) लगभग भामह के समान हैं (ii.21,68; iii.29,8; ii.79)। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि (343.23, 24-25, 26-27, 27-28; 355.18.13) के लक्षण दंडी (ii.66, 221, 323, 199, 304, i.93) से लिए गए प्रतीत होते हैं।

अलंकारों के लक्षणों के विषय में भी यही बात लागू होती है। वे भी प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों से उद्धृत किए गए हैं अथवा उन्हीं के आधार पर बिना किसी समीक्षा के उनकी व्याख्या मात्र कर दी गई है। किंतु उद्धरण के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कुछ और बातें भी हैं। उदाहरण के लिए, गुणों तथा अलंकारों का विशिष्ट विवेचन तथा व्यवस्था-क्रम, जो कि तत्सम्बन्धी प्राचीन विवेचन से बहुत भिन्न है। इस विशिष्टता का स्पष्टीकरण तभी हो सकता है, जब हम यह स्वीकार कर लें कि एक संकलित ग्रन्थ होते हुए भी इसमें सम्भवतः काव्यचिंतन की एक ऐसी सर्वथा भिन्न विचारधारा का अस्तित्व है, दुर्भाग्यवश जिसका कोई अन्य प्राचीन अवशेष अब सुरक्षित नहीं है।

भोज ने इस मत-परम्परा का पूर्ण रूप में विकास किया है। इसलिए उनके ग्रंथ में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना तथा ध्वनि-सिद्धांत का अभाव होना कोई विस्मयजनक बात नहीं है; और न ही गुणों तथा अलंकारों का क्रम अबुद्धिगम्य है। भरत तथा दंडी का सर्वत्र उसी प्रकार सादर उल्लेख है और वास्तव में भोज ने नाम दिए बिना अनुमानतः दंडी के दो सौ से अधिक श्लोकों को उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त भोज ने अपने विख्यात पूर्ववर्ती आचार्यों के श्लोकों तथा उदाहरणों को निश्चित रूप में उद्धृत किया है, विशेषतया भामह, वामन, रुद्रट तथा धनिक के। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं तक का समावेश कर लिया है,[2] यद्यपि उसके सिद्धांत को अंगीकार नहीं किया है। उनका बृहत् संकलन ग्रंथ, प्राग्वर्ती अग्निपुराण के समान प्रायेण विश्वकोशीय तथा उद्धरणात्मक है और प्रत्यक्ष रूप से एक भिन्न परम्परा के अनुसार पूर्ववर्ती मतों (ध्वनि को छोड़कर) के सिद्धांतों को व्यवस्थित करने की एक विधि अथवा रूप को लक्षित करता है। एक सीमा तक इस प्रकार का दूसरा रूप वाग्भट नाम के दो जैन आचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है। किंतु कुछ मुख्य विषयों में उनके तथा अग्निपुराण के विवेचन में साम्य स्पष्ट है और इस विषय में प्राचीन मतों के सिद्धांत की चर्चा व्यर्थ है। शब्दशः उद्धरण अनेक हैं। 'अग्नि-पुराण' अध्याय 341-18 इत्यादि तथा 'सरस्वतीकंठाभरण' अध्याय 2 में बड़ा साम्य है। अग्निपुराण के कुछ श्लोक 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में शब्दशः उद्धृत किए गए हैं। अग्नि 341-18-19 में कहा गया है—

1. 'अग्निपुराण' में दंडी के 160 से अधिक अंशों का उद्धरण किया गया है।
2. जिस प्रकार अग्निपुराण में इनकी छह कारिकाएँ उद्धृत हैं।

ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालंकारमाहुस्तान् काव्यमीमांसाकोविदाः ॥[1]

भोज ने शब्दालंकार के इस लक्षण को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने अशुद्ध अंतिम चरण में केवल यही परिवर्तन किया है—'शब्दालंकार-संज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः' (ii. 2)। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस प्रसंग में अग्नि 341-21 तथा भोज ii. 39; अग्नि 342-10 तथा भोज ii. 79; अग्नि 338-11 तथा भोज v. 3 इत्यादि की परस्पर तुलना की जा सकती है। इस शाब्दिक साम्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता, किंतु इसके अतिरिक्त आधारभूत अथवा मुख्य विषयों के विवेचन में एक ऐसी एकरूपता तथा साहमत्य है, जो केवल आकस्मिक नहीं है। इस विषय पर सम्प्रति चर्चा की जाएगी। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि भोज ने प्रत्यक्ष रूप में अग्निपुराण को उद्धृत किया है अथवा अग्निपुराण ने भोज को उद्धृत किया है; यह सर्वथा सम्भव है कि इन दोनों का उद्धरण-स्रोत एक ही है। किंतु इसमें अधिक सन्देह नहीं है कि इन्होंने कई अंशों में काश्मीरी आचार्यों से भिन्न एक ही परम्परा का अनुपालन किया है।[2]

1. पाठ में 'काव्यमीमांसका विदः' के स्थान पर।
2. अग्निपुराण के संकलनकर्ता तथा भोज के परस्पर सम्बन्ध के विषय में हमारा मत काणे तथा राघवन पर स्पष्ट नहीं हुआ है। हम 'पूना ओरिएंटलिस्ट' ii. पृ० 15-17 पर अपना मत स्पष्ट कर चुके हैं; यहाँ उसी को दुहराते हैं। भोज के सरस्वतीकंठाभरण तथा पुराण के अलंकार खंड के तुलनात्मक अध्ययन से हमें प्रतीत होता है कि (1) ये दोनों ग्रन्थ प्रायः संकलन-ग्रन्थ हैं, (2) संकलन-ग्रन्थ होने के कारण दोनों ही उद्धरणात्मक हैं, किंतु सामग्री-चयन बहुत बढ़िया नहीं है और न ही सूक्ष्म है, (3) दोनों ने एक ऐसी मत-परम्परा का अनुसरण किया है, जो प्राचीन काश्मीरी आचार्यों की परम्परा से पृथक् और भिन्न है; (4) निश्चित रूप में भोज का ग्रन्थ अधिक व्यवस्थित है तथा उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म है; भोज के ग्रन्थ में प्राचीन परम्परा से भिन्न विषय अधिक विकसित रूप में मिलते हैं। इन कारणों से प्रतीत होता है कि भोज तथा अग्निपुराण ने प्रत्यक्ष रूप में परस्पर सामग्री का उद्धरण नहीं किया है, अपितु दोनों ने एक ही स्रोत से सामग्री का उद्धरण किया है और क्योंकि भोज का विवेचन अधिक सूक्ष्म तथा व्यवस्थित है, अतएव वे सम्भवतः अग्निपुराणकार के पश्चात् हुए हैं। यदि पुराण का संकलनकर्ता भोज के पश्चात् हुआ है, और उसने भोज को उद्धृत किया है तो यह विचित्र बात है कि उसने अपने सिद्धांत को अविकसित तथा अव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया, जब कि उसके स्रोत-ग्रंथ में वह सिद्धांत विकसित तथा व्यवस्थित रूप में पहले से ही विद्यमान

भोज ने अग्निपुराण द्वारा प्रतिपादित काव्य-स्वरूप में स्पष्ट रूप से रस का समावेश किया है। उनके टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार इससे 'काश्मीरकों' का प्रभाव स्पष्ट है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं (i.2)

काव्य के इस लक्षण के अनुरूप, जिसमें काव्य के सभी आवश्यक अंगों का उल्लेख है, भोज ने पहले अध्याय में गुण-दोष-विषय का विवेचन किया है, तथा अगले तीन अध्यायों में क्रमशः शब्द तथा अर्थाश्रित अलंकारों तथा शब्दार्थालंकारों की चर्चा की है। अंतिम अध्याय में रस का विस्तार से विवेचन है, क्योंकि भोज के मतानुसार काव्य में रसोक्ति का होना आवश्यक है (v. 8)। किंतु अग्निपुराण के लेखक के समान भोज ने सौंदर्यात्मक रस तथा काव्य के अन्य अंगों के परस्पर भेद का स्पष्ट विवेचन नहीं किया। उनका रस-सिद्धांत कुछ-कुछ उत्पत्तिवादियों से मिलता-जुलता है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार दंडी-जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्पत्तिवादियों के उत्पत्ति-सिद्धांत को अंगीकार किया है। निस्संदेह, एक श्लोक (i. 158) में भोज ने प्रत्यक्ष रूप में यह कहा है कि गुणों के विद्यमान होने पर ही काव्य का आस्वादन किया जा सकता है, भले ही उसमें विभिन्न प्रकार के अलंकार हों (अर्थात्, अलंकारों के अतिरिक्त गुणों का होना अत्यावश्यक है), क्योंकि गुणों से विहीन काव्य, उत्तम अलंकारों से युक्त होते भी हुए भी भद्दा लगता है, जैसे यौवन-विहीन स्त्री, सुन्दर आभूषणों से युक्त होने पर भी भद्दी लगती है। किंतु यह श्लोक, नाम का उल्लेख किए बिना वामन (iii. 1-2 वृत्ति) से उद्धृत किया गया है। यह संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों में सुलभ आदरसूचक कथन के समान है विषय की पुष्टि मात्र के लिए इसका समावेश किया गया है अथवा इससे ग्रंथ की असूक्ष्मता तथा अव्यवस्था का पता चलता है; अन्यथा रस अथवा अलंकार के विषय में इसी प्रकार की उक्तियों का समाधान नहीं किया जा सकता।

यद्यपि भोज ने आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के नवीन मत के सिद्धांतों के अनुसार रस को बहुत महत्त्व दिया है, तथापि उन्हें ध्वनि अथवा प्राचीन रस-सिद्धांत का अनुयायी नहीं कह सकते। भोज ने भरत के प्राचीन आठ रसों

था। पुराण के संकलनकर्ता को भोज के पश्चात् सिद्ध करने से भी अधिक अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि उपलब्ध प्रमाण, निश्चयात्मक नहीं है, इसलिए यही अच्छा होगा कि इस प्रश्न को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाए।

(vi. 15) के अतिरिक्त, शांत, प्रेयस्, उदात्त तथा उद्धत इत्यादि सब मिलाकर बारह रसों का उल्लेख किया है,[1] किंतु इनका विवेचन करते हुए उन्होंने अग्नि-पुराण की परंपरा के अनुसार प्रायः शृंगार रस को ही प्रधानता दी है। उनके अन्य ग्रंथ 'शृंगार प्रकाश' में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है उसमें भी उन्होंने केवल शृंगार रस को ही प्रधानता दी है,[1] जो ग्रंथ के यथानाम है।

अग्निपुराण में प्रतिपादित सामान्य गुणों के शब्द तथा अर्थ पर आश्रित भेद-निरूपण में थोड़ा-सा परिवर्त्तन करते हुए भोज ने उनके 'बाह्य', 'आभ्यंतर' तथा 'वैशेषिक' भेद किए हैं। वैशेषिक गुणों से उनका अभिप्राय उनसे है, जो दोष होने पर भी विशिष्ट अवस्थाओं में गुण हो जाते हैं (i. 60 इत्यादि)। उन्होंने गुणों का इससे भी अधिक सूक्ष्म भेद-निरूपण किया है और चौबीस शब्द-गुणों तथा समनाम चौबीस अर्थ-गुणों का उल्लेख किया है। अग्नि-पुराण की तरह पृथक्-पृथक् गुणों के विषय में उनका स्वरूप-निरुपण बहुत शुद्ध अथवा सूक्ष्म नहीं है; उन्होंने कुछ गुणों में ऐसे लक्षण बताए हैं, जिनका उल्लेख अन्य आचार्यों ने अलंकारों के लक्षणों के रूप में किया है। यह द्रष्टव्य है कि अर्थ-गुण कांति की व्याख्या वामन के अनुसार 'दीप्त-रसत्वं' (i. 81) की गई है और इसमें रस समाहित है; तथा ध्वनि का समावेश शब्द-गुण गांभीर्य के अंतर्गत किया गया है (i. 73)। इसके साथ-ही-साथ एक अन्य संदर्भ में रस को मुख्य सौंदर्य-सिद्धांत कहा गया है और ध्वनि-सिद्धांत को छोड़ ही दिया गया है। भोज ने वामन द्वारा प्रतिपादित रीति के भेद-निरूपण की अवहेलना करते हुए उसका वामन से भी अधिक विवेचन किया है। अग्निपुराण में उल्लिखित चार भेदों के अतिरिक्त उन्होंने 'आवंतिका' तथा 'मागधी' नामक दो प्रकार की रीतियों का वर्णन किया है। आवंतिका, वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्ती रीति है तथा मागधी केवल एक खंड रीति, अर्थात् सदोष अथवा अपूर्ण रीति

---

1. इनमें से शांत तथा प्रेयस् पहले से ही मान्यताप्राप्त हैं। रूढ़ आठ रसों के अतिरिक्त, उक्त चार रसों का क्रमशः चार प्रकार के नायकों से संबंध है—धीरशांत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत। देखिए, राघवन का 'नंबर ऑफ़ रसाज़' पृ० 121-22.

2. यह विद्याधर का कथन है। पृ० 98. कुमारस्वामी, पृ० 221 तथा मंदार-मरंदचंपू' ix पृ० 107 के लेखक का भी यही कथन है। सरस्वतीकंठा-भरण तथा शृंगार प्रकाश में भोज के रस-विषयक विवेचन के विस्तृत विवरण के लिए खंड 1 पृ० 125-27 का अवलोकन करें। राघवन का 'शृंगार-प्रकाश' पृ० 418-542 देखिए।

है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि हीनत्व तथा अधिकत्व के समान कुछ उपमा-दोषों का उन्होंने उपमा अलंकार के संदर्भ में विवेचन न करते हुए हीनोपमा तथा अधिकोपमा के रूप में दोषों के प्रकरण में ही विवेचन किया है।

भोज एक ऐसे प्राचीनतम आचार्य हैं, जिन्होंने अग्निपुराण के समान, अलंकारों को तीन वर्गों में बांटा है, अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। भोज का विवेचन अधिक व्याप्त है।[1] विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। उदाहरण के लिए उन्होंने शब्दालंकारों की सबसे अधिक संख्या, अर्थात् चौबीस का उल्लेख तथा लक्षण-निरूपण किया है तथा इस विषय की दंडी, अग्निपुराण तथा रुद्रट से भी अधिक सूक्ष्म मीमांसा की है। विस्मय की बात यह है कि अर्थालंकार की संख्या सीमित है। संभवतः संख्या में समानता रखने के कारण उन्होंने चौबीस ही अर्थालंकारों की चर्चा की है। उभयालंकारों की भी इतनी ही संख्या है। सबसे विचित्र अध्याय वह है, जिसमें उन्होंने उभयालंकारों का वर्णन किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, अतिशय तथा अन्य प्रसिद्ध अर्थालंकारों का विवेचन इसी में किया गया है। कुछ समय पश्चात् मम्मट ने अलंकारों का यह त्रिधा वर्गीकरण स्वीकार किया है, किंतु सभी आचार्यों ने इसे मान्यता नहीं दी है। भोज के विपरीत उन्होंने उभयालंकारों के मिश्र-वर्ग में बहुत थोड़े से ही अलंकारों को स्थान दिया है, जैसे, पुनरुक्तवदाभास, जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों समान रूप से प्रधान होते हैं।

इस प्रकार के नवीन तथा परंपरा से भिन्न दृष्टिकोण के कारण, जो कि विभिन्न प्रतिष्ठित मतों के मान्यताप्राप्त सिद्धांतों से कुछ अंशों में भिन्न है, भोज का ग्रंथ एक रोचक ग्रंथ है, किंतु इसके सिद्धांत-पक्ष को अनावश्यक महत्त्व दिया गया। निस्संदेह, अपने अद्वितीय विवेचन के कारण संस्कृत काव्य के इतिहास में इस ग्रंथ का अपना महत्व है, किंतु इसका महत्व इसके सिद्धांत पक्ष, अथवा सामान्य सिद्धांतों की चर्चा के कारण नहीं है, अपितु विवेचन की

---

1. कहीं-कहीं उनका विवेचन बड़ा विचित्र है। यथा, जैमिनि के छह प्रमाणों के आधार पर उन्होंने अलंकारों का उल्लेख किया है (इस संदर्भ में पृ० 404 पर माणिक्यचंद्र के कथन से तुलना करें)। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि उन्हें उपमान नामक अलंकार में प्रमाण के रूप में दर्शनशास्त्रीय उपमान की कल्पना को भी लेना पड़ा है और उसे प्रसिद्ध अलंकार 'उपमा' से भिन्न मानना पड़ा है।

सूक्ष्मता के कारण है (जो कहीं-कहीं शिथिल भी है)। इसमें लक्षणों तथा उदाहरणों का अपार भंडार है, जिन्हें आलंकारिकों तथा प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों के ग्रंथों से उद्धृत किया गया है। भोजराज के विख्यात नाम से संबद्ध होने पर परवर्ती आचार्यों ने मुख्यतः उदाहरणों की प्रचुरता अथवा किसी ऐसे मत के साक्ष्य के रूप में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसे संभवतः भोज के कथन से प्रामाणिकता प्राप्त होती हो। इस ग्रंथ में विशाल सामग्री का संकलन है, किंतु यह सब अव्यवस्थित है और सूक्ष्म नहीं है। प्रतिपादित विषयों में अव्यवस्था है और शैली में यथार्थता नहीं है। परवर्ती काल में भोज के प्रतिपादित मतों का कोई पोषक अथवा अनुयायी नहीं हुआ।[1]

---

1. परवर्ती लेखकों ने यत्र-तत्र भोज के श्लोकों का उद्धरण किया है। विद्यानाथ (तथा अनेक 'रसार्णवालंकार' में प्रकाशवर्ष) ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने भोज के सूक्ष्म गुण-विषयक भेद-निरूपण का अनुसरण किया है (आगे अध्याय 7 में देखिए)। भोज का सचमुच ही भीमकाय ग्रंथ 'शृंगार-प्रकाश' अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, किंतु राघवन ने तद्विषयक अपने शोध ग्रंथ में इसकी विषय-सूची का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रंथ भी संभवतः उनके पूर्वतर तथा लघुतर ग्रंथ 'सरस्वतीकंठाभरण' के समान, किंतु उससे कहीं अधिक विस्तृत, विश्वकोशीय, उद्धरणात्मक तथा सभी प्रकार से व्याप्त ग्रंथ है। जहाँ तक विषय वस्तु तथा मुख्य मत का संबंध है, इसमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो संक्षिप्त रूप में सरस्वतीकंठाभरण में विद्यमान न हो। यद्यपि इसका नाम 'शृंगार-प्रकाश' है, तथापि 36 अध्याय पर्यंत इस ग्रंथ में काव्य तथा नाट्यविद्या के प्रायः सभी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा है (अध्याय 1-6 में शब्द तथा अर्थ; 7-11 में शब्द तथा अर्थाश्रित साहित्य का व्याकरणमूलक विवेचन, जिसमें दोष, गुण तथा अलंकार भी शामिल हैं; अध्याय 12 में मुख्यतः नाटक तथा उसके मुख्य अंग; अध्याय 13-14 में रस का प्रारंभिक विवेचन; अध्याय 15-17 में रीति के विभाव तथा अनुभाव; अध्याय 18-21 में चार पुरुषार्थों के चार शृंगार, यथा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के शृंगार; अध्याय 22-36 में पुरुष तथा स्त्री की परस्पर रति पर आश्रित निम्न शृंगार (अभिमानाश्रित उच्च शृंगार से भिन्न, जिसकी व्याख्या अध्याय ii में की गई है) का विवेचन है। इस प्रकार, दोष-हान, गुणोत्पादन, अलंकार-योग तथा रस-वियोग (यह परिहार्य है) की व्याख्या करने के पश्चात् उन्होंने अपने अहंकार-अभिमान-शृंगार रस के सिद्धांत का विवेचन किया है। नाटक के सामान्य लक्षणों के संदर्भ में उन्होंने अपने ग्रंथ के एक बड़े भाग में पुरुष तथा स्त्री की परस्पर रति पर आश्रित विप्रलंभ तथा संभोग शृंगार के दो रूपों की चर्चा की है।

अध्याय : 17

मम्मट तथा नवीन मत

1

पिछले अध्यायों में मुख्य काव्य-मतों तथा सिद्धांतों की प्रगति की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है। अन्त में ध्वनि-मत की विजय हुई थी। इस रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत काव्यविद्या के इतिहास में दो अथवा तीन स्पष्ट सोपान[1] हैं। इस शास्त्र के आदि काल के विषय में वास्तव में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु भामह तथा दंडी के ग्रन्थों में, न्यूनाधिक विकसित रूप में इस शास्त्र के व्यवस्थापक का प्रथम ऐतिहासिक सोपान लक्षित होता है। इसके पश्चात् अभिनवगुप्त पर्यंत रचनात्मक काल का एक सक्रिय सोपान रहा है, जिसमें विभिन्न मतों अथवा वादों के सिद्धांत सामान्यतया प्रतिष्ठापित हो चुके थे। फलस्वरूप रसाश्रित, अलंकाराश्रित, रीति-आश्रित तथा ध्वनि-आश्रित भिन्न मतों का विकास हुआ। इस सोपान की अवधि तीन, शतियों तक रही। इस शास्त्र के इतिहास में भामह, उद्भट, रुद्रट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, दंडी, वामन, ध्वनिकार, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, महिमभट्ट तथा भोज प्रभृति विख्यात आचार्य इसी काल में हुए। इन सब आचार्यों ने खंडन अथवा मंडन करते हुए विभिन्न विचारधाराओं को एक ऐसा रूप दिया, जो अन्त में मम्मट के प्रामाणिक ग्रन्थ में प्रस्फुटित हुआ।

यदि इन भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का भेद-विवेचन किया जाए और शास्त्र की प्रकृति को लक्षित करनेवाले मुख्य-मुख्य सोपानों को निर्दिष्ट किया जाए तो सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि अलंकार-मत, सम्भवतः शास्त्र की आदि परम्परा के अनुसार, व्यंजना के अलंकार-सिद्धांत तक ही सीमित रहा। रस-मत में, नाट्याश्रित रस के विवेचन के पश्चात् काव्य-सिद्धांत में भावों, अनुभावों तथा विभावों से लक्षित स्वगत रस का समावेश किया गया। रीति-मत में रीति अथवा शैली तथा गुणों से निष्पन्न बाह्य व्यंजना सौंदर्य को महत्त्व दिया गया। ध्वनि-मत

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 311 इत्यादि।

में, इन सब सिद्धांतों की सत्यता को अंगीकार करते हुए रस-ध्वनि के विशिष्ट सिद्धांत का विकास हुआ तथा काव्य के अन्य सभी अंगों को ध्वनि-सापेक्ष माना गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक मत में अलंकार, रस, रीति (गुण तथा दोष-सहित) तथा ध्वनि को सापेक्ष महत्त्व दिया गया था। यद्यपि नैयायिकों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म, विचित्र तथा बेजोड़ विचारों को समाविष्ट कर लिया गया था, तथापि सभी मत इन्हीं मुख्य सिद्धांतों से प्रभावित रहे और मुख्य-मुख्य विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रसारित हुईं। अन्त में यह अनुभव किया गया कि इन सब विचारधाराओं का एकीकरण आवश्यक है, ताकि ये भिन्न धाराएँ एक ही विशाल धारा के रूप में प्रवाहित हो सकें। शास्त्र के शुद्ध लक्षणात्मक पक्ष-का ह्रास होने लगा और यह अनुभव किया गया कि बाह्य व्यंजना, अलंकार अथवा शैली को भले ही चाहे जितना महत्त्व दिया जाय, फिर भी श्रेष्ठ काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, अर्थात् ध्वनि का महत्त्व अपेक्षाकृत उससे कहीं अधिक है, विशेषतया रसात्मक ध्वनि का, जो आस्वादन की एक विशिष्ट मानसिक अवस्था को लक्षित करती है, जिसकी चारुता, व्यक्ति तथा राग-निरपेक्ष मानसिक आनन्द तथा सौंदर्य के चिंतन के लिए यथोचित प्रवृत्ति में निहित होती है।[1]

---

1. यह केवल अलंकार का विषय नहीं है। सौंदर्य का आदर्श (यदि ऐसा कहना समीचीन हो) बाह्यांग नहीं है, अपितु इसका सम्बन्ध कलात्मक आस्वादन की एक विशिष्ट अवस्था से है, जिसकी ध्वनि को काव्य के मुख्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य के एक योग्य समालोचक की व्याख्या के अनुसार (ओल्डनबर्ग, Die Literatur des alten Indien पृ० 207 इत्यादि) भारतीय आचार्यों ने अत्युत्तम संवेद्यता से उत्पन्न शुद्ध रूप में नारी-सुलभ आस्वादन को पुरुष-सुलभ सौंदर्य, बौद्धिक शक्ति तथा कुशाग्रता से पुष्ट माना है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान हैं। परमानन्द तथा कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता की प्रबल प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रही हैं। यह सत्य है कि शास्त्र का सिद्धांत-पक्ष निर्जीव तथा नीरस अलंकार मात्र रह गया, किन्तु इसके साथ-ही-साथ यह मानना पड़ेगा कि आचार्य सूक्ष्म विषयों के प्रति उदासीन नहीं थे और न ही उन्होंने वास्तविक काव्य के परम गुणों तथा तज्जन्य सौंदर्यात्मक आनन्द की अवहेलना की। उन्होंने सदैव यही कहा है कि काव्यात्मक प्रतिभा सिद्धांत-निरपेक्ष होनी चाहिए और काव्य का परम निकष अथवा मापदंड सहृदय द्वारा उसकी प्रशंसा अथवा आस्वाद्यता है। सहृदय में शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ सूक्ष्म सौंदर्य-संवेद्यता भी होनी चाहिए, जो उसके विस्तृत ज्ञान तथा कवि के भावों तथा अनु-

इस काल के समाप्त होते-होते काव्यविद्या को प्रायः अंतिम तथा प्रामाणिक रूप दिया जा चुका था, जिसकी रूपरेखा 'ध्वन्यालोक' में दी गई है। इसके अंतर्गत पूर्ववर्ती बिखरे पड़े विचारों को एक स्थान पर एकत्र करने का प्रयत्न किया गया है। इसके परवर्ती युग में, जिसकी चर्चा इस अध्याय तथा अगले अध्यायों में की गई है, शास्त्र की सूक्ष्म व्याख्या की गई। मुख्यतः इसमें पूर्ववर्ती चिंतन से प्राप्त विचारों को संक्षिप्त पाठ्य-ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया गया। विवेचनात्मक चिंतन इस सोपान की बड़ी विशेषता है, किंतु इसमें सक्रिय प्रतिभा अथवा मौलिकता नहीं है, शास्त्र का क्रमिक ह्रास ही अभिलक्षित होता है। इस युग को टीकाओं का युग कह सकते हैं। इसमें असंख्य टीकाएँ लिखी गई हैं। इस युग को यूरोपीय श्रेणी-साहित्य के स्कोलिया युग के समान कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें टीकाओं पर टीकाएँ तथा उन पर भी टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। सिद्धांत की व्याख्या, प्रतिष्ठापित नियमों की भक्ति अथवा उनके क्षेत्र को सीमित करना ही एकमात्र उद्देश्य रह गया। इस युग में ऐसे भी लोकप्रिय लेखक हुए हैं, जिन्होंने जनसाधारण के सुविधार्थ शास्त्र के सरल पाठ्यग्रंथों की रचना की। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में पाठशालाओं के लिए उपयोगी ग्रंथों की रचना शास्त्र के उक्त ह्रास की निम्नतम स्थिति की परिचायक है।

इन आचार्यों का वर्गीकरण करना कठिन है। यत्र-तत्र ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया है। कुछ आचार्यों ने गुण-दोष का निरूपण किए बिना ही ग्रंथ लिख दिए हैं, कुछ के ग्रंथ केवल उद्धरणात्मक हैं, कई आचार्यों की आकांक्षा एक लोकप्रिय पाठ्यपुस्तक लिखने मात्र तक ही सीमित रही। पाँच अथवा छह शती पर्यंत इस युग के अधिकांश आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धांत को तथा मम्मट द्वारा प्रतिष्ठापित काव्यविद्या के अंतिम रूप को प्रायः प्रामाणिक माना है। आचार्यों के ऐसे लघु वर्ग भी हुए हैं, जिन्होंने 'कवि शिक्षा' अथवा रस (विशेषतया, शृंगार-रस) जैसे विशिष्ट विषयों का विवेचन किया है, किंतु यह अंतिम रूप में प्रामाणिक ध्वनि-सिद्धांत का उपशाखन ही है, ऐसा प्राचीन परंपरा के अनुपालन अथवा संभवतः तत्कालीन मीमांसात्मक अथवा परिमार्जनात्मक प्रवृत्ति के कारण ही हुआ। यह मुख्य सिद्धांत में हुए

भावों के तादात्म्य से ही संभव होती है। संवेद्यता ब्रह्मानंद के समान बताई गई है, इसके पात्र बहुत अल्प संख्या में होते हैं। समालोचक तथा कवि जन्मजात होते हैं, बनाए नहीं जा सकते।

किसी वास्तविक विभाजन का सूचक नहीं है। मुख्य सिद्धांत तथा मुख्य समस्याओं के विषय में ध्वनि के परवर्ती आचार्यों ने यही समझा कि कोई नवीन प्रतिपाद्य विषय नहीं रह गया है। फलस्वरूप उन्होंने सिद्धांत-पक्ष का ही सूक्ष्म निरूपण किया है और इस प्रकार उनकी भेद-निरूपण तथा शास्त्रीय वाद-विवाद की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को अवसर प्राप्त हुआ। यहाँ उनकी विस्तार से चर्चा करना व्यर्थ है, क्योंकि उन्होंने प्रायः एक ही बात को अपने-अपने ढंग से कहा है। कहीं-कहीं उनका ढंग तथा शब्द भी एक ही है, उनके परस्पर मतभेद सामान्य हैं। सिद्धांत की मुख्य-मुख्य बातों में उनमें कोई मतभेद नहीं है। उनके ग्रंथों में द्रष्टव्य विषय केवल असंख्य अलंकारों का सूक्ष्म भेद-निरूपण तथा उनकी मीमांसा है, जिसे ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने संभवतः अपने प्रतिपादित विषय से बाहर समझते हुए छोड़ दिया था, किंतु परवर्ती साहित्य में इस भेद-निरूपण को पर्याप्त महत्त्व मिला है। जैसा कि रुय्यक ने स्पष्ट रूप में कहा है, इन आचार्यों को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन में रिक्त स्थानों की पूर्त्ति करने का प्रचुर अवसर मिला। इस अंश में उन्होंने इतनी सूक्ष्मता से काम लिया है कि यदि उनके ही ग्रथों को मापदंड मान लिया जाय तो अलंकारशास्त्र को अलंकारमात्र का ही विवेचन कहा जा सकता है और प्रायः ऐसा कहा गया है। अधिकांश अलंकारों के लक्षण इत्यादि तो प्रायः रुय्यक के समय ही निश्चित हो चुके थे। जगन्नाथ-जैसे परवर्ती आचार्यों ने केवल उनकी समालोचना करके उनका परिष्करण मात्र किया है।

तथापि यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि इस नवीन (नव्याः, अर्वाचीनाः) मत में प्रायः ध्वनि-मत के मुख्य सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है, तथापि यह प्राचीन मतों के सिद्धांतों से सर्वथा विनिर्मुक्त नहीं है। प्राचीन आचार्यों के प्रति आदर की भावना परोक्ष रूप में विद्यमान रही है और अपने काव्य-सिद्धांत के निरूपण में उनके कुछ प्राचीन विचारों का, बिना गुण-दोष देखे, समावेश कर लिया गया है। इसीलिए, इन लेखकों को एक साथ प्रत्यक्ष रूप में ध्वनि-सिद्धांत से संबद्ध करना कठिन है। उदाहरण के लिए मम्मट का काव्यस्वरूप-निरूपण वामन-जैसे प्राचीन आचार्य के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है, अलंकारों की सविस्तर मीमांसा करते हुए रुय्यक ने उद्‌भट तथा कुंतक का बहुत अनुसरण किया है। विश्वनाथ का अपना सिद्धांत स्पष्टतया रस-मत से प्रभावित प्रतीत होता है। जगन्नाथ ने दंडी द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्राचीन लक्षण को एक नए रूप में पुनर्जीवित किया है। यह मत्त्हवपूर्ण बात है कि इनमें से अधिकांश

आचार्यों ने काव्य लक्षण का सूक्ष्म रीति से निरूपण करने का प्रयत्न किया है। ध्वनिकार ने इस विषय को अछूता छोड़ना ही उचित समझा। ऐसा करने में संभवतः उनका लक्ष्य यह था कि कोई ऐसा व्यापक सिद्धांत बन जाए, जिसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों प्रकार के विचारों को स्थान मिल सके, यद्यपि वे इस समस्या को सुलझाने की बजाय इसमें बुरी तरह उलझ गए। इस प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति में एक रोचक बात यह है कि आचार्यों ने प्राचीन सिद्धांतों के महत्त्व को स्वीकार तो किया, किंतु वे 'ध्वन्यालोक' के स्पष्ट सिद्धांत से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो सके। इससे आंशिक रूप में यह सिद्ध होता है कि अन्त में विजयी ध्वनि-मत के इन अनुयायियों में मौलिकता का अभाव था, यह आक्षेप पूर्णतया उचित नहीं है।

2

मम्मट

मम्मट इस वर्ग के अग्रगण्य आचार्य हैं। जैसा कि उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की लोकप्रियता तथा प्रभाव से प्रतीत होता है, आनन्दवर्धन के काश्मीरी मत को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठापित करने में उनका बड़ा हाथ था। यह ग्रन्थ व्यापक होने के साथ-साथ संक्षिप्त भी है। इसमें काव्य-विद्या के पूर्ववर्ती चिंतन को एक नाट्य-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आगे चलकर इसी के आधार पर असंख्य पाठ्य-पुस्तकें तथा टीकाएँ लिखी गईं।

मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रसिद्ध लक्षण-निरूपण के अवलोकन मात्र से ही मम्मट के मुख्य सिद्धांत का पता चल जाता है। यद्यपि उन्होंने अधिकांशतः ध्वनि-मत के सिद्धांतों को स्वीकार किया है तथा रस को काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा है, तथापि उसके लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' (अर्थात्, काव्य शब्दार्थ-मय, दोष-रहित तथा गुणयुक्त होता है, कभी-कभी अलंकाररहित भी होता है) में प्राचीन परम्परासम्मत शब्द तथा अर्थ के अतिरिक्त गुण, दोष तथा अलंकार का उल्लेख है, किंतु इसमें प्रकट रूप से ध्वनि तथा रस का कहीं उल्लेख नहीं है। वे परोक्ष रूप में ही स्वीकार किए गए हैं, क्योंकि मम्मट ने काव्यस्वरूप के उक्त निरूपण के पश्चात् शब्द तथा अर्थ की वृत्तियों अथवा शक्तियों की चर्चा की है, व्यंजना शक्ति को प्रसंगवश प्रतिष्ठापित करते हुए तथा व्यंग्य अर्थ अथवा ध्वनि को श्रेष्ठ बताते हुए ध्वन्यात्मक काव्य का तीन भागों में विभाजन किया है, अर्थात्, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य तथा चित्र। मम्मट

ने तत्पश्चात् काव्य के इन तीन भागों अथवा भेदों के विभिन्न उपभेदों का सोदाहरण वर्णन किया है तथा इसी प्रसंग में रस-सिद्धांत का सविस्तर विवेचन करते हुए उसे 'असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य' के अन्तर्गत माना है। उन्होंने इसी प्रसंग में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के मतों की चर्चा करते हुए उनका खंडन किया है तथा 'व्यक्ति-वाद' को अंगीकार किया है, जिसे उन्होंने अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित कहा है। आठ रूढ़ नाट्य-रसों का भी उल्लेख है (अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः) किंतु नवें रस, शांत को प्रकट रूप में काव्य-रस कहा है।

इसके पश्चात् मम्मट ने गुण-दोष की चर्चा की है, किंतु जैसा कि उनके काव्य-लक्षण से लक्षित होता है, यह काव्याश्रित गुण-दोष चर्चा न होकर रस के विकास में उनके गौण होने अथवा न होने से सम्बन्धित है। आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए उन्होंने निबन्धाश्रित गुणों की एक नए ढंग से व्याख्या की है तथा निबन्ध की चारुता के वर्धक होने के रूप में उसके आधारभूत रस से उनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन किया है। निबन्ध के शब्द-रूप में ओज तथा माधुर्य (सादृश्य अतिरिक्त) गुण तभी हो सकते हैं, जबकि उसका आधारभूत रस वीर अथवा श्रृंगार हो। अतएव, गुणों का रस से वही सम्बन्ध है, जो वीरता इत्यादि गुणों का मनुष्य की आत्मा से है। अलंकारों के विषय में भी यही बात है। रसाश्रित होने से काव्य में उनका भी स्थान है। उनकी तुलना मनुष्य के शारीरिक आभूषणों से की गई है, अतएव, वे काव्यशरीर अर्थात् शब्द तथा अर्थ को अलंकृत करते हैं। इस प्रकार वे परोक्ष रूप में, शब्द तथा शब्द द्वारा रस की आत्मा का अलंकरण करते हैं, किन्तु सदैव नहीं। यदि रस का भाव नहीं है तो वे केवल वाग्वैचित्र्य को ही जन्म देते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि मम्मट ने आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए तीन गुणों को अंगीकार किया है[1] और यह

---

1. मम्मट ने कुछ सावधानी से यह सिद्ध किया है कि वामन के दस गुणों को अंगीकार करना आवश्यक नहीं है, तीन व्यापक गुणों अथवा ओज, प्रसाद तथा माधुर्य को ही मान लेना पर्याप्त है। वामन के गुणों की समीक्षा करने पर विदित हो जाएगा कि उनमें से कुछ को इन तीन में ही समाहित किया जा सकता है, कुछ गुण तो केवल दोषाभाव के सूचक हैं, कुछ अन्य गुण निश्चित रूप में दोष हैं। इस प्रकार वामन के श्लेष, समाधि तथा उदारता गुण ओज में समाहित हैं, अर्थव्यक्ति, प्रसाद गुण का एक रूप मात्र है; समता, अर्थात् रीति अथवा शैली की समता, कभी-कभी दोष होती है, सौकुमार्य तथा कांति, जिन्हें क्रमशः कठोरता अथवा अमंगल तथा ग्राम्यता से लक्षित किया गया है, श्रुतिकष्ट तथा ग्राम्यता दोषों के

कहा है कि विशिष्ट वर्ण-संघटना, विशिष्ट गुणों को लक्षित करती है। फलस्वरूप उद्भट की तीन वृत्तियाँ (तथा मोटे तौर से वामन की तीन रीतियाँ) मम्मट द्वारा प्रतिपादित तीन गुणों के समान हैं।[1] मम्मट ने पद, वाक्य तथा अर्थ-दोषों के अतिरिक्त रस-दोषों को भी अंगीकार किया है, प्रायः परवर्ती आचार्यों ने इसी विवेचन-पद्धति का अनुसरण किया है। यद्यपि मम्मट के

विपर्यय मात्र हैं। इन कारणों से गुणों का जाति-भेद-निरूपण सरल हो गया है तथा उनके व्यर्थ भेद-निरूपण को सीमित कर दिया गया है (यथा, भोज द्वारा प्रतिपादित 24 गुणों का सूक्ष्म भेद-निरूपण)। अतएव, मम्मट का यह मत है कि शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण का परस्पर भेद-निरूपण व्यर्थ है, क्योंकि अर्थगुणों का पृथक् विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने यह कहा है कि रसास्वादन के मानसिक प्रक्रम में केवल तीन (दस नहीं) गुणों को ही स्थान प्राप्त है और निबंध-गत प्रधान रस से उसका ही संबंध घनिष्ठ है। इस प्रकार ओज गुण को मानस का विस्तार कारक कहा है और वह वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में निवास करता है। प्रसाद गुण सभी रसों का समान लक्षण है, इससे मानस पर अर्थबोध की व्याप्ति अथवा विकास ऐसे होता है, जैसे जल-धारा का वस्त्र पर अथवा अग्नि का काष्ठ पर (तुलना कीजिए भरत vii. 7)। माधुर्य गुण मुख्यतः संभोग शृंगार में रहता है, किंतु शोक, विप्रलंभ-शृंगार तथा शांत में भी क्रमिक रूप से इसका विकास होता है। इसे द्रुतिकारक कहा गया है। मत की तीन काव्य-रसाश्रित अवस्थाओं, अर्थात् विस्तार, व्याप्ति तथा द्रुति को तीन गुणों का आधार मान लिया गया है। यद्यपि इन मानसिक अवस्थाओं का कभी-कभी संश्लेष भी हो जाता है, जिसके फलस्वरूप अन्य भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएं उत्पन्न हो सकती हैं, किंतु ये इतनी अस्पष्ट तथा इतनी अधिक होती हैं कि इन्हें नए गुणों का आधार नहीं माना जा सकता। इस व्याख्या में 'ध्वन्यालोक' के ii. 8-11 (ऊपर देखिए पृ० 155 इत्यादि) का अनुसरण करते हुए उसी का विस्तार किया गया है, किंतु यह संभव है कि इन प्रभावों को पाठक की मानसिक अवस्थाओं के साथ तीन गुणों से अनुबद्ध करने का संकेत भट्टनायक ने दिया हो ('लोचन' पृ० 68), उनके कथनानुसार, विस्तार, विकास तथा द्रुति रस के योग के मानसिक लक्षण होते हैं, किंतु उन्होंने आपत्ति यह की है कि ओज इत्यादि विस्तार प्रक्रम के कारक नहीं हैं, अपितु उससे अभिन्न हैं।

1. ऊपर देखिए पृ० 96, हम पहले कह चुके हैं कि मम्मट ने तथाकथित अर्थ-गुणों को अनावश्यक कहा है, इसलिए केवल शब्द-गुण ही रह गए। इन शब्द-गुणों की उत्पत्ति वर्ण, समास तथा रचना की विशिष्ट संघटना अथवा विन्यास के कारण होती है। अतएव, मूर्धन्य (ट, ठ, ड, ढ) को छोड़कर (1) अपने वर्ग के अनुनासिक सहित क से म तक सभी स्पर्शों, (2)

मतानुसार काव्य में अलंकारों की आवश्यकता सर्वदा नहीं होती,[1] तथापि उन्होंने अपने ग्रंथ को शब्द तथा अर्थ पर आश्रित अलंकारों तथा कुछ उभयालंकारों के सविस्तर विवेचन से समाप्त किया है। उन्होंने सतसठ पृथक्-पृथक् अलंकारों के नाम दिए हैं।

मम्मट के ग्रंथ में प्रतिपादित विषयों की संक्षिप्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कोई मौलिक तत्त्व नहीं है, किंतु इसमें मुख्य समस्याओं (नाट्य को छोड़कर हेमचंद्र, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने इसकी पूर्ति करने का प्रयास किया है) का बड़ा व्यवस्थित तथा संक्षिप्त निरूपण किया गया है। उनके लक्षण-निरूपण तथा सामान्य विवेचन में सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रतिपादित सिद्धांतों को समाहित करने का प्रयत्न स्पष्ट है। 'काव्यप्रकाश' पर लिखी गई अनेक टीकाएँ इसकी लोकप्रियता तथा प्रामाणिकता की सूचक हैं। इसका कारण विवेचन की नवीनता नहीं है, अपितु 'ध्वन्यालोक' द्वारा प्रतिपादित नवीन पद्धति से संबंधित चिरसंचित सिद्धांतों अथवा विचारों की स्पष्ट तथा विशद (यद्यपि व्याख्या के लाघव तथा जटिलता के कारण टीकाओं का लिखा जाना आवश्यक था) व्याख्या है।

ह्रस्व स्वरों के साथ-साथ ण के प्रयोग तथा (3) समास के पूर्ण अभाव अथवा लघु समास के भाव से माधुर्य गुण की प्राप्ति होती है। (1) क्रमशः वर्ग के पहले तथा तीसरे वर्णों के साथ वर्ग के दूसरे तथा चौथे वर्णों को मिलाकर बने संयुक्त वर्णों, (2) र सहित संयुक्त व्यंजनों, (3) ण (जो कि माधुर्य का सूचक है) को छोड़कर अन्य मूर्धन्य, (4) द्वित्व, एक ही वर्ण का संयोग, (5) तालव्य श और ष, (6) दीर्घ समास तथा (7) शब्दाडंबर में ओज गुण की सिद्धि होती है। यह स्पष्ट ही है कि प्रसाद गुण के लिए कोई नियम नहीं है। यहाँ जो वर्ण दिए गए हैं, वे अधिकतर वही हैं, जिन्हें उद्भट ने क्रमशः उपनागरिका, पुरुषा (परुषा ?) तथा कोमला अथवा ग्राम्या वृत्तियों का सूचक कहा है। अतएव, मम्मट के मतानुसार, उद्भट की तीन वृत्तियाँ, जिन्हें स्वयं उद्भट ने वृत्यनुप्रास में समाहित कहा है, वास्तव में वामन की तीन वृत्तियों तथा उनके अपने तीन गुणों के समान हैं।

1. वामन का यह मत कि गुणों से काव्य की शोभा होती है और अलंकार उस शोभा के उपकारक मात्र होते हैं, नवीन दृष्टिकोण से स्पष्टतया अपर्याप्त है। मम्मट का तर्क इस प्रकार है: यदि सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि सर्वगुणोपेत होना काव्य का लक्षण है, तो गौडी तथा पांचाली, जिनमें सभी गुण नहीं होते, काव्यात्मक नहीं होंगी, किंतु यदि एक ही गुण के भाव के किसी निबंध को काव्य श्रेणी में रखा जा सके तो एक ऐसे पूर्णतया अकाव्यात्मक खंड को भी काव्य मानना पड़ेगा, जिसमें केवल उदाहरणतया, ओज गुण ही विद्यमान हो।

किंतु जहाँ तक सिद्धांत-पक्ष का सम्बन्ध है, मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण का घोर विरोध हुआ है। उदाहरणार्थ, यद्यपि विश्वनाथ ने मम्मट के ग्रंथ को अपने ग्रंथ का उपजीव्य आधार कहा है, तथापि उन्होंने अपने 'साहित्यदर्पण' में मम्मट के लक्षण-निरूपण की तीव्र आलोचना की है। उनका पहला कथन यह है कि गुण केवल रसाश्रित होते हैं, इसलिए अंगी रूप में उनका स्वरूप-निरूपण समीचीन नहीं है। तत्पश्चात् उन्होंने कहा है कि यदि केवल अदोष निबन्ध को ही काव्य माना जाय तो कुछ सर्वश्रेष्ठ काव्य भी त्यागने पड़ेंगे, क्योंकि काव्य का सर्वथा दोषरहित होना प्रायः असम्भव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस शब्द अथवा शब्दार्थ में दोष का भाव होता है, केवल वही दूषित होता है; क्योंकि यदि दोष वास्तव में ही दोष है और उसका निबन्धगत रस से सम्बन्ध है, तो उससे सारा ही काव्य दूषित हो जाता है। अन्त में उन्होंने यह कहा है कि काव्य-लक्षण में अलंकारों को स्थान नहीं दिया जाना चाहिए था, क्योंकि वे निश्चित रूप में अंगी नहीं हैं। जगन्नाथ की आलोचना अधिक मौलिक है, यद्यपि काव्य-लक्षण में गुण, दोष तथा अलंकार के उल्लेख के अनौचित्य के विषय में वे विश्वनाथ से सहमत हैं। शब्द तथा अर्थ काव्य के वाचक नहीं हैं, उन्होंने इस पर आपत्ति की है। 'काव्य पढ़ा गया, किंतु उसका अर्थबोध नहीं हुआ' जैसे लौकिक कथन से यह स्पष्ट रूप में सिद्ध होता है कि काव्य से अभिप्राय एक विशिष्ट शब्द-प्रकार से है। यदि यह कहा जाए कि रस का विकास काव्य की आत्मा है और शब्द तथा अर्थ दोनों में यह गुण विद्यमान रहता है, इसलिए दोनों का काव्य-स्वरूप हैं, तो इसका उत्तर यह है कि काव्य का यह लक्षण अत्यन्त व्यापक है और यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो संगीतात्मक ध्वनियाँ तथा नाटकीय हावभाव को भी काव्य मानना पड़ेगा।

निस्सन्देह ये तथा कुछ अन्य तर्क अतिसूक्ष्म तथा पांडित्यपूर्ण प्रतीत होते हैं। मम्मट के अनुयायियों तथा टीकाकारों ने उतने ही पांडित्यपूर्ण से इन तर्कों का खंडन किया है, किंतु इस वादविवाद से यही प्रतीत होता है कि काव्य के तर्कपूर्ण तथा यथार्थ स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न व्यर्थ है तथा इस प्रकार के लक्षण में काव्य के सभी रूढ़ अंगों को समाविष्ट करना कठिन है। सम्भवतः पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस कठिनाई का अनुभव करते हुए काव्य-स्वरूप के निरूपण को जानबूझकर अछूता छोड़ दिया। ध्वनिकार ने भी काव्य के सामान्य स्वरूप तथा उसके भेदों का

निरूपण करने पर ही सन्तोष किया है। महिमभट्ट ने इस बात पर ध्वनिकार का उपहास करते हुए इस प्रकार कहा है—'किंच काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम्।'

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उक्त काव्य-लक्षण रोचक है, उसकी प्रकट असम्बद्धता तथा दुरूहता विचित्र हैं, उसकी युक्तियुक्त व्याख्या प्राचीन मतों तथा सिद्धांतों के प्रकाश में ही की जा सकती है। 'रस' शब्द उक्त लक्षण में विद्यमान नहीं है और मम्मट द्वारा 'चित्रकाव्य' को जिसे आनन्दवर्धन ने काव्य के एक भेद के रूप में बे-मन से स्वीकार किया है, मान्यता दिए जाने से सूचित होता है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है, मम्मट ने रस को अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया है। फिर भी मम्मट ने रस के सन्दर्भ में ही गुण तथा दोष का स्वरूप-निरूपण किया है, किंतु यदि रस का अंगीत्व स्वीकार्य नहीं है, तो गुण-दोष का ऐसा निरूपण युक्तियुक्त नहीं है। इसके विपरीत, यदि कहा जाए कि उक्त स्वरूप-निरूपण में रस का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि काव्य तथा आलोचना के क्षेत्र में रस एक प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित तत्व है, तो इसका उत्तर यह है कि इस आधार पर ध्वनि तथा काव्य का तीन भेदों का निरूपण अयुक्त है। इस स्थिति में, जैसा कि जगन्नाथ ने किया है, काव्य-लक्षण में गुणों तथा दोषों का उल्लेख नहीं होना चाहिए। ऐसा काव्य-लक्षण वामन (i. 1, 1-3) के काव्य-लक्षण के अधिक अनुरूप है और ये दो अंग उसी अर्थ में स्वीकार करने चाहिए, जिसमें उन्हें वामन ने स्वीकार किया है, अर्थात् शब्द तथा अर्थ के लक्षण।[1] इस प्रकार की अन्य असंगतियों के कारण यह संभव प्रतीत होता है कि नवीन मत के अनुयायी होते हुए भी मम्मट प्राचीन सिद्धांतों से बहुत प्रभावित थे। निस्सन्देह उन्होंने ध्वनि-मत के मुख्य सिद्धांतों का ध्वनि से समन्वय स्थापित करने के पचड़े में पड़कर उन्होंने कई ऊलजलूल बातें कह दी हैं।

---

1. यह जगन्नाथ का परिवर्तित मत है, उन्होंने इस कठिनाई का अनुभव किया है और वे मम्मट के विचार से सहमत नहीं हैं, (देखिए 'रसगंगाधर' पृ० 55)। इसी प्रकार यद्यपि विद्यानाथ ने नवीन मत का अनुसरण किया है, तदापि उन्होंने उद्भट की उक्ति 'संघटना-धर्मा गुणाः' को स्वीकार किया है। (पृ० 334)।

3

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने मम्मट की आलोचना करने का बीड़ा उठाया, किंतु उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य का लक्षण भी वैसा ही आक्षेपास्पद है और गोविंद तथा जगन्नाथ ने उसकी आलोचना की है। उनका यह कथन कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है (वाक्यं रसात्मकं काव्यं), उन पर रस-मत के प्रभाव को स्पष्ट रूप में लक्षित करता है, किंतु उन्होंने अभिनवगुप्त की अपेक्षा रसध्वनि के अंगीत्व की स्पष्टतर व्याख्या की है, जिसे ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने व्यावहारिक रूप में स्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या न करना ही उचित समझा है।[1] इस एकांतिक पक्ष पर विचार करते हुए विश्वनाथ ने एक बड़े बेढब तरीके से यह स्वीकार किया है कि सभी प्रकार के काव्य, यहाँ तक कि वर्णनात्मक अथवा आलंकारिक में भी, रस का स्पर्श (रस-स्पर्श) रहता है। निबंध में केवल रस की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए, यदि इस कथन को आदर्श मान भी लिया जाए तो भी वास्तव में सदैव ऐसा होता नहीं है। जगन्नाथ ने ठीक ही कहा है[2] कि विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण के अनुसार 'वस्तु-ध्वनि' अथवा 'अलंकार-ध्वनि' पर आश्रित निबंधों को काव्य में स्थान नहीं मिल सकेगा। इस विषय में विपक्षी यह नहीं कह सकता कि मेरा भी तो वास्तव में यही मत है, क्योंकि ऐसा कहने से प्राचीन आचार्यों की मत-परंपरा तथा महाकवियों द्वारा प्रतिष्ठापित पद्धति का विरोध होता है। इन्होंने वस्तु तथा अलंकार के महत्व को स्वीकार किया है और जलप्लावन अथवा यात्रा इत्यादि के वर्णन किए हैं, जिनमें शायद ही कहीं रस-स्पर्श हो। अतएव, अकेली रस-ध्वनि को ही मान्यता देना पर्याप्त नहीं है, काव्य के व्याप्त लक्षण के अंतर्गत वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का भी स्थान होना चाहिए। विश्वनाथ ने इस आक्षेप का पूर्वानुमान करते हुए कहा है कि मैंने जिन उदाहरणों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है; उनसे अतिरिक्त स्थलों में रसाभास सदैव होता है। उनके मतानुसार, 'ध्वन्यालोक' में वस्तु-ध्वनि के उदाहरण के रूप में दिया गया श्लोक मान्य इसलिए है, क्योंकि उसमें रस का स्पर्श है, इसलिए नहीं कि व्यंग्य वस्तु मात्र ही काव्य की आत्मा का लक्षण है। जगन्नाथ ने इसका यह उत्तर दिया है

---

1. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 151, अध्याय 6; पृ० 161 इत्यादि।
2. पृ० 7-8 तुलना कीजिए, 'प्रभा', निर्णयसागर प्रेस सं० 1912, पृ० 11.

कि रस को इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता देने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि 'गाय जाती है' अथवा 'हिरण चौकड़ी भरता है' जैसे वाक्यों में भी अप्रत्यक्ष रूप में रस का भाव हो सकता है। इसे काव्य का एकमात्र निकष नहीं माना जा सकता, अन्यथा काव्य की प्रत्येक वस्तु रस की उत्तेजक, उपकारक, अथवा सहायक मात्र बन जाएगी।

इस शास्त्रीय विवेचन तथा अंगीत्व के रूप में रस के महत्त्व के अतिरिक्त, जिसका काव्य के अन्य अंगों के साथ समन्वय स्थापित नहीं किया गया है, विश्वनाथ का सिद्धांत मम्मट से अधिक भिन्न नहीं है। विश्वनाथ ने मम्मट के ग्रंथ पर संभवतः एक टीका भी लिखी है। वास्तव में एक स्थल पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रंथ के प्रति सुन्दर शब्दों में अपना आभार प्रकट किया है। रसात्मक वाक्य ही काव्य है, काव्य का यह लक्षण देने के पश्चात् उन्होंने सामान्य रूप से वाक्य तथा वाक्य के अंगों अर्थात् शब्द तथा अर्थ की विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण अथवा सूक्ष्म विवेचन किया है तथा रसादि के बोधनार्थ (रसादीनां बोधे) आवश्यक तथा महत्वपूर्ण व्यंजना शक्ति की सिद्धि की है। उन्होंने काव्य के केवल दो भेद स्वीकार किए हैं, अर्थात् ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य काव्य। तृतीय भेद, अर्थात् चित्रकाव्य (जिसे आनंदवर्धन ने अप्रकट रूप से तथा मम्मट ने प्रकट रूप से मान्यता दी है) को इसलिए अंगीकार नहीं किया है, क्योंकि इसमें रस का सर्वथा अभाव होता है और यह उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण से असंगत भी है। फिर भी यह विचित्र है कि आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने, शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्ति के आधार पर वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि को आंशिक रूप में क्रमोद्योत-व्यंग्य के अंतर्गत स्वीकार किया है। गुणीभूत व्यंग्य, जिसमें रस गौण होता है, को इसलिए स्वीकार किया गया है, क्योंकि ऐसे काव्य में रस की ध्वनि गौण होने का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा काव्य काव्य ही नहीं है। रस का आस्वादन ही, चाहे वह गौण हो या प्रधान, काव्य का एकमात्र निकष है। रस का इस प्रकार पक्ष-पाती होने के कारण ही उन्होंने अपने ग्रंथ में रूपकात्मक निबंध का भी, जिसे काव्यविद्या के अधिकतर आचार्यों ने अछूता छोड़ दिया है, विवेचन किया है। कवि तथा आचार्य इस प्रकार के निबंध में रसों, भावों तथा अनुभावों के निरूपण को पहले से ही आवश्यक बता चुके थे। इसी विचार के अनुरूप दोष को 'रसापकर्षक' कहा गया है तथा गुण को रस का एक विशिष्ट

धर्म बताया गया है, जो शब्द तथा अर्थ के आश्रित होता है तथा रस के अंगी अथवा प्रधान होने पर उसका उपकार अथवा श्रीवृद्धि करता है। गुण वास्तव में रस के धर्म हैं, किन्तु गौण रूप में उन्हें शब्द तथा अर्थ के आश्रित भी कहा गया है। गुणों का ऐसा गौण प्रयोग शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण के प्राचीन भेद-निरूपण को भी व्यक्त करता है। तीन गुण स्वीकार किए गए हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद, जो कि विशिष्ट वर्ण-संघटना के आश्रित होते हैं तथा रस के आस्वादन में मन के विस्तार, व्याप्ति तथा द्रावण गुणों के सूचक होते हैं। प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख करते हुए मम्मट के अनुसार उनकी आलोचना की गई है। यह विचित्र है कि विश्वनाथ ने रीतियों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है—मम्मट के समान उन्हें वृत्तियों के अंतर्गत समाहित नहीं माना है, न ही उन्हें तीन गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् अनावश्यक माना है। उन्होंने रसादि की उपकर्त्री (उपकर्त्री रसादीनां) तथा 'पद संघटना'[1] के रूप में रीति का लक्षण-निरूपण किया है। तथापि रीति का संबंध काव्य के बाह्यांग से ही होता है, काव्य से उसका संबंध वैसा ही है, जैसा कि शरीर का आत्मा से है।[2] ग्रंथ के अंतिम भाग में विश्वनाथ ने अधिकांशतः मम्मट तथा रुय्यक का अनुसरण करते हुए अलंकारों का स्वरूप-निरूपण किया है और उन्हें शब्द तथा अर्थ के ऐसे अस्थिर धर्म कहा है, जिनसे अलंकारों की शोभा-वृद्धि होती है और फलस्वरूप परोक्ष रूप में रस की भी श्रीवृद्धि होती है। मम्मट के अनुसार उन्होंने 'अस्थिर' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि गुणों की अपेक्षा अलंकारों का होना आवश्यक न होकर गौण है, गुण आवश्यक लक्षण हैं।

---

1. 'संघटना' शब्द के प्रयोग से समास-वृत्ति के शास्त्रीय अर्थ को महत्त्व दिया गया है, किंतु काव्य का यही एक निकष नहीं है।

2. विश्वनाथ ने चार रीतियों के विषय में इस प्रकार कहा है—(1) वैदर्भी (इसमें माधुर्य को लक्षित करनेवाले वर्ण तथा लघु समास होते हैं अथवा समासों का अभाव रहता है), (2) गौडी (इसमें ओज को लक्षित करनेवाले वर्णों तथा समासों का बाहुल्य रहता है), (3) पांचाली (इसमें उपर्युक्त वर्णों को छोड़कर अन्य वर्ण तथा पाँच-छह समासोंवाले पद रहते हैं), (4) लाटी अथवा वैदर्भी तथा पांचाली के बीच की रीति। रीतियों का यह विवेचन उनके रूढ़िगत विवेचन से थोड़ा ही भिन्न है, किंतु यथार्थतः मम्मट द्वारा रीतियों को पृथक् रूप में मान्यता न देना समीचीन ही है, क्योंकि वे नवीन सिद्धांत की तीन वृत्तियों अथवा तीन गुणों में आ जाती हैं। विश्वनाथ ने वृत्यनुप्रास के अंतर्गत वृत्तियों का उल्लेख करते हुए रुय्यक के मतानुसार केवल यही कहा है—'रसविषयव्यापारवती वर्ण-रचना वृत्तिः, यदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः।'

विश्वनाथ के सामान्य पक्ष की उपर्युक्त संक्षिप्त रूपरेखा से यह पर्याप्त रूप में सूचित होता है कि वे एक मौलिक लेखक न होकर न्यूनाधिक एक संकलनकर्त्ता ही थे, यद्यपि रस-ध्वनि के आधार पर उन्होंने अपने पूर्ण तथा सुबद्ध सिद्धांत की व्याख्या करके कुछ रचनात्मक योग्यता का परिचय दिया है। उन्होंने आनंदवर्धन, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रंथों में से बहुत-सी सामग्री का उद्धरण दिया है। कहीं-कहीं उन्होंने अपना विवेक खो दिया है और अपने ही श्लोकों की पुनरावृत्ति की है। वह नई बात को सुन्दर ढंग से सदैव नहीं कह पाए हैं और कहीं-कहीं, यद्यपि ऐसा बहुत कम है, उनकी व्याख्या में अशुद्धता तथा असंगति दोष भी हैं। ऐसे तथा अन्य दोषों के होते हुए भी, संस्कृत काव्य-विद्या के इतिहास में उनका ग्रंथ एक रोचक रचना है, क्योंकि इसमें ध्वनि के आधार पर ही ध्वनि-सिद्धांत को और अधिक विकसित करने का प्रयत्न किया गया है, किंतु ध्वनि के अन्य कट्टरपंथियों ने इस प्रयत्न को एकमत होकर मान्यता नहीं दी। 'काव्य-प्रकाश' की तरह कारिका तथा वृत्ति-रूप में लिखे गए 'साहित्यदर्पण' में एक बड़ा गुण यह भी है कि मम्मट तथा जगन्नाथ के ग्रंथों की अपेक्षा इसकी शैली अधिक सरल तथा कम विवादास्पद है। काव्य-विद्या का एक पूर्ण तथा उपयुक्त ग्रंथ है। इसमें नाट्यकला का विवेचन भी सम्मिलित है, अतएव मोटे तौर से अपने विषय का एक सुगमतम पाठ्य-ग्रंथ होने के नाते सदैव ही लोकप्रिय रहा।

4

रुय्यक

रुय्यक इस आचार्य-वर्ग के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेखक हुए हैं। वे मम्मट के एकदम पश्चात् हुए हैं और संभवतः उन्होंने मम्मट के ग्रंथ पर एक टीका भी लिखी है। जैसा कि नाम से ही सूचित होता है, उनके ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' में अलंकारों का ही विवेचन है। इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य की अपेक्षा विशिष्ट वैदग्ध्य तथा मौलिक विवेक का परिचय दिया है। इस विषय में उनके योगदान का कितना महत्त्व है, यह इस बात से सूचित होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के आधार पर ही 'अलंकार' के स्वरूप का निरूपण हुआ है तथा उसके लक्षण भी निश्चित किए गए हैं। कुंतक ने सबसे पहले इस ओर संकेत किया था, किंतु ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने इस विषय को अछूता छोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् अलंकारों के क्षेत्रों अथवा सीमाओं तथा

स्वरूपों को निर्धारित करने में 'अलंकार-सर्वस्व' की सूक्ष्म मीमांसा का बड़ा हाथ रहा है, परिणामस्वरूप, विश्वनाथ, विद्याधर, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-जैसे महत्त्वपूर्ण परवर्ती आचार्यों ने इस विषय में उनके विचारों एवं मतों को प्रामाणिक माना है।

रुय्यक का ग्रंथ सूत्र तथा वृत्ति की पद्धति पर लिखा गया है। उन्होंने अपनी वृत्ति के भूमिका-भाग में ही अपने ग्रंथ की योजना का उल्लेख किया है। ध्वनि-मत के अन्य अनुयायियों की तरह उन्होंने भी आरम्भ में 'प्रतीयमान अर्थ' का विवेचन किया है और पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का संक्षेप में सर्वेक्षण करते हुए यह सिद्ध किया है कि इन सभी आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है। किंतु उनका कथन है कि ध्वनि-मत के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत के अनुसार प्रतीयमान अर्थ का मुख्य उद्देश्य वाच्यार्थ का अलंकरण करना होता है (वाच्योपस्कारक) अतएव वाच्यार्थाश्रित अलंकारों में यह सहज रूप से ही विद्यमान रहता है।[1] भामह, दंडी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट का सामान्यतः यही मत है। आनन्दवर्धन के परवर्ती वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनि के सभी रूपों को उपचार पर आश्रित वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के अंतर्गत ही माना है। भट्टनायक का कथन है कि मुख्यतः कवि-प्रौढ़ोक्ति द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतीयमान अर्थ काव्य का केवल एक गौण अंग है। मुख्य वस्तु तो रसास्वादन है, जिसकी अनुभूति भोग-शक्ति द्वारा होती है। वह शब्द के अभिधार्थ अथवा सामान्य अर्थ से भिन्न तथा उससे ऊपर होता है। व्यक्ति-विवेककार ने वाच्यार्थ तथा प्रतीयमान अर्थ के परस्पर संबंध को न्याय में लिंग तथा लिंगी के परस्पर संबंध के अनुरूप ग्रहण किया है तथा ध्वनि को अनुमानाश्रित माना है। पूर्वोक्त कोई भी मत ध्वनिकार के मत के अनुसार नहीं है, अतएव, रुय्यक ने ध्वनिकार के मत को निर्विवाद स्वीकार करते हुए अपने कथन का अंत इस लघूक्ति से किया है—'अस्ति तावद् व्यंग्यनिष्ठो व्यंजना-व्यापारः।' उन्होंने काव्य के तीन भागों (अथवा भेदों) अर्थात् ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य तथा चित्र को भी अंगीकार किया है। क्योंकि पूर्वोक्त दो भेदों की चर्चा क्रमशः 'अलंकारमंजरी'[2] (पृ० 15) तथा 'ध्वन्यालोक' में की जा चुकी है, इसलिए

1. वाच्योपस्कारकत्वं ह्यलंकाराणामात्मभूतत्वं, जयरथ, पृ० 3.
2. अनुमानतः उन्होंने यह ग्रन्थ स्वयं रचा है। किंतु जयरथ ने प्रत्यक्ष रूप में ऐसा नहीं कहा है। त्रिवेंद्रम संस्करण में पाठ-भेद है। इसमें 'अलंकार-मंजर्यादर्शितः' के स्थान पर 'कालिदासादि-प्रबन्धेषु दर्शितः' पाठ है। 'अलंकार मंजरी' में विशेष रूप से 'रस-ध्वनि' का विवेचन है, शृंगार-रस पर अधिक बल दिया गया है।

रुय्यक ने इस ग्रंथ में बाकी बचे 'चित्रकाव्य' पर ही चर्चा करना अपना उद्देश्य बताया है। इसमें ध्वनिरहित सभी अलंकारों[1] की विस्तृत तथा व्यापक चर्चा स्वाभाविक ही थी। क्योंकि यह विषय 'ध्वन्यालोक' के सिद्धांत के बाहर था और उसमें इसकी सविस्तर चर्चा नहीं की गई थी, इसलिए रुय्यक को अपने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रंथ की पूर्त्ति करने का अवसर मिल गया।

किंतु कुंतक इस विषय पर अपने ढंग से पहले ही चर्चा कर चुके थे। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि रस अथवा अवाच्य का विकास करना ही कवि का प्रयोजन होना आवश्यक नहीं है, उसका प्रयोजन तो वाच्य अलंकार के रूप में अभिव्यक्ति में चारुता उत्पन्न करना है। उन्होंने अलंकार का विश्लेषण किया और यह अनुभव किया कि ऐसा अलंकार वास्तव में विशिष्ट अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना का ही रूप होता है, जिससे एक विशिष्ट 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति-विशेष' की उत्पत्ति होती है और जो अंततोगत्वा कवि की प्रतिभा पर ही आश्रित रहता है (कविप्रतिभानिर्वर्तितत्व्य)।[2] ये दोनों शब्द नए नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों ने कवि-प्रतिभा को काव्यात्मक निबंध के लिए अनिवार्य माना है और वामन द्वारा प्रयुक्त 'सौंदर्य' शब्द 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति' के रूप में फिर से प्रकट हुआ है। आनंदवर्धन ने एक अन्य प्रसंग में 'उक्ति-वैचित्र्य' की चर्चा की है (पृ० 243), और संभवतः कुंतक से प्रभावित होकर मम्मट ने कहा है कि 'अलंकार' स्वयं 'वैचित्र्य' ही है। अभिनवगुप्त ने 'उपमा-विच्छित्ति' के अनन्त भेदों का कथन किया है (पृ० 5)। एक अन्य स्थल (पृ० 8) पर उन्होंने इस शब्द को 'कामनीयक' अथवा 'चारुत्व-हेतु' के लगभग पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया है।

रुय्यक ने इस विषय पर किसी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया है, किंतु उन्होंने अप्रकट रूप में कुंतक की मीमांसा को ग्रहण करते हुए उसे पृथक्-पृथक् अलंकारों के सूक्ष्म विवेचन में अनुप्रयुक्त किया है। विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। रुय्यक ने इस विचार को कुंतक से ग्रहण किया है, यह बात जयरथ ने एक ऐसे संदर्भ में कही है, जहाँ टीकाकार ने इसी कारण 'यथासंख्य' को एक अलंकार न मानते हुए ऐसा कहा है—'एतच्च वक्रोक्तिजीवित-कृता सप्रपंचमुक्तामित्यस्माभिर्नायस्तम्' (पृ० 149)। रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' में 'विच्छित्ति' शब्द का लक्षण नहीं दिया

---

1. ऊपर देखिए, अध्याय 5, पृ० 155.
2. ऊपर देखिए, अध्याय 6; पृ० 170-71 इत्यादि।

है, किंतु 'व्यक्तिविवेक' की टीका में, जिसका उन्हें लेखक कहा गया है, उन्होंने इस प्रकार कहा है (पृ० 44) 'तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः, विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात्कविप्रतिभोल्लासस्य आनंत्यादनंतत्वं भजमानो न परिच्छेत्तुं शक्यते' (तथा शब्द एवं अर्थ की विच्छित्ति ही अलंकार होता है, विच्छित्ति का यथार्थ स्वरूप-निरूपण करना असंभव है, क्योंकि यह कविप्रतिभा के उल्लास के आनंत्य के समान अनंत प्रकार की होती है)। स्वयं आनंदवर्धन (अध्याय 5) तथा कुंतक ने काव्य-कल्पना के आनंत्य अथवा असीमता को स्वीकार किया है।

रुय्यक ने कवि की रचनात्मक कल्पना से उत्पन्न इस विच्छित्ति को अलंकार का निकष माना है, अथवा, दूसरे शब्दों में, एक उक्ति, कवि की विशिष्ट संकल्पना की चारुता से अनुप्राणित होने पर काव्यात्मक अलंकार बन जाती है। इस प्रकार, न्याय के अनुमान पर आश्रित उक्ति प्रत्यक्ष रूप में 'अनुमान' नामक अलंकार नहीं हो सकती, जब तक कि उसमें विच्छित्ति का समावेश न हो, अथवा, 'संदेह' अलंकार में संदेह का भाव कवि-कल्पना-जन्य होना चाहिए, यह सामान्य संदेह न होकर 'काव्यात्मक' संदेह होना चाहिए। जयरथ ने इस सिद्धांत को मूल ग्रंथ के रचयिता की अपेक्षा अपनी टीका में अनेक स्थलों पर अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने बारंबार यह कहा है कि कवि-प्रतिभा पर आश्रित ('कवि-कर्म' अथवा 'कविप्रतिभा') विच्छित्ति-विशेष ही अलंकार का प्रधान अंश होता है (पृ० 144, 149-50, 183), और तदनुसार सभी तथाकथित अलंकार मान्य अथवा अमान्य है।[1]

परवर्ती ग्रंथों में इस सिद्धांत को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है। अप्पय्य दीक्षित ने अपने 'चित्रमीमांसा' (पृ० 6) नामक ग्रंथ के आरंभ में इसी सिद्धांत की व्याख्या की है और जगन्नाथ ने बारंबार यह कहा है—'अलंकाराणां भणिति-विशेष-रूपत्वम्'। विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने 'भणिति-विशेष', 'वैचित्र्य' तथा 'विच्छित्ति' के अतिरिक्त 'चारुता', 'हृदयत्व', 'चमत्कारित्व' तथा 'सौंदर्य' शब्दों का लगभग इसी अर्थ में प्रयोग किया है। जगन्नाथ ने 'विच्छित्ति-विशेष' का अधिक सूक्ष्म रूप से निरूपण करते हुए कहा है

---

1. जेकोबी ने GN, 1908 में अपने Ueber Begriffund Wesen der poetischen Figuren in der indischen poetik शीर्षक लेख में तथा इस ग्रंथ के लेखक ने 'वक्रोक्तिजीवित' द्वितीय सं० 1928 की भूमिका के पृ० xlvi-lviii पर कुछ विस्तार से इस विषय की चर्चा की है।

(पृ० 466-470) कि यह काव्य की रचनात्मक शक्ति में काव्यात्मक उल्लास के समान है, अथवा विच्छित्ति-विशेष वह चारुता अथवा सौंदर्य है, जो काव्यप्रतिभा के उल्लास से उत्पन्न होता है और जिसके फलस्वरूप काव्यात्मक अलंकारों की अपनी-अपनी विशिष्टता स्पष्ट हो जाती है।

पृथक्-पृथक् अलंकारों की क्या-क्या सीमाएँ हैं और उनके क्या-क्या लक्षण हैं, इस विषय की सूक्ष्म मीमांसा होने के कारण भी रुय्यक का ग्रंथ बड़ा महत्त्वपूर्ण है, इसमें अलंकारों के लगभग अस्सी मुख्य भेदों का विवेचन है। सरसरी तौर से देखने पर रुय्यक को अलंकार मत का अनुयायी कहा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि रुय्यक की उद्भट के प्रति बड़ी श्रद्धा थी, जैसा कि जयरथ ने सूचित किया है, रुय्यक के पिता तिलक ने उद्भट के ग्रंथ पर 'विवेक' अथवा 'विचार' लिखा था। स्वयं रुय्यक का कथन है (और जयरथ तथा समुद्रबंध ने भी इस बात की पुष्टि की है)[1] कि मैंने चिरंतन आचार्यों के मत का अनुसरण किया है (यथा, चिरंतन-मतानुसृतिः, पृ० 205), जिससे उनका अभिप्राय प्रत्यक्ष रूप में भामह तथा उद्भट के प्राचीन अलंकार-मत से है, किंतु स्वयं उन्होंने इस शास्त्र में हुई उन्नति को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों के मत में यथास्थान परिवर्तन अथवा परिवर्धन किया है। रुय्यक द्वारा उद्भट के 'श्लेष' अलंकार का विवेचन इसका एक नमूना माना जा सकता है। जैसा कि स्वयं रुय्यक तथा उनके टीकाकारों ने कहा है, श्लेष के भेदों तथा संकर अलंकार में श्लेष तथा अन्य अलंकारों के परस्पर संबंध के विषय में मतभेद उद्भट के समय से ही आरंभ हुआ था। रुय्यक ने इस अलंकार के 'शब्द श्लेष' तथा 'अर्थ-श्लेष' (तथा 'उभय-श्लेष') नामक भेदों को स्वीकार किया है और कहा है कि ऐसा भेद-निरूपण 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः' सूत्र को आधार मानकर किया गया है। उन्होंने मम्मट के इस मत का खंडन किया है कि यह भेद-निरूपण 'शब्द-श्लेष' के 'परिवृत्ति-असह' होने के कारण है, जबकि 'अर्थ-श्लेष' परिवृत्ति-सह है। मम्मट का कथन है कि यह निर्धारित करने के लिए कि अमुक अलंकार अर्थाश्रित है अथवा शब्दाश्रित है, 'आश्रयाश्रयिभाव' को छोड़कर 'अन्वय' तथा

---

1. जयरथ ने पृ० 72, 83, 103, 172 इत्यादि पर, रुय्यक द्वारा 'चिरंतनमत' के अनुसरण तथा पृ० 10, 20, 34, 87, 93, 97, 98, 125, 126, 150 इत्यादि पर उद्भट के मत का अनुसरण करने का उल्लेख किया है। रुय्यक ने पृ० 3, 7, 23, 59, 82, 86, 92, 123, 126, 148, 174, 191 इत्यादि अनेक स्थलों पर उद्भट के मत का उल्लेख किया है।

'व्यतिरेक' को ही निकष मानना चाहिए। तथापि, रुय्यक के मतानुसार, 'शब्द श्लेष' वहाँ होता है, जहाँ एक ही पद का भिन्न-भिन्न प्रकार से विच्छेद करने पर भिन्न-भिन्न दो अर्थों का बोध होता हो। जैसा कि शब्दों के स्वराघात के भेद तथा उनके उच्चारण-श्रम से सूचित होता है, उनमें वास्तव में भिन्नता होती है। जिस प्रकार पालिश की गई लकड़ी एक ही वस्तु प्रतीत होती है, यद्यपि वास्तव में उस पर लाख लगी होती है, उसी प्रकार उन शब्दों में भी साम्य अथवा श्लेष दिखाई देता है। जहाँ उक्ति एक ही होती है और उसका स्वराघात तथा उच्चारण-श्रम भी एक ही होता है, किंतु अर्थ दो होते हैं, वहाँ अर्थ-श्लेष होता है, जैसे एक ही वृंत अथवा डंठल से दो फल लगे रहते हैं। जहाँ उपर्युक्त दोनों अवस्थाएँ विद्यमान हों, वहाँ 'उभय-श्लेष' होता है।[1] अन्य अलंकारों में श्लेष की विद्यमानता के विषय में यह प्रश्न उठाया गया है कि श्लेष को (1) सहवर्ती अलंकार से श्रेष्ठ माना जाय तथा फलस्वरूप उस अलंकार के अभाव को स्वीकार कर लिया जाए, अथवा (2) श्लेष को सहवर्ती अलंकार के समान ही शक्तिशाली मानते हुए दोनों के संकर को स्वीकार कर लिया जाए, अथवा (3) श्लेष को अशक्त मानते हुए अन्य अलंकारों का सहवर्ती होने पर उसे प्रधानता न दी जाए।[2] उद्भट ने प्रथम पक्ष को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार जहाँ श्लेष का भाव हो (यथा, उपमा के साथ) वहाँ अन्य अलंकार की 'प्रतिभा' ही होती है, यहाँ वास्तविक अलंकार उपमान होकर श्लेष होता है। रुय्यक ने इस पर आपत्ति की है। मम्मट की तरह से उन्होंने भी कहा है कि ऐसे विरोधी स्थलों पर उपमा के साधर्म्य के कारण उपमा अलंकार की ही सिद्धि होती है, क्योंकि गुण-साम्य अथवा अवस्था-साम्य के रूप में साधर्म्य, सहवर्ती श्लेष द्वारा सूचित शाब्दिक साम्य में विद्यमान रहता है। अतएव, उपमा का प्राधान्य है, गौण रूप में विद्यमान श्लेष उपमा का ही उपकारक है। ऐसे स्थलों पर श्लेष के बिना साधर्म्य का बोध नहीं होता तथा बिना साधर्म्य के उपमा हो ही नहीं सकती। इस प्रकार यदि दोनों अलंकार साथ-साथ हों तथा एक दूसरे के उपकारक रहें तो श्लेष तथा उपमा का 'संकीर्णत्व' सिद्ध होता है।

---

1. विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण किया है, किंतु विद्याधर इस विषय में रुय्यक की व्याख्या से सहमत हैं।
2. जगन्नाथ ने पृ० 393 पर इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है— अयं चालंकारः पायेणालंकारांतरस्य विषयमभिनिविशते, तत्र किमस्य बाधकत्वं स्यादाहोस्वित् संकीर्णत्वमुताहो बाध्यत्वमिति।

रुय्यक अलंकार-मत से प्रभावित रहे हैं, यह इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है, किंतु यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने प्राचीन मत को निर्विवाद स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार मम्मट तथा विश्वनाथ ने क्रमशः वामन तथा रस-विषयक आचार्यों का मतानुसरण किया, उसी प्रकार रुय्यक ने भी प्राचीन आचार्यों के मत का पालन किया है। उनका उद्देश्य परवर्ती आचार्यों तथा प्राचीन आचार्यों के मत में समाधान स्थापित करना था, क्योंकि प्राचीन आचार्यों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। संभवतः इसीलिए उन्होंने वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार के स्वरूप को ग्रहण (अथवा स्वीकार) करते हुए तदनुसार पृथक्-पृथक् अलंकारों की सूक्ष्म मीमांसा की, क्योंकि 'ध्वन्यालोक' में काव्यविद्या के इस अंग पर किया गया विवेचन पर्याप्त नहीं था, किंतु रुय्यक को वक्रोक्तिजीवितकार का अनुयायी नहीं कहा जा सकता,[1] क्योंकि रुय्यक ने स्वयं अपने-आप को ध्वनि-वादी कहा है, इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने उद्भट तथा कुंतक के ग्रंथों में से सामग्री का उद्धरण किया है, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष रूप में अलंकार-वादी भी नहीं कहा जा सकता।

5

विद्याधर तथा विद्यानाथ

मम्मट तथा रुय्यक के पदचिह्नों पर चलनेवाले अधिकांश आचार्यों के लिए अब कोई नया काम नहीं रह गया था। नवीन सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन हो ही चुका था, रचनात्मक कार्य के लिए प्रकट रूप में अब कोई अवसर नहीं बचा था, आलोचना-समालोचना का कार्य भी समाप्तप्राय था। किसी लेखक में ऐसी प्रतिभा भी नहीं थी कि आमूल नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन कर पाता। इसी काल में मुसलमानों के आरंभिक आक्रमण भी हुए, और जैसी संभावना भी थी, इस काल में सभी प्रकार के चिंतन-अनुशीलन का ह्रास हुआ और तदनुसार बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कार्य-क्षेत्र में सर्वतोमुखी पतन हुआ। अनेक परवर्ती शतियों में बहुत से टीकाकार हुए हैं। केवल मम्मट के ग्रंथ पर कम-से-कम सत्तर लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों का एकमात्र काम था पहले से ही प्रतिष्ठापित नियमों की व्याख्या तथा यत्र-तत्र छोटे-मोटे ऐसे विवरण देना, जो पूर्ववर्ती आचार्यों से छूट गए थे। नवीन

1. जैसा कि पृ० 108 पर हरिचंद शास्त्री ने कहा है।

सिद्धांत को सुबोध बनाने तथा उसे नया रूप देने का भी यत्न किया गया और फलस्वरूप विद्याधर की 'एकावली' तथा विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' नामक ग्रंथ प्रकाश में आए। इन ग्रंथों की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें सामग्री का संकलन सुव्यवस्थित रूप में किया गया है। इन ग्रंथों में तथा इनके पश्चात् लिखे गए जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के ग्रंथों में काव्यविद्या की मुख्य समस्याओं पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। अलंकारों का अत्यन्त सूक्ष्म रीति से विश्लेषण ही इन ग्रंथों की एकमात्र विशेषता है। उदाहरणार्थ, विद्याधर ने अपने ग्रंथ की रचना में मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण किया है। इसमें कारिका तथा वृत्ति दोनों ही विद्यमान हैं। काव्यालंकारों के विवेचन में उन्होंने मुख्यतः रुय्यक का अनुसरण किया है।[1] काव्य को ध्वनिप्रधान[2] बताने, काव्य-प्रयोजन का निरूपण करने तथा कवि के आवश्यक गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् उन्होंने प्रथम अध्याय में ध्वनि का प्रतिपादन किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने किंचित् विस्तार से ध्वनि के अस्तित्व को न माननेवाले अर्थात् अभाववादियों तथा भक्तिवादियों के मतों का खंडन किया है। इस विषय में उन्होंने अधिकांशतः 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' से सहायता ली है। दूसरे अध्याय में शब्द तथा अर्थ की तीन वृत्तियों, यथा अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का निरूपण है, तीसरे अध्याय में ध्वनि-काव्य, अर्थात् ऐसा काव्य, जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, का भेद-निरूपण है, इसी प्रसंग में असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के आठ-भेदों के अंतर्गत इसके विभिन्न सिद्धांतों का विवेचन भी किया गया है। काव्य के दूसरे भेद, अर्थात् 'गुणीभूत-व्यंग्य काव्य' का निरूपण चौथे अध्याय में किया गया है। पाँचवें अध्याय में गुणों का लक्षण-निरूपण है, गुणों तथा अलंकारों में परस्पर भेद किया गया है। अध्याय के अंत में रीतियों की चर्चा है और प्रसंगवश तत्संबंधी प्राचीन मत का खंडन तथा मम्मट के पक्ष का सामान्य रूप से समर्थन है। अगले अध्याय में दोषों का निरूपण है, अंतिम दो अध्यायों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की चर्चा है। इसमें सामान्यतः रुय्यक के मत का अनुसरण किया गया है। विद्याधर के

---

1. इस विषय में वे विश्वनाथ, विद्यानाथ इत्यादि आचार्यों से सहमत हैं। उनके 'विचित्र', 'विकल्प' अथवा 'उल्लेख' इत्यादि अलंकारों के लक्षण अवलोकनीय हैं। मम्मट ने इनका उल्लेख नहीं किया है।
2. विद्याधर नें अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 'ध्वन्यालोक' का अनुसरण खूब किया है। उसकी कुछ कारिकाएँ, यथा, अध्याय 1, कारिका 6, 13 इत्यादि 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं की व्याख्य-मात्र हैं।

ग्रंथ के इस संक्षिप्त विषय-वस्तु-विवरण से परवर्ती ग्रन्थों की बिषय-बस्तु तथा उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा अर्थात् उनकी भी रूपरेखा इसी प्रकार है। उनमें भी 'काव्यप्रकाश' के ही विषयों का विवेचन किया गया है, कहीं-कहीं तो उन ग्रंथों के अंतर्गत विभिन्न अध्याय, विषय-वस्तु की दृष्टि से, 'काव्यप्रकाश' के विभिन्न उल्लासों के समान ही हैं।

विद्यानाथ के ग्रंथ का विषय-क्षेत्र अधिक व्यापक है। यह ग्रंथ भी कारिका तथा वृत्ति के रूप में लिखा गया है। इसकी विषय-व्यवस्था कुछ भिन्न है, किन्तु सैद्धांतिक दृष्टि से संभवतः यह अधिक रोचक नहीं है। इसके नौ 'प्रकरणों' में अधिकांशतः विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के दस 'परिच्छेदों' की विषय-वस्तु का ही विवेचन है। विद्याधर की तरह विद्यानाथ ने मुख्यतः मम्मट के ही मत का अनुसरण किया है, किन्तु गुणों के विवेचन में उन्होंने भोज तथा अलंकारों के विवेचन में रुय्यक के मत का पालन करना श्रेष्ठ समझा है। अपने ग्रन्थ की रचना की आवश्यकता के विषय में लेखक ने कहा है कि यद्यपि प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है, तथापि उनमें से किसी ने भी नायक का वर्णन नहीं किया है। क्योंकि किसी भी निबंध का महत्त्व उसके नायक के गुणों के चित्रण पर आश्रित रहता है, अतएव उन्होंने अपने ग्रन्थ के 'नायक-प्रकरण' नामक प्रथम प्रकरण में नायक तथा नायिका के गुणों तथा उनके सहायकों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् 'काव्य-प्रकरण' में उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्यांगों, रसोपकारक वृत्तियों तथा रीतियों, 'शय्या', 'पाक' तथा काव्य के भेदों का सामान्य विवेचन किया है। यह विचित्र बात है कि विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित काव्य का लक्षण (गुणालंकार-सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।) आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण से बहुत मिलता-जुलता है। कुछ परिवर्तित रूप में इसे विद्यानाथ के ग्रन्थ में उक्त स्थल पर उद्धृत किया गया है। विद्यानाथ ने 'शब्द' तथा अर्थ को काव्य का 'शरीर' तथा 'व्यंग्य' को काव्य की 'आत्मा' कहा है। 'गुणों' को सामान्यतः वीरता इत्यादि प्राकृतिक गुणों तथा 'अलंकारों' को कंकण इत्यादि आभूषणों के समान बताया है। रीतियों को 'आत्मोत्कर्षावहाः स्वभावाः' कहा है। शब्द तथा अर्थ की तीन शक्तियों अथवा वृत्तियों की चर्चा करने के पश्चात् उन्होंने पृ० 52 इत्यादि पर 'व्यंजना-वृत्ति' का विवेचन किया है तथा पृ० 77 इत्यादि पर आनुषंगिक रूप से ध्वनि के 5304 भेदों का उल्लेख किया है। तथापि, भोज के मत का अनुसरण करते

हुए उन्होंने 'ध्वनिमत्ता' को 'गांभीर्य' नामक गुण का लक्षण कहा है। 'रचनाया अपि रस-व्यंजकत्वं प्रसिद्धं' अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने रसात्मक ध्वनि पर अलग से विचार किया है। 'नाटक-प्रकरण' नामक तीसरे अध्याय में रूपक पर विचार करते और नाटक को रूपक का सबसे महत्त्वपूर्ण भेद मानते हुए उसकी कथावस्तु का पाँच सधियों में विश्लेषण किया गया है। अधिकांश आचार्यों ने इस विषय की चर्चा नहीं की है यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में यह अध्याय धनंजय के 'दशरूपक' पर आधारित है, तथापि नाट्यविद्या के परवर्ती साहित्य में इसका बड़ा महत्त्व है। इसके अतिरिक्त यह अध्याय इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें रूपक के लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप लेखक के संरक्षक राजा प्रतापरुद्र की प्रशस्ति के रूप में एक आदर्श रूपक भी दिया गया है। 'रस-प्रकरण' नामक अगले अध्याय में रस के स्वरूप तथा रस के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन है। 'दोष-प्रकरण' तथा 'गुण-प्रकरण' अगले दो अध्यायों के नाम हैं। अंतिम दो अध्यायों में शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार-विषयक विवेचन है।

यह विचित्र बात है कि विद्यानाथ ने भोज के मत का अनुसरण करते हुए चौबीस गुणों का उल्लेख किया है। इन दोनों लेखकों ने गुणों के एक-से ही लक्षण बताए हैं। इनमें इन गुणों का उल्लेख किया गया है—(1) श्लेष—अर्थात् शब्द-श्लेष (संधि की असंलक्ष्यता के कारण; श्लेष कर्ण-कटु नहीं होना चाहिए और इसमें समस्थानिक वर्णों का ही प्रयोग होना चाहिए)। (2) प्रसाद—शब्दों का ऐसा चयन, जिससे अभिप्राय का तत्काल बोध हो जाए। (3) समता—शैली की समता (क्योंकि समता प्राय: दोष भी हो जाता है, इसलिए आचार्य मम्मट ने इसे गुण नहीं माना है)। (4) माधुर्य—संधि के न होने पर पृथक्-पदत्व, अर्थात् शब्दों के पृथकत्व के कारण स्पष्टता। (5) सौकुमार्य—कर्ण-सुकुमार वर्ण-प्रयोग के कारण सुकुमारता। (6) अर्थ-व्यक्ति—वाक्य के सभी प्रकार से पूर्ण होने के कारण अर्थ की स्पष्टता। (7) कांति—शैली की चारुता; विद्यानाथ के टीकाकार रत्नेश्वर ने इसकी व्याख्या इन शब्दों में की है—अप्रतिहतपदैरारंभः संदर्भस्यैव कांतिः—'कुसुमस्य धनुः' इति प्रहतं, 'कौसुमं' इत्यप्रहतं, 'गुरुत्वे इति प्रहतं' 'गौरव' इति अप्रहतमित्यादि—अस्ति तु तुल्येऽपि वाचकत्वे पदानां कश्चिदाभ्यंतरो विशेषो यमधिकृत्य किंचिदेव प्रयुंजते महाकवयः, न तु सर्वम्। (8) औदार्य—जहाँ विकट अक्षरों (जगन्नाथ ने इसे 'कठिन वर्ण-संघटना-रूप' कहा है) के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है, मानो पद नृत्य कर

रहे हैं (नृत्यद्भिरिव पदैर्यद्वाक्यरचना) । (9) उदात्त—प्रशंसावाचक शब्द-प्रयोग (तुलना कीजिए, अग्निपुराण 345-9), कुमार स्वामी का कथन है कि उदात्त गुण 'अनुचितार्थ' नामक दोष का अभाव मात्र है। (10) ओज—समास-प्रयोग के कारण सशक्त पद-विन्यास । (11) सौशब्द्य—नाम तथा धातु-रूपों के प्रयोग में कुशलता (तुलना कीजिए, भामह i. 14-15, राजशेखर पृ० 20)। (12) प्रेयस्—प्रिय-वस्तु-कथन (भामह, दंडी तथा कुछ अन्य आचार्यों ने इसे गुण न मानकर अलंकार ही माना है), टीकाकार के कथनानुसार प्रेयस् गुण 'पुरुष' नामक दोष का अभाव मात्र है (ऊपर देखिए, पृ० 15, पादटिप्पणी 3)। (13) और्जित्य—पदविन्यास की संहति ।[1] (14) समाधि—एक वस्तु के गुण-धर्म का अन्य वस्तु पर आरोपण (इसमें दंडी द्वारा प्रतिपादित 'समाधि' के लक्षण की प्रतिध्वनि मिलती है), उदाहरण के लिए एक निर्जीव वस्तु के गुणों का सजीव पर आरोपण (कुंतक ने इसे 'उपचारवक्रता', तथा अन्य आचार्यों से इसे 'रूपक' अलंकार कहा है) । (15) विस्तार—कथित का विस्तृत वर्णन । (16) सम्मितत्व—केवल अर्थ-तुल्य शब्दों का ही प्रयोग, अधिक का नहीं, अर्थात् शब्द तथा अर्थ की तुल्यता (अर्थस्य पदानां च तुलाविधृत्वात्तुल्यत्वेन सम्मितत्वं) । (17) गांभीर्य—ध्वनिमत्ता । (18) संक्षेप । (19) सौक्ष्म्य—अर्थ की सूक्ष्मता । (20) प्रौढ़ि—अर्थ की प्रौढ़ता (प्रौढ़ि गुण आगे दिए गए 'पाक' गुण के अंतर्गत आता है) । (21) उक्ति—उक्ति-लाघव। (22) रीति—शैली की एकरूपता; वाक्य अथवा विषय का जिस शैली में आरंभ किया जाय, उसी में उसे समाप्त भी किया जाए (यह गुण वामन के 'समता' गुण के अनुरूप है) । (23) भाविक—वाक्य-गत भाव के अनुसार (भावतः) वाक्य का विन्यास । (24) गति—दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों के

1. और्जित्य को 'विसंधि' दोष का अभाव कहा गया है। भरत तथा भामह ने भी इस दोष का उल्लेख किया है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—विसंहितो विरूपो वा यस्य संधिः । कुमारस्वामी ने 'विसंहितः' की व्याख्या इस प्रकार की है—'विगता संहिता वर्णानां परस्परसंनिकर्षो यत्र' तथा 'विरूपः' को केवल 'वर्ण-कठोरः' कहा है। अतएव 'संहिता' का अर्थ है वर्णों की ऐसी संहति अथवा घनिष्ठ सान्निध्य, जिससे व्याकरण-सम्मत कर्ण-मधुर पद-विन्यास की सिद्धि हो। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ (क) संधि नहीं होती अर्थात् जहाँ विश्लेष होता है, तथा (ख) जहाँ संधि कर्ण-कठोर अथवा 'कष्ट' होती है । मम्मट ने इसका एक तीसरा रूप भी बताया है (पृ० 331 इत्यादि) जहाँ संधि से किसी अश्लील अर्थ का बोध होता हो । 'प्रतापरुद्र' पृ० 73-75 पर त्रिवेदी की टिप्पणी का अवलोकन करें ।

प्रयोग के कारण सुरम्यता (सुरम्यत्वं स्वरारोहावरोहयो:; यहाँ 'स्वरारोह' का अर्थ 'दीर्घाक्षर-प्रायत्व' बताया गया है; 'स्वरावरोह' इसका विपर्यय है)।[1]

विद्याधर तथा विद्यानाथ ने जिन 'पाक' तथा 'शय्या' सिद्धांतों का उल्लेख किया है, उनका विकास व्यंजना अथवा अभिव्यक्ति की चारुता को महत्त्व दिए जाने के कारण हुआ था। व्यंजना, काव्यात्मक प्रतिभा के आश्रित होती है। काव्य शैली, अलंकार इत्यादि विषयों का विवेचन इसी दृष्टि से हुआ है। 'शय्या' एक प्राचीन शब्द है। वाणभट्ट ने अपने ग्रंथ 'कादंबरी' के एक आरंभिक श्लोक में इस शब्द का प्रत्यक्षत: उक्त अर्थ में ही प्रयोग किया है। अग्निपुराण में 'मुद्रा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विद्याधर तथा विद्यानाथ ने अभिव्यक्ति के विशिष्ट गुण के रूप में इसे और अधिक विकसित किया है। शय्या में शरीर के शयन के समान शब्दों की पारस्परिक उपयुक्तता ही 'शय्या' का लक्षण कहा गया है, यही साम्य शय्या शब्द की व्युत्पत्ति का भी सूचक है। जैसा कि मल्लिनाथ का कथन है, शब्दों की पारस्परिक अथवा अन्योन्य मैत्री इतनी घनिष्ठ होती है कि उनके स्थान पर पर्यायवाचक शब्दों का भी प्रयोग नहीं हो सकता। यह शब्दों का अविकार्यता का सिद्धांत है, जो यथोचित परिवर्तन-सहित फ्लॉवेयर (Flaubert) के अर्ध-प्लेटोनिक सिद्धांत से कुछ-कुछ मिलते-जुलते सिद्धांत का स्मरण करा देता है। वाल्टर पेटर ने इस सिद्धांत का विकास किया था। इसके अनुसार प्रत्येक अर्थ को व्यक्त करने के लिए निश्चित शब्द होता है। पाक-सिद्धांत का इस सिद्धांत से बड़ा साम्य है। 'पाक' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'पक्वता', 'परिपाक' अथवा 'फलन' और यह शब्द आचार्य वामन-जितना प्राचीन है। उन्होंने वैदर्भी रीति से उत्पन्न तथा सहृदय के चित्त को आह्लादित करनेवाले पाक के विषय में कहा है कि इससे शब्द का सौंदर्य बढ़ जाता है और असत् भी सत् प्रतीत होने लगता है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है (i. 3-15) कि 'शब्दपाक' वहाँ होता है. जहाँ पदों का न्यास ऐसा होता है कि उनका उद्धरण नहीं किया जा सकता अर्थात् जहाँ शब्द इस प्रकार चुनकर रखे जाएँ कि उन्हें हटाया न जा सके अर्थात् उनके स्थान पर पर्यायों का प्रयोग न हो सके। परवर्ती आचार्यों ने इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए कहा है कि (1) शब्द-पाक, जैसा कि वामन ने कहा है, शब्द तथा

---

1. अग्निपुराण में इनमें से अधिकांश गुणों का उल्लेख मिलता है, किंतु वहाँ इनके वर्गीकरण तथा स्वरूप लक्षण में कुछ भिन्नता है। अध्याय 3.5 का अवलोकन करें तथा ऊपर पृ० 183 भी देखें।

अर्थ की अन्योन्य मैत्री पर आश्रित अभिव्यक्ति की परिपक्वता का द्योतक है, तथा (2) अर्थ-पाक के अनेक भेद होते हैं और इसका परिपाक विभिन्न काव्यात्मक रसों के आस्वादन के फलस्वरूप होता है। राजशेखर के कथनानुसार मंगल के मत में 'पाक' केवल 'सौशब्द्य' अथवा 'तिङां सुपां च व्युत्पत्तिः' (संज्ञा तथा क्रिया-प्रयोग में कुशलता, भामह i. 14-15 से तुलना कीजिए) है। विद्याधर ने केवल उपर्युक्त 'अर्थपाक' को ही स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने अन्य सिद्धांतों का भी उल्लेख किया है, जिनमें 'पाक' को 'पद-व्युत्पत्ति' (मंगल के मतानुसार) अथवा 'पद-परिवृत्तिवैमुख्य' (वामन के मतानुसार) कहा गया है। विद्यानाथ ने इसी 'पद-परिवृत्ति-वैमुख्य' को 'शय्या' कहा है और अर्थगांभीर्य को पाक का लक्षण बताया है। भोज ने इसे 'प्रौढ़ी' बताते हुए 'शब्द गुण' के रूप में इसका उल्लेख किया है।

इस विषय पर राजशेखर द्वारा की गई पूर्ववर्ती आचार्यों की मत-चर्चा (पृ० 20) बहुत रोचक तथा उल्लेखनीय है। आचार्यों के प्रश्न 'पाक क्या है?' के उत्तर में मंगल ने कहा है, 'पाक परिणाम है।' आचार्यों का प्रश्न है, 'परिणाम क्या है?' मंगल का उतर है, 'संज्ञा तथा क्रिया के प्रयोग में कुशलता परिणाम है।' अतएव पाक, 'सौशब्द्य' है। आचार्य का कथन है कि शब्दों के प्रयोग में स्थिरता ही पाक है। वामन का कथन है (i. 3-15) कि 'जब तक मन स्थिर नहीं होता, तब तक पद अथवा शब्द का आधान (रखना) तथा उद्धरण (हटाना) होता रहता है, स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हो जाती है (अर्थात् रचना सफल हो जाती है)। अतएव वामन के मतानुयायियों का कथन है, 'जहाँ पद परिवृत्तिसहिष्णुता को त्याग देते हैं, वही 'पाक' (अवस्था) है।' अतएव यह कहा गया है (वामन, वही)—'शब्दन्यास-निष्णात (शब्द के प्रयोग में निपुण) विद्वानों ने 'शब्दपाक' उसे कहा है, जहाँ शब्द (पर्याय द्वारा) परिवर्तन की सहिष्णुता को त्याग देते हैं।' किंतु अवंतिसुंदरी का मत है कि शब्दों की यह अशक्ति 'पाक' नहीं है। एक ही विषय को लेकर महाकवियों के विभिन्न (अनेक) पाठों में परिवक्ता होती है, अतएव रसोपयुक्त शब्द तथा अर्थ-बद्ध रचना ही पाक है। अतएव यह कहा गया है—'मेरे मतानुसार 'वाक्य पाक' वह है, जहाँ गुण, अलंकार, रीति तथा उक्ति के अनुसार शब्द तथा अर्थ का सरस गुंफन किया गया हो।' तथा 'वक्ता भी है, किंतु शब्दामृत का प्रवाह कहीं नहीं है।' अतएव यायावरियों ने कहा है--'कार्य से अनुमेय होने के कारण पाक का बोध शब्द से होता है, इसलिए इसका स्थान अभिधा के अंतर्गत ही है; अतएव पाक सहृदय द्वारा अनुमोदित प्रयोग के आश्रित है।'

उपर्युक्त शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने इस बात को स्वीकार किया है कि पाक का बोध मुख्य रूप से शब्द द्वारा ही होता है, और 'सौशब्द्य' अथवा 'शब्द-व्युत्पत्ति' के अर्थ में पाक, मुख्यतः 'अभिधा' के ही अन्तर्गत है, किन्तु यह 'सहृदय' द्वारा अनुमोदित अथवा अंगीकृत अर्थ के ही आश्रित है। इस सन्दर्भ में यह कहना समीचीन रहेगा कि 'रस' शब्द के समान 'पाक' शब्द की व्युत्पत्ति से मौलिक आस्वादन का बोध होता है, जिसे आलंकारिक रूप में फलों के पाक अथवा परिपक्वता के समान बाताया गया है। क्योंकि विविध परिपक्व फलों के विविध रस होते हैं, अतएव कुछ आचार्यों ने इस सादृश्य को ध्यान में रखते हुए विविध पाकों का भेद-विवेचन विविध फलों के नाम पर किया है। वामन ने ऐसे दो प्राचीन श्लोकों (ii. 2-15 के अन्तर्गत) को उद्धृत किया है, जिनमें 'वृतांक-पाक' का वर्णन है। विद्यानाथ ने दो प्रकार के पाक का उल्लेख किया है, (1) द्राक्षा-पाक, अर्थात् द्राक्षा अथवा अंगूर का पाक, जहाँ रस, बाहर-भीतर, दोनों ओर प्रवाहित होता है, तथा (2) नारिकेल-पाक, जो बाहर तो नीरस, किन्तु भीतर सरस होता है। रत्नेश्वर ने अपनी टीका में 'सहकार'-पाक, 'वार्ताक'-पाक तथा 'नीलकपित्थ'-पाक नामक विभिन्न पाकों का उल्लेख किया है। राजशेखर ने नौ प्रकार के फलों के नाम पर नौ प्रकार के पाकों का उल्लेख किया है (पृ० 20-21) पिचुमंद (निंब), बदर, द्वीका, वार्ताक, तिंतिडी, सहकार, क्रमुक, त्रपुस तथा नारिकेल।

●

अध्याय : 18

नई विचारधारा के कुछ परवर्ती लेखक

1

हेमचंद्र और वाग्भट (द्वय)

इस संदर्भ में तीन जैन लेखकों—हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम तथा वाग्भट द्वितीय—का सहज ही उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु उनके लिए कुछ विशेष कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' से जो कि सूत्र और वृत्ति पद्धति से लिखा गया है, तथा उस पर उनकी 'विवेक' नामक टीका[1] से उनके व्यापक पांडित्य का पता लगता है। आठ अध्यायों में लिखा गया यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र की एक संक्षिप्त दीपिका है। किन्तु इसमें मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में कहीं भी कोई मौलिकता या स्वतंत्र चिन्तन सम्बन्धी ध्यान देने योग्य कोई विशेषता[2] दिखाई नहीं पड़ती। यह ग्रन्थ मुख्यतया एक

1. इसके मंगल श्लोक के आधार पर सूत्र अंश को 'काव्यानुशासन', वृत्ति अंश को 'अलंकार चूड़ामणि' और संक्षिप्त टीका को, जिसमें वृत्ति की व्याख्या की गई है, 'विवेक' कहा जा सकता है।
2. हेमचंद्र ने काव्यालंकारों का जैसा विवेचन किया है, वह बहुत कुछ विलक्षण है। उन्होंने छः शब्दालंकार बतलाए हैं, जैसे—अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास। अर्थालंकारों की संख्या भी बहुत कम कर दी है। और उन्हें 29 तक सीमित कर दिया है, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याज,-स्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, सन्देह, अपह्नुति, परावृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रांति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या कर्णमाला और संकर। उन्होंने को संसृष्टि संकर के अंतर्गत माना है और अनन्वय तथा उपमेयोपमा को उपमा के भेद बतलाया है। इसी प्रकार 'अप्रस्तुत प्रशंसा' को अन्योक्ति के अन्तर्गत दिखलाया है। अन्य सभी अलंकार जैसे रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् और समाहित, जिनमें रस और भाव का स्पर्श है, छोड़ दिए गए हैं; क्योंकि ये गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य के अन्तर्गत आ जाते हैं (मम्मट का भी ऐसा ही मत है)। हेमचंद्र ने परिकर, यथासंख्य, भाविक, उदात्त, आशीष और प्रत्यनीक का वर्णन नहीं किया है। इसका कारण

संकलन[1] है। हेमचंद्र ने अधिकांश मान्यताप्राप्त परिभाषाओं का न केवल शब्दशः पदान्वय किया है और मम्मट के अधिकांश दृष्टांत-उद्धरणों को निस्संकोच प्रस्तुत किया है, बल्कि उन्होंने बड़ी संख्या में ध्वन्यालोक और लोचन, अभिनव भारती, वक्रोक्तिजीवित, राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा तथा अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थों से प्रकट और अप्रकट रूप में अनेक प्रसंग भी उद्धृत किए हैं। इसमें संदेह नहीं कि हेमचंद्र ने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी एक अध्याय जोड़ा है, जिसकी विषय-वस्तु मुख्यतः भरत तथा अन्य आचार्यों ने संकलित की थी, किन्तु ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलंकार के सिद्धांतों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों तथा बिना कुछ समीक्षा किए मम्मट से ले लिया है। हाँ, टीका में उन्होंने अवश्य ही इन विषयों पर अन्य लोगों के मतों से उद्धरण लेकर मम्मट के कथनों की पूर्ति की है। यद्यपि उन्होंने यह वृत्ति 'चकारो निरलंकार-योरपि शब्दार्थयोः क्वचित् काव्यत्व स्थापनार्थाः, जोड़ा है, किन्तु 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सालंकारो च' रखकर मम्मट द्वारा दी गई वाक्य की अपूर्ण परिभाषा को, संशोधित करने का प्रयास करके शास्त्रीय दृष्टिकोण से अपने को आक्षेप का अधिक पात्र बना लिया है।

यद्यपि प्रथम और द्वितीय वाग्भटों ने मम्मट के मूलपाठ का पर्याप्त उपयोग किया है (वाग्भट द्वितीय ने हेमचंद्र के पाठों से विशेष रूप से प्रसंग लिए हैं), किन्तु उन्होंने ध्वनि को स्वीकार नहीं किया है और इस सन्दर्भ में उन्होंने प्राक्-

---

उन्होंने पृ० 292-94 पर दिया है। फिर भी हेमचंद्र ने कुछ अलंकारों का वर्णन ऐसे व्यापक रूप में किया है कि उनमें कुछ प्रतिष्ठित अलंकार भी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ उनके दीपक के अन्तर्गत तुल्ययोगिता अलंकार आ जाता है। परावृत्ति के अन्तर्गत मम्मट द्वारा वर्णित पर्याय और परवृत्ति आ जाते हैं और निदर्शन के अंतर्गत दूसरे लेखकों द्वारा वर्णित प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और निदर्शना भी आ जाते हैं।

1. हेमचंद्र कृत काव्यानुशासन के आठ अध्यायों में निम्नलिखित विषय आते हैं: (i) काव्य का प्रयोजन, इसका हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, काव्य की परिभाषा, शब्द और अर्थ की प्रकृति—अभिधार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ; (ii) रस और इसके अंग; (iii) पद, वाक्य, अर्थ और रस के दोष; (iv) मम्मट के अनुकरण पर स्वीकृत तीन गुण और उनको उत्पन्न करनेवाले वर्ण; (v), छह शब्दालंकार; (vi) इक्कीस अर्थालंकार; (vii) नायक और नायिका; (viii) काव्य के भेद—दृश्य और श्रव्य, उनकी विशेषताएँ तथा उपभेद।

ध्वनि विचारधारा के आचार्यों का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ दंडी को प्रमाण मान लेने के कारण उनके कथन को और भी बल प्राप्त हुआ है। द्वितीय वाग्भट ने रुद्रट के कुछ विलक्षण अलंकारों को भी स्वीकार किया है, किन्तु नई विचारधारा का उन पर जो अचूक प्रभाव पड़ा है, उसके कारण हम उन्हें अलंकार और रीति संप्रदायों से सीधे संबद्ध नहीं कर सकते। प्रथम वाग्भट ने काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है :—

साधु शब्दार्थ सदर्भ गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥

द्वितीय वाग्भट ने, जिनका ग्रन्थ हेमचंद्र के ग्रन्थ की भाँति सूत्र और वृत्ति पद्धति में लिखा गया है, हेमचंद्र द्वारा मम्मट की परिभाषाओं में किए गए संशोधनों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार काव्य की कसौटी यह है कि उसके शब्द और अर्थ में गुण, अलंकार, रीति और रस अवश्य विद्यमान होने चाहिए, किन्तु इन तत्त्वों का उल्लेख समीक्षा के लिए न होकर सार-तत्व के रूप में होना चाहिए। प्रथम वाग्भट ने प्राचीन लेखकों द्वारा वर्णित दस गुणों को निस्संकोच स्वीकार कर लिया है, किन्तु द्वितीय वाग्भट ने मम्मट का अनुकरण करते हुए उन्हें तीन में ही सम्मिलित कर दिया है और उस पर इस प्रकार तीखी टिप्पणी की है :—

इति दंडी-वामन वाग्भटादि प्रणीता दश काव्य गुणाः,
वयं तु माधुर्योजाः प्रसाद लक्षणान् त्रीन् एवं गुणान् मन्यामहे।

द्वितीय वाग्भट ने रस को काव्य की आत्मा[1] बतलाया है, किन्तु हेमचन्द्र तथा अन्य आचार्यों के आधार पर विभिन्न रसों का वर्णन करने के अतिरिक्त उन्होंने इस प्रश्न के सैद्धांतिक पहलु का स्पर्श नहीं किया है और न तो रस के संदर्भ में काव्य के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक संबंध का ही संकेत दिया है। सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि-सिद्धांतवादियों ने समझौते का जो मार्ग निकाला है, उसे दोनों ही स्वीकार नहीं करते। द्वितीय वाग्भट ने भामह और उद्भट के अनुकरण पर ध्वनि को, विशेषकर पर्यायोक्त के अन्तर्गत, निविष्ट किया है और उस पर यह टिप्पणी भी की है—एवमादि भेदैर्ध्वनि-

1. दोषमुक्तं गुणयुक्तं अलंकारभूषितं शब्दार्थ-रूप-उक्तं काव्य-शरीरं, परं तत् त्वप्राणिशरीरम् इव निरात्मकं न प्रतिभासते, अतः काव्यस्य प्राणभूतं आह (अध्याय 5, पृ० 53)

तोक्तिर्भवति, परं ग्रंथ-गौरवभयाद् अस्माभिर्नोदाहृयते, स प्रपंचस्त्वानंदवर्धनात् अवगंतव्यः (पृ० 37)।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन अनुशासनों का उद्देश्य (यद्यपि उनमें जैनमत संबंधी कोई भी बात नहीं है) विषय का लोकप्रिय सारांश प्रस्तुत करता है। वे किसी विशेष संप्रदाय या पद्धति से संबंधित नहीं हैं, बल्कि उनमें सार-संग्रह की भावना से परंपरागत धारणाओं का अनुकरण किया गया है। मुख्य सिद्धांत के प्रकाश में वे समीक्षात्मक रूप में क्रमबद्ध नहीं किए गए हैं। इस रूप में उनमें तथा अग्निपुराण के अलंकार भाग और भोजकृत सरस्वती-कंठाभरण में काफी समानता है। उपर्युक्त प्रथम वाग्भट ने भोज द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।

'वाग्भटालंकार' के पाँच परिच्छेदों की विषय-वस्तु निम्नलिखित है—(1) काव्य की परिभाषा; काव्य के स्रोत—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास; काव्य-रचना के अनुकूल परिस्थितियाँ और काव्य-रुढ़ियाँ या कवि-सम, (2) काव्य की भाषा (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत भाषा); काव्य के रूप (छंदबद्ध और छंदविहीन, पद्य, गद्य और मिश्र अर्थात् गद्य-पद्य मिश्रित छंदों के रूप में इसके भेद; क्रमशः पद और वाक्य के आठ दोष और (3) दस गुण, (4) चार शब्दालंकार, दो रीतियाँ—वैदर्भी तथा गौडी, (5) नव रस, नायक-नायिका भेद तथा आनुषंगिक विषय। द्वितीय वाग्भट का 'काव्यानुशासन' वाग्भटालंकार से (जो कि सामान्यतया अनुष्टुप् छंद में लिखा गया है और जिसमें केवल एक स्थल पर अर्थात् iii. 14 ये गद्यांश आया है) भिन्न है। यह ग्रंथ हेमचंद्रकृत काव्यानुशासन की सूत्र और वृत्ति शैली में लिखा गया है। यह भी पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिनके विषय निम्नलिखित हैं:—(1) काव्य का प्रयोजन और हेतु (प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास), इसके भेद—पद्य-गद्य और मिश्र, काव्य साहित्य का वर्गीकरण—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा,—चंपू और रूपक; (2) सोलह पद-दोष, चौदह वाक्य-दोष और चौदह अर्थ-दोष, वामन और दंडी द्वारा वर्णित दस गुणों का तीन गुणों में अंतर्भाव, जैसे माधुर्य, ओज और प्रसाद; तीन रीतियाँ—जैसे वैदर्भी, गौडी और पांचाली; (3) तिरसठ अर्थालंकार, जिनमें रुद्रट द्वारा वर्णित कुछ पुराने अलंकारों को भी स्थान दिया गया है; (4) छह शब्दालंकार, जैसे चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास, (5) नव रस, नायक-नायिका-भेद और रस के दोष।

2

जयदेव, अप्पय्य और जगन्नाथ

अब तक हमने ध्वनि-काल के उत्तरवर्ती उल्लेखनीय लेखकों का वर्णन प्रायः समाप्त कर लिया है। कवि-शिक्षा संप्रदाय और शृंगार रस के लेखक कई बातों में इनसे भिन्न हैं, अतः हम आगे के अध्यायों में इनका पृथक् वर्णन करेंगे। किंतु ध्वनि-परवर्ती लेखकों के उपर्युक्त वर्णन से यह नहीं समझना चाहिए कि उस काल के विद्वत्तापूर्ण कार्य-कलापों का असामान्य वैभव इतना ही था। टीकाकारों और मूलग्रंथ लेखकों की संख्या बढ़ती ही गई, और प्रथम खंड[1] में दिए गए नामों पर एक दृष्टि डालने से यह ज्ञात भी हो जायगा कि उनके कार्य-कलाप किस सीमा तक फैले हुए थे। किंतु जगन्नाथ-रचित 'रसगंगाधर' को छोड़कर, जिसका विवरण देकर हम अपना विवेचन समाप्त करेंगे, इन परवर्ती ग्रंथों में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं है, जिसका पृथक् और विस्तृत वर्णन देना आवश्यक हो। केशव मिश्र रचित 'अलंकारशेखर' या अच्युतराय लिखित आधुनिकतर 'साहित्यसार'[2] से भी, जो कि सुगम और सुंदर संग्रह हैं तथा जो औसत ग्रंथों से उच्चतर भी हैं, हमारे ज्ञान में कुछ वृद्धि नहीं होती।

केशव मिश्र ने (अन्य ग्रंथकारों के अलावा) अधिकतर मम्मट और द्वितीय वाग्भट का अनुकरण किया है। उनका कहना है कि उनका ग्रंथ किसी अलंकार-विद्या-सूत्रकार भगवान शौद्धोदनि-रचित कारिकाओं पर आधारित है (देखिए खंड 1 पृ० 203 इत्यादि): किंतु इससे न तो किसी सिद्धांत का प्रतिपादन होता है और न किसी नई पद्धति की ही स्थापना होती है। फिर भी कुछ ऐसे मत हैं, जो ग्रंथ के लिए विलक्षण हैं, उनमें से मुख्य यह है कि इसमें रस को काव्य का सार तत्व (आत्मा) माना गया है। यह ग्रंथ आठ रत्नों में विभक्त है, जिनमें बाईस मरीचियाँ हैं। प्रथम रत्न में, 'रसादिमत् वाक्य' के रूप में काव्य की परिभाषा दी गई है और 'प्रतिभा' इत्यादि को इसके हेतु माना गया है। तीन रीतियों, जैसे 'वैदर्भी', 'गौड़ी' और 'मागधी' (जिनकी परिभाषा समासों के प्रयोग के संदर्भ में की जाती है) और उक्ति (4 भेद) के विवेचन के पश्चात् इसमें तीन वृत्तियों, जैसे शक्ति (अभिधा), लक्षणा और व्यंजना का विवेचन

---

1. देखिए खंड 1 अध्याय 10, पृ० 247-303—सामान्य ग्रंथकारों-टीकाकारों के लिए प्रत्येक लेखक के नीचे दी गई पुस्तक-सूची देखिए।

2. इस ग्रंथ की विषय-वस्तु के सारांश के लिए, देखिए खंड 1, पृ० 248.

किया गया है। इसके पश्चात् दोष-रत्न है, जिसमें शब्द और अर्थ के आठ-आठ दोषों और वाक्य के बारह दोषों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में, जिसे गुण रत्न कहा गया है, शब्द की पाँच विशेषताओं का वर्णन है (जैसे संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि)। इसके पश्चात् ऐसे प्रसंगों/प्रकरणों का वर्णन है, जहाँ उपर्युक्त दोष कभी-कभी गुण बन जाते हैं। ग्रंथ के इस भाग पर भोज के मत का प्रभाव स्पष्ट है। इसके पश्चात् अलंकार-रत्न हैं, जिसमें आठ शब्दालंकारों (चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक) और केवल 14 अर्थालंकारों (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व = मम्मट वर्णित असम्मति, विशेषोक्ति और विभावना) का उल्लेख है। इसके पश्चात् एक विचित्र अध्याय है, जिसका नाम है 'वर्णक रत्न'। उसमें ऐसे उपर्युक्त उपमानों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो किसी सुन्दरी की मुखाकृति, उसकी केश राशि, ललाट, भौंह इत्यादि का वर्णन करने में प्रयुक्त होते हैं। कवियों को नायक की शारीरिक विशेषताओं का वर्णन कैसे करना चाहिए, इसके सम्बन्ध में इसमें बहुत से व्यावहारिक सुझाव दिए गए हैं, ऐसे शब्दों का उल्लेख किया गया है, जो समरूपता के विचारों को प्रकट करते हैं; कवि-समयों, वर्ण्य-विषयों (जैसे राजा, रानी, महानगर, नगर, नदी इत्यादि) और उनके वर्णन की रीति का विस्तृत विवरण दिया गया है, प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के वर्णों, ऐसे शब्दों का प्रयोग जो एक से एक हजार तक की संख्या का बोध कराते हैं, कुछ शब्द-कौशल, जैसे भाषा-सम (जहाँ कोई छन्द संस्कृत और प्राकृत में एक-जैसा पढ़ा जाता है), समस्या-पूर्ण, नव-रस, नायक-नायिका भेद, विभिन्न भाव, रस-दोष और प्रत्येक रस के अनुकूल शब्दों का संयोजन इत्यादि विषयों का भी इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है।

जयदेव का चंद्रालोक[1] निश्चय ही एक लोकप्रिय अनुशासन है। किन्तु यद्यपि इसका प्रतिपादन अत्यन्त स्पष्ट और संक्षिप्त रूप से किया गया है और इसके उदाहरण भी अत्यन्त उपयुक्त हैं, फिर भी यह एक सुबोध सार-संग्रह होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें काव्यालंकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो पुस्तक के लगभग आधे भाग को घेरे हुए है।

चंद्रालोक में दस गुणों और एक सौ अलंकारों का वर्णन है। विचित्र बात

---

1. **इसकी विषय-वस्तु के लिए देखिए खंड 1, पृ० 184.**

यह है कि तीसरे अध्याय में ऐसे लक्षणों का वर्णन है, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र संबंधी प्रकरणों को छोड़कर (जैसा कि विश्वनाथ ने किया है) अन्य प्रसंगों में परवर्ती लेखकों ने नहीं किया है। भरत के 36 लक्षणों (अध्याय xvi. 6-39 देखिए पीछे, पृ० 5-7) के अतिरिक्त जयदेव ने केवल दस की परिभाषा और उदाहरण दिए हैं, जैसे प्रभावशाली अर्थ व्यक्त करने के लिए अक्षरों का संयोजन (अक्षर संहति) विशेषताओं का संकेत करके दोष-निषेध करना (शोभा), ऐसा पर्यालोचन करना, जिससे अभिमान का निराकरण होता है, अन्य संभावित विकल्पों को अस्वीकार कर किसी उक्ति का निर्धारण (हेतु), सुस्थापित कारणों की अवहेलना (प्रतिषेध), किसी संज्ञा का सही और कल्पित (शुद्ध और अशुद्ध) रूप में निर्वचन (निरुक्त), जहाँ किसी प्रस्ताव के प्रधान और मध्य पद लुप्त हों, वहाँ किसी मिथ्या गुण का आरोप (मिथ्या-अध्यवसाय), किसी सुविख्यात विषय से पूर्ण समानता दिखाकर किसी विषय के गौरव की पुष्टि करना (सिद्ध), दो विभिन्न अर्थों के अन्तर द्वारा किसी विशेष गुण की स्थापना करना (युक्ति), किसी कार्य या घटना द्वारा किसी फल की प्राप्ति (फल)। विश्वनाथ ने अपने लक्षणों में 33 नाट्यालंकारों को जोड़ा है, जिनकी संख्या भरत के अनुकरण पर 36 बताई गई है, किन्तु वे पूरी तरह भरत के लक्षणों के अनुरूप नहीं हैं, क्योंकि उनमें से पीछे के कुछ विश्वनाथ के नाट्यालंकारों के अन्तर्गत भी आते हैं। इन दोनों संप्रदायों में किसी विचारणीय या मान्य सिद्धांत के आधार पर भेद नहीं किया जा सकता और यद्यपि विश्वनाथ ने परंपरागत गणना-शैली का अनुपालन नहीं किया है, किन्तु अन्त में उन्होंने यह टिप्पणी भी दी है :—

एषां च लक्षणानां नाट्यालंकारणां एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशः गड्डलिका प्रवाहेण।

इस तरह लक्षणों के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बातें पाते हैं—

गुणों और अलंकारों का सम्मिश्रण, चामत्कारिक भाव पैदा करने के लिए अक्षरों को सामासिक रूप में संयोजित करना, श्लेष द्वारा अल्प-प्रसिद्ध भाव को प्रकट करने के लिए अधिक प्रसिद्ध भाव का प्रयोग करना, सादृश्य और उदाहरण का उपयोग, अदृष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए संक्षेप में किसी तर्क का उद्धरण देना, जिस पदार्थ की प्रकृति स्पष्ट न हो उसके संबंध में संशय का भाव प्रकट करना, प्रकृति के व्यावहार के अनुरूप किसी पदार्थ के प्रति आशंका करना, अभिव्यक्ति को किसी अर्थ के अनुकूल बनाना, अग्राह्य विचारों के खण्डन के लिए स्वीकृत तथ्यों का उद्धरण, सादृश्य से किसी अमूर्त भाव या तथ्य की कल्पना करना, किसी भाव

की कुछ विशेषताओं के आधार पर उस भाव का अनुमान लगाना, किसी ऐसे तथ्य का, जो इंद्रियग्राह्य न हो, तर्क द्वारा पता लगाना, समय और स्थान के अनुरूप किसी विषय का वर्णन करना, शास्त्र-सम्मत विचारों का कथन, किसी के गुणों के विपरीत कार्यों का संकेत, किसी वस्तु में सामान्य गुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों का आरोप करना, शाब्दिक अर्थ के संकेत द्वारा सुप्रचलित अर्थों में से किसी विशेष अर्थ को अलग करना, किसी पूर्वस्थापित धारणा की पुनरावृत्ति, किसी लक्ष्य विषय की प्रशंसा करते समय विभिन्न विषयों का उल्लेख करना, आवेश में आकर, अनजाने में किसी निष्कर्ष में परिवर्तन, कथन या कार्य द्वारा दूसरों के विचारों का अनुपालन, स्नेहपूर्ण शब्दों द्वारा किसी को फुसलाना, किसी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों का क्रमिक रूप में कथन, किसी भिन्न दृष्टिकोण का उल्लेख करके एक दृष्टिकोण के संबंध में सुझाव देना तथा उसे सशक्त बनाना, निंदा करना, सम्मानपूर्ण जिज्ञासा, वर्ण्य व्यक्ति या वस्तु की प्रशंसा में प्रसिद्ध व्यक्तियों या वस्तुओं के नामों का प्रयोग करना, बाह्य रूप में एक-जैसी दिखनेवाली वस्तुओं में भ्रामक एकरूपता दिखाना और परिणामस्वरूप विरोध का अवसर पैदा करना, दूसरे की सेवा के लिए अपने को समर्पित करना, चाटुकारितापूर्ण कथन, किसी ऐसे अर्थ को प्रकट करने के लिए, जो सीधा अभीष्ट न हो, किसी तुलना का प्रयोग करना, अभिलाषा की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति, आवेष्टित प्रशंसा और आनंदप्रद शब्दों में कृतज्ञता का ज्ञापन ।

नाट्यालंकारों के अंतर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

आशीर्वाद, शोक, प्रवंचना, क्षमारहित प्रवृत्ति, प्रगल्भतापूर्ण अभिव्यक्ति, किसी संकल्प या उत्तम प्रयोजन की अभिव्यक्ति, परिहास, किसी आकर्षक लक्ष्य की प्राप्ति की अभिलाषा, निंदा के कारण क्षोभ, किसी भूल के कारण लक्ष्य के अप्राप्त होने पर पश्चात्ताप, किसी तर्क का प्रयोग, किसी लक्ष्य के लिए अभिलाषा करना, अनुरोध, अवांछित कार्य का प्रारंभ, किसी प्रयोजन का उल्लेख, उत्तेजना, निंदा, शास्त्रों का अनुपालन, सामान्य सम्मति का उद्धरण देकर गुप्त रूप से प्रताड़ित करना, वर्णन, प्रार्थना, क्षमा, उपेक्षित कर्त्तव्य का स्मरण दिलाना, पूर्व वृत्त का स्मरण, तर्क द्वारा किसी कार्य का निर्धारण, अत्यानंद और अनुदेश ।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि लक्षणों और नाट्यालंकारों का विभाजन न केवल एक दूसरे से मिला-जुला है, बल्कि उनमें विस्तार से व्याख्या

की पद्धतियों का विवेचन हुआ है और ऐसे प्रयोग दिए गए हैं, जो अन्य लेखकों की दृष्टि में विशिष्ट अलंकार अथवा कथन-शैली के गौरव माने जाते हैं, जो रस और भाव के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। इस तथ्य को दंडी ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया है और उन्होंने व्यापक अर्थ में लक्षणों को अलंकारों के अंतर्गत माना है। धनंजय ने भी ऐसा ही किया है, किंतु वे यह भी मानते हैं कि उनमें से कुछ रस और भाव के अंतर्गत आते हैं। अतः विश्वनाथ ने उन्हें गुण, अलंकार, भाव और संधि के अंतर्गत दिखाया है, किंतु उनका विवेचन केवल नाटक के संबंध में किया है। परवर्ती काल के साहित्य में, जिससे अंततः वे लुप्त हो गए हैं, व्यवहारतः उनकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती। उनके कार्य काव्य के अन्य मान्य तत्वों को सौंप दिए गए हैं।

अप्पय्य दीक्षित के तीन सुप्रसिद्ध अनुशासन[1], जिनमें से एक प्रत्यक्षतः जयदेव के ग्रंथ और विश्वेश्वर के अलंकार कौस्तुभ[2] पर आधारित है, उल्लेखनीय ग्रंथ हैं; क्योंकि उनमें काव्यालंकारों का विस्तृत विवेचन हुआ है और उनमें विशेषताएँ भी हैं, किंतु वे वस्तुतः प्राथमिक पाठ्यग्रंथ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर भी वे अत्यंत उत्तम सार-ग्रंथ हैं, जिनमें विषयसंबंधी पूर्व धारणाएँ क्रमपूर्वक लिपिबद्ध की गई हैं। उत्तरकाल के साधारण लेखकों द्वारा वर्णित विषयों के लक्षणों में इतनी एकरूपता है, प्रतिपादन में इतनी नीरसता है और रूढ़ वाक्यांशों में रूढ़ विषयों की ऐसी पुनरावृत्ति है कि इनके कार्यों का वर्णन करने में समय लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। महान् काश्मीरी लेखकों का कार्य पूरा हो चुका था, और यद्यपि परवर्ती कार्य-कलापों में बंगाल और दक्षिण के लेखकों का महत्व बढ़ चला था, किंतु अब तक वस्तुतः मौलिक और विचारपूर्ण लेखकों का युग बीत चला था। इसके पश्चात् टीकाकारों, भाष्यकारों और समालोचकों का युग आया (उनमें से कुछ बड़े ही योग्य और परिश्रमी थे)। यह युग तब तक रहा, जब तक महान लेखकों की कृतियों का समालोचनात्मक विस्तार करने, समझने और व्याख्या करने की आवश्यकता बनी रही। किंतु कालांतर में यह भी अनावश्यक हो गया और सामान्य जनता के लिए बोधगम्य छोटे-छोटे और सरल सारग्रंथों के लिखने के अलावा और कुछ

1. देखिए खंड 1, पृ० 206-8.

2. देखिए खंड 1, पृ० 290, इस ग्रंथ में, जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है, पूर्णतया काव्यालंकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें स्वतंत्र रूप से जिन अलंकारों का विवेचन किया गया है, उनकी संख्या 76 है।

करने को शेष नहीं रहा । अधिकांश संप्रदायों के पतनकाल में अनेक सारग्रंथ तथा सारग्रंथों पर सारग्रंथ लिखे गए । किंतु यह वह काल था, जिसमें पतनोन्मुखी ध्वन्योत्तर संप्रदाय की भी, जिसके प्रतिनिधि मम्मट थे, वही परिणति हुई। इतना ही पर्याप्त नहीं था। इन संप्रदायों के ध्वंसावशेष पर सार-संग्रह-कारिता की भावना पैदा हुई, जिसका प्रारंभिक संकेत हमें प्राचीन रस, अलंकार और रीति-संप्रदायों के पतन के पश्चात् भोज और वाग्भट के ग्रंथों से मिल चुका था। उसके पश्चात् हमें गुटके प्राप्त होते हैं, जो किसी सिद्धांत या पद्धति पर आधारित नहीं होते, बल्कि जो प्रत्यक्षतः सामान्य जनता को जानकारी देने के लिए लिखे जाते हैं। अब यह माना जा सकता है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न पद्धतियों ने बहुत अच्छी तरह से अपना जीवन-यापन किया और अंत में वे अपने स्वाभाविक अवसान को प्राप्त हुईं ।

3

जगन्नाथ

जगन्नाथ प्रणीत 'रसगंगाधर' काव्य-शास्त्र का अंतिम महत्वपूर्ण ग्रंथ है। किंतु इस ग्रंथ में संपूर्ण विषय का विवेचन नहीं हुआ है, क्योंकि ग्रंथ का जो अंश प्राप्त है, वह लेखक द्वारा प्रारंभ में बनाई गई रूपरेखा का केवल $\frac{2}{5}$ हिस्सा है। अतः यह ग्रंथ दुर्भाग्यवश अपूर्ण रूप से प्राप्त है और इसके भी लगभग तीन चौथाई भाग में तथा संपूर्ण 'चित्रमीमांसा-खंडन' में काव्यालंकारों का विवेचन और उनके दृष्टांत दिए गए हैं। जैसा कि कहा गया है, यह एक ऐसा विषय है, जिसके संबंध में परवर्ती लेखकों ने सचमुच सर्वाधिक व्यापक और उल्लेखनीय सामग्री प्रस्तुत की है, किंतु सामान्य काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसका सैद्धांतिक महत्व बहुत कम है। जगन्नाथ की शैली विद्वत्तापूर्ण है। इन्होंने जैसी भाषा का प्रयोग किया है, जैसी सूक्ष्मता से तर्क दिए हैं और पूर्ववर्ती लेखकों की जिस प्रकार निरपवाद रूप से आलोचना की है, उससे पाठक सशंकित हो जाते हैं। इस संबंध में उन्होंने जिन लेखकों की सबसे अधिक समालोचना की है, वे हैं रुय्यक, उनके टीकाकार जयरथ और उनके अनुयायी अप्पय्य दीक्षित। किंतु विवाद के प्रति इस प्रवृत्ति के बावजूद, जो कि बाल की खाल निकालने-जैसी सूक्ष्मता की भावना से प्रभावित है, जगन्नाथ के ग्रंथ में तीव्र और स्वच्छ प्रतिपादन हुआ है अथवा कम-से-कम प्राचीन समस्याओं पर पुनर्विचार का प्रयास किया गया है। वे अपने से पूर्ववर्ती लेखकों के काव्यसंबंधी सिद्धांतों से पूर्ण परिचित दिखाई पड़ते हैं, इसीलिए उन्होंने उनकी उपेक्षा नहीं की है,

बल्कि उनमें तथा नई विचारधारा में संगति बैठाने का प्रयास किया है। नए संप्रदाय के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों के साथ जगन्नाथ ने इस संबंध में कुछ प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया है और मम्मट तथा रुय्यक संप्रदाय का निर्बाध समर्थन नहीं किया है।

जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—काव्य ऐसा शब्द अथवा ऐसी पदावली है, जो किसी अभिव्यक्ति को रमणीयता प्रदान करती है (रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः)। यह एक ऐसी परिभाषा है, जो हमें दंडी के सुप्रसिद्ध वर्णन की याद दिलाती है, जिसमें उन्होंने 'काव्य-शरीर' को 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' बताया है, किंतु जिसकी पुनः इस प्रकार व्याख्या की गई है—इस रमणीयता का कारण वह भावना होती है, जिसके कारण अलौकिक या निर्लिप्त आनंद प्राप्त होता है। निष्कामता का यह गुण अत्यंत आवश्यक लक्षण है, जो कि आंतरिक अनुभव की वस्तु है और चमत्कार का पर्याय होने के कारण आनंद का एक गुण है। इस आनंद का कारण ऐसी कल्पना या अभिव्यक्ति है, जो स्वयं आनंद की अवस्था के सतत चिंतन से प्राप्त होती है। अतः ऐसे वाक्य से जैसे 'आपके लड़का पैदा हुआ है' या 'मैं आपको धन दूंगा' जो अर्थबोध होता है, उसमें कोई निर्लिप्तता नहीं होती। अतः ऐसे वाक्य में कोई काव्यात्मकता नहीं है। फलतः काव्य की रचना उन शब्दों से होती है, जिनसे ऐसी भावाभिव्यक्ति होती है, जो मनुष्य को विभोर कर देती है और आनंद प्रदान करती।[1] अतः काव्य की रमणीयता वह है, जो हमें निर्लिप्त और निर्वैयक्तिक आनंद प्रदान करती है। यह आनंद उस आनंद से विशिष्टतया भिन्न है, जो किसी को वस्तुतः आनंदित होने पर प्राप्त होता है और उस रुचि पर निर्भर करता है, जो किसी को सुंदर विषयों के सतत चिंतन से प्राप्त होता है। इस विवरण से यह ज्ञात होगा कि इस परिभाषा में न केवल रमणीयता का सुंदर विश्लेषण हुआ है, बल्कि इसने अपनी विशालता और व्यापकता में पूर्वकालीन सिद्धांतवादियों द्वारा वर्णित काव्य के सभी तत्वों को, उनका विशिष्ट

---

1. रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक-ज्ञान-गोचरता, लोकोत्तरं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः, कारणं च तद्-अवच्छिन्ने भावना-विशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा; पुत्रस्ते जातः, धनं ते दास्यामीति वाक्यार्थधी-जन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः। इत्थं च चमत्कार-जनक-भावना-विषयार्थ प्रतिपादक-शब्दत्वम्। देखिए Jacobi in Internat. Wochenschrift, 1910, ix, 821.

रूप से उल्लेख किए बिना, अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया है। हमने पहले ही देख लिया है कि पाठक के मन में उत्पन्न काव्यात्मक भाव या रस का स्वरूप विलक्षण होता है। निस्संदेह यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका संबंध किसी की आत्मचेतना से होता है, किन्तु सभी प्रबुद्ध पाठकों में पाए जाने के कारण, तथा उनके निजी संबंधों और अभिरुचियों के प्रति महत्वपूर्ण न होने के कारण, यह भाव वस्तुतः सर्वव्यायक और निर्वैयक्तिक होता है। नैसर्गिक आवेग और काव्यात्मक मनोभाव में एक अंतर किया जाता है। नैसर्गिक आवेग व्यक्तिगत और नितांत वैयक्तिक होता है। अतः वह आनन्ददायी अथवा दुखदायी हो सकता है, किंतु काव्यात्मक मनोभाव सामान्य और निर्लिप्त होता है तथा निर्वैयत्तिक आनन्द से पूर्ण होता है। इस दृष्टि से काव्यात्मक मनोभाव अलौकिक होता है और वे बातें जो सामान्य जीवन में निराशा, भय और दुःख का कारण बनती हैं और वे सहज आवेग, जिनकी वास्तविक अनुभूति से रंचमात्र भी आनन्द का स्पर्श नहीं होता, जब काव्य के द्वारा प्रकट किए जाते हैं तो आदर्श और सर्वव्यापी बन जाते हैं और ऐसा अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं, जिसकी तुलना सामान्य जीवन में अनुभूत मिश्रित आनंद से नहीं की जा सकती। सभी वैयक्तिक रुचियों से मुक्त यह आनंद इस भोग में तल्लीन मानसिक दशा का सार है।

इस प्रकार काव्य की परिभाषा में व्यंजित अर्थ (ध्वनि) का भाव भी सम्मिलित रहता है और इस आधार पर जगन्नाथ ने काव्य को चार श्रेणियों में विभक्त किया है (जैसे उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम)। ये श्रेणियाँ उन श्रेणियों के अनुरूप हैं, जिन्हें ध्वनिकार के समय से लेकर अब तक उनके पूर्ववर्ती विद्वान मानते रहे हैं। उत्तमोत्तम काव्य वह होता है, जिसमें ध्वनि और अर्थ स्वयं गौण रहते हुए किसी अन्य रमणीय अर्थ को व्यंजित करते हैं। इसे ही ध्वनिकार प्रमुख ध्वनिकाव्य मानते हैं। दूसरी और तीसरी श्रेणियाँ, जैसे 'गुणीभूत व्यंग्य' और 'चित्र' जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने किया है, तीन भागों में विभक्त[1] हैं, जैसे (1) जहाँ प्रधान अर्थ नहीं, बल्कि व्यंजित अर्थ ही विशेष सौंदर्य का कारण हो (2) जहाँ कथित अर्थ का सौंदर्य व्यंजित अर्थ के सौंदर्य के समान माना जाता हो और (3) जहाँ ध्वनि-सौंदर्य अर्थ-सौंदर्य से विभूषित होने पर भी प्रधान

1. इस विभाजन का उद्देश्य यह है कि गुणीभूत व्यंग्य काव्य के विभिन्न उदाहरणों के और अधिक सूक्ष्म उपविभेद न किए जाएँ और वह उस सम्पूर्ण काव्य में आ जाए, जो अलंकार-प्रधान कहलाता है।

हो। इस निम्नकोटि के काव्य में, जिसे मम्मट ने शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र का नाम दिया है (इस विभाजन को जगन्नाथ ने स्वीकार नहीं किया है) बाह्य रूप में वे दशाएँ समाहित रहती हैं, जिनमें शब्द-चमत्कृति या तो अर्थ-चमत्कृति को अपने में विलीन कर लेती है अथवा उसे और सशक्त बना देती है। जगन्नाथ का कहना है कि यद्यपि इनसे निम्नतर कोटि अथवा पाँचवीं कोटि तक भी काव्य की गणना की जा सकती है, जिसमें ध्वनि-सौंदर्य अर्थ-सौंदर्य से पूर्णतया विहीन होता है (जैसे पद्मबंध की तरह प्रहेलिकावाले प्रसंगों में) और जिनका प्रयोग कुछ कवियों ने किया भी है, फिर भी काव्य की जो परिभाषा पहले दी गई है (अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रकट करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं), उसे ध्यान में रखने पर इन उदाहरणों को छोड़ दिया जाएगा।

इस वर्गीकरण के पश्चात् जगन्नाथ ने ध्वनि के वर्गीकरण की परम्परा रीति का अनुसरण किया है अर्थात् ध्वनि के असंख्य भेदों को दो व्यापक वर्गों में विभाजित किया है, जिन्हें क्रमशः अभिधामूला और लक्षणामूला कहते हैं। रस अलंकार और वस्तु की अभिव्यंजना करने के आधार पर अभिधामूला के तीन पक्ष माने जाते हैं, किंतु लक्षणामूला की केवल दो स्थितियाँ मान्य हैं, जैसे (1) जहाँ अभिव्यक्त अर्थ से दूसरे अर्थ का बोध हो (अर्थांतर-संक्रमित वाच्य) और (2) जहाँ अभिव्यक्त अर्थ को पूर्णतया लुप्त कर दिया जाये (अत्यंत तिरस्कृत वाच्य)। इसके पश्चात् लेखक द्वारा रस-ध्वनि विषय पर, जिसे परम रमणीय कहते हैं, विस्तृत रूप से विचार करने तथा रस और भाव के सिद्धांत और अंगीभूत तत्त्वों का व्यापक विवेचन करने का प्रसंग आता है (पृ० 74-98), जिसमें रस और भाव के विभिन्न पक्षों जैसे रसाभास (पृ० 99) भाव-शांति (पृ० 102), भावोत्पत्ति, भाव-संधि और भाव-सबलता (पृ० 102)[1] पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में गुणों का विवेचन उस सीमा तक हुआ है, जहाँ तक वे रस से संबंधित हैं। जगन्नाथ ने वामन तथा पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा वर्णित दस शब्द और अर्थ-गुणों का विवेचन किया है और उनकी समीक्षा की है, किंतु मम्मट के आधार पर उन्होंने केवल तीन गुणों को स्वीकार किया है, जैसे माधुर्य, ओजस् और प्रसाद। इनका वर्गीकरण उन्होंने पाठक या श्रोता के मन पर पड़नेवाले क्रमिक प्रभाव के आधार पर किया है, जैसे द्रुति, दीप्ति और विकास। इस संबंध में जगन्नाथ ने निम्नलिखित मंतव्य प्रकट किया है—'गुणानां चैषां द्रुति दीप्ति विकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तया क्रमेण प्रयोज्याः, तत्-तद्-गुण-विशिष्ट रसचर्वणा-जन्या-इति यावत्।' इस मंतव्य द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है

1. इन विषयों का वर्णन मम्मट, विश्वनाथ तथा अन्य लेखकों ने भी किया है।

कि इस वर्गीकरण का औचित्य यह है कि रसास्वादन में तल्लीन मानसिक व्यापार की प्रकृति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। तथापि वे मम्मट के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि जब हम किसी रचना को 'मधुर' कहते हैं, तब इस शब्द को गौण अर्थ में प्रयुक्त करते हैं (जैसे कि जब हम कहते हैं, यह व्यक्ति देखने में बहादुर प्रतीत होता है) चूँकि गुण रस की विशेषताओं के रूप में होते हैं, अतः पद अर्थ-विस्तार से, जिसे काव्य की आत्मा कहा जाता है, उसे हम काव्य का शरीर कहते हैं। जगन्नाथ का कहना है कि जब हम कहते हैं कि किसी विशेष प्रसंग में शृंगार का भाव 'मधुर' होता है तो इससे हमारा तात्पर्य मन पर पड़नेवाले इसके प्रभाव, जैसे 'द्रुति' इत्यादि, से होता है और इससे यही समझना चाहिए कि इसका संबंध न केवल रस से होता है, बल्कि शब्द और अर्थ तथा संपूर्ण रचना से होता है (शब्दार्थ रस-रचनागतं एव ग्राह्यम्)।

अगले अध्याय में अभिव्यंजना के अन्य भेदों का विवेचन हुआ है, जिनमें 'लक्षणामूला' अभिव्यंजना भी सम्मिलित है, जिसका विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् काव्यालंकारों का विवेचन आता है (इनकी संख्या लगभग 70 है), जिनका वर्णन शेष संपूर्ण पुस्तक में किया गया है और उत्तर अलंकार के विवेचन के मध्य में ही पुस्तक समाप्त कर दी गई है। काव्यालंकार रमणीयता का प्रधान साधन है। यह रमणीयता ही पहले बताई गई परिभाषा के अनुसार काव्य का प्रधान अभिव्यंजित तत्त्व है (प्राग्-अभिहित-लक्षणस्य काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता-प्रयोजका अलंकाराः, पृ० 156)। चमत्कार या लोकोत्तरत्व, जिसके भीतर यह रमणीयता चक्कर काटती है, काव्यालंकार का अत्यावश्यक तत्त्व है। इस तरह जगन्नाथ ने काव्यसंबंधी अपनी धारणा की संगति रुय्यक के अलंकार-सिद्धांत से (जिसे उन्होंने स्वीकार किया है और जिसका उन्होंने विस्तार किया है) बैठाई है। इसमें वह 'चमत्कार' (जिसे 'हृदयत्व'' 'चारुत्व', या 'सौंदर्य' भी कहते हैं अथवा जिसे पारिभाषिक शब्द 'वैचित्र्य', 'विच्छिति-विशेष' या 'भणिति-प्रकार' से अभिहित किया जाता है) भी सम्मिलित है, जो कवि-प्रतिभा द्वारा प्रदत्त है। कुंतक ने, जिनसे रुय्यक ने अपनी विश्लेषण-पद्धति प्राप्त की है, यह सिद्धांत निर्धारित किया है कि प्रत्येक काव्य-कृति में कवि-कर्म ही, जो कि सृजन-कल्पना (प्रतिभा) से बनता है, प्रमुख होता है और यही काव्य-रचना में प्रकट होना चाहिए। जगन्नाथ ने जोर देकर कहा है कि प्रतिभा ही एकमात्र काव्य और काव्यात्मक अभिव्यक्ति का स्रोत है, अतः इसी से अलंकार के स्वरूप का निर्धारण होता है। कवि अपनी प्रतिभा द्वारा काव्यालंकार को जो विशेष वैचित्र्य (विच्छित्ति-विशेष)

प्रदान करता है, उसी को (पृ० 466-79) वह आधार माना जाता है, जिसके अनुसार अलंकार अपनी विशेष विलक्षणताओं में एक दूसरे से पृथक् होते हैं और जब यह विच्छित्ति कविता में अभिव्यक्त की जाती है, तब इसे कवि-कल्पना अथवा चमत्कार[1] कहा जाता है, जो इसके द्वारा प्रसूत होता है। यह 'विच्छित्ति' कैसे समझी जाती है अथवा निरूपित की जाती है, जगन्नाथ ने इस प्रश्न का उत्तर न केवल स्थापित परंपरा के आधार पर दिया है, बल्कि अपने आंतरिक अनुभव के आधार पर दिया है। इस मूलभूत सिद्धांत के आधार पर काव्यालंकारों की सूक्ष्म परिभाषा दी गई है, उनका भेद निरूपित किया गया है, उनके दृष्टांत दिए गए हैं और उनको वर्गीकृत किया गया है। जगन्नाथकृत ग्रंथ के इस अंश में, यद्यपि यह दुर्भाग्यवश अपूर्ण है, सूक्ष्म विवेचनात्मक तथा वाद-विवादपूर्ण पद्धति अपनाई गई है और विषय का अत्यंत वैदग्ध्यपूर्ण विवेचन किया गया है।[2]

---

1. 'चमत्कार' शब्द के इस अनुवाद का औचित्य जगनाथ द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा से भी सिद्ध होता है।
2. साहित्यालोचक के रूप में जगन्नाथ के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए बी० ए० रामस्वामी शास्त्रीकृत 'जगन्नाथ पंडित' (अन्नामलाई विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज 1942, पृ० 78 एफ़, अध्याय 4·6)।

अध्याय : 19

उत्तरकालीन रस-लेखक

काव्यशास्त्र के संबंध में रस-सिद्धांत को, जिसका सर्वप्रथम निरूपण तो नहीं, किन्तु प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने किया है, अंततः सभी ग्रंथकारों ने स्वीकार किया है और रस-ध्वनि को काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्व माना है। विश्वनाथ और केशव मिश्र को छोड़कर अन्य सभी ने अभिनवगुप्त की तरह स्पष्ट रूप से यह घोषणा नहीं की है कि एकमात्र रस ही काव्य का सार है, किंतु उन्होंने यह माना है कि वास्तव में रस के रूप में अभिव्यंजित अर्थ, काव्य का प्रधान अत्यावश्यक तत्व होता है। रस पाठक के मन में विद्यमान सुखद भाव को कहते हैं। पाठक के मन के प्रसुप्त संवेग, जो उसे अनुभव अथवा वंशागत सहजबुद्धि से प्राप्त होते हैं, जब काव्य-पाठ द्वारा जागृत किए जाते हैं तो वे आदर्श और निर्वैयक्तिक आह्लाद का रूप धारण कर लेते हैं। रस उस आस्वादन या आनंद को कहते हैं, जो ऐसी आह्लादमयी मानसिक दशा में प्राप्त होता है, जिसमें पाठक नायक के भावों से अपना तादात्म्य कर लेता है और सामान्य रूप में उनका अनुभव करता है। आनंद की पूर्णता पाठक विशेष की प्रकृति और अनुभूति पर निर्भर होती है। इस तरह से उसमें जो भावना उत्पन्न होती है, वह सार्वजनीन होती है और इसके परिणामस्वरूप उसमें जिस रसानन्द की सृष्टि होती है, वह वैयक्तिक नहीं होती (हालांकि उसका पूर्णतया निजी भावना के रूप में आस्वादन किया जाता है), बल्कि वह सामान्य और निरपेक्ष होती है, क्योंकि वह ऐसी होती है, जो सभी भावुक या सहृदय पाठकों में समान रूप में पाई जाती है (समस्त-भावक-स्वसंवेद्य)। अतः इसको कुछ अलौकिक-सी और अत्यंत आह्लादप्रद कहा जाता है और इसकी तुलना जीवन के सामान्य सुखों से नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके साथ व्यक्तिविशेष के निजी संबंध तथा उसकी अभिरुचियाँ भी लगी हुई होती हैं और वे सुखद या दुःखद भी हो सकती हैं। जिन बातों को साधारण अर्थ में संवेग का कारण कहा जा सकता है और जो वास्तविक जीवन में निराशा, भय या करुणा पैदा करती हैं, यद्यपि काव्य और नाटक में भी वे इन भावों को पैदा करती हैं, किन्तु वे इन्हें ऐसे आदर्श और सामान्य रूप में प्रकट

करती हैं कि वे संवेग अथवा भाव, जो सामान्य जीवन में रंचमात्र भी सुखदायी नहीं होते, ऐसे निर्वैयक्तिक आनन्द में परिणत हो जाते हैं, जो अनिर्वचनीय और अखंडनीय होता है। कोई व्यक्ति निराशा, भय और करुणा से द्रवित हो सकता है और असली आँसू बहा सकता है, किन्तु इनमें अंतर्निहित भाव सदैव ही परमानन्ददायी[1] होता है, जिसे सामान्य भाव से निश्चय ही भिन्न समझना चाहिए।

काव्य में रस के स्वरूप और कार्य के संबंध में परवर्ती काल के आचार्यों (आलंकारिकों) ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसकी सामान्य स्थिति यही है। उदाहरणार्थ धनंजय ने किसी साधारण भाव के, जो किसी रचना का स्थायी भाव हो, किसी रस में परिणत होने की वही प्रक्रिया बतलाई है, जिसे पहले भरत ने निरूपित किया था और कालांतर में जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने की थी और उनका यह विवेचन पूर्णतया मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ और अन्य आचार्यों के विवेचन के अनुरूप है। स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के (जिनमें सात्विक भाव भी सम्मिलित होते हैं) संयोग से आस्वाद्य बन जाते हैं तो रस कहलाते हैं। इस कथन की इस उक्ति द्वारा और भी व्याख्या की गई है कि रस का भोक्ता (रसिक) वह दर्शक (सामाजिक) होता है, जिसकी भोजकत्व शक्ति पर यह आश्रित होता है और जब स्थायी भाव का इस प्रकार भोग अथवा आस्वादन किया जाता है तो वह रस बन जाता है। रस एक मानसिक अवस्था को कहते हैं, जो पाठक (सहृदय) की ऐसी आत्मनिष्ठ अनुभूति होती है, जिसमें आस्वादन या भोग (आस्वाद, चर्वणा, रसना या भोग) अत्यावश्यक होता है और जिसमें भोक्ता और भोज्य वस्तु एकरूप हो जाते हैं। पाठक प्रतिबिंबित भाव को अपने हृदय

---

1. किंतु जैसा कि पीछे पृष्ठ 121 पर कहा गया है, नाट्य दर्पण में लिखा है और भोज का भी विश्वास है (सुख-दुखावस्था रूपं) कि रस सुख-दुःखात्मक होता है। रस-कलिका (खंड 1, पृ० 318) में भी यह मत प्रकट किया गया है। इस मत के समर्थन में नाट्य-दर्पण में (GOS संस्करण, पृ० 159) दिए गए विस्तृत तर्क देखिए। सिद्धिचंद्र ने 'नव्यों' के सिद्धांत का (काव्य प्रकाश-खंडन, पृ० 16-21 पर) उल्लेख करते हुए लिखा है कि सभी रस सुखात्मक नहीं होते, किंतु कुछ स्पष्ट दुखात्मक होते हैं। अतः वे स्वीकार करते हैं कि शृंगार, वीर, हास्य और अद्‌भुत रस सुखात्मक होते हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक दुखाःत्मक होते हैं। वी० राघवन कृत 'नंबरऑफ रसाज', अध्याय 8 में इस प्रश्न का विवेचन पढ़िए।

में ग्रहण करता है और उसका आस्वाद लेता है।[1] रस का स्थान प्रतिदर्शित नायक में नहीं होता, क्योंकि वह तो भूतकाल की वस्तु होता है और न तो वह काव्य में ही होता है, जिसका कार्य केवल ऐसे उद्दीपनों इत्यादि का प्रदर्शन करना है, जिनके द्वारा स्थायी भाव को प्रकट किया जाता है और इस तरह पाठक को रस की अनुभूति होती है। रस की अवस्थिति मात्र पाठक की उस प्रतीति में भी नहीं होती, जो उसे काव्य में प्रकट किए गए अथवा अभिनेता द्वारा अभिनीत भावों से प्राप्त होती है, क्योंकि उस समय पाठक को रस की प्रतीति नहीं होती, बल्कि भाव की होती है, जो कि अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार का होता है। जैसे वास्तविक जीवन में प्रेमी-युगल को एक साथ देखकर विभिन्न दर्शकों के मन में विभिन्न भाव पैदा होते हैं। वे भाव उनमें उनकी लज्जा, द्वेष, इच्छा, विरक्ति की भावना के अनुरूप पैदा होते हैं।[2] अतः विभाव इत्यादि स्थायी भावों को रसिक के, सहृदय पाठक या दर्शक के भोग के योग्य बनाते हैं और इस प्रकार उसे रस में परिणत करते हैं, किंतु इन्हें सामान्यीकृत होना चाहिए और इनका किसी व्यक्तिविशेष से विशिष्ट संबंध नहीं होना चाहिए (अर्थात् 'परित्यक्त विशेष' होना चाहिए)। अतः धनिक का कहना है कि 'विभाव' सीता से सामान्य स्त्री का बोध होना चाहिए, न कि किसी व्यक्तिविशेष का, जो जनक की पुत्री थी। अतः वे बातें जो सामान्य जीवन में उद्दीपनकारी (विभाव), अनुवर्ती (अनुभाव) और सहायक परिस्थितियाँ (संचारी भाव) कहलाती हैं, काव्य में विभाव इत्यादि का काम करती हैं और स्थायी भाव को रस के रूप में सर्वसाधारण के लिए आस्वाद्य बनाती हैं। जैसे मंच पर अर्जुन के कर्त्तव्यों को देखनेवाले दर्शक की तुलना उस बच्चे से की जा सकती है, जो मिट्टी के हाथी से खेलते हुए अपनी निजी शक्ति का अनुभव कर हर्षित होता है। दर्शक के मन का आनंद उस हर्ष की अभिव्यक्ति है, जो स्वयं की परमानंदमयी प्रकृति का नैसर्गिक स्वरूप है। यह एक ऐसी परिस्थिति है; जो हमें प्रायः 'रसास्वाद' की तुलना 'ब्रह्मास्वाद' से करने का अवसर प्रदान करती है।

इस आनंद-भोग में तल्लीन मानसिक क्रिया के चार पहलू होते हैं, जो चार

---

1. जैकोबी कृत GgA देखिए, 1913, पृ० 308 और उसके आगे।
2. धनिक का विचार है कि ये परिस्थितियाँ रस के व्यंग्यत्व का निरनुमोदन करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि धनिक ने रस का काव्य से व्यंग्य-व्यंजक संबंध स्वीकार नहीं किया है, बल्कि भट्टनायक के भाव्य-भावक सिद्धांत की भाँति कुछ दृष्टिकोण अपनाया है (परब संस्करण 1917, पृ० 96)

प्रधान रसों श्रृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र से संबंधित होते हैं। भरत[1] ने भी इन्हें स्वीकार किया है, और ये क्रमशः विकास विस्तार, क्षोभ और विक्षेप की अवस्थाओं के आधार पर बनते हैं। पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि भट्टनायक ने (और अभिनवगुप्त ने भी) रस के भोग (या आस्वाद) के लिए केवल तीन मानसिक दशाओं का होना बतलाया है, जिन्हें विकास, विस्तार और द्रुति कहते हैं। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं गुणों को क्रमशः प्रसाद, ओज और माधुर्य का आधार तथा औचित्य माना है। धनंजय ने नवें रस अर्थात् शांत रस का, जिसका भरत ने उल्लेख नहीं किया है, किंतु जिसे परवर्ती आचार्यों ने मान्यता दी है, नाटक में वर्णन करना निषिद्ध बताया है (iv. 35), क्योंकि पूर्ण शांति की प्रकृति ऐसी होती है, जिसकी निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती और दार्शनिकों[2] के कथनानुसार इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं, जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। ये ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनका सहृदय जन अनुभव नहीं कर पाते। यदि सचमुच शांत रस का रस के रूप में अस्तित्व होता है तो इसमें ऊपर वर्णित चार मानसिक क्रियाओं का समावेश होना चाहिए और वे क्रियाएँ उन चार अवस्थाओं के अनुरूप होनी चाहिए, जो साम[3] (वेद) में दार्शनिकों द्वारा मानी गई हैं।

इस संदर्भ में यहाँ मम्मट, विद्याधर और अन्य लेखकों या ग्रंथकारों के मतों का वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा करना अंतिम रस सिद्धांत के विषय में जो कुछ पहले कहा गया है, प्रधानतया उसी की पुनरावृत्ति होगा। परवर्ती आचार्यों में केवल विश्वनाथ ही ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अभिनवगुप्त के अत्यंत उग्र दृष्टिकोण की, जिसमें केवल 'रस-ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना

---

1. पीछे पृष्ठ 23 पर देखिए। इस चतुष्टय विभाजन को इसलिए माना गया है कि भरत द्वारा मान्य चार प्रधान रसों और चार गौण रसों के सिद्धांत को स्पष्टतः समीचीन आधार प्रदान किया जा सके।

2. उदाहरणार्थ योग सूत्र i. 33.

3. न च तथाभूतस्य शांत-रसस्य सहृदयाः स्वादयितारःसंति, अथ तद्-उपायभूतो मुदिता-मैत्री-करुणोपेक्षादि-लक्षणांस्तस्प च विकास-विस्तार-क्षोभ-विक्षेप-रूपतैवेति।

जाता है, साहस के साथ अपनाया है और इसी के आधार पर काव्यशास्त्र की पद्धति का निर्माण किया है।[1]

विश्वनाथ ने काव्य के संबंध में दी गई अपनी परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं, का अनुसरण करते हुए रस के सभी पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने आरंभ में दो छंदों में रस की विशेषताओं का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है।

"रस सत्व गुण के उत्कर्ष से उत्पन्न होता है। वह अखंड, स्वयं प्रकट और आनंद तथा भाव की एकरूपता से उद्भूत होता है, अन्यत्र दृष्टिगत किसी वस्तु के स्पर्श से मुक्त होता है, ब्रह्मानुभूति के समकक्ष होता है और उसका सार अलौकिक चमत्कार होता है। ऐसे रस का भोग वे लोग करते हैं, जो स्वयं इसके ज्ञान से और इससे अपार्थक्य या अभिन्नता (ज्ञान के विषय के रूप में) स्थापित करने में समर्थ होते हैं। उन्होंने चमत्कार को मन का विस्तार और विस्मय का पर्याय बतलाया है। इस संदर्भ में विश्वनाथ ने अनुमोदन-सहित अपने पूर्ववर्ती आचार्य नारायण के मत का उल्लेख किया है, जिन्होंने अद्भुत रस के भाव को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है और यह कहा है कि सभी रसों में इस भाव का होना अत्यावश्यक है। इस बात की भी स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है कि रस और रस के भोग में तादात्म्य होता है या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसके विषय में और रस की प्रतीति की क्रिया में कोई भेद नहीं

---

1. भानुदत्त ने प्रधानतया यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित रस-सिद्धांत का अनुसरण किया है। उन्होंने रस के कुछ पहलुओं का निराले ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने रस को और लौकिक अलौकिक बतलाया है। फिर अलौकिक को निम्नलिखित भागों में बाँटा है:—(1) स्वाप्निक (जिसका आनंद स्वप्न में लिया जाता है), (2) मानोरथिक (जो आकाश-महल की भाँति कल्पनामय होता है) और (3) औपनायिक (जो काव्य में वर्णित होता है)। उन्होंने पुनः रस की अभिव्यक्ति की रीति को देखते हुए रस की त्रिविध व्यवस्था का वर्णन किया है, जैसे (1) अभिमुख—जब यह भाव, विभाव और अनुभव द्वारा प्रकट किया जाता है, (2) विमुख—जब इन तत्वों को प्रत्यक्षतः अभिव्यक्त नहीं किया जाता, क्योंकि इनका बोध बड़ी कठिनाई से होता है, (3) परमुख—इसके भी दो भेद होते हैं (क) अलंकारमुख—यह वहाँ होता है, जहाँ अलंकार प्रधान और रस गौण होता है। इसमें रसवत् की भाँति संभवतः ऐसे अलंकार भी सम्मिलित माने जाते हैं, जिन्हें ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य के अंतर्गत माना है और (ख) भावमुख—यह वहाँ होता है, जहाँ भाव भी उसी प्रकार प्रधान होता है।

होता। अतः जब हम कहते हैं कि 'रस का भोग किया जाता है,' तब हम केवल आलंकारिक कथन का ही प्रयोग करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रस के भोग की प्रकृति इसके ज्ञान की सामान्य प्रक्रिया से भिन्न होती है।

विश्वनाथ ने इस बात पर पर्याप्त बल दिया है कि दर्शक में वासना का होना आवश्यक है, जो अनुभव (इदानींतनी) या पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त सहजज्ञान (प्राक्तनी) से मिलकर बनती है। यदि किसी व्यक्ति में रसास्वादन की क्षमता या क्षमता के कीटाणु जन्मजात न हों तो वह उसे काव्यानुशीलन और जीवन के अनुभव द्वारा प्राप्त कर सकता है। वैयाकरण, दार्शनिक और शास्त्रीय गीतों (ईश्वर-भजनसंबंधी गीतों) में प्रवीण लोगों में ये भावनाएँ मृत हो जाती हैं। यदि कभी ऐसा ज्ञात हो कि काव्य के किसी जिज्ञासु छात्र में रसास्वादन की क्षमता की कमी है तो हमें समझना चाहिए कि यह उसके पूर्व जन्म के संचित अवगुणों का परिणाम है। अतः विश्वनाथ यह दिखलाने के लिए उत्सुक हैं कि जो रसास्वादन करना चाहता है, उसमें अनुभव और कल्पना-शक्ति का सृजन होना आवश्यक है।

विश्वनाथ ने इस बात पर भी जोर दिया है कि विभावों इत्यादि तथा स्थायी भाव का अनुभव सामान्य या निर्वैयक्तिक रूप में किया जाना चाहिए। पाठक को यह नहीं समझना चाहिए कि यह उसका निजी भाव है, क्योंकि तब यह उसी का भाव रह जायगा (और रस-दशा को प्राप्त नहीं हो सकेगा), और कभी-कभी (जैसे करुण रस या कारुणिक भाव के प्रसंग में) आनंद की अपेक्षा दुःख का कारण बनेगा। स्थायी भाव को केवल नायक के मन का भी भाव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में दूसरे के मन का भाव होने के कारण यह पाठक को प्रभावित नहीं कर सकता और रस नहीं बन सकता। अतः यह आवश्यक है कि विभाव-अनुभाव तथा स्थायी भाव साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा, जो उनमें अंतर्भूत होती है, साधारणीकृत हों। इसी साधारणी-करण को भट्टनायक ने काव्य की भावकत्व शक्ति माना है। रस के तत्वों या विभावादि और भावनाओं के साधारणीकरण के कारण पाठक काव्य में वर्णित व्यक्ति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और समाजगत इसी कल्पना के कारण पाठक को उन महान् व्यक्तियों द्वारा, जो गुणों और पराक्रम में सामान्य पाठक से श्रेष्ठतर होते हैं, निष्पादित असाधारण घटनाओं को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। विभाव-अनुभाव आदि सामान्यतया कारण अवश्य कहे जाते हैं, किंतु सामान्य अर्थ में उनसे प्रभाव या कार्यस्वरूप रस की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि रस के संदर्भ में रस और इसके कारणों (विभावादि)

की उपस्थिति साथ-साथ ही रहती है। साधारण कवि और कारण के प्रसंग में ऐसी बात नहीं होती। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सभी कारकों (विभाव-अनुभाव इत्यादि) का एक साथ ही उपस्थित होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विचारों की संगति के कारण एक विचार की उपस्थिति से दूसरे विचार भी अपने आप आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य-पाठ में जिस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है, उसकी पूर्त्ति विचारों की संगति से स्वयं काव्य की व्यंजना शक्ति के कारण हो सकती है। ऊपर वर्णित रस की प्रकृति से यह ज्ञात होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि रस अभिनेता में पाया जाय। वह जो नियम और क्रम के अनुसार यंत्रवत् नायक का पार्ट अदा करता है, यदि सचमुच सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति है और वस्तुतः उन भावनाओं का अनुभव करता है, जिनका वह अभिनय करता है तो उसे भी प्रेक्षक की कोटि में रखा जा सकता है (और वह भी रस का भोक्ता बन सकता है।)[1]

2

ध्वनि-संप्रदाय के निर्विवाद प्राधान्य के बावजूद, जिसमें रस के महत्त्व को मान्यता तो प्राप्त थी, किंतु जिसमें उसे अव्यक्त का केवल एक अवस्थान माना जाता था, ग्रंथकारों का एक वर्ग ऐसा भी था; जो काव्य में केवल रस को ही विचारणीय तत्व मानता था। ऐसे ग्रंथकार एकमात्र रस पर ही ध्यान देते रहे और उन्होंने इसी के आधार पर काव्य-पद्धति का निर्माण किया। इन रसों में सामान्यतया शृंगार रस ही संस्कृत काव्य और नाटक का प्रधान विषय रहा है। चूंकि यह विशेष काव्यात्मक भाव सार्वदेशिक संवेदन का विषय है; अतः इन लेखकों ने इस रस के सभी पहलुओं का विशद विवेचन किया है। परिणाम-स्वरूप हमें शृंगार-प्रधान रीति ग्रंथों की एक शृंखला प्राप्त होती है। इनमें से सर्वप्रथम ज्ञात और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ रुद्रभट्ट लिखित शृंगार-तिलक[2]

---

1. इसका आधार धनंजय का यह कथन है कि यदि अभिनेता नाटक में वर्णित भावना का अनुभव करता है तो वह स्वयं रस-भोग के आनन्द से वंचित नहीं रहता।
2. इसके तीन अध्यायों में जिन विषयों का वर्णन हुआ है, वे निम्नलिखित हैं—1. रस, स्थायी भाव, नाटकीय वृत्तियाँ, शृंगार और इसके भेद, नायक और उदाहरणों-सहित उनका वर्गीकरण, उनके सहायक, 2. विप्रलंभशृंगार, पूर्व-राग, प्रेम की दस अवस्थाओं, उपाय इत्यादि की विशेषताएँ, 3. अन्य रस, जैसे हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत, रस के अनुरूप चार वृत्तियाँ।

है। अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में रुद्रभट्ट ने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि भरत ने रस का उल्लेख नाटक में किया है, किन्तु वे काव्य के प्रसंग में भी इसका उल्लेख करना चाहते हैं और उनका मत है कि काव्य के स्थायी तत्व के रूप में रस का पाया जाना अत्यावश्यक है। इसके पश्चात् हमें भोज लिखित श्रृंगार-प्रकाश[1] प्राप्त होता है। इसमें विषय का अत्यन्त विस्तार से तथा विवेचनात्मक पद्धति से वर्णन किया गया है, जो इसके लेखक की सामान्य विशेषता है। इसके छत्तीस अध्यायों में से कम-से-कम अठारह अध्यायों में श्रृंगार रस के प्रत्येक पहलू का विस्तृत उदाहरणों द्वारा वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् इसी प्रकार के अनेक ग्रंथों की रचना की गई।[2] इनका प्रधान वर्ण्य विषय रस, विशेषकर श्रृंगार रस, है। इन ग्रंथों की रचना स्पष्टतः श्रृंगारिक प्रसंगों की, जो संस्कृत साहित्य में बहुत लोकप्रिय हैं और बहुतायत से पाए जाते हैं, रचना में कवियों का मार्ग-दर्शन करने के लिए हुई थी। इनमें से शारदातनय लिखित भाव-प्रकाश,[3] जिसमें भोज के ग्रन्थ के अधिकांश अध्यायों का सारांश पुनः प्रस्तुत कर दिया गया है और शिंग भूपाल[4] लिखित विस्तृत रसार्णव सुधाकर तथा भानुदत्त[5] के दो प्रसिद्ध ग्रन्थों में से किसी में भी इस विषय में, जिसका पहले ही अत्यन्त विस्तार से विवेचन हो चुका था, कोई नई अथवा मौलिक बात नहीं जोड़ी गयी है। रूप गोस्वामी द्वारा लिखित 'उज्ज्वल नील-मणि' ने इस सिद्धांत को एक नया मोड़ दिया। इस ग्रन्थ में रस का वर्णन उज्ज्वल या मधुर रस के वैष्णव-विचार के रूप में किया गया है।

1. पीछे पृष्ठ 188 पर देखिए।
2. देखिए खंड 1, पृ० 221 और साधारण लेखकों का अध्याय।
3. देखिए खण्ड 1, पृष्ठ 222.
4. देखिए खंड 1 पृष्ठ 224. इस व्यापक ग्रंथ के तीन विलासों में निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है: (1) नायक, उसके गुण और उसका वर्गीकरण और उसके अनुषंगी, नायिका, उसका वर्गीकरण और उसके गुण, सात्विक उद्दीपन विभाव, रीति और गुण, नाटकीय वृत्तियां, सात्विक भाव, (2) व्यभिचारी भाव, अनुभाव, आठ स्थायी भाव, आठ रस, (3) नाटक और उसके भेद, लक्षण इत्यादि।
5. रस-तरंगिणी में निम्नलिखित आठ तरंग हैं:—
   (1) भाव की परिभाषा और उसके भेद, स्थायी भाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव, (4) आठ सात्विक भाव, (5) व्यभिचारी भाव, (6) रस और श्रृंगार रस का विस्तृत विवेचन, (7) अन्य रस, (8) स्थायी-भाव और रसजा दृष्टि। रसमंजरी के, जो अपेक्षाकृत एक छोटा ग्रन्थ है, आधे से अधिक भाग में नायिका और उसकी सहेलियों का वर्णन किया गया है, और शेष भाग में श्रृंगार-नायक, उसके सहायक, आठ सात्विक गुण, श्रृंगार के दो रूप और विप्रलंभ श्रृंगार की दस अवस्थाओं का विवेचन हुआ है।

मधुर रस का तात्पर्य है शृंगार रस और 'उज्ज्वल' शब्द का सुझाव प्रत्यक्षतः इस रस के वर्णन में भरत द्वारा दिया गया है[1] किंतु मधुर रस की व्याख्या न केवल इसके निरपेक्ष रूप में की गई है, बल्कि इसका वर्णन मुख्यतया भक्ति रस की एक अवस्था के रूप में किया गया है (मधुराख्यो भक्ति रसः i.38); क्योंकि वैष्णव अध्यात्मविद्या के अनुसार पाँच रस होते हैं, जिन्हें मोटे रूप में भक्ति-प्राप्ति की पाँच शाखाएँ कहा जाता है, जैसे शांत, दास्य (सेवा या विनम्रता, इसे प्रीति भी कहा जाता है), सख्य (मित्रता या समानता, इसे प्रेय भी कहते हैं), वात्सल्य और माधुर्य। प्रधान होने के कारण अंतिम को उज्ज्वल रस या भक्ति रसराज[2] भी कहते हैं और वर्तमान ग्रंथ की विषय-वस्तु भी यही है। कृष्ण-रति या कृष्ण का प्रेम इस रस का स्थायी भाव है और इसका भोक्ता इस प्रसंग में साहित्यिक सहृदय नहीं है, बल्कि भक्त या श्रद्धालु है[3]। इस स्थायी भाव को मधुरा रति कहते हैं, जो रस-विशेष का स्रोत है। इसकी परिभाषा कृष्ण-प्रेम के रूप में की गई है। [4]नायक और नायिका की प्रकृति की परिभाषा भी इसी रूप में की गई है और राधा-कृष्ण की प्रेम-कथाओं की कविताओं से उदाहरण लेकर उनके भावों और आवेगों के दृष्टांत दिए गए हैं। अतः यह ग्रंथ वस्तुतः वैष्णव संप्रदाय का ग्रंथ है, जिसे साहित्यिक वेश में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कृष्ण को आदर्श नायक माना गया है, किंतु यह चेतावनी भी दी गई है कि नायक के रूप में कृष्ण के संबंध में जो बात सत्य है, वही सामान्य लौकिक नायक के संबंध में सत्य नहीं हो सकती (i, 18-21)।[5]

---

1. यत्किंचित लोके शुचि वेध्यं उज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते, संस्करण ग्रोसे, पृष्ठ 89-90.
2. विश्वनाथ चक्रवर्ती ने i. 2 की इस प्रकार व्याख्या की है—शांत-प्रीति-प्रेयो वात्सल्योज्ज्वल-नामसु मुख्ययेषु स इवोज्ज्वला पर-पर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः।
3. स्त्राद्यत्वं हृदि भक्तानां अनीता श्रवणादिभिः। एषा कृष्ण-रतिः स्थायी भावों भक्तिरसो भवेत्।—विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा उद्धृत, पृ० 4.
4. मधुराख्याया रतेर्लक्षणानां चोक्तम् मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संयोगरयादिकारणम्। मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः, वही।
5. रुढ़िवादी या परंपरावादी आचार्यों ने (देखिए जगन्नाथ, पृ० 47) भक्ति को (जो अनुराग पर आधारित होने के नाते शांत रस के अंतर्गत नहीं आती) भाव के अंतर्गत ही माना है, क्योंकि इसे देवादि-विषया रति कहते हैं और यह पूर्ण विकसित रस के रूप में अस्वीकार्य है। देखिए भानुदत्त लिखित

उज्ज्वल-नीलमणि को छोड़कर, जिसमें रस को सामान्य विषय के शृंगार-पूर्ण धार्मिक विचारों से समन्वित करने का प्रयास किया गया है, इन विशिष्ट ग्रंथों का कल्पनात्मक दृष्टि से बहुत कम महत्त्व है और चूँकि उनका क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा शृंगारशास्त्र अधिक है, अतः उनका प्रतिपादन या विवेचन अन्यत्र किया जाना चाहिए। इन समस्त ग्रंथों में न्यूनाधिक मात्रा में जिस साधारण विचार का प्रतिपादन किया गया है, वह यह है कि काव्य में रस की उत्पत्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और मूल या प्रधान रस शृंगार रस है, जिसका आगे चलकर उसके विविध रूपों में प्रचुर दृष्टांतों सहित विवेचन हुआ है। यह भावना अग्नि पुराण के संपादक और भोज के दृष्टिकोण में भी स्पष्टतः व्यक्त हुई है। उन्होंने केवल एक ही रस को काव्य के उपयुक्त रस माना है, जिसे शृंगार रस कहते हैं।[1] इसी प्रकार रुद्रभट्ट ने घोषणा की है कि 'शृंगारो नायको रसः' (i. 20) और भानुदत्त यह मानकर चलते थे कि सभी रसों में शृंगार रस का सम्माननीय स्थान है (तत्र रसेषु शृंगारस्याभ्यर्हितत्वेन इत्यादि, संस्करण बनारस, पृ० 21).

3

सामान्य सिद्धांतों का विवेचन करते समय शृंगारिक रस, इसकी विविध रसात्मक वृत्तियों और स्थितियों की व्यापक परिभाषा, भेद और वर्गीकरण, जिसका इन ग्रंथों में बड़े परिश्रम से विवेचन किया गया है और जो मध्ययुगीन विद्वानों का आकर्षण रहा है, न तो आवश्यक है और न उपयोगी। आचार्यों ने पद, चरित्र, परिस्थिति और ऐसी ही अन्य बातों के आधार पर नायक, नायिका और उनके सहायकों के सभी भेदों और उपभेदों का तथा नाट्यशास्त्र और उससे संबंधित क्षेत्र में स्थापित परंपराओं के अनुरूप उनके अंग-विक्षेपों और भावों का क्रमबद्ध विवेचन करने में बड़े आनंद का अनुभव किया है[2]। इस तरह रुद्रभट्ट ने प्रारंभ में रसों और भावों की संख्या का उल्लेख करने और

रस-तरंगिणी, अध्याय vii, उज्ज्वल-नीलमणि और रससंबंधी वैष्णव सिद्धांत; देखिए एस० के० डे लिखित 'वैष्णव फ़ेथ ऐंड मूवमेंट, कलकत्ता 1942.

1. देखिए खंड 1, पृ० 122, इसके अलावा मंदार मरंद चंपू, अध्याय ix, पृ० 107 (काव्यमाला संस्करण)

2. देखिए भरत, अध्याय xxii-xxiv, दशरूपक iv. 50 और iii.

परिभाषा देने के पश्चात् शृंगार के दो पक्षों का वर्णन किया है—संभोग शृंगार और विप्रलंभ शृंगार[1]। इसके पश्चात् उन्होंने प्रेमी के रूप में नायक के चरित्र के आधार पर उसको अनुकूल नायक, दक्षिण नायक (ऐसा नायक जिसका ध्यान कइयों के प्रति समान रूप से बँटा हुआ हो), शठ नायक और धृष्ट नायक के रूप में वर्गीकृत किया है। परवर्ती लेखकों ने इनमें से प्रत्येक को उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में विभाजित किया है और फिर संपूर्ण वर्गीकरण को नायक वर्ग के चार प्रकारों में क्रमवद्ध किया है, जैसे—(1) धीरोदात्त (वीर और उच्च विचारवाला), (2) धीरोद्धत (वीर और उद्धत), (3) धीर ललित (वीर और विलासी) और (4) धीर प्रशांत (वीर और गंभीर)। इस प्रकार हमें कुल मिलाकर नायक के 48 भेद प्राप्त होते हैं।[2]

इसके पश्चात् प्रेम-प्रसंगों में सहायता देनेवाले नायक के सहायकों (नर्म-सचिव) का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है[3]। जैसे पीठमर्द, विट और विदूषक।

---

1. यह विवरण भरत के विवेचन के आधार पर दिया गया है। इसे सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है, जिसमें भोज भी सम्मिलित हैं, किंतु धनंजय ने आयोग, विप्रयोग और संभोग की तीन थितियों में अंतर किया है। पहली स्थिति में बाधाओं के कारण प्रेमियों का संगम नहीं हो पाता। दूसरी स्थिति में एक की अनुपस्थिति या प्रतिरोध के कारण वे एक दूसरे से नहीं मिल पाते। पहले प्रकार का प्रेम सुविख्यात दस अवस्थाओं से होकर गुजर सकता है (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, प्रेमिका का गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, ज्वर, जड़ता और मरण (शिंगभूपाल ii. 178-201 से तुलना कीजिए), जबकि दूसरी अवस्था नायक-नायिका में कलह पैदा हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। यह नायक के अपने प्रति (नायिका के प्रति) विरक्त होने अथवा उसका अनुमान लगने पर होता है, जिसका समाधान 6 उपायों द्वारा किया जा सकता है, जैसे साम (समझौता), भेद (उसकी सहेलियों को अपनी ओर मिलाना), दान, नति (विनम्रता या पाँवों में पड़ना), उपेक्षा या रसांतर (दूसरी तरफ ध्यान आकर्षित करना)। यह अवस्था व्यवसाय-दुर्घटना या शाप के कारण, अनुपस्थिति या प्रवास होने पर भी उत्पन्न होती है।
2. नायक के सद्गुणों की संख्या असंख्य है। उसके लक्षणों के लिए देखिए धनंजय ii. 1 इत्यादि और विश्वनाथ iii. 30 इत्यादि और शिंगभूपाल i. 61 इत्यादि। अलंकार ग्रंथों में प्रतिपादित नायक-नायिका विषय पर देखिए वी० राघवन् लिखित 'अकबरशाही शृंगार-मंजरी' पृ० 14-60।
3. प्रतिनायक या नायक का प्रतिद्वंद्वी धीरोद्धत होता है। औद्धत्य उसका अत्या-

कुछ लेखकों ने इस गणना में चेट (सेवक) को भी सम्मिलित किया है।

इसी प्रकार नायक के प्रति संबंध के आधार पर सामान्यतया नायिका के तीन भेद होते हैं, जैसे अपनी पत्नी को स्वीया, दूसरे की पत्नी को 'परकीया' और जो किसी की भी पत्नी न हो अथवा सभी की स्त्री हो, उसे 'सामान्या' कहते हैं। स्वीया के पुनः तीन भेद होते हैं—(1) मुग्धा (2) मध्या और (3) प्रगल्भा, जिन्हें क्रमशः अनुभवी और पूर्ण अनुभवी कहा जा सकता है। परवर्ती लेखकों ने इनमें से प्रत्येक नायिकाभेद को नायिका के स्वभाव के आधार पर अधिक सूक्ष्मता से विभाजित किया है, जैए—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। पद के आधार पर नायिका के दो भेद होते हैं, ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इनमें से प्रत्येक नायक को प्रिय होती है। परकीया या अन्यदीया के, जो वैष्णव विचारों के अनुसार सर्वोत्तम प्रकार की नायिका होती है, दो भेद होते हैं। यदि वह कुमारी है तो उसे कन्या कहते हैं और यदि वह विवाहिता है तो उसे ऊढ़ा[1] कहते हैं।

सामान्या नायिका, जिसकी कभी प्रशंसा की गई है (रुद्रभट्ट) और कभी निंदा (रुद्रट), केवल एक प्रकार की होती है, जिसे वेश्या या गणिका कहते हैं।[2] इस तरह से प्राप्त नायिकाओं के सोलह प्रकार के भेदों के आठ उपभेद और भी

वश्यक लक्षण होता है, किंतु उसे हठी और नीच भी कहा जाता है। (दशरूपक ii. 9; साहित्यदर्पण iii. 130 पृ० 136) नायक के पीठमर्द में नायक के गुण पाए जाते हैं, किंतु वे कुछ न्यून मात्रा में होते हैं (जैसे मालती माधव में मकरंद)। मालविकाग्निमित्र में 'पीठमर्दिका' का पद एक विश्वसनीय मध्यस्थ के रूप में हुआ है। यह तपस्विनी कौशिकी पर लागू होता है। विट, जो चारुदत्त और मृच्छकटिक को छोड़कर अन्य गंभीर नाटकों में उपेक्षित रहा है, भाण में अपने पूरे वैभव में दिखाई देता है, जिसमें वह नायक के रूप में माना जाता है।

1. रुद्रट और रुद्रभट्ट के अनुसार विवाहिता स्त्री के साथ रति करना किसी नायक या काव्य में स्थायी रस का विषय नहीं बन सकता, किंतु वैष्णव गीतों का यही प्रधान या मुख्य विषय है।

2. भरत xxii, 197-206, धनंजय ii, 21 इत्यादि, विश्वनाथ iii. 61-70; शिंगभूपाल i. 121-125। केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर वेश्या कभी नायिका नहीं होती, किंतु किसी प्रेम-प्रसंग में यदि वह नायिका हो तो उसका प्रतिनिधान अवश्य होना चाहिए, किंतु यदि नायक देवता या राजपुरुष हो तो वह नायिका नहीं हो सकती। इसका अपवाद प्रहसन और प्रसंगतः भाण या शृंगारपूर्ण एकालाप में पाया जाता है जहाँ उसे हास्यपूर्ण प्रभाव के लिए अधम और लोलुप रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

होते हैं, जो प्रेमी उसके संबंध की दशा और स्थिति पर निर्भर करते हैं। उनके नाम हैं (1) स्वाधीनपतिका (ऐसी नायिका, जिसका पति पूर्णतया उसके नियंत्रण में हो), (2) उत्का या विरहोत्कंठिता (ऐसी नायिका, जो किसी आपदा अथवा विवशता के कारण संकेत-स्थल पर उपस्थित न होने के कारण निराश हो), (3) वासकसज्जिका (प्रेमी की आशा में बैठी हुई सुसज्जित नायिका), (4) विप्रलब्धा (वह नायिका, जिसे धोखा दिया गया हो), (5) कलहांतरिता, (इसे अभिसंधिता भी कहते हैं) ऐसी नायिका, जो कलह के कारण अलग हो गई हो, (6) खंडिता—प्रेमी में परस्त्रीगमन के चिह्नों का पता लगने के कारण क्रुद्ध हुई नायिका, (7) अभिसारिका—ऐसी नायिका, जो निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार संकेत-स्थल[1] पर अपने प्रेमी से मिलती है, (8) प्रोषित-पतिका—विदेश गए हुए प्रेमी के लिए दुखी नायिका। इस प्रकार हमें नायिकाओं का एक व्यापक वर्गीकरण प्राप्त होता है, जिसमें उनकी संख्या तीन सौ चौरासी तक पहुँचती है। और पीछे के लेखकों में से एक ने लिखा है कि नायिकाओं के और भी प्रकार हैं, किन्तु विस्तार भय के कारण उनका वर्णन नहीं किया जा सकता—विश्वनाथ iii, 88, पृ० 150।

किंतु आचार्यगण इतने विवेचन से ही शांत नहीं हुए। उन्होंने नायक में आठ अन्य विशेष गुणों का भी समावेश माना है। चारित्रिक गुण (सात्विक गुण) इस प्रकार हैं, (1) शोभा—इसमें वीरता, चातुर्य, सत्यता महत् जनों से स्पर्धा और लघुजनों के प्रति अनुकंपा की गणना होती है, (2) विलास—इसका पता उसकी दृष्टि, पद और हँसी से लगता है, (3) माधुर्य—इसका परिचय कठिन परिस्थितियों में भी नायक के शांत आचरण से प्राप्त होता है, (4) गांभीर्य—आवेगों पर नियंत्रण रखने को गांभीर्य कहते हैं, (5) स्थैर्य—लक्ष्य प्राप्त करने में दिखाई गई स्थिरता को स्थैर्य कहते हैं, (6) तेज या सम्मान की भावना—यह अपमान के प्रति दिखाई गई अधैर्य या क्रोध की भावना से प्रकट होती है, (7) ललित—वाणी, वेश-भूषा और आचरण के लालित्य से इसका पता लगता है, और (8) औदार्य—उदारता, मृदुभाषिता और शत्रु तथा मित्र के प्रति समान व्यवहार से इस गुण का परिचय मिलता है। नायिका में और भी अधिक उदार गुण पाए जाते हैं। पहले हम तीन शारीरिक (अगज)

---

1. सामान्यतया निम्नलिखित स्थान 'संकेत स्थल' माने जाते हैं—भग्न मंदिर, उद्यान, किसी मध्यस्थ का घर, कब्रिस्तान, नदी का किनारा या कोई अंधकारपूर्ण स्थान।

गुणों का वर्णन पाते हैं : (1) भाव—जो मनोवेग पहले मन में नहीं पाए जाते, उनका पहली बार संकेत मिलना 'भाव' कहलाता है, (2) हाव—आँखों और भौंहों की ऐसी भंगिमा, जिससे मनोवेगों के जागरण का संकेत मिलता है, 'हाव' कहलाता है, (3) हेला—मानसिक भाव के स्पष्ट और निश्चित प्रदर्शन को हेला कहते हैं। इसके पश्चात् नायिका के सात स्वभावज गुणों का वर्णन किया जाता है। जैसे—(1) यौवन की शोभा, (2) सौंदर्य और उमंग, (3) प्रेम से प्राप्त कांति का स्पर्श, (4) माधुर्य, (5) साहस, (6) औदार्य, (7) दीप्ति और आत्म-नियंत्रण। इसके पश्चात् उसके दस अलंकारों या गुणों का वर्णन किया जाता है। विश्वनाथ ने इनमें आठ गुण और भी सम्मिलित किए हैं। इनके अतिरिक्त नायिका की सभी भाव भंगिमाओं, मनोवृत्तियों, और मनःस्थितियों, जैसे हसित, चकित, किलकिंचित, मोट्टायित, विकृति, कुट्टमित तथा गहनतम और कोमलतम भावनाओं के प्रदर्शन का सूक्ष्मतम विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है। इस विवरण के अतिरिक्त उन मनोवृत्तियों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनसे विविध प्रकार की नायिकाएँ अपने स्नेह का प्रदर्शन करती हैं, मुग्धा के स्त्री-सुलभ कोमल आचरण का पता लगता है तथा अधिक अनुभवी अथवा प्रौढ़ा नायिका की निर्लज्ज प्रगल्भता ज्ञात होती है। इन प्रयासों में जिस सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति और अंतर्दृष्टि का पता लगता है, उसे हमें मान्यता देनी चाहिए, किंतु यदि स्पष्ट कहा जाए तो यह विश्लेषण रूप का अधिक, आत्मा का कम है। यह ऐसी बातों पर आधारित हैं, जिन्हें अत्यावश्यक आधार कहने की अपेक्षा घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें शास्त्रीय मान्यताओं का उपयोग तो किया ही गया है, साथ-ही-साथ तथ्यों के प्रति न्याय करने का भी त्रुटिहीन प्रयास किया गया है। यह प्रयास न केवल आचार्यों के अनुभव के अनुकूल है, बल्कि सामान्य काव्य-प्रयोग के अनुरूप भी है। और इस सामान्य सिद्धांत के विस्तृत विवेचन में कि रस विविध मनोवेगों या विभावादि की सहायता से किसी-न-किसी स्थायी भाव के आधार पर उत्पन्न होता है, काव्यशास्त्र के लेखकों ने उन काव्यात्मक भावों का बहुत ही व्यापक और सतर्क विश्लेषण किया है, जिनके मनोविज्ञान का उनके सिद्धांत से घनिष्ठ संबंध है, अतः इसका पृथक् रूप से अध्ययन समीचीन होगा।

4

नायक और नायिका के इस विस्तृत विषय का विवेचन विषय के अनुसार विभाव और अनुभाव के सिद्धांत के अंतर्गत आता है जो रस की उत्पत्ति में सहायक का कार्य करते हैं। वह भाव (मूड) जो इसका आधार है, स्थायी

भाव कहलाता है। इसे अँगरेजी में Dominant Feeling कहते हैं। यह विचारणीय ग्रंथ की मुख्य विषय-वस्तु है। इस भावों को भरत के अनुसार—जिन्हें इस विषय पर सभी लेखक अधिकारी विद्वान मानते हैं—आठ श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, जैसे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। हम आगे चलकर देखेंगे कि कुछ लेखकों ने इसमें शम या निर्वेद को भी जोड़ दिया है। ये स्थायी भाव विभावादि की सहायता से उतनी ही संख्या (आठ या नौ) के रसों में परिणत हो जाते हैं।[1] विभाव दो प्रकार[2] के होते हैं,

1. सिद्धांततः रस एक होता है, यह अखंड, अवर्णनीय और अवैयक्तिक आनंद होता है, किंतु इसे अपनी प्रकृति के अनुसार नहीं, बल्कि भावों के आधार पर, जो इसके अवलंब होते हैं, विभाजित किया जा सकता है। भरत (अध्याय vi) और अन्य आचार्यों ने प्रत्येक रस के संबंध में स्थायी भावों और विभावों इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका उल्लेख संभव नहीं है। इसका सारांश लिंडेनौ लिखित रसलेहरे (रसलहरी) लिपज़िग 1913, पृ० 18 इत्यादि में है। इस प्रकार वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है; असम्मोह, अध्यवसाय, नय, बल इत्यादि विभाव हैं; स्थैर्य, शौर्य, त्याग इत्यादि अनुभाव हैं; सांत्वना, गर्व इत्यादि संचारी भाव हैं। विश्वनाथ ने इनका उल्लेख कुछ भिन्न रूप में किया है। उनके अनुसार वीर रस के आलंबन विभाव पराजित किए जानेवाले व्यक्ति होते हैं और उनके कार्य तथा भाव-भंगिमाएँ उद्दीपन विभाव का कार्य करती हैं। इसके अनुभाव के अंतर्गत सहायकों और अनुयायियों की इच्छा या खोज की भावना आती है। इसके सहचारी भाव हैं धैर्य, बुद्धिमत्ता, स्मरण, चिंता इत्यादि। वीर रस के तीन रूप हो सकते हैं (भरत vi, 79, रेनो vi पृ० 80) जैसे युद्धवीर (युद्ध में साहस दिखाना), धर्मवीर, दानवीर। परवर्ती लेखकों ने (जैसे विश्वनाथ) इसमें दयावीर भी जोड़ दिया है। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक रस के लिए एक-एक विशेष रंग और प्रधान देव की व्यवस्था है। अतः लाल, कृष्ण, श्वेत, श्याम और धूसर वर्णों का रौद्र, भयानक, हास्य, शृंगार और करुण रसों से जो संबंध बताया गया है, वह असमीचीन नहीं है, किंतु यह कहना कठिन है कि भयानक को गहरा नीला, विस्मय को नारंगवर्णी और वीर रस को पीत क्यों माना गया है। इनके अधिष्ठाता देव विष्णु (शृंगार के), यम (करुण), रुद्र (रौद्र), इंद्र (वीर), काल (भयानक), महाकाल (शोक), ब्रह्म (अद्भुत) हैं। विश्वनाथ का कहना है कि शांत रस के अधिष्ठाता देव नारायण हैं और इससे संबंधित रंग को कुंद रंग कहते हैं।

2. भरत ने विभाव के इन दो भेदों को नहीं माना है, किंतु धनंजय ने इन भेदों का वर्णन किया है (iv. 2) और विश्वनाथ ने इनका वर्णन कर आगे के लिए इनकी परंपरा चला दी है।

जैसे—(1) आलंबन—इसके अंतर्गत ऐसे महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य तत्व, जैसे नायक, नायिका, प्रतिनायक और उनके सहायक आते हैं, (उद्दीपन—इसके अंतर्गत ऐसा समय, स्थान तथा परिस्थिति आती है, जो रस उत्पन्न होने में सहायक होती है, जैसे शृंगार रस के प्रसंग में चंद्रोदय या कोयल की कूक उद्दीपन का काम करती है। आंतरिक भावों के बाह्य लक्षणों को, जो किसी भाव के पीछे उत्पन्न होते हैं और उसे सबल बनाते हैं, अनुभाव कहते हैं, जैसे कटाक्ष, मुस्कान, अंग-विक्षेप या चित्रित व्यक्ति के प्रति दिखाई गई भावपूर्ण अनुभूति से उत्पन्न सहज भाव (सात्विक)[1] जैसे प्रलय, वैवर्ण्य, वेपथु इत्यादि। इनको पुनः आठ भागों में विभाजित किया गया है। इनके अतिरिक्त न्यूनाधिक मात्रा में अस्थायी या क्षणिक प्रकृति के कुछ और भाव भी होते हैं, जो स्थायी भाव के साथ-साथ अथवा उसके बीच-बीच में आते हैं और उसकी पुष्टि करते हैं और जैसा कि हम देख चुके हैं, इन्हें संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। उनकी तुलना राजा के अनुचरों या समुद्र की लहरों से की जा सकती है और स्थायी भाव को क्रमशः राजा या समुद्र कहा जा सकता है। इनका विस्तारपूर्वक वर्गीकरण किया गया है और इनके तैंतीस भेद माने गए हैं। सर्वप्रथम इनका वर्गीकरण और उल्लेख भरत ने किया था। (पीछे पृष्ठ 23 तथा उसके आगे) और उनके अनुयायियों ने उन्हें ज्यों-का-त्यों मान लिया।

ये सभी तत्व आठ या नौ स्थायी भावों को विविध प्रकार के आठ या नौ रसों तक पहुँचाते हैं। हमें आठ स्थायी भावों और उनसे उत्पन्न होनेवाले आठ रसों का सर्वप्रथम और सर्वाधिक शास्त्रीय वर्णन भरत के ग्रंथ (पृ० 23) में प्राप्त होता है। इनमें शृंगार, वीर, रौद्र और बीभत्स प्रमुख हैं। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति होती है—हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक। दंडी ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है (iv. 280-87) किंतु उद्भट ने नवें रस के रूप में शांत रस को भी इस संख्या में जोड़ दिया है,[2] हालांकि भरत ने न

---

1. पीछे पृ० 24, पा० टि० 2. परवर्ती ग्रंथों में सात्विक भावों को अनुभावों की एक विशेष श्रेणी माना जाने लगा।

2. निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह पद उद्भट का ही लिखा हुआ है। देखिए पीछे पृष्ठ 106 पा० टि० 2. शांत रस के संबंध में भरत और धनंजय द्वारा प्रस्तुत विवेचन के विषय में देखिए एस० के० डे लिखित 'सम प्रॉब्लम्स' पृ० 139-141. सामान्यतया रसों की संख्या और नाम के विषय में वी० राघवन लिखित 'नंबर ऑफ रसाज़', अड्यार, 1950.

तो इसकी परिभाषा दी है और न इससे संबंधित विभावों का उल्लेख किया है।[1] रुद्रट ने दसवें रस की एक निराली उद्‌भावना की है, जिसे प्रेयस् कहते हैं। भोज ने भी इसे स्वीकार किया है और शांत रस के साथ-साथ नए रस उदात्त और उद्धत भी गिनाए हैं। रुद्रभट्ट ने काव्य में नौ रसों को स्वीकार किया है हेमचंद्र और दोनों वाग्भटों ने भी ऐसा ही माना है। इसी प्रकार अग्नि पुराण में नौ रसों (और आठ स्थायी भावों) का उल्लेख किया गया है, किन्तु उसमें भी चार रसों को प्रधान रस मानने और श्रृंगार को विशेष महत्त्व देने में भरत का ही अनुकरण किया गया है। आनन्दवर्धन ने शांत रस को स्वीकार किया है (पृ० 139-238)। परवर्ती लेखकों ने, जिन्होंने शांत रस को नवाँ रस स्वीकार किया है, निश्चय ही निर्वेद को, जो तत्व-ज्ञान अथवा वास्तविकता के ज्ञान से उत्पन्न होता है, इसका स्थायी भाव माना है। कुछ विद्वानों ने इसे 'शम' कहा है, जो मानसिक उत्ताप[2] को चिंता से मुक्ति प्राप्त होने पर उत्पन्न होता है। वैष्णव लेखकों, विशेषकर कविकर्णपूर, ने दास्य, सख्य, वात्सल्य, प्रेम और भक्ति[3] को भी स्थायी भावों की संख्या में जोड़ा है।

दशरूपक के लेखक का कहना है कि निर्वेद या शम-जैसा कोई स्थायी भाव नहीं हो सकता, क्योंकि इस अवस्था के विकास से (यदि प्रेम, घृणा तथा अन्य मानवीय भावनाओं को पूर्णतया समाप्त करना किसी प्रकार संभव हो सके) सारे भाव समाप्त हो सकते हैं और नाटक में, जिसका उद्देश्य मनोभावों का वर्णन करना और उन्हें उद्दीप्त करना है, यह स्वीकार्य नहीं है। दूसरी ओर अन्य लोगों का कहना है कि शांत रस अवश्य होता है, क्योंकि इसका अनुभव उन लोगों ने किया है, जो इस आनन्दमयी स्थिति तक पहुंचे हैं, किन्तु नाटक साहित्य में इसके दो स्थायी भाव माने गए हैं। चूँकि निर्वेद उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें सारे सांसारिक कार्यकलाप बन्द हो जाते हैं या शम उस स्थिति

---

1. भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ आधुनिक संस्करणों में शांत रस के सम्बन्ध में जो पाठ प्राप्त होते हैं, वे प्रक्षेप हैं। ऊपर उद्धृत राघवन लिखित पुस्तक में पृ० 15 और उसके आगे देखिए। कालिदास को केवल आठ रसों का पता था। विक्रमोर्वशीय (ii. 18) में इसका वर्णन है और वहां भरत मुनि का भी उल्लेख किया गया है।

2. यह रस बीभत्स रस से भी निकट रूप से संबंधित है, क्योंकि यह सांसारिक वस्तुओं से विरक्ति के कारण उत्पन्न होता है।

3. एस० के० डे लिखित "वैष्णव फेथ एंड मूवमेंट" पृ० 195.

को कहते हैं, जिसमें मनुष्य सारे मानसिक उत्तापों से मुक्त होता है, अतः साहित्य में यह वर्णन-योग्य नहीं है। अतः मम्मट ने नाटक में आठ रस (पृ० 98) और काव्य में (पृ० 117) नौ रस स्वीकार किया है। भोज ने उस संप्रदाय के दृष्टिकोण के अनुसार, जिसमें शृंगार को विशेष प्रधानता दी जाती है, अपने 'शृंगार-प्रकाश' में एकमात्र एक रस अर्थात् शृंगार रस को ही स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में 'शांत' और 'प्रेयस्' सहित दस रसों का उल्लेख किया है,[1] किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ में रसों के विवेचन में सर्वाधिक ध्यान एकमात्र शृंगार रस पर ही दिया है। साहित्य में शांत रस स्वीकार्य है या नहीं, इसका विवेचन एकावली (पृ० 96-97) के संपादक ने किया है। उनका कहना है कि भरत ने स्थायी भावों के संदर्भ में उन्हें गिनाने के ठीक पश्चात् निर्वेद का उल्लेख व्यभिचारी भाव के रूप में किया है और व्यभिचारी भावों की सूची के प्रारंभ में भी इसका उल्लेख किया है। इस तथ्य का अर्थ यह है कि भरतमुनि इसे स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव दोनों ही मानते थे। हेमचंद्र ने यद्यपि शांत रस को नवां रस स्वीकार करने की सामान्य स्थापना से सहमति प्रकट की है, किंतु उन्होंने इस शब्दचातुरी को अस्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने प्रधानतया परंपरागत मान्य आठ रसों को (iii, पृ० 160) स्वीकार किया है, किंतु उपर्युक्त आचार्यों के विचारों का सम्मान करते हुए इस संख्या में नवें शांत रस को भी जोड़ा है और दसवां रस भी स्वीकार किया है, जिसे वात्सल्य रस कहते हैं। इस रस को स्वीकार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे वैष्णव विचारों से प्रभावित थे (पृ० 185-186)। उन्होंने एक छन्द का उद्धरण देकर इसकी व्याख्या की है कि वह भाव, जिसे महामुनियों ने शांत कहा है और अन्य सभी रसों में, जिसका आधार शम है, वह अवस्था है, जिसमें न दुःख होता है और न सुख, न घृणा होती है और न प्रेम और न कोई आकांक्षा।[2]

---

1. भानुदत्त ने (रसतरंगिणी में) रस के अंतर्गत माया की गणना की है। रुद्रट ने प्रेयस् रस का भी उल्लेख किया है, जिसे भोज ने भी स्वीकार किया है। कुछ लेखकों ने श्रद्धा और भक्ति को भी रस माना है। देखिए ऊपर उद्धृत भानुदत्त लिखित ग्रन्थ, पृ० 56 ii. 25 और उसके आगे (संस्करण रेनो)। शिंगभूपाल ने केवल आठ रसों को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने उसकी विवेचना केवल नाट्यशास्त्र की दृष्टि से की है।

2. न यत्र दुःखं, न सुखं न चिंता, न द्वेष-रागौ न च काचिदिच्छा। रसः स शांतः कथितो मुनींद्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः। दशरूपक में भी यह उद्धृत है (iv. 49, टीका)।

किंतु प्रश्न यह पैदा होता है कि शांत रस, जिसकी प्रकृति का वर्णन अभी किया गया है और जो केवल मोक्ष की ऐसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जिसमें किसी भी प्रकार के भाव या संचारी भाव मन में नहीं होते, रस कैसे बन सकता है ? रस की निष्पत्ति तभी होती है, जब उसके लिए आस्वादन-योग्य स्थिति हो।[1] इस आपत्ति के संबंध में विश्वनाथ का उत्तर यह है कि शांत रस भी रस होता है, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा मोक्ष-प्राप्ति के निकट होती है (युक्त-वियुक्त दशा) और पूर्णतया ईश्वर में तल्लीन नहीं हो गई रहती। अतः इस अवस्था में संचारी आदि भावों का मन में उपस्थित रहना असंगत नहीं है। ऐसा कहना कि इस अवस्था में आनंद का भी अनुभव नहीं होता, विरोधाभास नहीं है, क्योंकि यह आनंद तो केवल सांसारिक वस्तुओं के आनंद[2] तक ही सीमित होता है। इस विषय के अंतिम आचार्य जगन्नाथ ने नौ रसों का प्रतिपादन किया है और लिखा है (पृ० 29-30) कि अन्य रसों की भाँति शांत रस का भी अभिनय किया जा सकता है और दर्शक उसका आस्वादन कर सकते हैं। चूँकि मन की ऐसी अवस्था, जो अशांति से मुक्त होती है और जिस पर किसी प्रकार की वासना या आकांक्षा का प्रभाव नहीं होता, जब अभिनेता के कुशल अभिनय द्वारा प्रकट होती है तो वह वस्तुतः दर्शक के मन पर एक प्रभाव उत्पन्न करती है, अतः इस प्रश्न का निर्णय उसकी उस मनोदशा से होना चाहिए, जो उसकी शांत और तन्मतया की स्थिति से प्रकट होती है। पूर्ण विरक्ति का अभिनय या अभिनेता की इसे अभिनीत अथवा अभिव्यक्त करने की शक्ति विचारणीय विषय नहीं है, बल्कि विचारणीय विषय उस दर्शक की ग्रहण-शक्ति है, जिसे रस का अनुभव होता है। जगन्नाथ ने यह भी कहा है कि जो लोग इस रस को नाटक में स्वीकार नहीं करते, उन्हें भी काव्य में इसे स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि महाभारत जैसे काव्यों की मुख्य विषय-वस्तु शांत रस का वर्णन करना है, जो सार्वदेशिक अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुका है। (अखिललोकानुभवविद्धत्वात्)। इस संदर्भ में नागेश का कहना है कि शांत रस को नाटक में इस आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए कि 'प्रबोध चंद्रोदय' को सभी नाटक के रूप में स्वीकार करते हैं (पृ० 30)।

---

1. इत्येवं रूपस्य शांतस्य मोक्षावस्थायां एवात्मा-स्वरूपापत्ति-लक्षणायां प्रादुर्भूतत्वात् तत्र संचार्यादीनाम् अभावात् कथं रसत्वम्।
2. यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिक-सुख-परत्वान्न विरोधः।

जब हम रस के अत्यावश्यक आधार 'भाव' पर आते हैं तो हम देखते हैं कि भरत ने सामान्य शब्दों में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—भाव उसे कहते हैं, जो काव्यार्थ को तीन प्रकार के अभिनयों, जैसे वाचिक, आंगिक और सात्विक द्वारा प्रकट करता है।[1] भाव ही यदि वह स्थायी भाव है तो अन्त में रस बनता है, अतः यही रस-निष्पत्ति के लिए आधार का कार्य करता है। ।कंतु परवर्ती लेखकों ने अधिक सूक्षमता-परिशुद्धता का परिचय दिया है और शास्त्रीय दृष्टि से इस पद (भाव) का प्रयोग उन स्थितियों के लिए किया है, जिनमें रस का समुचित या पूर्ण विकास न हुआ हो। धनंजय और भानुदत्त दोनों ने भरत द्वारा दी गई परिभाषा का विस्तार किया है। भानुदत्त ने इसे ऐसा 'विकार' अथवा स्वभाविक मानसिक अवस्था से विपथन बतलाया है, जो रस-निष्पत्ति में सहायक (रसानुकुल) होता है। यह या तो शारीरिक (शरीर) होता है अथवा मानसिक आंतर। किंतु मम्मट ने भाव की संकल्पना का रूप इस प्रकार निश्चित किया है—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः (रति का विषय कोई देव अथवा ऐसा ही अन्य कोई अधिष्ठाता होता है तथा इसके अपने व्यंजित व्यभिचारी भाव भी होते हैं), इस पर उन्होंने यह टीका भी लिखी है—'आदि शब्दान्मुनि-गुरु नृप-पुत्रादि-विषया कांता-विषया तु व्यक्ता शृंगारः।' गोविंद ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'रति' शब्द का तात्पर्य यहाँ उस स्थायी भाव से है, जो रस की अवस्था को प्राप्त न हुआ हो।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जब रति-जैसे स्थायी भावों का विषय देवता, राजा, पुत्र और ऐसे ही अन्य लोग होते हैं या जब व्यभिचारी भाव किसी साहित्यिक रचना में प्रमुख रस के रूप में अभिव्यक्त किए जाते हैं तो उन्हें रस नहीं कहते, बल्कि भाव कहते हैं और उनके पश्चात् सभी लेखको ने उनकी इस परिभाषा को स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भाव की व्याख्या इस प्रकार की है :—

संचारिणः प्रधानानि, देवादि-विषया रतिः ।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब संचारी भाव प्रधान हों अथवा जब प्रेम (रति) का विषय कोई देव अथवा उसके जैसा ही और कोई हो अथवा

---

1. कभी-कभी इसमें चौथे प्रकार का अभिनय भी जोड़ दिया जाता है, जैसे आहार्य, जो वेशभूषा, साज-सज्जा इत्यादि से प्राप्त होता है।
2. रतिरिति स्थायी-भावोपलक्षणम् देवादिविषयेत्यप्यप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्।

जब स्थायी उद्‌वुद्ध मात्र हो तो उसे भाव कहते हैं। उपर्युक्त छंद के विषय में स्वयं उन्हीं की वृत्ति में इसकी इस प्रकार व्याख्या दी गई है—यद्यपि ये सभी रस के अनुषंगी होते हैं, जिसमें ये अंततः निवास करते हैं, किंतु ऐसे संचारी भाव, जिनका प्रधान भाव के रूप में विकास होता है, जैसे कोई नौकर अपने विवाह के समय अपने राजा के भी आगे-आगे चलता है, या रति इत्यादि, जिसका विषय देवता, मुनि, आध्यात्मिक गुरु, राजा या राजा-जैसा अन्य कोई व्यक्ति होता है या ऐसे स्थायी भाव, जो उद्‌बुद्ध होते हैं और पूर्ण विकसित न होने के कारण रस की अवस्था तक नहीं पहुँचे होते हैं, भाव कहलाते हैं। इन सभी स्थितियों मे बाह्य रूप से रस का पूर्ण या समूचित परिपाक नहीं होता। अतः उत्तरकाल में जो ग्रंथ लिखे गए, उनमें भाव को अपूर्ण रस के रूप में ही वर्णित किया गया है। किंतु इसे रसाभास या मिलते जुलते भावाभास से भिन्न समझना चाहिए, जो तब उत्पन्न होते हैं, जब रस और भाव की असत्य प्रतीति होती है, (जैसा कुमारसंभव में पशुओं में भी रस उत्पन्न होने का वर्णन आया है, अध्याय 3, पृ० 36-37) अथवा उसकी निष्पत्ति असंगत रूप में होती है, जैसे सभी तत्वों[1] के न होने के कारण जब उनमें परिपूर्णता का अभाव होता है। भोज के अनुसार ये स्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं, जब किसी हीन पात्र, पशु (तिर्यक्), प्रतियोगी नायक या किसी अन्य गौण पदार्थ में भाव या संवेग का विकास (परिपाक) होता है।[2] किंतु विश्वनाथ ने अन्य अनेक स्थितियों का विस्तार से सारांश दिया अध्याय है (3, पृ० 263-66) और रसों के प्रसंग में आनेवाली असंगतियों की विशेष रूप से विवेचना की है। अतः यदि भयानक रस का निवास किसी सज्जन व्यक्ति में कराया जाए या हास्य रस का निवास किसी धार्मिक गुरु में तो यह असंगति होगी। जैसा कि जगन्नाथ ने कहा है, यह ध्यान देने योग्य बात है कि यदि किसी भाव का विकास असंगत रूप से होता है तो जब तक यह असंगति अवरोध काम न

---

1. अनौचित्य-प्रवृत्तत्वे आभासो रसभावयोः (मम्मट) की व्याख्या इस प्रकार की गई है—अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादि-प्रणीतक्षणानां सामग्री रहितत्वेकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।
2. शिंगभूपाल ने दोनों स्थितियों में अंतर बतलाया है (1) पहली स्थिति तब मानी जाती है, जब रस का संबंध किसी निर्जीव पदार्थ से बताया जाता है, और दूसरी स्थिति तब होती है, जब रस का परिपाक किसी हीन पात्र में या पशु में होता है।

करे, तब तक इसे दोष नहीं कहा जायेगा ।[1]

इसी तरह (1) जब रस का उदय मात्र होता है (और उसका पूर्ण परिपाक नहीं हुआ रहता), या (2) जब दो विरोधी रस, जिनकी अभिव्यंजना एक ही स्थान पर और एक ही समय में होती है, अपनी प्रधानता के लिए प्रयास करते हैं, या (3) जब अनेक रसों में से प्रत्येक अगला रस पिछले को दवा देता है तो इन स्थितियों को क्रमशः भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलता कहते हैं । अब रस को इन सभी अवस्थाओं को, जहाँ तक वे आस्वादन के योग्य हैं, प्रकरण की दृष्टि से रस ही माना जाता है (सर्वेऽपि रसनाद् रसः)। इन स्थितियों को भरत ने औपचारिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया है, किंतु उन्होंने इनका संकेत अध्याय 6 पृ० 40 पर दिया है, जिसकी सूचना हमें अभिनवगुप्त की टीका के छठे अध्याय में मिलती है, जिसका कुछ अंश उन्होंने अपने ग्रंथ लोचन के पृ० 66 पर उद्धृत किया है । सबसे पहले उनका उल्लेख उद्भट ने किया है, जिन्होंने उनका समावेश 'ऊर्जस्विन्' के भीतर माना है (iv. 6), किंतु रुद्रट (xii. 4) और ध्वनिकार (ii. 3) की रचनाओं में उन्हें पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है ।

किसी एक ही वर्ण्य विषय में रस के अपूर्ण परिपाक तथा इसकी अधीनता और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले विरोधी रसों की स्थितियों में भेद समझना चाहिए। यह विधिवत् निश्चित माना जाता है कि कुछ रस स्वभावानुसार एक दूसरे के विरोधी होते हैं, जैसे शृंगार रस बीभत्स रस का विरोधी है, वीर रस शांत रस का विरोधी है, तथा इसी प्रकार अन्य कुछ रसों में भी परस्पर विरोध है ।[2]

असंगति या विरोध तीन प्रकार से उत्पन्न होता है, जैसे (1) आलंबन विभाव से तादात्म्य होने से, (2) भाव के विषय से तादात्म्य होने से और (3) आनुपूर्व या अनुक्रम के नैकट्य से। उपर्युक्त दो स्थितियों में उत्पन्न होनेवाली असंगति को क्रमशः ऐसे रसों का निष्पादन करके दूर किया जा सकता हैं, जिनके आलंबन विभाव भिन्न-भिन्न हों अथवा जो भिन्न-भिन्न आलंबनों (जैसे—नायक और प्रतिद्वंद्वी नायक) में पाए जाते हों। असंगति या विरोध की अंतिम स्थिति को तत्काल एक दूसरे के बाद आनेवाले रसों के स्थान पर

---

1. यावतात्वनौचित्येन रसस्य पष्टिस्तावत् तु न वार्यते रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेधत्वात् ।
2. कुछ रस परस्पर एक दूसरे के अनुकूल होते हैं, जैसे करुण और बीभत्स रस, वीर रस के साथ आते हैं। हास्य रस के साथ-साथ शृंगार रस

एक ऐसे रस की सृष्टि करके दूर किया जा सकता है, जो उनके प्रतिकूल न हो। ये ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जहाँ दो या दो से अधिक रस प्रधान रस और गौण रस के रूप में आते हैं। यहाँ 'गौण' शब्द भ्रामक है। कभी-कभी इसे अनुषंगी रस (या संचारी रस) कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यह अपने में स्वयं परिपूर्ण नहीं हो सकता। साथ ही यह पूर्ण विकसित रस और अपूर्ण विकसित भाव[1] मात्र से भिन्न होता है जहाँ किसी विरोधी रस का वर्णन या विवेचन तुलना की दृष्टि से किया जाता है, वहाँ कोई असंगति नहीं होती। वस्तुतः ये सारे प्रश्न रस-संबंधी औचित्य के सिद्धांत के अंतर्गत आते हैं, जिसकी विशद विवेचना आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायियों ने की है। अंततः यह ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत पर आधारित है। (पृ० 145) और इसके आगे, लोचन (पृ० 138), जिसमें सामान्य शब्दों में कहा गया है कि रस का रहस्य औचित्य के प्रतिष्ठित नियमों का अनुपालन करने में निहित है।

ध्वन्यालोक के इस सिद्धांत ने, कि ऐसे साहित्य में, जिससे रस जागृत किया जाता है, विविध प्रकार के औचित्यों (जैसे वक्ता, विषय, विभावादि के प्रयोग, अलंकारों और अन्य तत्वों के प्रयोग, पृ० 134 और 144 इत्यादि) का ध्यान रखा जाना चाहिए और प्रधान रस को कुछ विरोधी तत्वों से बचाया जाना चाहिए, औचित्य के सिद्धांत को जन्म दिया है। परवर्ती लेखकों ने इस विषय का विवेचन रस-दोष के विवेचन के अंतर्गत किया। इस प्रकार उत्तरकाल में लिखे गए ग्रंथों में बामन के समय से चले आते पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ के दोषों के अतिरिक्त रस-दोष को पृथक् और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। केवल क्षेमेंद्र ने ही इस विषय के महत्त्व पर बल दिया है। उन्होंने इसी को अपने औचित्य विचार चर्चा का विषय

आता है (देखिए भरत लिखित, नाट्य शास्त्र, vi. 40) विश्वनाथ के अनुसार (1) श्रृंगार के विरोधी रस करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक हैं। (2) हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं। (3) करुण के हास्य और श्रृंगार हैं। (4) रौद्र के हास्य, श्रृंगार और भयानक हैं। (5) वीर के भयानक और शांत हैं। (6) भयानक के श्रृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत हैं। (7) शांत के वीर, श्रृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक हैं और (8) बीभत्स का श्रृंगार है। विश्वनाथ ने परस्पर-विरोधी रसों का इस प्रकार उल्लेख किया है : श्रृंगार-बीभत्स, वीर-भयानक, रौद्र-अद्‌भुत; हास्य-करुण।

1. अतएवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातंत्र्य-विश्राम-राहित्यात् पूर्ण रस-भाव मात्राच्च विलक्षणतया, संचारी-रस नाम्ना-व्यपदेशः प्राच्यानाम्; विश्वनाथ, पृ० 420।

बनाया है, जिसका विवरण यथास्थान देखने को मिलेगा। महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ के दूसरे अध्याय में अनौचित्य के प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार क्रमशः शब्द और अर्थ की दृष्टि से अनौचित्य या असंगति के दो पहलू होते हैं। इसके पश्चात् उन्होंने शब्द विषय और अर्थ विषय के बहिरंग और अंतरंग औचित्य पर विचार किया है। अंतरंग औचित्य के प्रसंगों का, जो विभाव इत्यादि के उचित प्रयोग के कारण उत्पन्न होते हैं, विवेचन पूर्ववर्ती लेखक पहले ही कर चुके हैं (जैसे ध्वन्यालोक पृ० 144 इत्यादि)। अतः महिमभट्ट ने बहिरंग औचित्य के प्रश्न को उठाया है। उनके विचारानुसार यह साहित्य के पाँच दोषों के अंतर्गत आता है, जैसे 'विधेयाविमर्श' (विधेय के साथ भेद-भाव न करना), प्रक्रम भेद, क्रम-भेद, पौनरुक्त्य, वाच्य-वचन (कथनीय प्रसंग का अभाव)। उन्होंने अन्य प्रसंग-व्यतिक्रमों के साथ-साथ दूसरे अध्याय का शेष भाग इन्हीं के विवेचन और उदाहृण देने में लगा दिया है। यह कहना कठिन है कि अभिव्यंजना की केवल इन्हीं त्रुटियों को ऐसा दोष क्यों माना जाता है, जो इस भंग के कारण माने जाते हैं। परवर्ती लेखकों ने इन्हें सामान्य दोषों के अंतर्गत दिखाया है और रस-विरोध के प्रसंगों को रस-दोष के विशिष्ट उदाहरण माना है।

●

अध्याय : 20

कवि-शिक्षा-विषयक लेखक

वस्तुतः जिन थोड़े से लेखकों ने कवि-शिक्षा विषय का विवेचन किया है, उनका वर्णन सीधे सामान्य काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत नहीं आता, फिर भी उनका उल्लेख आवश्यक है। इसका एक कारण तो यह है कि इनमें से कुछ लेखक प्रतिष्ठित और आधिकारिक विद्वान माने जाते हैं, किंतु प्रधान कारण यह है कि इससे एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, जो काव्यशास्त्र के अनुशासनात्मक पहलू पर बल देता है। यह काव्यशास्त्र का व्यावहारिक पहलू है, जिसका विकास इसके सामान्य सिद्धांतों के सैद्धांतिक पक्ष के साथ-साथ हुआ है। इन ग्रंथों में काव्य-शास्त्र के परम्परागत विषयों, इसके सिद्धांतों, मतों, परिभाषाओं इत्यादि का विवेचन नहीं किया गया है। इनका प्रधान कार्य दीपिका के रूप में कवियों का, उनके कार्य अथवा व्यवसाय में, मार्ग-दर्शन करना है। इनका प्रमुख उद्देश्य कवि-शिक्षा अथवा काव्य-रचना के आकांक्षी कवि को काव्य-कला की शिक्षा देना है। तिथियों या आंकड़ों के अभाव में इस संप्रदाय की उत्पत्ति का समय निश्चित करना कठिन है, किंतु इस संप्रदाय ने जो प्रवृति अपनाई है, वह महत्त्वपूर्ण है। यह प्रवृत्ति प्रायः काव्यशास्त्र के मूल दृष्टिकोण के समान ही व्यापक मानी जाती है, जिसे न्यूनाधिक रूप में यांत्रिक माना जाता है[1]। सामान्य काव्य-शास्त्र के प्राचीन और आधुनिक लेखकों ने निस्संदेह समय-समय पर कवि-शिक्षा के व्यावहारिक पहलू का स्पर्श किया है[2]। किंतु यह असंभव नहीं है कि यह विषय कालांतर में पृथक् अध्ययन का विषय बना और इन सुगम गुटकों की संख्या बढ़ती गई किंतु तुलनात्क दृष्टि से इनकी प्रतियां हमें बहुत बाद प्राप्त होती है।

---

1. पीछे पृ० 32-33 और पादटिप्पणी 2 देखिए।
2. पीछे पृ० 40 और इसके आगे देखिए।

1

क्षेमेंद्र

क्षेमेंद्र की दो कृतियाँ 'औचित्य-विचार-चर्चा' और 'कवि-कंठाभरण', जिन्हें आसानी से यहाँ एक साथ रखा जा सकता है, अनेक दृष्टियों से विलक्षण और महत्त्वपूर्ण हैं। औचित्य[1] के सिद्धांत के विवेचन में उन्होंने मुख्यतया रस के संबंध में आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित विषय को ही अपनी खोज का विषय बनाया है। इस विषय का स्पष्ट रूप ध्वन्यालोक के प्रायोल्लिखित या बहुचर्चित इस छंद में पाया जाता है—अनौचित्य से बढ़कर रस-भंग के लिए और कोई परिस्थिति नहीं होती; रस का सर्वोच्च रहस्य औचित्य के प्रतिष्ठित नियमों का पालन करने में निहित होता है[2]। इस का वर्णन करने में औचित्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है। और विषय-वस्तु, वक्ता, जागृत किए जानेवाले रस की प्रकृति या रस को जागृत करने से प्रयुक्त साधनों के आधार पर इस विषय के, जिसकी कल्पना भरत ने (जिन्होंने उदाहरणार्थ अनुभावों के प्रयोग की बात कही है) की थी, विविध रूप हो सकते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस विषय का बहुत कुछ विवेचन ध्वनि-संप्रदाय के प्रतिपादकों, महिमभट्ट तथा अन्य अनेक उत्तरकालीन लेखकों ने सामान्यतया रस-दोष के अन्तर्गत किया है। क्षेमेंद्र ने इस विचार को विकसित किया है और वे उस चरम सीमा तक ले गए हैं। उन्होंने औचित्य को रस का सार (रस-जीवितभूत) बताया है और रसास्वादन के लिए चमत्कार या सौंदर्यानंद को अत्यावश्यक माना है। इसी तत्त्व के कारण काव्य के अलंकार और गुण का औचित्य सिद्ध होता है और उन्हें उनका वास्तविक महत्त्व प्राप्त होता है। अतः इन्हें यथार्थतः काव्य की आत्मा कहा जा सकता है।[3] जो बात किसी विषय के लिए उपयुक्त या अनुरूप होती है, वह उसके लिए 'उचित' कहलाती है।[4] काव्य में अनेक प्रसंगों, जैसे, पद, वाक्य, प्रबंधार्थ,

---

1. वी० राघवन 'सम कांसेप्ट्स', पृ० (194-257) ने औचित्य के इतिहास का सुन्दर और विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।
2. अनौचित्याद् ऋते, नान्यद् रस-भंगस्य कारणम्।
   प्रसिद्धौचित्य-बंधस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥
3. काव्यमाला, गुच्छक, पृ० 115-116।
4. 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्' वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है : 'यत् किल यस्यानुरूपम् तद् उचितम् उच्यते'—पाक और शय्या के सिद्धांत के संबंध में, जो औचित्य के सिद्धांत का समवर्ती है, देखिए पीछे पृ० 215-216।

काव्य के गुण, इसके अलंकार, रस, क्रिया के प्रयोग, कारक, लिंग, वचन, संबंध-बोधक अव्यय, विशेषण, उपसर्ग के प्रयोग या देश और काल के विचार के संदर्भ में इसकी आवश्यकता पड़ती रहती है, और इनके प्रयोग की परिस्थितियों की संख्या निश्चित रूप से 27 मानी जाती है (श्लोक 8-10)। इन परिस्थितियों या प्रसंगों में से प्रत्येक परिस्थिति की प्रत्येक बात का विवेचन भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से बड़े-बड़े उदाहरण लेकर किया जाता है। इसकी सबसे लोकप्रिय प्रणाली यह है कि पहले किसी नियम के समर्थन में छंदों के उदाहरण दिए जाते हैं और तब उनमें से एक या दो ऐसे छंदों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, जो नियम का समर्थन नहीं करते। इस सिद्धांत में स्वयं कोई मौलिक बात नहीं है, क्योंकि यद्यपि इस सिद्धांत के अनुसार इस बात पर ठीक ही यह जोर दिया जाता है कि काव्य में औचित्य का समुचित स्तर बना रहना चाहिए, फिर भी इसमें यह मान लिया जाता है कि काव्य की कसौटी बहुत कुछ अपनी-अपनी रुचि और वैयक्तिक गुण-ग्राहिता पर निर्भर होती है। आनंदवर्धन तथा अन्य लोगों ने इस भावना को 'सहृदयत्व' कहा है, किंतु इसकी परिभाषा बड़ी अस्पष्ट है या यों कहा जाए कि इसे अस्पष्ट होना ही था, इसीलिए इसका पूर्ण रूप से विधिवत् विवेचन नहीं किया जा सकता। यह वस्तुत: रुचि या आलोचना का क्षेत्र है, न कि विशुद्ध काव्यशास्त्र का।

साथ ही इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि संस्कृत साहित्य के इस प्रकार के ग्रंथों के जो स्पष्टतः काव्येष्णु कवियों के मार्गदर्शन के लिए लिखे गए हैं, काव्यगत औचित्य के विवेचन से रूढ़िगत काव्यशास्त्र के घिसे-पिटे मार्ग से भिन्न चलनेवाली सच्ची समालोचना की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। और चाहे कुछ भी हो, इन ग्रंथों ने अपने सरल ढंग से रुचि और समीक्षात्मक निर्णय का एक मानक स्थापित किया है। निस्संदेह काव्यशास्त्र के अधिकांश लेखकों ने समीक्षात्मक प्रवीणता के प्रति प्रवंचना दिखाई है और किसी नियम या सिद्धांत का विवेचन करते समय, विशेषकर दोष और गुण के अध्यायों में, हमें बहुत मात्रा में समीक्षात्मक और अर्ध-समीक्षात्मक सामग्री प्रदान की है, किंतु दृढ़ नियमों और विशिष्ट परिभाषाओं[1] से बंधे रहने के कारण उनका दृष्टिकोण प्राय: और अवश्यमेव सीमित दिखाई पड़ता है।

---

1. हम देख चुके हैं कि कृत्रिम काव्य के विकास के कारण अलंकारशास्त्र का विश्लेषण और अध्ययन अत्यावश्यक बन गया था। किंतु अलंकारशास्त्र

इस प्रसंग में क्षेमेंद्र के ग्रंथ का अद्वितीय महत्त्व है और उसका कुछ अंश, जिसमें दृष्टिांतयुक्त छंदों का विवेचन हुआ है, अत्यंत रोचक है। इसे मूल्यांकन के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में ऐसे अंश अपेक्षाकृत दुर्लभ हैं। क्षेमेंद्र ने अपनी सीमाओं के भीतर प्रशंसा और निंदा दोनों की है और ऐसे सच्चे समालोचक की भूमिका निभाई है, जो मात्र व्यक्ति के रूप में किसी का आदर नहीं करता, यहाँ तक कि अमर, कालिदास और भवभूति के सम्मानित नामों के आने पर भी उनके विवेचन में कोई अंतर नहीं आता। एक से अधिक स्थलों पर उन्होंने अपनी रचनाओं से विविध श्लोकों का उद्धरण देकर, किसी नियम द्वारा निर्धारित किसी गुण या दोष के दोनों पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं और कुछ प्रसंगों में तो उन्होंने परंपरागत सम्मतियों का विरोध करने में भी संकोच नहीं किया है।[1] उनके समीक्षात्मक विवेचन का आंतरिक मूल्य चाहे कुछ भी हो, उसमें से कुछ तो बहुत ही साधारण और अपरिष्कृत दिखाई पड़ता है; किंतु उससे यह पता चलता है कि उनका संपूर्ण

के अंतर्गत समीक्षा भी आ जाती है (और कभी-कभी इसका विवेचन ही समीक्षा बन जाता है।) किंतु ऐसे आलंकारिकों के लिए यह असंभव-सा हो जाता है, जो साहित्य के रूप और सामान्य विषय से बचने के लिए नियमों के आधार पर सिद्धांत बनाते हैं। अतः अधिकांश ग्रंथों में, चाहे वे सामान्य काव्यशास्त्र पर लिखे गए हों अथवा अलंकारशास्त्र पर, कुछ-न-कुछ समीक्षात्मक सामग्री होती ही है, जिससे बचा नहीं जा सकता। यह भी स्मरणीय और उल्लेखनीय है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने सौंदर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र में कोई सूक्ष्म भेद नहीं किया था और न तो इन शास्त्रों के विस्तार-क्षेत्र की कोई कल्पना की थी। इन आचार्यों ने काव्यशास्त्रसंबंधी अपने विचारों को मुख्यतया सुनिश्चित वर्तमान श्रेण्य संस्कृत साहित्य से प्राप्त किया था। यद्यपि वह साहित्य अपनी आंशिक पूर्णता में बड़ा महनीय था, किंतु सामान्य समालोचना की दृष्टि से वह संपन्न नहीं था। उस समय तुलना के लिए किसी अन्य साहित्य का न होना भी एक बहुत बड़ी कठिनाई थी। बाद की प्राकृत तथा अन्य अनुषंगी जो भाषाएँ निकलीं, वे सब संस्कृत से ही उत्पन्न हुई थीं। इस व्याख्या से किसी अंश तक यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनका दृष्टिकोण इतना सीमित क्यों था और उनके सिद्धांत तथा परिभाषाएँ इतनी दकियानूसी या पुरास्क्त क्यों थीं।

1. उदाहरणार्थ एक रचना की विषय-वस्तु के औचित्य के प्रश्न का विवेचन करते हुए उन्होंने कुमारसंभव के अध्याय 8 (पृ० 120) का—जिसे वे कालिदास की कृति मानते हैं—उद्धरण दिया है और कवि की, हर और

श्रेण्य काव्यशास्त्र से व्यापक परिचय था और निश्चय ही उनकी रुचि परिष्कृत थी। यदि इस सामान्य कहावत में कि 'प्रायः असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है', कुछ भी बुद्धिमत्ता है तो यह क्षेमेंद्र पर पूर्णतया लागू होती है, क्योंकि वस्तुतः उनकी समालोचना-शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

क्षेमेंद्र का दूसरा ग्रन्थ कवि-कंठाभरण,[1] यद्यपि उससे कम रोचक है, किंतु अपनी नवीन प्रतिपादन-शैली के कारण वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है। क्षेमेंद्र ने काव्य-सृजन की क्षमता प्राप्त करने के लिए दो प्रकार की प्रेरणाओं की कल्पना की है—दैवी सहायता (दिव्य प्रयत्न) और वैयक्तिक प्रयास (पौरुष)। पहली प्रेरणा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना, मंत्र-जप और दैवी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। दूसरी प्रेरणा प्राप्त करनेवाले काव्येष्णुओं को उन्होंने तीन कोटियों में विभक्त किया है।[2] जैसे, ऐसे व्यक्ति, जिनके लिए थोड़े प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है (अल्पप्रयत्न साध्य); वे व्यक्ति, जिनके लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है (कृच्छ्र साध्य) और वे लोग, जिनके लिए सारा प्रयत्न निष्फल होता है (असाध्य)। उन्होंने यह कहकर इसे समाप्त किया है कि काव्य-सृजन की क्षमता केवल योग्य और कुछ थोड़े ही व्यक्तियों में पाई जाती है। दूसरे अध्याय में दूसरों की रचनाओं से उद्धरण लेने या काव्य की चोरी[3] करने की समस्या पर सोदाहरण

पार्वती की कामचेष्टा को साधारण व्यक्ति की कामचेष्टा के रूप में वर्णित करने की रीति की निंदा की है। उन्होंने आनन्दवर्धन के साक्ष्य या प्रमाण के प्रतिकूल ऐसा किया है, जिन्होंने अश्लीलता के आरोप के विरुद्ध ऐसे साहित्य का समर्थन किया है।

1. इस ग्रंथ की एक रूपरेखा स्कोनवर्ग (वियेन 1884) द्वारा संपादित 'क्षेमेंद्र्स कविकंठाभरण' के पृ० 9 और उसके आगे के पृष्ठों पर प्राप्त होती है। इस ग्रंथ की पाँच संधियों या पाँच अनुभागों में निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है: (1) अकवि द्वारा कविता की प्राप्ति (अकवेः कविता-वाप्तिः), (2) प्रतिभाशाली कवि को काव्य की शिक्षा (शिक्षा प्राप्त-गिरः कवे), (3) चमत्कृति और काव्य के दोष और गुण, (4) काव्य में चमत्कार के लिए अन्य कलाओं और विज्ञानों का कवि को परिचय (परिचय चारुत्व)।
2. देखिए वामन i. 2, i. 5; राजशेखर iv.
3. बाण ने (हर्ष-चरित i. 5-6) क्षुद्र कवियों और कविता चुरानेवालों की स्पष्ट निंदा की है। वामन काव्यशास्त्र पर लिखनेवाले पहले ग्रंथकार हैं, जिन्होंने अर्थ का वर्गीकरण करते समय काव्य-चौर्य की समस्या का उल्लेख किया है।

विचार हुआ है। काव्यचौर्य की समस्या पर 'ध्वन्यालोक'[1] के चौथे अध्याय में कुछ विवेचन किया गया है, किंतु इसका विस्तृत विवेचन तो राजशेखर[2] ने किया है। इस दृष्टि से क्षेमेंद्र ने कवियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया है—(1) ऐसे लोग, जो कवि का छायानुकरण करते हैं (छायोपजीविन्), (2) ऐसे लोग, जो शब्द या पद चुराते हैं (पदक और पद उपजीविन्) या संपूर्ण कविता चुराते हैं (सकलोपजीविन्), (3) और वे लोग, जो संसार भर में वैध माने जानेवाले स्रोतों से कविता चुराते हैं (भुवनोपजीव्य, जैसे व्यास)। इसके पश्चात् उन्होंने कवि के जीवन, चरित्र और उसकी शिक्षा के संबंध में विस्तृत रूप से नियमों का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् चमत्कार या रमणीयता का निरूपण किया गया है, जिसके बिना कहा जाता है कि किसी रचना का काव्य कहा जाना संभव नहीं है। इसके साथ-ही-साथ (भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से उद्धरण लेकर) चमत्कार या रमणीयता के दस रूपों के उदाहरण भी दिए गए हैं, जैसे यह रमणीयता बिना

---

1. इस तथ्य के बावजूद कि सैकड़ों कवियों ने ऐसे ग्रन्थों की रचना की है, जो शतियों तक चलते हैं, आनन्दवर्धन की सम्मत्ति में काव्य का क्षेत्र असीमित है, किंतु दो प्रबुद्ध कवियों के विचारों में कुछ समानता हो सकती है। यह समानता इस प्रकार की हो सकती है, जैसी किसी वस्तु और उसकी छाया के बीच होती है, जैसी किसी वस्तु और उसके चित्र के बीच होती है या जैसी दो व्यक्तियों के बीच होती है। पहले कही गई दो प्रकार की समानताओं से बचना चाहिए, किंतु तीसरे प्रकार की समानता आकर्षक है (iii. 12-13)।

2. अध्याय xi और xii में। उनके विचारों का सारांश जानने के लिए देखिए वी० एम० कुलकर्णीकृत 'संस्कृत राइटर्स ऑन प्लेगियरिज्म' में JOS iii. (1954) पृ० 403-411. राजशेखर ने यह घोषणा की है कि ऐसा कोई कवि नहीं है, जो चोरी न करता हो; ऐसा कोई सौदागर नहीं है, जो चोरी नहीं करता; किंतु जो चोरी को छिपाना जानता है, वह बिना किसी बदनामी के, उन्नति करता जाता है। उन्होंने दो प्रकार के काव्य चौर्य की विवेचना की है, एक तो वह, जिसका परिहार किया जाना चाहिए; दूसरी वह, जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए। उनकी सम्मति में कोई कवि या तो उत्पादक हो सकता है, या परिवर्तक या आच्छादक या संग्राहक। वह व्यक्ति, जो किसी शब्द और अर्थ में नवीनता का अवलोकन करता है और कुछ प्राचीन विषयों का वर्णन करता है, वह महान् कवि कहा जा सकता है। काव्य चोरी की दृष्टि से जहाँ तक अन्य योनि, निह्नुत योनि या अन्योनि का प्रश्न है, राजशेखर ने अर्थ का व्यापक वर्गीकरण किया है। इसका विवरण आगे राजशेखर के विवेचन के अन्तर्गत देखिए।

विचार किए अथवा अधिक विचार करने पर पाठक को द्रवीभूत करती है (अविचरित रमणीयता या विचार्यमाण रमणीयता)[1] यह संपूर्ण रचना में पाई जाती है अथवा उसके किसी अंश में, यह ध्वनि पर आधारित है या अर्थ पर या दोनों पर, यह अलंकार के कारण है या रस के कारण अथवा विषय-वस्तु की सुप्रसिद्धि के कारण इत्यादि। इसके पश्चात् किसी रचना में आनेवाले अर्थ, शब्द और रस के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् उस ज्ञान-क्षेत्र का संकेत देकर ग्रंथ को समाप्त किया गया है, जो किसी कवि में अवश्य होना चाहिए, साथ ही उन कलाओं और विज्ञानों की लंबी सूची दी गई है, जिसमें किसी कवि को प्रवीण होना चाहिए, उसका विवरण इस प्रकार है—'तन्त्रतर्क-व्याकरण-भरत-चाणक्य—वात्स्यायन भारत—रामायण-मोक्षोपायात्म-ज्ञान धात्वाद-रत्न-परीक्षा-वैद्यक - ज्योतिष-धनुर्वेद-गज - तुरंग-पुरुष-लक्षणाद्युतेंद्रजालप्रकीर्णेषु परिचयः कवि साम्राज्य व्यंजनः । इस ग्रंथ की विषय-वस्तु के इस स्थूल सारांश से यह ज्ञात होगा कि इसे सैद्धांतिक महत्त्व का महान् ग्रंथ कहलाने का कोई विशेष अधिकार नहीं है, किन्तु इसका महत्व इसकी विषय-वस्तु में नहीं है, बल्कि इसके व्यावहारिक पक्ष के प्रतिपादन और भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से उदाहरण लेकर प्रत्येक बात की ऐसी सजग और सूक्ष्म व्याख्या करने में है, जिसमें ज्ञान और समीक्षात्मक विवेचन का रंचमात्र भी उपयोग न हुआ हो।[2]

अरिसिंह, अमरचंद्र और देवेश्वर

अरिसिंह और अमरचंद्र द्वारा लिखित 'काव्य कल्पना-वृत्ति' और उसी के अनुकरण पर देवेश्वर के द्वारा लिखित 'कवि कल्पलता' का वर्णन करने में अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं हैं। ये वस्तुतः श्लोकों की रचना के संबंध में लिखे गए ग्रंथ हैं। इनमें छंद और अलंकार का व्यावहारिक विवेचन भी किया गया है। इनमें निम्नलिखित विषयों पर विस्तृत सूचनाएँ दी गई

---

1. राजशेखर से उद्भट के नाम से एक कथन का उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि क्रमशः शास्त्र और काव्य में पाए जाने के आधार पर अर्थ के दो भेद हो सकते हैं जैसे विचारित सुष्ठु या अविचारित रमणीय। पीछे पृष्ठ 55 पाद-टिप्पणी 3 देखिए।
2. क्षेमेंद्र के व्यंग्यात्मक और शिक्षात्मक ग्रंथों के लिए एस० के० डे लिखित—'ऐस्पेक्ट्स ऑफ संस्कृत लिटरेचर' कलकत्ता, 1947 पृ० 404-410.

हैं—भिन्न-भिन्न प्रकार के छंदों की रचना, विविध प्रकार के शब्द-कौशल का प्रदर्शन, वाग्विलास और श्लेष-रचना की चातुरी, कूट प्रश्न, प्रहेलिकाएँ, अनुप्रास और तुकांत छंद और शाब्दिक कौशल के विविध उपाय अंतिम अध्याय में उपमाओं की रचना और सामान्य तुलना के लिए सादृश्यों की गणना करके ग्रंथ समाप्त किया गया है। इसमें कवि समयों की भी एक सूची दी गई है और इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है कि किसका वर्णन करना चाहिए और किस प्रकार वर्णन करना चाहिए। इन विलुप्तमान या ह्रासोन्मुख ग्रंथों से, जैसे यमक शब्द-कोष या इसी प्रकार के अन्य ग्रंथों से, आशु कविता लिखने के लिए नकली सहायता मिल जाती है, जैसी अपेक्षित हो।

यदि काव्य-कल्पलता और इसकी वृत्ति में दिए गए मुख्य विषयों का सारांश दे दिया जाए तो उससे उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाएगा और उससे ऐसे ग्रंथों के विस्तार-क्षेत्र तथा उनकी प्रकृति का भी परिचय मिल जाएगा। इस ग्रंथ के प्रथम 'प्रतान' को 'छंदः सिद्धि' कहते हैं। इसमें पाँच अनुच्छेद हैं (1) अनुष्टुप शासन (अनुष्टुप छंद की रचना) (2) प्रमुख छंदों की गणना, क्रिया के व्याकरण-सम्मत रूप में परिवर्तन, प्राकृत से लिए गए शब्द (जहाँ हेमचंद्र से अधिकतर उदाहरण लिए गए हैं), किसी कवि की अपनी या दूसरे कवि की रचना को उसी छंद में या भिन्न छंदों में परिवर्तित करना, एक छंद को दूसरे छंद में परिवर्तित करना, यदि, इस संपूर्ण अनुच्छेद का नाम 'छंदोंभ्यास' है, (3) पादपूरक शब्दों और छंद के रिक्त स्थानों की पूर्ति करनेवाले शब्दों का प्रयोग (छंदः पुराण) जैसे श्री, सम्, सत्, द्राक्, वि, प्र, इत्यादि (सामान्य-शब्दक),(4) तर्क देना, मार्मिक कथन, निंदा या स्तुति के विषय, प्रश्नावलियाँ, जैसे कुल शास्त्रादि, स्वशास्त्राध्ययन प्रथा इत्यादि (वाद), (5) विवरणात्मक काव्य के विषय, राजा, उसके मंत्री, राजकुमार, सेना, युद्ध और आखेट, नगर, गाँव, वाटिका, झील इत्यादि के वर्णन करने की रीति, कवि-समयों की गणना (वर्ण्यस्थिति)। द्वितीय अध्याय का नाम शब्द-सिद्धि है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है—शब्द-व्युत्पत्ति, समस्त पदों के व्युत्पन्न अर्थ, छंद के बीच में अनुप्रास और यमक का प्रयोग, साथ-ही-साथ इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त शब्दों की सूची, संबंधी अभिव्यक्तियों की परिगणना, ध्वनि संप्रदाय का प्रभाव दिखाते हुए शब्दों के अभिधार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। अगले अध्याय का नाम है 'श्लेष-सिद्धि' जो विविध प्रकार के

शब्दों की क्रीड़ा के अधार पर रखा गया है। इसमें निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है (1) ऐसे शब्दों की रचना करने की पद्धति बतलाना, जो विभाजन के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में पढ़े जा सकें, साथ ही श्लेषोपयोगी शब्दों की सूची भी दी गई है, (2) सादृश्यों के द्वारा किसी विषय के वर्णन में आनेवाला एक प्रकार का ऐसा श्लेष, जिसमें एक ही जैसे शब्दों में या उनके पर्यायों में एक ही प्रकार का गुण या दशा खोजी जाती है, (3) दुहरे अर्थ देने-वाले प्रसंग जो ऐसे भिन्नार्थक शब्दों से बनाए जाते हैं, जिनके एक दूसरे से काफी भिन्न अर्थ लगाए जा सकते हैं, (4) विभिन्न व्युत्पत्तियों के रूपों की एकरूपता के कारण पैदा हुई वक्रता, (5) विभिन्न प्रकार के चमत्कार या विचित्रताएँ जैसे ऐसे श्लोक, जिनमें प्रत्येक शब्द में एक ही स्वर या व्यंजन की पुनरावृत्ति हुई हों; ऐसे श्लोक जिनकी रचना चित्रों के रूप में हुई हो और जो विभिन्न रूपों में पढ़े जा सकते हों,जैसे शतरंज में घोड़े की चाल के अनुसार इत्यादि। इस विषय का विस्तृत विवेचन धर्मदास सूरि लिखित 'विदग्ध मुख मंडन' नामक ग्रंथ में हुआ है ।[1]

अंतिम अध्याय का नाम अर्थ-सिद्धि है। इसमें निम्नलिखित विषयों का वर्णन किया गया है—उपमा, शब्दलोप और ऐसे ही अन्य अलंकारों की रचना। इसमें ऐसे सादृश्यों या समतुल्यों की लंबी सूची दी गई है, जो तुलना किए जाने-वाले लक्ष्यों की समान परिस्थितियों और गुणों के कारण उत्पन्न होते हैं, जैसे ओष्ठों की तुलना मूंगे, बिंब फल और नवपल्लव इत्यादि से दी जा सकती है।

इस विवेचन के अधिकांश भागों की पुनरावृत्ति केशवकृत 'अलंकार शेखर' और देवेश्वर कृत 'कवि-कल्पलता' में हुई है। कविकल्पलता सीधे काव्य-कल्प-लता के आधार पर लिखी गई है, जिसमें बड़े-बड़े उद्धरणों की चोरी की गई है। अतः इन ग्रंथों पर पृथक् रूप से ध्यान देने की आवशयकता प्रतीत नहीं होती। केशव द्वारा लिखित पुस्तक में (देखिए खंड 1, पृ० 203-204) उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के सामान्य विषयों का विवेचन हुआ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवेचन किया तो गया है अपने गुरु शौद्धोदनि के विचारों के अनुसार, किंतु वास्तव में यह आधारित है मम्मट, हेमचंद्र और वाग्भटों के विचारों पर। अतः यह ग्रंथ सिद्धांत या प्रतिपान, किसीं भी दृष्टि

1. इस विषय का विवेचन बहुत पहले ही दंडी, रुद्रट और अग्निपुराण द्वारा भी हो चुका है।

से, कठिनता से ही मौलिकता का दावा कर सकता है। जैन ग्रंथकारों के अधिकांश ग्रंथ, जिनमें हेमचंद्र और वाग्भटों द्वारा लिखे गए ग्रंथ भी सम्मिलित हैं,[1] स्पष्टतः उपर्युक्त पाठ्य ग्रंथ की रचना के व्यावहारिक दृष्टिकोण से लिखे गए हैं और जहाँ उनमें सामान्य सिद्धांतों पर विचार-विमर्श हुआ है, वहाँ सदैव ऐसे मामलों पर सुझाव दिए गए हैं, जो व्यवहारतः काव्य रचना में सहायक होते हैं।

3

राजशेखर

यद्यपि राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' काल्पनिक शैली में लिखी गई है और उसमें किसी क्रमबद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं हुआ है, फिर भी उसका यहाँ उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि इसमें कवि-शिक्षा और मुख्य काव्यशास्त्र के विषय संयुक्त रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। साथ ही उसमें विविध प्रकार के असंबद्ध विषयों का बहुत कुछ निरुद्देश्य प्रतिपादन भी हुआ है।

यह ग्रंथ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भिन्न-भिन्न मतों का अलग-अलग संग्रह हुआ है और इससे कतिपय काल की साहित्यिक प्रथाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें प्रतिपादित दृष्टिकोण का किसी विशेष संप्रदाय से सीधा संबंध नहीं दिखाया जा सकता, किंतु यह नितांत संभव है कि इसके लेखक ने मुख्य रूप से ऐसी मत-परंपरा का अनुसरण किया हो, जो उसे अपने साहित्यिक पूर्वजों, से प्राप्त हुई हो और जिसका उल्लेख उन्होंने प्रायः 'यायावरीयम्' के रूप में किया है।

राजशेखर ने काव्यशास्त्र का उद्‌गम स्वर्ग और ईश्वरीय विभूतियों से बतलाया है और इसकी रचना के लिए उन्होंने उच्च कोटि का अनुशासन अपेक्षित माना है। यह सातवाँ 'अंग' माना जाता है, जिसके बिना वैदिक ग्रंथों का महत्त्व नहीं समझा जा सकता। स्वजात श्रीकंठ ने स्वेच्छा से उत्पन्न अपने चौंसठ शिष्यों को इस विज्ञान की शिक्षा दी थी। उनमें सर्वाधिक सम्माननीय काव्यपुरुष थे। वे सरस्वती से उत्पन्न हुए थे। वे इस अर्ध-उपदेशात्मक ग्रंथ के नाममात्र के नायक थे। चूँकि प्रजापति ने उन्हें इस विज्ञान का विश्व में प्रचार या आख्यापन करने के लिए भेजा था, अतः उन्होंने इसकी शिक्षा अपने सत्रह दैवी शिष्यों सहस्राक्ष तथा अन्य लोगों को प्रदान की। उन शिष्यों ने जिन-जिन

---

1. उदाहरणार्थ हेमचंद्र पृ० 5-15, 126-135, कनिष्ठ वाग्भट पृ० 38-68. दोनों ने क्षेमेंद्र और राजशेखर से बड़े पैमाने पर उद्धरण लिए हैं।

अंशों का अध्ययन किया था, उन पर उन्होंने पृथक्-पृथक् अठारह 'अधिकरणों' की रचना की।[1] हमारे ग्रंथकार ने एक ग्रंथ में, जिनमें अठारह अधिकरण हैं, उन समस्त शिक्षाओं का सारांश दे देने का प्रयास किया है, जो उनके समय में बहुत कुछ लुप्त हो गई थीं। यदि हम लेखक की इस योजना को स्वीकार कर लें तो इस महत्वाकांक्षी लेखक का 'कवि-रहस्य' पर लिखा हुआ केवल पहला 'अधिकरण' ही अस्तित्व में रह जाता है। काव्य पुरुष, जिससे सर्वप्रथम छंदोबद्ध वाणी निःसृत हुई और जो काव्य की आत्मा के प्रतीक माने जाते हैं, हिमालय पर दीर्घकालीन तपस्या के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विद्या-देवी सरस्वती के पुत्र माने जाते हैं। लड़के को संगति प्रदान करने के लिए सरस्वती ने उनकी वधू के रूप में साहित्य विद्या की सृष्टि की, जिसने उनका अनुसरण किया तथा उन्हें जीत लिया अथवा अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस मामूली कल्पना पर आगे इस पुस्तक में इसके बिलक्षण सिद्धांत दिए गए हैं और इसके स्वच्छंद विस्तार-क्षेत्र में विविध प्रकार के साहित्यिक मंतव्य और रूढ़ियाँ सम्मिलित हैं। साथ-ही-साथ इसमें सामान्य भूगोल, कवि-समय, ऋतुओं का विस्तृत वर्णन, 'कवि गोष्ठी' का विवरण और अन्य संगत तथा असंगत विषय दिए गए हैं।

ग्रंथ का प्रारंभ साहित्य (वाङ्मय) को दो भागों में विभाजित करते हुए होता है। एक भाग को शास्त्र (मानवीय और ईश्वरीय) और दूसरे को काव्य कहते हैं। इसमें विभिन्न शास्त्रों की संख्या बताई गई है और उनकी प्रकृति तथा रूप की परिभाषा दी गई है। ईश्वरीय शास्त्रों के अंतर्गत वेद, उपनिषद् और छह अंग आते हैं (यायावरीयों ने अलंकारशास्त्र को सातवाँ शास्त्र माना है) और मानवीय या मानव-प्रसूत शास्त्रों के अंतर्गत पुराण, इतिहास आन्वीक्षिकी, दो मीमांसाएँ और स्मृतियाँ आती हैं। इसके पश्चात् इसमें चौदह (या अठारह) 'विद्या स्थानों' का उल्लेख हुआ है, जिससे इसके अंतर्गत अनेक तकनीकी और दार्शनिक विषय आ गए हैं। इसके पश्चात् इसमें सूत्र, वृत्ति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पंजिका, कारिका और वार्तिक के, जो शास्त्रों के विभिन्न रूप या शैलियाँ हैं, अर्थ समझाए गए हैं और प्रसंगवश 'साहित्य विद्या'[2] की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा भी दी गई है। इसके पश्चात् काव्य-पुरुष की कल्पित कथा का भिन्न प्रसंग (अध्याय-3) देने के बाद लेखक ने

---

1. देखिए खंड 1 पृ० 1-2.

2. पीछे देखिए, पृ० 35, पा० टि० 1.

विभिन्न प्रकार के शिष्यों का विवेचन (आध्याय iv. में) किया है, जिन्हें शास्त्र-ज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। जैसे 'वुद्धिमत्' और 'आहार्य-वुद्धि'। आहार्य-वुद्धि' को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अन्यथाबुद्धि और दुर्वुद्धि। इस संबंध में लेखक ने 'शक्ति,' 'प्रतिभा', 'व्युत्पत्ति' और अभ्यास के वल का भी विवेचन किया है। यायावरीयम् का कहना है कि शक्ति ही काव्य का स्रोत है और उसी से प्रतिभा और व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है, किंतु दूसरों का मत है कि समाधि और अभ्यास की सहयता की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रतिभा[1] दो प्रकार की होती है—'कारयित्री' और 'भावयित्री'। कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद हो सकते हैं—सहज, आहार्य या औपदेशिक। इन्हीं के आधार पर कवियों की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। भावकत्व प्रतिभा, कवित्व से पृथक् मानी जाती है। भावक या तो असंतुष्ट जन होते हैं (अरोचकिनः) जैसे वे लोग, जिनमें प्रतिभा तो होती है, किंतु जिनके लिए मार्ग दर्शन अपेक्षित होता है या ऐसे लोग, जो तृण पर जीवित रहते हैं (सतृणाभ्यवहारिणः) जैसे वे अशिष्ट जन, जो प्रतिभा से पूर्णतया वंचित होते हैं,[2] या ईर्ष्यालु जन होते हैं (मत्सरिणः) और या तो वास्तविक तत्वा-भिनिवेशि जन होते हैं (तत्वाभिनिवेशिनः) जो विरले ही पाए जाते हैं।

अगले अध्याय (अध्याय v) में विभिन्न दृष्टिकोणों से कवि के विस्तृत वर्गीकरण दिए गए हैं। कवियों को सामान्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि। शास्त्र-कवि या तो शास्त्र की रचना करते हैं या शास्त्र में काव्य का प्रभाव पैदा करते हैं अथवा काव्य में शास्त्र का प्रभाव। यद्यपि काव्य-कवि का वर्गीकरण तर्कपूर्ण नहीं है, किंतु इसका विस्तृत रूप से आठ भागों में वर्गीकरण किया गया है, जैसे रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलकार-कवि, उक्ति-कवि रस-कवि मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि। इसके पश्चात् दस ऐसे प्रशिक्षणों के नाम गिनाए गए हैं, जिनसे होकर किसी कवि को 'कवि-राज' होने के पहले गुजरना पड़ता है। यद्यपि 'कवि-राज' सर्वोच्च सम्मान या पदवी नहीं है, किंतु राजशेखर के अनुसार, जिन्हें स्वयं यह पदनाम दिया गया था, इससे ऐसी पदवी का पता लगता है, जो 'महाकवि' से भी ऊँची होती है। दूसरी जगह, दसवें अध्याय में, उन्होंने ऐसे सम्मान या प्रतिष्ठा के लिए होनेवाली कवियों की जाँच या साहित्यिक परीक्षा का विवरण दिया है। इसमें से फल होनेवाले कवि को

1. इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है····या शब्द-ग्रामं अर्थ-सार्थं अलंकार-तंत्रं युक्तिमार्गं अन्यद् अपि तथाविधं अधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।

2. देखिए वामन 1. 2. 1-3.

विशेष रथ में बैठाकर घुमाया जाता है और पट्टा-बंध से सज्जित किया जाता है। उन्होंने कवि के लिए अपेक्षित शरीर, वाणी और विचार की शुद्धता का उल्लेख किया है और कवि के गृह, उसके सेवकों, उसकी लेखन-सामग्री, उसके संपूर्ण दिन का आठ भागों में विभाजन और उसके अनुकूल उनके कर्त्तव्यों का वर्णन भी किया है। विचाराधीन अध्याय 'पाक' के सिद्धांत का संदर्भ देकर समाप्त किया गया है। इसमें नौ प्रकार के पाकों का, जिनके नाम विभिन्न प्रकार के फूलों के स्वाद पर रखे गए हैं, उल्लेख किया गया है।

अगले अध्याय (अध्याय iv) में शब्द और वाक्य का और उनके व्याकरण-सम्मत, तर्कपूर्ण और अन्य प्रकार के कर्त्तव्यों का विवेचन हुआ है। इस संदर्भ में राजशेखर ने कहा है कि जिस वाक्य में साहित्यिक गुण पाए जाते हैं और जो अलंकारों से सज्जित होता है उसे काव्य कहते हैं (गुणवद् अलंकृतं च वाक्यं एव काव्यम्, पृ० 24)। यदि इस कथन से कोई निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यह है कि राजशेखर ने मौन रूप से सामान्य सिद्धांत के अन्तर्गत 'रीति संप्रदाय' की स्थिति को मान्यता प्रदान की है क्योंकि इस वाक्य में उन्होंने वामन की प्रसिद्ध उक्ति (काव्यशब्दोऽयंगुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते, अध्याय i, 1, 1, पर) को प्रस्तुत किया है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि उन्होंने बाह्य रूप से उद्भट और रुद्रट के मत के प्रति प्रतिकूल भाव प्रकट किया है और मंगल तथा वामन के मतों के प्रति स्पष्ट रूप से पक्षपात दिखाया है, जिनका रीति-संबंधी वर्गीकरण पृ० 31 पर स्वीकार किया है। यह सत्य है कि उनके संप्रदाय ने इस पर भी विशेष जोर दिया है[1] और आनंदवर्धन के पश्चात आनेवाले अधिकांश लेखकों की भांति राजशेखर भी रस को महत्ता दिलाने में असफल या पीछे नहीं रहे हैं। इससे इस बात को समझना कठिन हो जाता है कि उनका ग्रन्थ निश्चित रूप से किसी सिद्धांत विशेष के लिए रचा गया था। किंतु यह स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति प्राचीन रीति और रस-संप्रदायों के प्रति है, न कि आनंदवर्धन के नए संप्रदाय के प्रति। यद्यपि आनदवर्धन को पृ० 16 पर उद्धत किया गया है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विचारों से उनपर अधिक प्रभाव नहीं डाला है। यह संभव है कि उन्होंने किसी ऐसी प्राचीन परंपरा का अनुकरण किया हो, जो रूढ़िगत संप्रदायों से भिन्न हो, किंतु जिसकी बहुत-सी बातें प्राचीन विचारधाराओं और मतों से मिलती-जुलती हों।

---

1. उदाहरणार्थ :—किंतु रसवत् एवं निबंधो युक्तः न नीरसस्य पृ० 45

शेष ग्रंथ से, जिसमें इसी प्रकार के विषयों का वर्णन हुआ है, उनके काव्य-शास्त्र संबंधी सामान्य विचार पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । अगले अध्याय में, जो इसके बाद आता है, नवीन आधार पर भाषण की रीतियों का विश्लेषण हुआ है। यह विश्लेषण विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर ब्राह्म, शैव और वैष्णव तथा उनके संप्रदायगत उपविभाजनों के कारण हुआ है। इसके पश्चात् वामन द्वारा वर्णित तीन रीतियों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है ।[1] और फिर काकु पर तथा पठन-प्रणाली या विभिन्न लोगों के उच्चारण के संबंध में कुछ मंतव्य प्रकट किया गया है, प्रसंगवश देवताओं अप्सराओं, पिशाचों इत्यादि की उपयुक्त भाषा और शैली की समस्या पर विचार-विमर्श हुआ है। आठवें अध्याय में काव्य के स्रोतों या सहायता-सामग्री (काव्य योनयः) की गणना की गई है, इसका उल्लेख भामह (i, 9) और वामन (i, 3) ने पहले ही किया है, जैसे धर्मग्रन्थ, विधिसंबंधी पुस्तकें, महाकाव्य, पुराण इत्यादि। इसके बाद कला, विज्ञान, दर्शनशास्त्र इत्यादि की एक ऐसी लम्बी सूची दी गई है, जिससे काव्य को विषय-सामग्री प्राप्त होती है।[2] अगले अध्याय में (ix) काव्य की संभावित विषय-वस्तु का विवेचन हुआ है, जिसका हवाला आनंदवर्धन ने (पृ० 146 पर) दिया है। विषय-वस्तु का विभाजन घटनाओं और व्यक्तियों के आधार पर या मनुष्य, देवता अथवा पाताल-संबंधी विषयों के आधार पर अलग-अलग या भिन्न-भिन्न प्रकार से मिले-जुले रूपों में हुआ है। किंतु उन्होंने यह भी बतलाया है कि विषय-वस्तु

---

1. राजशेखर ने रीति की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है, वह विलक्षण है। उनका कहना है कि साहित्य-विद्या के विविध देशों में घूमने के कारण, विविध प्रकार की काव्य की रीतियां स्वयं उत्पन्न हो गईं। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण वे तीन रीतियाँ हैं, जिसका उल्लेख वामन ने किया है।
2. ये निम्नलिखित हैं—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या, समय-विद्या, राज-सिद्धांतत्रयी (अर्थ-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र), लोक, विरचना, (कवि-मनीषा-निर्मितं कथा तंत्रं अर्थमात्रं वा), और प्रकीर्ण (विविध विषय, जैसे हस्ति-शिक्षा, रत्न-परीक्षा, धनुर्वेद इत्यादि) । दसवें अध्याय में उन्होंने निम्नलिखित बातें बताई हैं (i) काव्य विद्याएँ, जैसे नाम धातु-पारायण (व्याकरण), अभिधान कोश, छंदो-विचिति (छंद:-शास्त्र) और अलंकार (काव्य-शास्त्र), (ii) चौंसठ कलाएँ, जो उप-विद्याएँ (सहायक अध्ययन-सामग्री) कहलाती हैं और (iii) काव्य मातरः, जैसे कवि सन्निधि, देश-वार्ता, विदग्ध-वाद, लोक-यात्रा, विवाद-गोष्ठी और पुरातन-कवि-निबंध ।

निश्चय ही रसवत् होनी चाहिए। दसवें अध्याय में कवि के चाल-चलन, उसके गृह और परिवेश, उसके दैनिक कर्त्तव्य और नियमित कार्य का विवरण दिया गया है। इसके बाद उसमें उस राजा का वर्णन दिया गया है, जो कवि को आश्रय प्रदान करता है और जिसका एक कार्य यह है कि वह कवियों और विद्वानों की सभा बुलाए। इसके पश्चात् दो बड़े रोचक अध्याय (अध्याय xi और xii) आते हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की काव्य चोरियों या हरण का विस्तृत वर्गीकरण[1] किया गया है। यह वर्गीकरण क्रमशः शब्दों की चोरी या विचारों की चोरी के संदर्भ में किया गया है। अंत में एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि बिरला ही ऐसा कोई कवि होता है, जो दूसरों से चोरी नहीं करता, किंतु सर्वोत्तम चोरी वह है, जिसमें तथ्य को कुशलता से छिपाया गया हो।[2] किंतु मात्र छाया ग्रहण करने या विचारों के अनुकरण को अकाव्यात्मक मानकर निंदित किया गया है। (सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिंब-कल्पः परिहरणीयः, पृ० 68)। सच्चा कवि उसे कहते हैं, जो शब्दों और विचारों की अभिव्यंजना में कुछ नूतन बातें प्रकट करता है और साथ-ही-साथ प्राचीन बातों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करता है।[3] अतः अगले अध्याय (अध्याय viii) में काव्य-हरण या साहित्यिक चोरी की बत्तीस ऐसी भिन्न-भिन्न प्रणालियों का विस्तृत विवरण दिया गया है, जिनसे इन्हें कुशलता-

---

1. हेमचंद्र (पृ० 8 इत्यादि) और वाग्भट (पृ० 12 इत्यादि) ने राजशेखर के विवेचन के इस अंश की चोरी की है और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने कुछ अंश क्षेमेंद्र से भी लिया है (पीछे पृ० 579 इत्यादि देखिए)। इस उद्धरणों के संबंध में एफ० डब्ल्यू० टामस द्वारा लिखित 'भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम' पृ० 279-383 देखिए)। दो कवियों (पीछे 580 पृष्ठ पाद टि० 1 देखिए) में पाई जानेवाली तीन प्रकार की समानता के संबंध में आनंदवर्धन ने जो वर्गीकरण किया है, उसमें इन कवियों के चौथा प्रकार भी जोड़ा है, जैसे 'परपुर प्रवेश प्रतिमता' (दूसरे नगर में पवेश करने की समानता) अर्थात् जहाँ विषयसंबंधी पर्याप्त तादात्म्य हो, किंतु अलंकरण या सज्जा में पर्याप्त भिन्नता हो। इन चार प्रकारों में श्रेष्ठता ऊर्ध्वगामी क्रम में है अर्थात् पहले से श्रेष्ठ दूसरा, दूसरे से तीसरा इत्यादि।
2. नास्ति अचौरः कवि जनो नास्ति अचौरो वणिग् जनः।
   स नंदति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥
3. शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येद् इह किंचन नूतनम्।
   उल्लिखेत् किंचन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

पूर्वक उपयोगी बनाया जा सकता है (यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे अवश्य ही राजशेखर के समय में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेना चाहिए था।) इस रोचक अध्याय में विविध कवियों की रचनाओं से उदाहरण लेकर सभी प्रसंगों या विषयों का विस्तृत दृष्टांत दिए गए हैं।

इस विवेचन के पश्चात् तीन ऐसे अध्याय (अध्याय xiv-xvi) आए हैं, जिनमें स्थापित कवि-समयों का वर्णन हुआ है। ये कवि-समय देशों, वृक्षों, पौधों, फूलों इत्यादि के विषय में हैं, साथ-ही-साथ ये अमूर्त या अस्पृश्य विषयों के संबंध में भी हैं (जैसे हास्य का वर्णन सदैव श्वेत के रूप में किया जाना चाहिए)। इसके आगे दो और अध्याय हैं (आध्याय xvii-xviii), ये क्रमशः भूगोल (देश-विभाग) और ऋतु-काल-विभाग कहलाते हैं। देश-विभाग में भारत के देशों, नदियों, पर्वतों इत्यादि, प्रत्येक की अलग-अलग उपज, विविध प्रकार के लोगों के रंग और उनकी मुखाकृति इत्यादि का वर्णन हुआ है। काल विभाग में पवन, पुष्पों और पक्षियों तथा विविध ऋतुओं के अनुकूल कार्यों का वर्णन हुआ है।

काव्यमीमांसा जहाँ तक सुलभ है और वास्तव में जहाँ तक प्रकाशित हुई है, उसके अठारह अध्यायों की रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसकी लगभग संपूर्ण विषय-वस्तु, यदि ठीक-ठीक कहा जाए तो, सामान्य काव्य-शास्त्र के बाहर आती है, जिसके परंपरागत विषयों का मुश्किल से स्पर्श किया गया है। साथ-ही-साथ राजशेखर ने जिन विषयों का विवेचन किया है, उनका यद्यपि विस्तार से तो नहीं, किंतु संदर्भ मात्र वामन-जैसे रूढ़िवादी लेखकों ने भी दिया है। और इस विषय पर राजशेखर द्वारा लिखे गए अपेक्षाकृत एक प्राचीन ग्रंथ के अद्वितीय साक्ष्य से, जो स्पष्टतः कुछ प्राचीन परंपराओं के अनुरूप लिखा गया था, इस अनुमान को समर्थन प्राप्त होता है कि प्रारंभ में 'साहित्य' या काव्य-कला के व्यापक विषय क्षेत्र में तब तक ऐसे सभी विविध साहित्यिक विषय आ जाते थे, जब तक धीरे-धीरे कवि शिक्षा एक संबद्ध किंतु पृथक् विषय नहीं बन गया और जब तक स्वयं शास्त्र भी बहुत कुछ सामान्य सिद्धांतों का विवेचन करने तक ही सीमित नहीं हो गए। फिर भी ये विषय अपने में अत्यंत रोचक हैं और श्रेण्य संस्कृत काव्य और इसके प्रयोग के कुछ साहित्यिक पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। राजशेखर की संक्षिप्त किंतु सरल और चित्रमयी शैली के कारण, जो उचित रीति से चुने गए विभिन्न प्रकार के ऐसे दृष्टिांतों से सज्जित है, जो काव्यशास्त्र की साधारण पाठ्य पुस्तकों में मिलनेवाले रूढ़िगत दृष्टांतों से बिलकुल भिन्न है. ये विषय और भी अधिक आनंददायी पठन-सामग्री बन गए हैं।

●

पारिभाषिक शब्दावली

अंतराल	Interval
अंतःसंबंध	Inter-relation
अंश	Fragment
अधिकरण(कारक)	Locative (case)
अनुमान	Inference
अभिधा	Denotation
अलंकार	Figure of Speech
अलंकारशास्त्र	Rhetorics
अवशेष	Remnant
अस्थायी	Provisional
आक्षेप	Implication
आगम	Deduction
आलोचना	Criticism
उक्ति	Dictum
उदाहरण	Illustration
उद्‌गम	Genesis
उद्धरण	Quotation, extract
उपमा	Similitude, analogy
उपाय	Device
उपभेद	Subspecies
करण (कारक)	Instrumental(case)
काकु	Intonation
कामशास्त्र	Erotics
कारक	Agent
कालक्रम	Chronology
काव्यशास्त्र	Poetics

कृत्रिम	Factitions
कर्ता(कारक)	Nominative(case)
कर्म(कारक)	Objective (case)
गुण	Quality
गुणधर्म	Characteristics
ग्रंथ	Treatise
ग्रंथसूची	Bibliography
चिंतन	Speculation
छंद	Metre
जाति	Genus
टीका	Commentary
टीकाकार	Commentator
तुलना	Simile, comparison
दृष्टि	Perception
ध्वनि	Suggestion
नाट्य	Dramaturgy
नाट्यकला	Histrionic art
नाट्य मुद्रा	Dramatic gesture
नाट्यशास्त्र	Dramaturgy
नायक	Hero
निकष	Criterion
निष्कर्ष, उपसंहार	Conclusion
परंपरागत	Traditional
परिभाषा	Definition
पाठ	Recension
पात्र	Character
पुनरावृत्ति	Repetition
पुरालेख	Epigraphy
पूरक	Supplementary

पूर्ववर्ती	Predecessor
पौराणिक	Mythical
पौराणिक काल	Mythic age
प्रत्यक्ष	Perception
प्रत्यय	Suffix
प्रबंध	Composition
प्रमाण	Evidence, testimony
प्रशस्ति	Panegyric
प्राचीन	Orthodox
प्रारंभिक	Rudimentary
भेद	Species
मिश्रित	Composite
मोक्ष	Liberation
रंगमंच	Stage
राजकवि	Court Poet
रूप	Version
लक्षण	Characteristic
लिंग	Inference
वर्ग	Category
वर्गीकरण	Classification
वस्तु	Object
विपरीत क्रम	Inverse Order
विपर्यय	Contrariety
विभाजन	Division
विवाद	Controversy
विवादास्पद	Controversial
विश्लेषण	Analysis
व्यक्ति	Individual
वैयाकरण	Grammarian

व्याकरण	Grammar
व्याख्या	Paraphrase, interpretation
व्याख्यात्मक	Expository
व्यापक	Comprehensive
श्रेणी	Category
संकलन	Compilation
संकल्पना	Conception
संकेत	Convention
संग्रह	Anthology, Compendium
संप्रदाय	School of opinion
संबंध (कारक)	Genitive (case)
संस्करण	Edition
संहिता	Compendium
समावेश	Incorporation
साक्ष्य	Evidence
सादृश्य	Similitude
साम्य	Similitude
सार	Substance
सिद्धांत	Theory, dogma, doctrine
सौंदर्यशास्त्र	Aesthetics
स्वराघात	Accent